भारतीय अर्थशास्त्र की समस्याएँ
भाग (१)

लेखक की अन्य रचनायें

A Textbook of Modern Economics
Problems in Indian Economics
इन्डस्ट्रियल प्राब्लम्स आव इण्डिया (संपादित)
इण्डिया बिल्डस हर वार इकानमी
आधुनिक अर्थशास्त्र (सह-लेखक : श्री आर० एन० भार्गव)

भारतीय अर्थशास्त्र
की
समस्याएँ

भाग १

लेखक
पी. सी. जैन, एम. ए., एम. एस सी. (अर्थशास्त्र) लन्दन,
अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

१६५६
चैतन्य पब्लिशिंग हाउस
५-ए, यूनीवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

विषय-सूची

अध्याय — पृष्ठ

यातायात

नियोजन

अध्याय १

भारतीय अर्थशास्त्र का अर्थ

अर्थशास्त्र को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में बाँटा गया है जिनमें से एक भाग 'सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र' (Theory of economics) और दूसरा भाग 'व्यवहारिक अर्थशास्त्र' (Applied economics) कहा जाता है। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में हम कुछ ऐसे आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं जो आवश्यकताओं (wants) की पूर्ति के सम्बन्ध में मनुष्य के व्यवहार की विवेचना करते हैं जब कि उद्देश्य दिये हों और उनकी पूर्ति के साधन अपर्याप्त हों तथा उनके विभिन्न प्रयोग हों। अर्थशास्त्र में इन आधारभूत सिद्धान्तों को हम उत्पादन, उपभोग विनिमय और वितरण के अन्तर्गत अध्ययन करते हैं। सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम, उत्पादन के नियम, लगान का सिद्धान्त और रोजगार तथा व्यवसाय चक्र के सिद्धान्त अर्थशास्त्र के इन आधारभूत सिद्धान्तों के ही उदाहरण हैं। हम सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र का अध्ययन या तो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कर सकते हैं या विश्लेषणात्मक दृष्टि से। यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाय तो इसका रूप 'अर्थशास्त्र की विचारधारा का इतिहास' जैसा हो जाता है और दूसरी स्थिति में विश्लेषणात्मक अर्थशास्त्र (Analytical Economics) जैसा हो जाता है जिसे संक्षेप में केवल अर्थशास्त्र भी कहते हैं।

व्यवहारिक अर्थशास्त्र सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र से बिल्कुल भिन्न है। इसमें उन समस्याओं का अध्ययन किया जाता है जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्नों के बीच पैदा हो जाती हैं, जैसे कृषि और उद्योग की समस्यायें, उत्पादन, आयात और निर्यात, बैंक और मुद्रा व्यवस्था, आर्थिक नियोजन, आदि। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की भाँति, व्यवहारिक अर्थशास्त्र का अध्ययन हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी कर सकते हैं और ऐसी स्थिति में अर्थशास्त्र 'आर्थिक इतिहास', (Economic History) का रूप धारण कर लेता है। यदि विश्लेषण की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो यह 'वर्तमान आर्थिक समस्याओं के अध्ययन' का रूप ले लेता है।

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की उत्पत्ति वास्तव में मनुष्य के व्यवहार के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों और जनता की आर्थिक स्थिति के आधार पर होती है। उदाहरण के लिये, प्राचीन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर इंगलैंड की १८ वीं शताब्दी की

परिस्थितियों का बहुत प्रभाव पड़ा। इसके बाद जनता की आर्थिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों के फलस्वरूप आर्थिक सिद्धान्तों में भी संशोधन परिवर्द्धन होते गये। जैसे ही नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं उनकी व्याख्या करने के लिये या तो पहले के आर्थिक सिद्धान्तों का विस्तार किया गया या नये सिद्धान्तों का जन्म हुआ। हम वर्तमान की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिये या आर्थिक इतिहास लिखने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक और व्यवहारिक अर्थशास्त्र में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

भारतीय अर्थशास्त्र--भारतीय अर्थशास्त्र व्यवहारिक अर्थशास्त्र का एक अङ्ग है। इसके अन्तर्गत वर्तमान समय की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, जैसे, चकबन्दी, भूमिहरण, मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली, इत्यादि और साथ ही उनकी उत्पत्ति कारणों का भी विवेचन किया जाता है। इस अर्थ में भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन विश्लेषणात्मक हो जाता है। इसमें यह प्रयत्न किया जाता है कि वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों का सही सही चित्र प्रस्तुत किया जाय, विभिन्न घटनाओं के कारणों को समझाया जाय और यह भी बताया जाय कि जिन घटनाओं के उत्पन्न होने की सम्भावना थी, वह क्यों नहीं हुई। वर्तमान समय की समस्याओं का अध्ययन करने में हमें भावी घटनाओं का कुछ आभास हो जाता है। वर्तमान समय की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने और इसकी भावी प्रवृत्तियों का पता लगाने में हम सैद्धांतिक अर्थशास्त्र की सहायता लेते हैं। यदि अर्थशास्त्र के सिद्धांत भिन्न-भिन्न हैं तो हम जिन परिणामों पर पहुँचते हैं वह भी अवश्य भिन्न होंगे। इसलिये भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन बहुत कुछ हमारे सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करता है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं भारत में विभिन्न आर्थिक समस्याओं के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन 'भारत का आर्थिक इतिहास' कहा जाता है। आर्थिक इतिहास में घटनायें क्रमानुसार लिखी जाती हैं। भारतीय अर्थशास्त्र की अनेक पाठ्य पुस्तकों में "भारत का आर्थिक इतिहास" और "भारतीय अर्थशास्त्र" को साथ-साथ दिया गया है और पाठक को इन दोनों अंगों का साथ-साथ अध्ययन करना पड़ता है। इससे पाठक के लिये आवश्यक और सम्बन्धित समस्याओं को समझना और वर्तमान समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करना कठिन हो जाता है। यह बात निस्सन्देह सही है कि भारत के आर्थिक इतिहास के अध्ययन के आधार पर ही वर्तमान आर्थिक समस्याओं का सही अध्ययन किया जा सकता है, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि यदि हम भारत के आर्थिक इतिहास और भारतीय

अर्थशास्त्र को एक में मिला दें तो वर्तमान आर्थिक समस्याएँ, जिन पर पाठक को ध्यान देना आवश्यक है, भारत के आर्थिक इतिहास के विस्तृत विवेचन में लुप्त हो जाती हैं। इसलिये इस पुस्तक में यह प्रयत्न किया गया है कि भारतीय अर्थशास्त्र की समस्याएँ आर्थिक इतिहास के विस्तृत वर्णन में खो न जायँ। जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ है वहाँ तुलनात्मक अध्ययन के लिये आर्थिक इतिहास का कुछ विस्तृत वर्णन किया गया है। परन्तु विशेष जोर भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं के विवरणात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन पर दिया गया है।

अन्य परिभाषायें—पूर्व लिखित परिभाषा के अनुसार भारतीय अर्थशास्त्र भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं का अध्ययन है। परन्तु भारतीय अर्थशास्त्र की इसके अतिरिक्त तीन और परिभाषायें दी गयी हैं :—

(१) भारत की आर्थिक विचारधारा के विकास के अध्ययन को भारतीय अर्थशास्त्र कहा गया है। प्राचीन भारत में सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया था। भारतीय आर्थिक विचारधारा पश्चिमी आर्थिक विचारधारा के साथ-साथ विकास नहीं कर सकी है। आधुनिक युग में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के क्षेत्र में भारत ने अवश्य कुछ योगदान किया है। यदि इस पर विचार न किया जाय तो भारतीय आर्थिक विचारधारा पूर्णतया प्राचीन भारत की देन है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भारतीय आर्थिक विचारधारा आधुनिक सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के साथ विकास कर सकी है तब भी हम उसे भारतीय अर्थशास्त्र का नाम नहीं दे सकते हैं क्योंकि भारतीय अर्थशास्त्र व्यवहारिक अर्थशास्त्र का एक अंग है जब कि आर्थिक विचारधारा का इतिहास, चाहे वह भारतीय हो या यूरोपीय, 'सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र' के अन्तर्गत आता है।

(२) यह कहा गया है कि भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति एक विशेष प्रकार की है, उसकी गठन और उसमें निहित विचारधारा अन्य देशों से भिन्न है इसलिये भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हमें बिल्कुल ही नये प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों का सृजन करना चाहिए और उसे 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहना चाहिए। न्यायाधीश रानाडे ने इस बात पर जोर दिया कि भारत की स्थिति पश्चिमी देशों से नितान्त भिन्न है, प्रतियोगिता (Competition) से कहीं अधिक प्रभावशाली यहाँ के रीति-रिवाज और राज्य के नियम हैं, साथ ही किसी समझौते की अपेक्षा समाज में सम्मान अधिक प्रभाव रखता है। यहाँ न पूँजी गतिशील है और न श्रम और न इनमें इतना उत्साह (enterprising) और बुद्धि ही है कि गतिशील बनें। मजदूरी और लाभ भी निश्चित है; जनसंख्या

अपने नियम के अनुसार बढ़ती जाती है परन्तु बीमारियों और अकाल से उसमें कमी भी होती रहती है, उत्पादन की मात्रा प्रायः स्थिर है, यदि एक वर्ष फसल अच्छी हो गयी तो वह अगले वर्ष के अनिश्चित मौसम से होने वाली हानि की पूर्ति का साधन बन जाती है। इसके आधार पर न्यायाधीश रानाडे इस परिणाम पर पहुँचे कि आधुनिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में जिन बातों को निश्चित आधार मान लिया गया है वह भारत में लागू ही नहीं होतीं बल्कि वह वास्तव में गलत दिशा की ओर ले जाती हैं। इससे कुछ लोग इस परिणाम पर पहुँचे कि भारत की आर्थिक स्थिति को समझने के लिये नये आर्थिक सिद्धान्तों की आवश्यकता है। वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है। कोई भी आर्थिक सिद्धान्त, चाहे वह पश्चिमी देशों में विकसित हुआ हो या पूर्वी देशों में, व्यापक रूप में सारे विश्व पर लागू होता है। आर्थिक सिद्धान्त मनुष्य के स्वभाव पर आधारित होता है और मनुष्य का स्वभाव सर्वत्र समान होता है। यदि आर्थिक सिद्धान्त का उचित निरूपण किया गया है तो वह सर्वत्र लागू होगा। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि आर्थिक सिद्धान्त स्थिर सिद्धान्त नहीं होता और न वह अपरिवर्तनशील ही होता है। यदि आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन हुआ तो आर्थिक सिद्धान्त मे भी परिवर्तन होगा। इंगलैंड मे प्राचीन सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र का जो विकास हुआ वह इंगलैंड की उस समय की आर्थिक स्थितियो पर आधारित था। वह यदृभाव्य नीति (Laissez faire) और स्वतंत्र व्यापार (Free trade) के सिद्धान्तों पर आधारित था। परन्तु बाद में जब विशेष रूप से यूरोपीय देशों मे यह पता चला कि स्वतंत्र व्यापार आर्थिक परिस्थिति के प्रतिकूल है तो फ्रेड्रिक लिस्ट तथा अन्य अर्थशास्त्रियो की आलोचना के आधार पर स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त मे आवश्यक संशोधन किया गया और कम विकसित देशों के संरक्षण के लिये तटकरों (Tariffs) तथा अन्य उपायों का महत्व स्वीकार किया गया। सोवियत संघ की परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ समाजवाद और आर्थिक नियोजन के सिद्धान्तों में भी परिवर्तन होता गया। इधर कुछ वर्षों से पूर्व तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों की आर्थिक समस्याओं के कारण आर्थिक सिद्धान्तों में परिवर्तन-परिवर्द्धन हो रहा है। भारत में आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित 'आवश्यकता' का एक बिल्कुल नया सिद्धान्त विकसित हो रहा है जिसे 'आवश्यकता रहित होने का सिद्धान्त' (Theory ef wantlessness) कहा जाता है। यह पश्चिम के आवश्यकता के सिद्धान्तों से नितान्त भिन्न है। यह सम्भव है कि विभिन्न देशों की बदलती परिस्थितियों से प्रभावित होकर, जिनमें भारत भी सम्मिलित है, भविष्य में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों मे और भी संशोधन हो। परन्तु

जातिवाद, संयुक्त-परिवार की प्रथा, श्रम और पूंजी में गतिशीलता का अभाव, इत्यादि इस बात को सिद्ध नहीं करते कि इस देश के लिये नये प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों की आवश्यकता है। माँग और पूर्ति का सिद्धान्त जितना भारत में लागू होता है उतना ही अन्य देशों में भी लागू होता है। इसलिये हमारी भारत की भिन्न परिस्थितियों के कारण नये प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तो का विकास करने की माँग उचित नहीं है, साथ ही इन विशेष सिद्धान्तों और नियमों को जो केवल भारत में लागू होंगे 'भारतीय अर्थशास्त्र' का नाम देना न्यायसंगत नहीं है।

(३) यह भी कहा गया है कि यदि उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण के आर्थिक सिद्धान्तों का विवेचन भारतीय उदाहरणों के साथ किया गया हो तो उसे भारतीय अर्थशास्त्र कहा जाना चाहिये। किसी भी सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये निश्चय ही कुछ उदाहरणों का प्रयोग किया जाता है परन्तु इससे ही वह 'भारतीय अर्थशास्त्र' नहीं हो जाता। यदि कोई पाठ्य पुस्तक अंग्रेज विद्यार्थियों के लिये लिखी जाय तो यह स्वाभाविक ही है कि उसमें अंग्रेजी या इंगलैंड के उदाहरण दिये जायँगे। इसी प्रकार यदि कोई पाठ्य पुस्तक भारतीय विद्यार्थियों के लिये लिखी जाय तो उसमें भारत के उदाहरण दिये जायँगे। परन्तु इतने से ही वह 'अंग्रेजी अर्थशास्त्र', या 'भारतीय अर्थशास्त्र' नहीं बन जाते। इन परिस्थितियों में वह केवल सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र रहता है चाहे उसमें किसी भी देश के उदाहरण दिये गये हों।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय अर्थशास्त्र भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं का ठीक वैसा ही अध्ययन है जैसा अन्य देशों में किया जाता है। वर्तमान आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिये अन्य देशों की भाँति ही भारत मे भी हम देश की समस्याओं पर उन आर्थिक सिद्धान्तों को लागू करते हैं जो सर्वत्र सत्य सिद्ध हो चुके हैं या उन्हें सभी स्वीकार करते हैं। इसलिये अर्थशास्त्र के आर्थिक सिद्धान्तों को भारत की आर्थिक स्थिति पर लागू कर हम जिन परिणामों पर पहुँचते हैं तथा जिन प्रवृत्तियों का पता लगाते हैं उनको 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहते हैं तो यह नितान्त न्यायसंगत है।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

(१) यदि हम अपनी आर्थिक परिस्थितियों को सही सही समझना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करें। इसके अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि हम प्रगति कर रहे हैं या नहीं, यदि कर रहे हैं तो किस सीमा तक और यदि प्रगति नहीं कर रहे हैं तो इसके कारण क्या हैं।

(२) भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम अपने देश की अन्य देशों के साथ तुलना कर सकते हैं और इस प्रकार की तुलना से यह जान सकते हैं कि हम किस प्रकार तथा किस दिशा में सक्रिय होकर अपनी कमियों को दूर कर सकते हैं और आर्थिक उन्नति के अभीष्ट स्तर को प्राप्त कर सकते हैं। (३) भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करके ही हम भविष्य के लिये अपनी नीति निर्धारित कर सकते हैं। पञ्च-वर्षीय योजना तैयार करने में और योजनाओं को प्रमुखता देने में योजना आयोग को भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन पर ही अपने निर्णयों को आधारित करना पड़ा। भारत के आर्थिक विकास में जो त्रुटियाँ रह गयी है तथा आयोग ने आर्थिक प्रगति की वाछित गति से उन्हें दूर कर देने के सुझाव भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन के आधार पर ही दिये हैं।

अध्याय २

प्राकृतिक साधन

भौगोलिक स्थिति

किसी देश के निवासियों की आर्थिक स्थिति तथा उनके व्यवसायों पर उस देश की भौगोलिक स्थिति, भूमि की उपजाऊ शक्ति, वर्षा, जलवायु और उसकी वनस्पति तथा उसके वन्य एवम् पालतू पशुओं का विशेष प्रभाव पड़ता है। इसलिये भारत की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है।

भौतिक विशेषताऐं—भारतीय संघ का क्षेत्रफल १२६६६४० वर्ग मील है। उत्तर से दक्षिण तक इस देश की लम्बाई २००० मील और पूर्व से पश्चिम तक १७०० मील है। इसकी भौतिक सीमा ८२०० मील और सामुद्रिक सीमा ३५०० मील है। कर्क रेखा इसको बीचों-बीच से दो भागों में बाँटती है। उत्तरी भाग शीतोष्ण कटिबन्ध में और दक्षिणी उष्ण कटिबंध में स्थित है। जम्मू और काश्मीर तथा अक्टूबर १९५३ में निर्मित आँध्र राज्य सहित भारत संघ में राज्यों के पुनसंङ्गठन के पूर्व २९ राज्य थे। १ नवम्बर १९५६ में राज्यों का पुनर्सगठन होने के पश्चात् अब भारत संघ में १४ राज्य यथा आँध्र प्रदेश, आसाम, बिहार, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, बम्बई, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बङ्गाल, जम्मू और काश्मीर, तथा केन्द्रीय प्रशासन के दिल्ली, हिमांचल प्रदेश, मनीपुर, त्रिपुरा, अंडमन-निकोबार द्वीप समूह और लेकडिव, मिनिकाय, अमिन्दिवी द्वीप समूह नामक ६ प्रदेश हैं।

भारत उत्तर में हिमालय, उत्तर-पश्चिम में पाकिस्तान, उत्तर-पूर्व में पर्वत-श्रेणियों, दक्षिण में बंगाल की खाड़ी और हिन्द महासागर और पश्चिम में अरब सागर द्वारा घिरा हुआ है। भारत को चार विभिन्न भौगोलिक भागों में बाँटा जा सकता है (१) हिमालय, (२) गङ्गा का मैदान, (३) दक्षिणी पठार, (४) तटवर्ती प्रदेश। हिमालय की श्रेणियाँ १५०० मील की लम्बाई में और १५० मील से लगा कर २५० मील तक की चौड़ाई में फैली हुई हैं। हिमालय उत्तर की बर्फीली वायु से तथा उत्तरीय विदेशियों के आक्रमण से भारत की सदा से रक्षा करता आया है। इसके कारण उत्तरीय सीमा के मार्गों से व्यापार में भी बाधा पहुँची है। मानसून को रोक कर भारत के उत्तरीय भाग की प्रचुर वर्षा का साधन हिमालय ही रहा है। भारत को अनेकों नदियों का उद्गम इसी भाग से हुआ है। यहाँ बहु-

मूल्य वन पाये जाते हैं जिनका पूर्ण प्रयोग होना अभी बाकी है। इसका अधि_
कांश भाग काश्मीर और जम्मू की घाटियों तथा पूर्वीय चाय के क्षेत्रों को छोड़कर खेती के अयोग्य है।

गङ्गा का मैदान पूर्व से पश्चिम की ओर लगभग १५०० मील लम्बा और उत्तर से दक्षिण की ओर १५० से लगाकर २५० मील तक चौड़ा है। यहाँ अनेकों नदियाँ अपनी सहायक नदियों के साथ बहती हैं। यहाँ की भूमि बहुत उपजाऊ है और इसीलिए यहाँ की जनसंख्या का घनत्व भी सबसे अधिक है। देश के बहुत बड़े-बड़े नगर इसी भाग में स्थित है।

पठारी भाग जो विन्ध्याचल पर्वत श्रेणी के दक्षिण में स्थित है, दो भागों में बाँटा जा सकता है। (अ) मध्य भारतीय पठार और (ब) दक्षिणी पठार।

पठारी भाग गङ्गा के मैदान के विपरीत अनेकों पर्वत श्रेणियों से भरा हुआ है। इनकी ऊँचाई १५०० से ४४०० फीट तक है। इस भाग के दोनों ओर पूर्वीय और पश्चिमीय घाट की पर्वत श्रेणियाँ हैं। पठार स्वयं पथरीला और ऊँचा-नीचा है। इसका विस्तार पूरे दक्षिण की पहाड़ियों तक है जो कहीं-कहीं पर ४००० फीट ऊँची हैं जैसे नील घाटी और कार्डमाम की पहाड़ियाँ। इस पठार से होकर नर्मदा और ताप्ती नदियाँ बहतीं हैं जो अरब सागर में गिरती हैं और महानदी, कृष्णा तथा कावेरी जो बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। वनों की इस प्रदेश में कमी है पर खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। समुद्री तट कटे हुए नहीं हैं। इसलिये स्वाभाविक बन्दरगाह केवल विजगापट्टम, कोचीन और कालीकट हैं। पूर्वी और पश्चिमी तटों की भूमि उपजाऊ है। वहाँ पर्याप्त वर्षा होती है तथा चावल चाय और कहवा पैदा होता है।

जलवायु और वर्षा—भारत की जलवायु मानसूनी तथा उष्ण प्रदेशीय है। यहाँ की तीन प्रमुख ऋतुयें निम्न हैं: (१) मार्च के आरम्भ से जून के अन्त तक गर्मी की ऋतु, (२) जून के अंत से सितम्बर के अंत तक वर्षा ऋतु और (३) अक्टूबर से फरवरी के अंत तक शीत ऋतु। अप्रैल और मई के महीनों में सूर्य की किरणें सीधी लम्बवत पड़ती हैं और ये महीने देश के सब से अधिक गर्म होते हैं। उत्तरी-पूर्वी भारत में मई के महीने का औसत तापक्रम १००° फैरनहाइट होता है और गंगा के डेल्टा में लगभग ८५° फे०। किन्हीं स्थानों पर तापक्रम ११७° ११८° फे० भी हो जाता है। जून के मध्य में मानसूनी हवायें चलने लगती हैं और बिजली की चमक के साथ मूसलाधार वर्षा होती है। अधिकांश वर्षा दक्षिणी-पश्चिमी मानसून के कारण होती है। उत्तरी-पूर्वीय मानसून ट्रावनकोर कोचीन तथा मद्रास के कुछ भागों में वर्षा का कारण होती है। शीतकाल में

योजनायें तीन या चार पंचवर्षीय योजनाओं के अन्त तक पूर्ण हो जायँगी तब विद्युत शक्ति लगभग ७० लाख किलोवाट बढ़ जायगी। हमारे देश में समस्या केवल अधिक विद्युत शक्ति के उत्पादन की ही नहीं है वरन् यह भी है कि विद्युत शक्ति पर्याप्त मात्रा में इतने सस्ते मूल्य पर लोगों को प्राप्त हो सके कि किसान, फैक्ट्री वाले और अन्य साधारण कारीगर उसका आसानी से प्रयोग कर सकें।

वनस्पति और जानवर

विशाल क्षेत्रफल, विभिन्न भौगोलिक स्थितियों, विभिन्न जलवायु इत्यादि के कारण भारत में वे सब प्रकार के वन, फलों के बाग, और खेती की उपज जो प्रायः उष्ण, शीत और समशीतोष्ण जलवायु वाले भू-क्षेत्रों में पाये जाते हैं प्राप्त हैं। देश में पालतू तथा वन्य पशु भी अनेक प्रकार के मिलते हैं।

वन—भारत में वनों का क्षेत्रफल लगभग १४ करोड़ ७७ लाख एकड़ है, जिसमें से ४ करोड़ ३५ लाख एकड़ जंगल दक्षिणी भाग में, ३ करोड़ ६७ लाख एकड़ मध्यम भाग में, ३ करोड़ ६४ लाख एकड़ पूर्वी भाग में और ७ करोड़ ६८ लाख ७० हजार एकड़ उत्तरी-पश्चिमी भागों में स्थित हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय और अनेक राज्यों में जमींदारी उन्मूलन के पूर्व बहुत बड़ी संख्या में वृक्ष काटे गए, जिसके परिणामस्वरूप देश के वन-प्रदेश का क्षेत्रफल बहुत कम हो गया है। वनों से देश को बहुत अधिक लाभ होते हैं। उनसे ईंधन और इमारती लकड़ी तो प्राप्त होती ही है, इसके अतिरिक्त (१) वे औद्योगिक उपयोग के लिए बाँस, सबाई व अन्य घासें, लाख, गोंद इत्यादि भी प्रदान करते हैं, (२) वे भूमि-क्षरण (Soil erosion) रोकते हैं, भूमि की उर्वरता को सुरक्षित रखते हैं, और (३) पशुओं के लिए चरागाह भी प्रदान करते हैं।

वन राष्ट्रीय आय के अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन हैं। उनसे उद्योगों के लिए अनेक कच्चे माल प्राप्त होते हैं। भारत के वनों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण समस्याएँ यह हैं कि : (१) वनों के क्षेत्रफल में वृद्धि की जाय, (२) देश में जितने प्रकार के वृक्ष पाए जाते हैं उनका संरक्षण किया जाय और (३) यथासंभव नई जाति के वृक्ष भी उगाने प्रारम्भ हों। भारत सरकार ने वन नीति से सम्बन्धित मई १९५२ के प्रस्ताव में भारतीय वनों की सुरक्षा और उनके विकास की आवश्यकता पर ध्यान दिया। उस प्रस्ताव में यह लक्ष्य रखा गया कि देश की कुछ भूमि का एक-तिहाई भाग वनों के रूप में रहे। हिमालय-प्रदेश, दक्षिण और अन्य पर्वतीय क्षेत्रों पर वनों के अन्तर्गत कुल भूमि का ६०% रहेगा, जब कि समतल क्षेत्रों में कुल भूमि २०% पर जंगल उगाए जायेंगे। प्रथम पंचवर्षीय योजना में वनों की विकास-

सम्बन्धी नीति के अन्तर्गत यह व्यवस्था रखी गई थी कि (अ) युद्ध के समय में जो भाग बिल्कुल उजड़ गए थे, उनका नवकरण (renovation) हो, (ब) जहाँ अधिक मात्रा में भूमि-क्षरण हुआ था, वहाँ जंगल लगाए जायँ, (स) वनों में आवागमन के साधनों का विकास किया जाय, (द) ईंधन के अभाव को दूर करने के लिए गाँवों में अधिक बाग लगाए जायँ, और (य) कई प्रकार की ऐसी लकड़ी, जो अब तक इमारती लकड़ी के रूप में काम में नहीं आ रही थी, उसे ठीक ढंग से सिझाने और मसाला लगाकर मजबूत बनाने के बाद अधिकाधिक प्रयोग में लाया जाय। राज्य सरकारों की वन-सम्बन्धी नीति न तो मई १९५२ के वन-नीति से सम्बन्धित प्रस्ताव के बिल्कुल अनुकूल है और न वनों को केन्द्रीय समिति (Central Board of Forests) के अनुरूप है। इस वन केन्द्रीय समिति की बैठक जून १९५३ को देहरादून में हुई थी जिसने कई प्रस्ताव पास किए और जिनका उद्देश्य यह था कि राज्य सरकारें भारत-सरकार की वन-नीति को क्रियात्मक रूप दें। १९५० में भारत-सरकार ने 'वन-महोत्सव आन्दोलन' प्रारंभ किया, जिसका उद्देश्य यह है कि भारत से जंगलों का अभाव दूर किया जाय। किंतु अभाग्यवश इस कार्य-क्रम के अंतर्गत लगाए गए अधिकांश वृक्ष पानी न मिलने और लापरवाही के कारण सूख गए। अधिक वृक्ष लगवाना और जब तक वे काफी बड़े न हो जायँ उनकी देखभाल करते रहना तो आवश्यक है ही, किंतु उसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि ईंधन अथवा अन्य किसी उपयोग के लिए खड़े वृक्ष न कटवाए जायँ।

मछली-उद्योग—"भारत के लम्बे समुद्र-तट पर असंख्य मुहाने, नमकीन पानी वाली झीलें और स्थिर जलाशय हैं, जिनसे काफी मछलियाँ प्राप्त होती हैं। नमकीन पानी वाला क्षेत्र लगभग १० करोड़ ६० लाख एकड़ है, जिसमें चिल्का झील भी शामिल है। यह चिल्का झील २,५६,००० एकड़ के विस्तार में फैली हुई है और इससे प्रतिवर्ष ३,००० टन मछली प्राप्त होती है। मछली-उद्योग से भारत की राष्ट्रीय-आय में प्रतिवर्ष १० करोड़ रुपये आते हैं। यह मछली-उद्योग मुख्यतः दो प्रकार का है: (१) देश के अंदर का मछली उद्योग (inland fisheries), (२) समुद्री मछली-उद्योग (marine fisheries)। मछली पकड़ने के आँकड़े भारत में विश्वस्त रूप से प्राप्त नहीं हैं। भारत में प्रतिवर्ष समुद्री मछलियों का उत्पादन लगभग १०० लाख मन है और ताजे पानी की मछलियों का उत्पादन ५० लाख मन से कुछ कम होता है। आयात द्वारा प्राप्त मछलियों को मिलाकर भारत में प्रतिवर्ष २७० लाख मन की कुल पूर्ति होती है, जिसमें से ७०% मुहाने और समुद्र की मछलियाँ और शेष ३०% ताजे पानी की मछलियाँ होती हैं।

इसका अर्थ यह है कि प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति को ३४ पौंड मछली मिलती है, जो निश्चित रूप से अपर्याप्त है। उत्तरप्रदेश और पंजाब की अपेक्षाकृत ट्रावनकोर कोचीन, पश्चिमी बंगाल और बम्बई में प्रति व्यक्ति मछली का उपयोग अधिक है।" यह अनुमान किया जाता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में मछलियों की कुल उत्पत्ति लगभग १० लाख मीट्रिक टन थी जिसका २०% घरेलू उपयोग के लिये थी और बाकी समुद्री मछली अथवा बेचने के लिये देश के अंदर से प्राप्त मछलियाँ थीं। प्रथम योजना के फलस्वरूप ऐसा अनुमान किया जाता है कि मछलियों की उत्पत्ति १०% बढ़ जायगी। १६५५—५६ में मछलियों की उत्पत्ति ११ लाख लाख मिट्रिक टन से कुछ अधिक थी। दूसरी पंचवर्षीय योजना में मछलियों का उत्पादन लगभग ३३% बढ़ जायगा अर्थात् १४ लाख मीट्रिक टन हो जायगा। वर्तमान समय में प्रति व्यक्ति मछलियों का वार्षिक उपभोग ४ पौण्ड से कम ही है। जनता का भोजन संतुलित करने के लिये यह आवश्यक है कि मछलियों का उपभोग बढ़ाया जाय।

समुद्री मछलियों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए मछली पकड़ने में वैज्ञानिक यंत्रों के प्रयाग करने की आवश्यकता है, क्योंकि अभी तक एक सीमित क्षेत्र में ही मछलियों का शिकार किया जाता है। जहाँ तक देश के अंदर मछली पकड़ने का सम्बन्ध है, इस बात की आवश्यकता है कि मछलियों का पोषण करने और उनके शिकार करने का कार्य वैज्ञानिक रीति से किया। "भारत के वर्तमान जलाशयों में प्रमुख रूप से तालाब और झीलें आती हैं। कार्प (Carp) मछलियाँ बहुधा भारतीय समुद्रों में पोषित होती हैं। चूँकि यह बँधे हुये पानी में अंडे नहीं देतीं, इसीलिये उन्हें प्रतिवर्ष पोषित करने की आवश्यकता होती है। यदि बँधे हुए पानी में कार्प मछली के कृत्रिम अण्डोत्पादन (artificial spawning) को विकसित किया जाय, तो मछली-उद्योग का भी विकास होगा। मछलियाँ या तो ताजी खाई जाती हैं या उन्हे भविष्य में खाने के लिए धूप में सुखा लिया जाता है या नमक में जमा लेते हैं। शेष ऐसी मछलियाँ जो खाने के योग्य नहीं रह जाती हैं उनकी खाद बना लेते हैं। मछली-उद्योग के द्वारा हमें मछलियाँ तो प्राप्त होती हैं, इसके अतिरिक्त सार्डीन (Sardines), शार्क लिवर तेल (shark liver oil) जैसी अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ भी प्राप्त होती हैं।

कृषि उत्पादन—भारतवर्ष मे उष्ण कटिबन्ध, अर्ध उष्ण कटिबन्ध और समशीतोष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होने वाली विविध प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं। इन फसलों में खाद्यान्न और व्यवसायिक दोनों ही प्रकार की फसलें सम्मिलित हैं, किन्तु प्रमुख रूप से खाद्यान्न ही अधिक उगाए जाते हैं। उक्त कथन इसी बात

से स्पष्ट हो जाता है कि खेती की जाने वाली कुल भूमि के ८५% भाग पर खाद्यान्न का ही उत्पादन किया जाता है।

हमारे यहाँ रबी और खरीफ दो मुख्य फसलें[1] होती हैं। खरीफ फसलों के अन्तर्गत मुख्यतः चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास, गन्ना और मूँगफली बोई जाती है और रबी फसलों में गेहूँ, जौ, चना, मटर, अलसी और सरसों आदि की खेती की जाती है। "चावल की खेती गंगा की घाटी, पंजाब के पहाड़ी जिलों, उत्तर-प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, आसाम, पश्चिमी घाट और उड़ीसा व मद्रास के समुद्रतटीय भागों में होती है। पंजाब, पेप्सू, उत्तर-प्रदेश व मध्य प्रदेश के अधिकांश भाग पर गेहूँ की खेती की जाती है। गन्ना गंगा के मैदान, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, हैदराबाद और पंजाब में उगाया जाता है। मूंगफली, अलसी, अंडी, तिल्ली, तिलहन आदि मद्रास के उत्तरी भागों में और कपास दक्षिण प्लेटो के उत्तरी-दक्षिणी भागों व पंजाब में उगाई जाती है। चाय की खेती विशेष कर दार्जिलिंग, आसाम और नीलगिरि की पहाड़ियों पर होती है। जूट प्रमुख रूप से बंगाल में पैदा होता है। कहवा, चाय, रबड़, काली मिर्च और इलायची के पेड़ अन्नामनाई और कार्डमन (cardamom) की पहाड़ियों पर पाए जाते हैं। मालाबार तट पर उगे नारियल के घने-घने वृक्षों से गरी के गोले और रस्सियाँ बनाने के लिए जटाएँ प्राप्त होती हैं। इन्हीं क्षेत्रों से देश भर के लिए काजू की माँग पूरी की जाती है।"

१९५१ की गणना के अनुसार इस देश का भौगोलिक क्षेत्रफल लगभग ८१ करोड़ २५ लाख एकड़ है, किन्तु इसमें से केवल ६२ करोड़ ३५ लाख एकड़ भूमि ही गाँव के पुराने लेखों (record) में दर्ज मिलती है। इस क्षेत्रफल में से लगभग २६ करोड़ ८५ लाख एकड़ भूमि पर खेती की जाती है। यदि हम इस क्षेत्रफल में उन क्षेत्रों के भी अनुमानित आँकड़े जोड़ लें जहाँ से कोई सूचना प्राप्त नहीं होती तो खेती की जाने वाली कुल भूमि लगभग ३४ करोड़ एकड़ हो

---

1. जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ हैं वहाँ खरीफ फसल जून में, नहीं तो फिर बरसात शुरू हो जाने पर जुलाई में बोई जाती है और जाड़े में काटी जाती है। रबी फसल बरसात समाप्त हो जाने पर अक्तूबर-नवम्बर में बोई जाती है और अप्रैल मई में काटी जाती है। गन्ना जनवरी-फरवरी में बोया जाता है और अगले जाड़े में शक्कर के कारखाने में पिराई होने के समय तक तैयार हो जाता। यह पिराई नवम्बर-दिसम्बर से प्रारंभ होता है। यद्यपि गन्ना रबी फसल समाप्त हो जाने पर बोया जाता है, फिर भी इसे खरीफ की फसलों के अन्तर्गत इसलिए शामिल किया जाता है कि इसकी कटाई खरीफ की फसलों के साथ ही होती है।

जायगी। १९५६-५७ में कुल अन्न की उपज ५७३ लाख टन हुई थी, जिसमें से चावल की उपज २८१ लाख टन, गेहूँ ९१ लाख टन, ज्वार और बाजार १०३ लाख टन और अन्य अन्न ९८ लाख टन थी। इसके अतिरिक्त ११४ लाख टन दालें, चना आदि की उत्पत्ति हुई थी। इस प्रकार १९५६-५७ में कुल अन्न की उपज ६८७ लाख टन हुई थी। इतना अन्न भारत की जनता को खिलाने के लिये पर्याप्त नहीं था और इसलिये विदेश के अन्न पर निर्भर रहना पड़ा। पर उचित व्यवस्था से खाद्यान्न के सम्बंध में देश के आत्म निर्भर हो सकने की सम्भावना है। अन्न के अतिरिक्त खेती से अनेक प्रकार के कच्चे माल की भी उपज होती है। १९५६-५७ में गन्ने की उपज ६५ लाख टन, जूट की ४२.५ लाख गाँठ, रूई ४७.५ लाख गाँठ और तिलहन ६० लाख टन हुई थी। देश में जितना इन कच्चे मालों का उत्पादन होता है वह हमारी आवश्यकता के दृष्टिकोण से कम है। इसलिये इस कमी को पूरा करने के लिये काफी समय तक हमें आयात पर निर्भर रहना पड़ेगा।

पशु पालन—भारत में पशुओं की बहुत अधिकता है। इनकी संख्या संसार के पशुओं की संख्या (रूस के पशुओं को छोड़कर) का ⅓ है। १९५१ की पशु-गणना के अनुसार भारत में कुल २९ करोड़ २२ लाख ५० हजार पशु हैं जिनमें से १५ करोड़ ५० लाख गाय-बैल, ४ करोड़ ३३½ लाख भैंस-भैंसे, ३ करोड़ ९० लाख भेड़ें, ४ करोड़ ७० लाख बकरे-बकरियाँ, ४५ लाख से कुछ कम सुअर, १५ लाख घोड़े, १२ लाख ५० हजार गधे, ६,२९,००० ऊँट और ६०,००० खच्चर हैं। इसके अतिरिक्त ६ करोड़ ७१ लाख ३० हजार मुर्गे-मुर्गियाँ और ६२ लाख ६० हजार बत्तखें हैं। किन्तु भारत के पशुओं की नस्ल बहुत खराब है। यहाँ एक गाय औसत से प्रतिवर्ष ४१३ पौंड दूध देती है, जब कि दूसरे देशों की गायें प्रतिवर्ष २००० से ७००० पौंड तक दूध देती हैं। भारत में कुछ अच्छी नस्ल के भी पशु हैं, जैसे गुजरात की काँकरेज और सौराष्ट्र की गिरि गाएँ दूध देने और अच्छे बछड़े उत्पन्न करने के लिए संसार की सर्वोत्तम नस्लों में गिनी जाती हैं। किन्तु बेकार व निकम्मे पशुओं की संख्या अपेक्षाकृत बहुत अधिक है जो किसानों के लिए तनिक भी सहायक सिद्ध नहीं होते हैं और उनके लिए भार-स्वरूप बनकर रहते हैं। भारत में विविध प्रकार के जंगली जीव और पक्षी भी पाये जाते हैं, किन्तु अभाग्यवश "हमारे यहाँ के शेर, गैंडा, चीता आदि प्रमुख जंगली जीवों की नस्ल समाप्त हो रही है। भारतीय जीवों को सरक्षण देने, उनकी नस्ल को सुरक्षित रखने और उन्हें प्राकृतिक व मानवीय वातावरण में सन्तुलित रखने के लिए भारत-सरकार ने अप्रैल, १९५२ में जंगली जीवों के लिए एक

केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना की" । पक्षियों व संरक्षण के लिए एक राष्ट्रीय समिति (National Committee for Bird Protection) भी बनाई गई है । यह आशा की जाती है कि इन संस्थाओं से भारतीय पक्षियों और जंगली जीवों का संरक्षण और विकास होगा ।

खनिज-पदार्थ

किसी देश के औद्योगिक विकास के लिए उसकी खनिज सम्पत्ति का विशेष महत्व होता है । खनिज सम्पत्ति को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा गया है :—(१) अधातु खनिज (non-metallic minerals), (२) धातु खनिज (metallic minerals) और (३) ईंधन (fuels) । अधातु खनिज के अन्तर्गत अग्निमृत्तिका, सीलीमेनाइट, मेगनेसाइट, बालू, चूना और नमक आदि आते हैं । धातु खनिज के अन्तर्गत सोना, चाँदी, जस्ता, राँगा, टिन, ताँबा, आदि आते हैं और ईंधनों के अन्तर्गत कोयला तथा पेट्रोलियम आते हैं।

भारत में कोयले, कच्चे लोहे, मैंगनीज, बौक्साइट और अबरक जैसे खनिज पदार्थों की बहुतायत है; रिफ्रैक्टरीज (refractories), एब्रेसिव (abrasives), चूना और जिप्सम भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं और अबरक, टिटानियम और कच्चा थोरियम भी काफी बड़ी मात्रा में पाया जाता है । परन्तु दुर्भाग्य से ताँबा, टिन, सीसा, जस्ता, गिलट, कोबाल्ट, गंधक और पेट्रोल जैसे महत्वपूर्ण खनिजों की बहुत कमी है और इनके अभाव को पूरा करने के लिए हमें अधिकतर आयात पर निर्भर करना पड़ता है ।

"खानों की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वशाली भाग छोटा नागपुर का पठार है, जिसे गोंडवाना भी कहते हैं, जिसमे दक्षिण बिहार; दक्षिण पश्चिमी बंगाल उत्तरी उड़ीसा आते हैं । कोयला, लोहा, अबरक और ताँबा आदि अधिकांश इसी भाग से प्राप्त होते हैं । कोयला विशेषकर झरिया, रानीगंज के क्षेत्रों से निकाला जाता है पर बभ्रुअंगार (Ligmit) के रूप में दक्षिणी पूर्वी हैदराबाद, दक्षिणी मध्य प्रदेश और दक्षिणी पूर्वी मद्रास के समुद्री तट पर भी पाया जाता है । लोहा मैसूर में और अबरक उत्तरी मद्रास और राजस्थान में पाया जाता है । इल्मेनाइट और मोनेजाइट (Ilmenite and Monazite) जो युद्ध-कालीन महत्ता रखने वाली धातुयें हैं, ट्रावन्कोर के तटीय प्रदेश की बालू में पायी जाती हैं । मेगनेसाइट मद्रास की खड़िया मिट्टी वाली पहाड़ियों पर और सोना मैसूर के कोलार क्षेत्र में पाया जाता है । बौक्साइट स्टीटाइटजिप्सम इमारतों के बनाने में काम आने वाले पत्थर नमक, अग्निमृत्तिका, कोरन्डम फुलर्स अर्थ आदि भी पर्याप्त

मात्रा में यहाँ पाये जाते हैं। संसार भर की अबरक की उत्पत्ति का ६०% भारत में उत्पन्न होता है। मैंगनीज़, इल्मेनाइट, मोनेजाइट, लोहा आदि संसार भर में सबसे अधिक भारत में ही मिलते हैं। भारत की धातुओं को पूर्णरूप से काम में नहीं लाया गया है। देश में पेट्रोलियम की कमी है केवल आसाम में ही इसके कुयें हैं। इन कुओं से प्राप्त उत्पत्ति बहुत ही नगण्य है। इसी प्रकार अन्य धातुओं की जैसे राँगा, गन्धक, चाँदी, जस्ता, टिन, पारा आदि की उत्पत्ति देश की आवश्यकता से बहुत कम है।

अध्याय ३

जन संख्या

किसी देश के आर्थिक विकास का वहाँ की जनसंख्या से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। मनुष्यों की संख्या, उनका स्वास्थ्य, अवस्था स्त्री और पुरुष की संख्या का अनुपात, जन्म और मृत्यु दर और देश में प्राप्त खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में उनके उद्योग आदि सब उनकी स्थिति आर्थिक निश्चित करते हैं। यह एक बड़े विचार की बात है कि भारतवर्ष जो कि ससार का सबसे अधिक घना बसा देश है सबसे गरीब भी है। इसलिये यहाँ की समस्या जन संख्या के वृद्धि की दर में कमी और प्राकृतिक साधनों के उपयोग में वृद्धि करने की है।

भारत की जनसंख्या १८६१ में २३.५६ करोड़ थी; १६२१ में बढ़कर २४.८१ करोड़ हुई जो १६३१ में २७.५५ करोड़, १६४१ में ३१.२८ करोड़ और १६५१ में ३५.६६* करोड़ हो गई। १६२१ तक तो जनसंख्या की वृद्धि में अकाल और बीमारियों द्वारा कमी होती रही और अन्न की उपज बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये पूरी पड़ती रही। परन्तु १६२१ के पश्चात जनसंख्या में अन्न की उपज की तुलना तीव्रतर गति से वृद्धि हुई है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि देश को अन्न की कमी की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। १६५१ की जनगणना रिपोर्ट, १६२१ को महान विभाजक (The Great Divide) के नाम से व्यक्त करती है, क्योंकि (१) इसके पहिले जनसंख्या न्यूनाधिक घटती हुई सी थी परन्तु इस वर्ग के बाद से निरन्तर बढ़ती रही है, और (२) इस वर्ष के पहिले तक भूमि का प्रयोग भी जनसंख्या की वृद्धि के अनुकूल ही बढ़ता रहा पर इसके बाद से अन्न की कमी होनी गई।

वृद्धि की दर—१६५१ तक के पिछले १० वर्षों मे भारत की जनसख्या लगभग ४.१४ करोड़ के बढ़ गई है जो १२½% की वृद्धि कही जा सकती है अथवा जिसे १¼%प्रतिवर्ष की वृद्धि कह सकते हैं। यह वृद्धि विभिन्न भागों मे विभिन्न गति से हुई है। पंजाब, अण्डमान और नीकोबार टापुओं में ०.५ प्रतिशत और ८.६ प्रतिशत क्रमशः कमी हुई है। अन्य राज्यों मे से दिल्ली (६२.१%), कुर्ग (३०.५%), त्रिपुरा (२१.६%), मैसूर (२१.२%), त्रिवंकुर कोचीन (२१.२%) और बम्बई

* इस सख्या मे जम्मू काश्मीर और आसाम के आदिवासियों की संख्या सम्मिलित नहीं है।

२०.८%) में सबसे अधिक वृद्धि हुई; हिमांचल प्रदेश (३.७%), पेप्सू (२.६%), विन्ध्य प्रदेश (६%), उड़ीसा (६.२%), भोपाल (७.२%), मध्य प्रदेश (७.६%) और बिहार (६.६%) में वृद्धि की गति अपेक्षाकृत कम रही।

जन्म और मृत्यु दर—जन संख्या में वृद्धि और कमी जन्म और मृत्यु दर के अन्तर पर निर्भर होती है। इधर पिछले वर्षों में भारत की जन्म दर और मृत्यु दर दोनों में कमी हुई है। जन्म दर जो कि १६३१ में ३५ प्रति हजार थी घट कर १६४१ में ३२.१ प्रति हजार, और १६५० में २४.८ प्रति हजार हो गई। मृत्यु दर जो कि १६३१ में २५ प्रति हजार थी, घट कर १६४१ में २१.६ प्रति हजार और १६५० में १६ प्रति हजार हो गई। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जन्म दर में मृत्यु दर की अपेक्षा अधिक कमी हुई। चूंकि जन्म और मृत्यु के आँकड़े विश्वस्त नहीं हैं इसलिए १६५१ की जनगणना रिपोर्ट ने यह अनुमान लगाया है कि १६४१-५० के बीच के दस वर्षों में जन्म दर का औसत ४० प्रति हजार और मृत्यु दर का औसत करीब २७ प्रति हजार रहा है। इसलिये १३ प्रति हजार प्रति-वर्ष जनसंख्या में वृद्धि हुई है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश में विश्वस्त आँकड़े अप्राप्य हैं पर हम यह तो कह सकते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि की दर बढ़ती गई है।

जन्म दर में कमी विवाह की अवस्था बढ़ाने, आत्म संयम और गर्भ निरोध के कृत्रिम उपायों के अनुसार सम्भव हो सकती है। परन्तु जल्दी तारुण्य अवस्था को प्राप्त करने तथा आर्थिक अथवा अन्य कारणों से विवाह की अवस्था बढ़ाना सम्भव नहीं है। देर में विवाह करने की प्रथा पढ़े लिखे लोगों में बढ़ रही है इतने पर भी उन लोगों में अभी भी विवाह की अवस्था कम ही है। आत्म-संयम बहुत ही कठिन है। उसके लिये प्रायः हममें आत्मबल की कमी है जिसके कारण उसकी सफलता में सन्देह है। गर्भ निरोधक कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग निम्न कारणों से विशेष प्रचलित नहीं हो सका है : (१) उनके विरुद्ध धार्मिक भावना, (२) उनका अधिक मूल्य, (३) जनता में उनके प्रयोग करने के ढंगों के प्रति अनभिज्ञता, (४) इस सम्बन्ध में परामर्श और शिक्षा देने वाले अस्पतालों की कमी। यदि कृत्रिम उपायों का प्रयोग प्रचलित करना है तो इन कठिनाइयों को दूर करने के उपाय करना अत्यन्त आवश्यक होगा।

डा० स्टोन का सुरक्षित काल प्रणाली ('Safe Period method') का प्रयोग भी सस्ता और सफाई की दृष्टि से उपयुक्त होते हुये भी अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया है क्योंकि अधिकांश जनता इस प्रणाली का सफलतापूर्वक उपयोग करना नहीं जानती।

यह दुर्भाग्य की बात है कि जन साधारण (बहुत से उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों को सम्मिलित करते हुये) परिवार नियोजन की आवश्यकता तथा उसके उपायों से अनाभज्ञ हैं। वे सब बात भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। इसके कारण परिवार नियोजन का कार्य अपने देश में एक कठिन समस्या के रूप में उपस्थित है। "प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत परिवार नियोजन कार्य के प्रति जनता में सक्रिय सहानुभूति की भावना जगाना और वर्तमान ज्ञान के आधार पर तत्सम्बन्धी परामर्श और सेवा के साधनों के विकास की ओर रहा है। साथ ही साथ इस सम्बन्ध में भैषजिक जैवकीय और साख्य के अध्ययन का कार्य भी किया गया। राज्यों, स्थानीय संस्थाओं, वैज्ञानिक सस्थाओं को ११५ परिवार नियोजक औषधालयों और १६ साख्यकीय तथा जैवकीय समस्याओं के प्रति खोज करने वाली योजनाओं को अनुदानों द्वारा सहायता दी गई। दूसरी पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम में वृद्धि करने का विचार किया गया है"।

"यह प्रस्ताव किया गया है कि प्रति ५०,००० व्यक्तियों के लिए प्रत्येक नगर और कस्बों मे एक औषधालय खोला जाय। छोटे कस्बों और गाँवों मे धीरे-धीरे प्रारम्भिक स्वास्थ्य संस्थाओं के सहयोग मे औषधालय खोले जायें। इन औषधालयों का कार्य जनता में इस समस्या के प्रति जागरुकता उत्पन्न करना होगा और उन्हें इस सम्बन्ध में परामर्श और सेवा प्रदान करनी होगी। बंगलौर में एक केन्द्रीय प्रशिक्षण विरुजालय (clinic) का खोला जाना विचाराधीन है। बम्बई मे कृत्रिम उपायों का परीक्षालय स्थापित हो रहा है। प्रत्येक भैषजिक विद्यार्थियों और उपचारिकाओं को परिवार नियोजन की शिक्षा देना आवश्यक है प्रत्येक औषधालय में परिवार नियोजन सेवा विभाग स्थापित होना चाहिये। यह भी प्रस्ताव किया गया है कि भैषजिक जैवकीय तथा आँकड़ों से सम्बन्धित *अन्वेषण सस्था स्थापित की जाय। ५ करोड़ रु० का प्रबन्ध परिवार नियोजन के* कार्यक्रम के लिये निश्चित कर दिया गया है। यह आशा की जाती है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक लगभग ३०० विरुजालय नगरों में और २००० विरुजालय गाँवों में स्थापित कर दिये जायँगे"।

मृत्युसंख्या की दर—मृत्युसख्या की दर शारीरीक कारणों और वातावरण पर निर्भर करती है। शारीरिक दशा पौष्टिक तत्वों, स्वच्छता, चिकित्सा की सुविधा इत्यादि पर निर्भर करती है। वातावरण की दशा बाढ़, अकाल, युद्ध इत्यादि पर निभर करती है। मृत्युसख्या की दर प्रत्येक वर्ष भिन्न-भिन्न रही है परन्तु प्राप्त आँकड़ों के अनुसार मृत्युसख्या की दर घटती जा रही है। इसका कारण यह है कि चिकित्सा की सुविधा बढ़ी है और सफाई की ओर अधिक ध्यान

दिया जाने लगा है। यह आशा की जाती है कि भविष्य में चिकित्सा की सुविधा में वृद्धि होने के साथ-साथ मृत्युसंख्या की दर भी घटती जायगी। बहुमुखी योजनाओं के पूरा हो जाने के बाद अकाल और बाढ़ का जोर कम हो जायगा। भारत में बच्चों की मृत्युसंख्या अधिक होने से मृत्युसंख्या की दर अधिक है। यह अनुमान लगाया गया है कि कुल जितने बच्चे पैदा होते हैं उनमें से १५ प्रतिशत एक वर्ष की आयु होने से पहले ही मर जाते हैं। सरकारी तौर पर की गई गणना के अनुसार यह पता चला है कि इन बच्चों में से ५० प्रतिशत पैदा होने में एक महीने के अन्दर मर जाते हैं और ६० प्रतिशत पहले सप्ताह में ही मर जाते हैं।

भारत में प्रतिवर्ष अनेक बीमारियों जैसे हैजा, चेचक, प्लेग, ज्वर और डिसेन्ट्री इत्यादि से लाखों व्यक्ति मर जाते हैं। हैजा, चेचक और प्लेग महामारियाँ हैं। सभी बीमारियों से कुल जितने लोगों की मृत्यु होती है उसका ५·१ प्रतिशत इन महामारियों के शिकार होते हैं। इससे प्रकट है कि महामारियों के कारण बहुत अधिक मृत्यु नहीं होती है। विभिन्न बीमारियों से होने वाली मृत्युओं के ५७·५ प्रतिशत का कारण अनेक प्रकार के ज्वर होते हैं। अस्पतालों की सुविधा बढ़ा कर, स्वास्थ्य-सुधार की योजना लागू कर, लोगों की बीमारियों के आक्रमण से बचने की शक्ति बढ़ाकर साथ ही लोगों को आत्मविश्वासी और भाग्य पर कम निर्भर बनाकर मृत्युसंख्या की ऊँची दर के कारणों को दूर किया जा सकता है।

स्त्री-पुरुषों का अनुपात—भारत में पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक है परन्तु मद्रास, उड़ीसा, त्रिवाकुर कोचीन और कच्छ में यह स्थिति विपरीत है। इन राज्यों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार कच्छ में सबसे अधिक स्त्रियाँ हैं। यहाँ प्रति हजार पुरुषों के पीछे १०७९ स्त्रियाँ हैं। कुर्ग में स्त्रियों की संख्या अन्य सब राज्यों से कम है। यहाँ प्रति हजार पुरुषों के पीछे ८३० स्त्रियाँ हैं। इस स्थिति के अनेक सामाजिक, धार्मिक और (Biolgical). कारण हैं। प्रायः सभी वर्ग की जनता और विशेषकर हिन्दू समुदाय लड़की की अपेक्षा लड़के को अधिक चाहते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि लड़कियों की उचित देख-रेख नहीं की जाती है और उनकी प्रायः मृत्यु हो जाती है। धार्मिक भावना के अतिरिक्त इसका एक कारण यह है कि समाज में शिक्षा का प्रसार कम है और लोग समाज में स्त्री के महत्व को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते हैं। इससे प्रायः लड़कियों की विशेष देख-भाल नहीं की जाती है। प्रसव के समय अनेक स्त्रियों की मृत्यु हो जाने से भी स्त्रियों की संख्या कम है।

अवस्था—भारत में बच्चे और नवयुवकों की जनसंख्या में प्रधानता है। १६५१ में १४ वर्ष तक के लोग ३८·३%, १५ से ३४ वर्ष तक के लोग ३३%, ३५ से ५४ वर्ष तक के लोग २०·४% और ५५ वर्ष के ऊपर के लोग केवल ८·२% थे। अन्य देशों में, जैसे फ्रान्स, इङ्गलैण्ड, जर्मनी, उत्तरी अमरीका आदि में, स्थिति इसके विपरीत है। इन देशों में ५५ वर्ष और इसके ऊपर की अवस्था वाले व्यक्ति कुल जनसंख्या के क्रमशः २१·४%, २१·१%, १६ १% और १६·६% हैं।

घनत्व और वितरण—भारत में औसत जनसंख्या का घनत्व ३१२ प्रति वर्ग मील है। घनत्व की मात्रा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में बदलती हुई है। एक ओर दिल्ली में ३०१७, ट्रावन्कोर कोचीन में १०१५ प्रति वर्ग मील है तो दूसरी ओर अण्डमान निकोबार में १०, और कच्छ में ३४ प्रति वर्ग मील है। इस बदलते हुये घनत्व का कारण प्राकृतिक बनावट, भूमि तथा वर्षा है। इन कारणों पर ही भूमि के उचित प्रयोग की मात्रा निर्भर है। इसलिये घनत्व की समस्या का अध्ययन प्राकृतिक भागों के आधार पर अधिक युक्तिसंगत होगा। इस दृष्टिकोण सिन्धगंगा के मैदान के निचले भाग में घनत्व ८३२ और ऊपर के भाग में घनत्व ६८१, मालाबार कोकन में ६३८, दक्षिणी मद्रास में ५५४, उत्तरी मद्रास और उड़ीसा के समुद्री तट पर ४६१ है। ये भाग बहुत अधिक घनत्व वाले कहे जा सकते हैं। दक्षिणी भाग में, उत्तरी भाग में, गुजरात काठियावाड़ में, जहाँ पर जनसंख्या का घनत्व साधारण कोटि का है, प्रतिवर्ग मील में क्रमशः ३३२, २४७, २४६ और २२६ व्यक्ति निवास करते हैं। दक्षिणी पठार के उत्तरी पूर्वी भाग में, उत्तरी केन्द्रीय पहाड़ियों में, पूर्वी पठार में, उत्तरी पश्चिमी पहाड़ियों में, हिमालय, पश्चिमी हिमालय और रेगिस्तानी भागों में जनसंख्या का घनत्व क्रमशः १६२, १६४, १६३, ११८ ६८ और ६१ व्यक्ति प्रतिवर्ग मील है। जनसंख्या के इस असमान वितरण के कारण प्रत्येक स्थान पर प्राप्त प्राकृतिक सुविधाओं का समुचित प्रयोग नहीं हो पाया है।

भूमि के प्रयोग सम्बन्धी आँकड़ों पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (अ) योरुप जहाँ संसार भर में जनसंख्या का घनत्व सबसे अधिक है भारत की तुलना में अधिक आगे नहीं है। औसत भारतीय अपनी भूमि का ४३% खेती के काम लाता है जब कि औसत योरुपीय केवल ६० प्रतिशत ही काम में लाता है। (ब) संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस के व्यक्तियों के पास योरुप निवासियों और भारतीयों की अपेक्षा अधिक भूमि है। भारत में भूमि पर जनसंख्या के भार का कुछ अनुमान इस बात से लगता है कि बोये हुये खेतों में जनसंख्या के प्रति व्यक्ति का औसत ०.८२ एकड़ है।

यदि कटिबन्धों के दृष्टिकोण से जनसंख्या के वितरण पर विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि उत्तरी भारत में केवल उत्तर प्रदेश की जनसंख्या ६·३२ करोड़ अथवा कुल जनसंख्या का १८% है। पूर्वी भारत की (जिसमें बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, आसाम, मनीपुर, त्रिपुरा और सिकिम आते हैं) जनसंख्या ६ करोड़ या कुल जनसंख्या का २५% है। दक्षिणी भारत (जिसमे मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर कोचीन और कुर्ग आते हैं) की जनसंख्या ७·५६ करोड़ या कुल जनसंख्या की २१% है। पश्चिमी भारत की जनसंख्या जिसमें बम्बई, सौराष्ट्र और कच्छ आते हैं ४.०७ करोड़ या ११% है। मध्यभारत की जनसंख्या जिसके अन्तर्गत मध्यभारत, हैदराबाद, भोपाल और विन्ध्य प्रदेश आते हैं ५·२३ करोड़ या १५% है। उत्तरी पश्चिमी भारत की जनसंख्या जिसके अन्तर्गत राजस्थान, पंजाब, पेप्सू, जम्मू और काश्मीर (आंकड़े सम्मिलित नहीं हैं), अजमेर' दिल्ली, बिलासपुर, और हिमालय प्रदेश आते हैं, ३५ करोड़ या १०% है। यदि भूभागों के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि उत्तरी मैदान की जनसंख्या३६·१%, प्रायद्वीप पहाड़ियों और दक्षिणी पठार की जनसख्या ३०·४%, पूर्वी घाट और समुद्री तट की जनसंख्या १४·५%, पश्चिमी घाट और समुद्री तट की जनसंख्या ११·२%, हिमालय के 'भूमाग की जनसंख्या ४८% है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि देश के उपजाऊ मैदानों में अधिकांश जनसंख्या बसी हुई है।

मध्यप्रदेश का क्षेत्रफल सबसे अधिक है, अर्थात् १३०२७२ वर्ग मील, तथा इसके पश्चात् राजस्थान है जिसका क्षेत्रफल १३०२०७ वर्ग मील है, जबकि जनसंख्या उत्तर प्रदेश की सबसे अधिक अर्थात् ६·३ करोड़ है और इसके पश्चात् मद्रास, बिहार, और बम्बई हैं जिनकी जनसंख्या क्रमशः ५.७, ४तथा ३.५६ करोड़ है। विंध्य प्रदेश तथा दिल्ली के अतिरिक्त जिनकी जनसंख्या क्रमशः ३५.७ लाख तथा १७.४ लाख है—किसी भी स और द राज्य की जनसख्या १० लाख से अधिक नहीं है। सबसे कम जनसंख्या वाला प्रदेश अण्डमन और निकोबार द्वीप है जिसकी जनसंख्या केवल ३०६७१ है। भारत की अधिकतर जनता गांवों मे निवास करती है। ३५·७ करोड़ की कुल जनसंख्या में से केवल ६·२ करोड़ अथवा १७.३% नगरों और कस्बों में (जिनकी संख्या ३०१८ है) रहती है और शेष २६.५ करोड़ या ८२.७% जनसंख्या गाँवों मे रहती है जिनकी सख्या ५५८०८६ है। देश के औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप गाँवों की जनसंख्या निरन्तर नगरों की ओर बढ़ती जा रही है। १६२१ मे ८८.७% जनसंख्या गाँवों में निवास करती थी और ११.२% नगरों में। १६४१ में ८६.१% गाँवों मे और १३.६% नगरों में निवास करने लगी और १६५१ मे, जैसा कि ऊपर बताया जा

चुका है, ८२·७% गाँवों मे और १७·३% नगरों में रहने लगी। दिल्ली और अजमेर के छोटे राज्यों को छोड़कर जहाँ कि शहर की आबादी क्रमशः ८३% और ४३% है, बड़े राज्यों मे बम्बई और सौराष्ट्र के राज्य सबसे आधुनिक हैं जहाँ ३४% और ३१% जनसंख्या नगरों में रहती है।

भारत के ७३ शहरों की आबादी एक लाख के ऊपर है। आसाम और पेप्सू में ऐसा कोइ नगर नहीं है। 'स' राज्यों के सात भागों केवल नई दिल्ली अजमेर और भूपाल ऐसे नगर हैं। देश के सबसे बड़े नगरों में बम्बई की जनसंख्या २८·३५ लाख, है, कलकत्ता की २५·४६ लाख, मद्रास की १४·१६ लाख, हैदराबाद की १०·८६ लाख, दिल्ली की ६·१५ लाख, अहमदाबाद की ७·८८ लाख, और बंगलौर की ७.७६ लाख है।

धर्म और विवाह—भारत में अनेक धर्मों के मानने वाले रहते हैं पर हिन्दुओं की सख्या प्रधान है। १६५१ में ३५·७ करोड़ की आबादी में से ३०·३ करोड़ हिन्दू थे, ३·५ करोड़ मुसलमान,८२ लाख ईसाई, ६२ लाख सिक्ख, १६ लाख जैन, २ लाख बौद्ध १ लाख जोराष्ट्रियन (पारसी), १७ लाख अधिवासियों के धर्मावलम्बी तथा १ लाख अन्य धर्मों के पालन करने वाले थे।

भारत में प्रति १०, ००० व्यक्तियों (शरणार्थियों को छोड़ कर) में ५१३३ पुरुष तथा ४८६७ स्त्री हैं। इनमें २५२१ पुरुष व १८८६ स्त्रियाँ अविवाहित हैं अर्थात् स्त्रियों और पुरुषों को मिलाकर कुल जनसंख्या ४४·१% अविवाहित हैं। बाल विवाह रोक कानून के होते हुए भी देश में अत्यधिक बाल-विवाह होते हैं। १६५१ की जन गणना के अनुसार लगभग २८३३००० पुरुष' ६११८००० विवाहित स्त्रियाँ, ६६००० विधुर और १३४००० विधवायें ५ और १४ वष की अवस्था के बीच की थीं। इसी रिपोर्ट के अनुसार लगभग ६२०००००० विवाह बाल विवाह निरोधक नियम के प्रतिकूल हुये थे।

व्यवसाय—देश भर के ७०% व्यक्ति कृषि पर और ३०% अन्य व्यवसायों पर निर्भर रहते हैं। सौराष्ट्र, कच्छ, अजमेर दिल्ली अन्डमान, नीकोबार में खेती करने वालों की सख्या की तुलना में अन्यप्रकार के व्यवसायियों की संख्या अधिक है।पश्चिमी बंगाल और बम्बई प्रदेशों मे जो सबसे अधिक औद्योगिक प्रदेश हैं वहाँभी खेती करने वालों की संख्या व्यवसायियों से बढ़ी हुई है। हिमाञ्चल प्रदेश और सिकिम में कृषि करने वालो की संख्या कुल आबादी की ६०% है। प्रत्येक १०० भारतवासियो में ४७ तो ऐसे किसान हैं जिनके पास अपने खेत हैं, ६ आसामी हैं, १३ बिना भूमि के श्रमिक हैं, १जमीन्दार हैं अथवा लगान पर आश्रित हैं और १० उद्योगों में लगे हुए हैं अथवा कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्य करते हैं,

६ व्यापार करते हैं, २ यातायात में लगे हैं और १२ विभिन्न प्रकार की नौकरियों में लगे हैं। १६५१ की जनगणना के अनुसार ३५·७ व्यक्तियों में से २४·६ करोड़ किसान और १०·८ करोड़ खेती के अतिरिक्त अन्य कार्य करने वाले लोग थे। २४·६% करोड़ किसानों में से १६·७३ करोड़ अपने निजी खेतों पर खेती करने वाले थे। ३·१६ करोड़ ऐसे किसान थे जो दूसरों के खेत करने वाले थे, ४·८४ करोड़ कृषि कार्य करने वाले मजदूर थे और ०·५३ करोड़ खेती करने वाले जमींदार या लगान पर आश्रित व्यक्ति थे। १०·८ करोड़ अन्य कार्यों में लगे व्यक्तियों में से ३.७ करोड़ कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पत्ति के कार्य में लगे थे, २·१३ करोड़ व्यापार में लगे थे, ०·५६ करोड़ यातायात में लगे थे और ४·३ करोड़ विभिन्न नौकरियों में लगे थे।

अध्याय ४

सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाएँ

सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं का जनता के आर्थिक जीवन पर भारी प्रभाव पड़ता है। यह भौतिक सुख-समृद्धि और सम्पत्ति के संग्रह के प्रति जनता के दृष्टिकोण को, साथ ही इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जनता के प्रयत्नों को निर्धारित करती हैं। यह व्यवस्थाएँ औद्योगिक और वाणिज्य संगठनों को प्रभावित करती हैं साथ ही व्यापार और उद्योग का किस प्रकार संगठन किया जाना चाहिये इस पर भी इन व्यवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। भारत में जाति प्रणाली और संयुक्त परिवार की प्रथाओं का भी देश के आर्थिक संगठन पर काफी प्रभाव पड़ा है; पर्दा-प्रथा, अहिंसा पर विश्वास और धर्म के प्रति सामान्य जनता के दृष्टिकोण ने उनकी आर्थिक-गतिविधि को निर्धारित एवम् संचालित किया है। पर्दा-प्रथा के कारण उच्च-जाति की महिलाएँ देश के आर्थिक-कार्य में भाग नहीं लेती हैं और इस प्रकार जनता को निर्धन रखने में यह प्रथा सहायक सिद्ध होती है। अहिंसा के दृष्टिकोण और इस धार्मिक भावना से कि बन्दर और नील-गाय (जो वास्तव में गाय नहीं है) पवित्र हैं इनको नष्ट नहीं किया जा सकता। इससे फसल तथा अन्य मूल्यवान सम्पत्ति की भारी क्षति होती है। धार्मिक संस्थाओं को जैसे मन्दिरों, मठों और अखाड़ों को जनता जो दान देती है उससे इन संस्थाओं ने बहुत अधिक मात्रा में सम्पत्ति का संग्रह कर लिया है जिसका परिणाम यह होता कि (१) इन संस्थाओं को चलाने वाले पुजारी' पाण्डे तथा अन्य लोग आलसी हो जाते हैं और बेकार पड़े रहते हैं और इस प्रकार देश उनके श्रम का लाभ उठाने से वंचित रह जाता है; (२) इस प्रकार जो धन इकट्ठा होता है वह तिजोरियों में बन्द रखा जाता है और देश के आर्थिक विकास के कार्य में इसका उपयोग नहीं होता है। विश्व के अन्य उन्नत देशों में जनता द्वारा की गई बचत काफी पहिले देश के औद्योगिक तथा कृषि विकास के लिए उपलब्ध हो गई और पूंजी-निर्माण की प्रतिक्रिया को प्रोत्साहन मिला। परन्तु भारत में धार्मिक संगठनों के प्रभुत्व और शास्त्रों के इस आदेश से कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी कमाई का कुछ अंश इन संस्थाओं को दान देना चाहिए और साथ ही मन्दिरों और मठों के प्रति जनता की गहरी श्रद्धा होने से देश में पूंजी-निर्माण का कार्य बहुत शिथिल पड़ गया। देश के उत्तराधिकार कानूनों से भूमि तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति का अनुचित रूप में छोटे-छोटे हिस्सों में विभाजन होता गया है। यदि भारत में सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाएँ भिन्न प्रकार होतीं तो देश की आर्थिक प्रगति भी भिन्न प्रकार की होती।

जातिप्रथा—जाति प्रथा हमारे देश की प्राचीनतम प्रथाओं में से है। एक परिभाषा के अनुसार जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक ऐसा संग्रह है जिसका एक नाम है, जो उसके अन्तर्गत आनेवाले लोगों के व्यवसाय सम्बन्धित होता है और इस नाम से ही उसके अन्तर्गत आनेवाले लोगों का व्यवसाय से मालूम हो जाता है। इसके साथ ही यह दावा किया जाता है कि किसी पौराणिक मानव या देवता से इसका वंश चला है; इसके अन्तर्गत आनेवाले लोगों का एक पेशा है, और राय प्रकट करने के अधिकारी व्यक्ति इसे एक ही समुदाय समझते हैं जिसमें समानता है। हमें यह मालूम नहीं है कि जाति प्रणाली का विकास कैसे हुआ। जाति प्रथा संभवतः श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता के सिद्धांत पर आधारित रही होगी। प्राचीनकाल में हिन्दू समाज चार भागों में विभक्त था, अर्थात ब्राह्मण जो आध्यात्मिक नेता, विद्वान और पुजारी होते थे, क्षत्रिय जो योद्धा और प्रशासक थे, वैश्य जो व्यापारी और सौदागर थे, और शुद्र जो निम्नकोटि के कार्य करते थे, अन्य लोगों की सेवा करते थे—इन अन्य लोगों में अधिकार प्रथम तीनों वर्ग के लोग ही होते थे। इस चार जातियों की प्रणाली से हमें कार्य का विभाजन स्पष्ट मालूम होता है। साथ ही यह प्रयत्न भी प्रकट होता है कि विभिन्न लोग विभिन्न कार्यों में दक्षता प्राप्त करें। आरंभ में जाति प्रणाली वंशगत या पुश्तैनी नहीं थी और एक जाति का व्यक्ति अपने प्रयत्नों के बल पर अपनी जाति से उच्च जाति में प्रवेश पा सकता था। परन्तु बाद में जाति प्रथा अत्यन्त कट्टर रूप धारण कर गई और निश्चित रूप वंशगत हो गई। इसके अतिरिक्त अनेक उपजातियाँ और इन उपजातियों के भी अनेक निम्न-रूपों को जन्म दिया गया जिससे यह सारी व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गई। Advantages:—

आरम्भ में जाति-प्रणाली से कुछ लाभ थे: (१) इस व्यवस्था से किसी कार्य में और ज्ञान में विशेष योग्यता प्राप्त की जा सकती थी जिससे जो कुछ कार्य किया जाता था उसके गुण में बहुत सुधार होता जाता था। प्रायः बेटा वही व्यवसाय अपनाता था जो उसका बाप करता था और इस व्यवसाय के लिए बाप उसे उचित शिक्षा दे देता था। इस प्रकार एक विशेष प्रकार का कार्य और *तत्सम्बन्धी ज्ञान एक परिवार में वंशगत रूप से चला आता था और बेटा बाप से* उस व्यवसाय की योग्यता प्राप्त कर कार्य आगे बढ़ाता था। पण्डितों की सुप्रसिद्ध विद्वत्ता, भारतीय योद्धाओं की अपूर्व सफलताएँ और उच्चकोटि की भारतीय दस्तकारी सभी आंशिक रूप से इस विशेष योग्यता के ही फल थे जो स्वयं इसी जाति-प्रणाली का परिणाम था; (२) जाति-प्रणाली से उन कष्टमय तथा परेशानियों के दिनों में जब कि भारत पर विजातियों ने हमले किये थे हिन्दू-जाति की शुद्धता को

बनाये रखने में बहुत सहायता मिली। जाति-प्रणाली की कट्टरता के फलस्वरूप ही विजेताओं और विजितों के बीच आवश्यकता से अधिक रक्त-सम्बन्ध नहीं हो पाया इसमे काफी रूकावट पड़ी; और (३) जाति-प्रणाली ने आरम्भ से ही हिन्दुओं को अन्य लोगों के विश्वासों और धर्मों के प्रति सहिष्णु बने रहने का पाठ सिखाया है। इसी कारण विभिन्न जातियों और धर्मों के लोग भारत में शांति और भाई चारे के साथ रहते आये हैं इसमे तनिक भी असत्य नहीं है कि आरम्भ में भारत मे जाति प्रणाली ने प्रायः उसी उद्देश्य की पूर्ति की जिसकी यूरोप में गिल्ड-प्रणाली (Guild System) ने की जिसके अन्तर्गत गिल्ड के सदस्यों को टैक्निकल शिक्षा दी जाती थी और उनके अन्य हितों की देखभाल की जाती थी।

परन्तु आधुनिक काल में जाति प्रणाली अत्यन्त जटिल और अपरिवर्तन-शील हो गई है; उसमें एक प्रकार की कट्टरता आ गई है और फलस्वरूप इससे देश की आर्थिक प्रगति में सहायता मिलने की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। जाति प्रणाली के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि : (१) यह आवश्यक नहीं है कि वैश्य का पुत्र अच्छा व्यापारी हो और ब्राह्मण का पुत्र अच्छा पुजारी हो। यह बिल्कुल संभव है कि ब्राह्मण या वैश्य के पुत्र में ऐसी योग्यता है कि वह अत्यन्त कुशल मोची बन सके। परन्तु जाति प्रथा उच्च जाति के लोगों को ऐसे कार्य करने से रोकती है जो कार्य छोटी जातियों को सौंपे गये हैं। इसी प्रकार यदि कोई शूद्र बहुत शिक्षित और विद्वान भले हो परन्तु वह किसी मन्दिर का पुजारी नहीं बन सकता। यह जाति प्रथा ही उसके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बन जाती है। इस प्रकार जाति प्रथा किसी व्यक्तिको ऐसे उत्तम कार्य करने से रोकती है जिसकी उसमे पर्याप्त क्षमता और योग्यता हो। (२) अस्पृश्यता और इससे उद्भुत अन्य कठिनाइयों के कारण जाति-प्रथा जनता के सरल-स्वाभाविक प्रवाह में बाधक बन जाती है। किसी देश के आर्थिक विकास के लिए पूंजी और श्रम की निर्बाध गति-शीलता अत्यन्त आवश्यक होती है। जाति प्रथा ने इसको रोक रखा है और इस सीमा तक हमारे देश में औद्योगिक तथा कृषि क्रांतियों का अभाव रहा है। (३) कट्टर जाति प्रथा के कारण हम श्रम-सम्मान (dignity of labour) को भूल गये हैं और इससे अन्य लोगो के विश्वासों, धर्मों और दृष्टिकोणों के प्रति हमारी सहिष्णुता की भावना भी कम हो गई है। इसीलिए इससे गतिरोध उत्पन्न हो गया है, हमारा समाज अस्थिर हो गया है और हममें स्वयं आगे बढ़कर पथ प्रदर्शन करने तथा साहस की भावना लुप्त हो गई है।

सौभाग्य से गत कुछ वर्षों से जाति-प्रथा टूट रही है। भारत में रेलों के निर्माण, इसके प्रसार, यात्रा की सुविधाओं मे वृद्धि, रेल, बस या हवाई जहाज की

यात्रा में विभिन्न जाति के लोगों से होने वाले अनिवार्य जन-सम्पर्क के फलस्वरूप जाति-प्रणाली की कट्टरता कम हो गई।[2] अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली और अंग्रेजी कानून के अन्तर्गत सभी जातियों के साथ समानता का व्यवहार किया गया और सभी जातियों के लोगों को कोई भी व्यवसाय अपनाने की छूट दे दी गई। पेशा अपनाने में जाति-प्रथा की बाधा नहीं रही। शूद्र जाति के व्यक्ति अध्यापक, मजिस्ट्रेट और उच्च सैन्याधिकारी बने और उच्च जाति के लोग जिन्हें अपना कार्य सिद्ध करना होता था इन अधिकारियों के सम्पर्क में आये और जाति प्रथा की कट्टरता का पालन नहीं कर सके।[3] जाति-प्रथा के कारण ही अनेक हिन्दुओं ने अन्य धर्मों को स्वीकार कर लिया। इसकी स्वयं हिन्दू-समुदाय में प्रतिक्रिया हुई और आर्य-समाज जैसे सुधारवादी आन्दोलन हुए जिन्होंने जाति-प्रथा को तोड़ने में बहुत बड़ा कार्य किया है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इसके विरुद्ध संघर्ष करती रही है और भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को भारी अपराध माना गया है और सबको बराबर अवसर प्रदान किया गया है। केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारें अब परिगणित जाति के विद्यार्थियों को विशेष छात्रवृत्ति देने की नीति अपना रही हैं। इन सब प्रयत्नों से जाति-प्रथा की कट्टरता कम हो गई है और भारत के आधुनिक नौजवान इसकी अधिक परवाह नहीं करते हैं। कुछ लोग या वह लोग जो अभी अपने गाँवों या कस्बों की सीमा से अपने को मुक्त नहीं कर सके हैं और जिनका दृष्टिकोण अभी भी सकुचित बना हुआ है, अब भी इस जाति-प्रथा की कट्टरता की भावना से ग्रस्त हैं परन्तु इनकी संख्या धीरे-धीरे घटती जा रही है। इसमें सन्देह नहीं कि जाति-प्रथा समाप्त होती जा रही है परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि अब भी जाति-प्रथा का जोर है और भारतीय आर्थिक प्रणाली को उससे बराबर क्षति हो रही है।

संयुक्त परिवार की प्रथा (Joint Family System)—संयुक्त परिवार प्रथा भारत की प्राचीनतम प्रथाओं में से एक है। देश में सामान्यतः आर्थिक इकाई एक व्यक्ति नहीं बल्कि संयुक्त परिवार है। बहुत से व्यक्तियों ने संयुक्त परिवार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और वह अलग रहने लगे है परन्तु फिर भी परिवार संगठन में संयुक्त-परिवार प्रथा की पूर्ण प्रधानता है। संयुक्त परिवार में सामान्यतया पिता परिवार का प्रधान होता है और परिवार के अन्य पुरुष तथा स्त्रियाँ उसके आधीन होते हैं। वह साथ रहते हैं साथ खाते-पीते हैं और पूजा-पाठ करते हैं, साथ ही समाज में सबके समान सम्बन्ध होते हैं। यह ठीक कहा गया है कि छोटे पैमाने में संयुक्त-परिवार साम्यवाद का उदाहरण है। यदि संयुक्त परिवार का उचित सगठन किया जाय

तो वहाँ यह सिद्धान्त लागू होता है कि "प्रत्येक सदस्य सब के लिए और सारा परिवार प्रत्येक के लिए" (each for all and all for each) अर्थात प्रत्येक व्यक्ति पूरे समूह के लिए उत्तरदायी है और पूरा समूह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उत्तरदायी है। संयुक्त-परिवार प्रथा के कुछ आर्थिक लाभ हैं—(१) इससे रहन-सहन का व्यय घट जाता है क्योंकि खाना साथ पकाया जाता है, नौकर चाकर समान होते हैं और अन्य सभी सुविधाओं का संयुक्त रूप से उपभोग किया जाता है। बड़े पैमाने पर किये जाने वाले कार्य की सभी सुविधाएँ इसमें निहित हैं। यदि लोग अलग-अलग रहते हैं तो रहन सहन का कुल व्यय परिवार के व्यय से बहुत अधिक होगा; (२) इससे सम्पत्ति और भूमि का छोटे-छोटे भागों में विभाजन नहीं होता, भूमि पर मिलकर खेती की जाती है जिससे आर्थिक क्षेत्र में अनेक लाभ होते हैं और अन्य रूपों में भी काफी लाभ होता है। संयुक्त परिवार की पूँजी बिखरी हुई नहीं होती बल्कि एक साथ जमा रहती है और उसको अन्य उत्पादन कार्यों में या आगामी उत्पादन कार्य का प्रसार करने में प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु यदि संयुक्त परिवार टूट जाय और लोग अलग-अलग रहने लगे तो यह संभव है कि उनके पास पर्याप्त पूँजी न हो; और (३) संयुक्त परिवार प्रथा बीमारी, मृत्यु या अन्य दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के अवसर पर एक प्रकार से बीमा का कार्य करती है। विधवाओं, अनाथों और वृद्धों का संयुक्त परिवार में अन्य सदस्यों की तरह ही पालन-पोषण होता है। गत कुछ वर्षों से पश्चिमी देशों में वृद्ध व्यक्तियों को, जो कार्य नहीं कर सकते और निर्धन हैं, उनकी सन्तानों ने उन्हें बिना किसी सहारे के छोड़ देने की प्रकृति हो गई है। संयुक्त परिवार प्रथा के अन्तर्गत ऐसा संभव नहीं है।

परन्तु संयुक्त परिवार-प्रणाली की अनेक हानियाँ भी हैं : (१) चूँकि प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, कपड़े, रहने आदि की पूरी सुविधा उपलब्ध है इसलिए उन लोगों में जो चरित्र की दृष्टि से अच्छे नहीं कहे जा सकते हैं और जिनमें दूर दृष्टि का अभाव होता है आलस्य पैदा हो जाता है। इन प्रथा से उनके आलसी स्वभाव को बल प्राप्त होता है। साम्यवाद के अन्तर्गत चूँकि भुगतान कार्य के आधार पर नहीं बल्कि आवश्यकता के आधार पर किया जायगा अतएव तब यह कठिनाई उत्पन्न हो जायगी कि प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुकूल उत्तम कार्य कैसे कराया जाय। इसी प्रकार संयुक्त-परिवार-प्रणाली में व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं की उसके द्वारा किये गये कार्य की गणना किये बिना ही पूर्ति हो जाती है इससे कुछ लोगों में निठल्ले बैठे रहने और आलसी बन जाने की प्रकृति पैदा हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि रुपये का मूल्य वही व्यक्ति अच्छी प्रकार सम-

मता है जो रुपया कमाता है। इसलिए संयुक्त परिवार में आलसी और निठल्ले लोगों के फिजूल-खर्च बनने की पूरी संभावना रहती है; (२) संयुक्त परिवार प्रणाली के अन्तर्गत लोगों की गतिशीलता का ह्रास हो जाता है और परिणाम स्वरूप उनमें आगे बढ़कर कोई कार्य करने की प्रवृत्ति का भी ह्रास हो जाता है। लोगों को घर में बैठे रहने की आदत पड़ जाती है और फलस्वरूप साहसपूर्ण कार्य करने की प्रवृत्ति से हाथ धो बैठते हैं, उनमें वह स्फूर्ति, सक्रियता और साहस नहीं रहता जो देश की आर्थिक उन्नति के लिये आवश्यक होता है; और (३) संयुक्त परिवार में छोटे-छोटे झगड़े पैदा होते रहते हैं, ईर्ष्या-द्वेष बढ़ता है और इसके फलस्वरूप मुकदमेबाजी भी हो जाती है जो कि अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती है।

इधर कुछ वर्षों से संयुक्त परिवार प्रथा विशृंखलित हो रही है। यद्यपि अभी भी यह परिवार-संगठन का प्रधान रूप है फिर भी संयुक्त परिवार त्याग कर अलग रहने वालो की संख्या बढ़ रही है। (१) शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात युवक शहरी जीवन का अभ्यस्त हो जाता है और किसी कारखाने में नौकरी कर लेता है या है शहर में व्यापार कार्य में लग जाता है और उसे संयुक्त परिवार से पृथक होकर रहना पड़ता है; (२) जीवन-संघर्ष में वृद्धि होने से और जीवन-निर्वाह के साधनों को जुटाने की कठिनाइयों से व्यक्ति संयुक्त-परिवार के बन्धन से मुक्त होना चाहता है। अपनी पत्नी और बच्चों का पालन पोषण करने के लिए पर्याप्त रुपया कमा लेना संयुक्त-परिवार के पालन पोषण के लिए पर्याप्त रुपया कमा लेने से कहीं अधिक सरल होता है; (३) जहाँ तक धनवान व्यक्तियों का प्रश्न है आय कर कानून और हाल ही में सम्पत्ति कर (estate duty) कानून बन जाने से संयुक्त-परिवार प्रथा टूटने लगी है। यदि संयुक्त-परिवार के कमाने वाले सदस्यों की आय आयकर के लिये निर्धारित न्यूनतम आय से कम है तो वह संयुक्त-परिवार से अलग होकर आयकर के बोझ से बच सकते हैं परन्तु यदि साथ रहें तो सभी की आय जोड़ कर इतनी हो सकती है कि आयकर से मुक्ति न मिल सके। उदाहरण के लिये यदि एक परिवार में चार पुरुष हैं और वह कुल ६ हजार रुपया प्रति वर्ष कमाते हैं तो उनको आय-कर देना पड़ेगा क्योंकि कानून के अनुसार हिन्दू-संयुक्त परिवार की ८४०० रुपया वार्षिक आय से अधिक आय पर आय-कर देना पड़ता है। परन्तु यदि चारों व्यक्ति संयुक्त-परिवार से सम्बन्ध विच्छेदकर लें और अलग-अलग रहने लगें तो प्रत्येक चार हजार रुपया वार्षिक कमा सकता है और उसे आय-कर भी नहीं देना पड़ेगा क्योंकि कानून के अनुसार व्यक्तिगत आय ४२०० रुपया वार्षिक होने पर ही आय-कर लगेगा। इसी प्रकार सम्पत्ति-कर कानून के अन्तर्गत व्यक्ति गत रूप से एक लाख की सम्पत्ति

पर आय-कर की छूट प्राप्त है परन्तु सयुक्त-परिवार मे प्रत्येक पुरुष सदस्य को केवल ५० हजार रुपये की सम्पत्ति पर ही सम्पत्ति-कर से छूट प्राप्त है, इससे अधिक की सम्पत्ति होने पर कर चुकाना पड़ेगा परन्तु यदि वह संयुक्त-परिवार से अलग हो जायँ तो एक लाख रुपये की सम्पत्ति पर उसे कोई कर नहीं देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त किसी की मृत्यु हो जाने पर यह सभव है कि संयुक्त-परिवार को सम्पत्ति कर चुकाना पड़े जब कि पृथक रहने पर ऐसा होना इतना अधिक सम्भव नहीं है। कर-सम्बन्धी यह कानून धनवान वर्ग की सयुक्त-परिवार प्रथा को तोड़ रहे हैं।

पंचायत (Panchayat)—प्राचीन भारत में पचायत अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था थी जिसे प्रशासन, न्याय और राजस्व सभी अधिकार प्राप्त थे। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया आर्थिक परिस्थितियों मे परिवर्तन होने से तथा प्रशासन और न्याय के केन्द्रीकरण से पंचायतों का महत्व घट गया और क्रमशः वह नगण्य हो गयीं। देश के कुछ भागों में पंचायतें स्थापित रहीं परन्तु केवल एक सामाजिक सस्था के रूप में जहाँ लोग आपस में मिल सकते, गप्प कर सकते और हुक्का पी सकते थे और कभी कभी छोटे-मोटे झगड़े भी तय कर लिये जाते थे। परन्तु पचायत ने प्रशासन और न्याय के क्षेत्र में अपना प्रभावशाली रूप खो दिया।

परन्तु इधर कुछ वर्षों से महात्मा गांधी और राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा इस व्यवस्था के प्रति विशेष रुचि दिखायी जाने के कारण पंचायत-प्रणाली को पुनः जीवन प्रदान किया गया है और पंचायतों को कानूनी मान्यता और कुछ प्रशासन तथा न्याय अधिकार प्रदान करने के लिए कुछ राज्यों ने आवश्यक कानून भी बनाये हैं। परन्तु अब तक पचायतें सन्तोषजनक कार्य नहीं कर पायी हैं क्योंकि जिन लोगों को पंचायतों का कार्य सौंपा गया है वह निरक्षर हैं और प्रशासन तथा अदालत की कार्य-प्रणाली की उनको आवश्यक जानकारी नहीं है, साथ ही उनके पास धन का भी अभाव है।

पंचायतो का कार्यक्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है और उन्हें आर्थिक नियोजन का प्रभावशाली साधन बनाने का प्रयत्न हो रहा है। संविधान के ४० वें अनुच्छेद में कहा गया है कि राज्य ग्राम पञ्चायतों की स्थापना करने और उन्हे स्वशासन की इकाई बनाने के लिए आवश्यक अधिकार दिलाने के सम्बन्ध में कार्रवाई करेगा। राज्य सरकारों द्वारा पञ्चायतों को कुछ अधिकार प्रदान किये गये हैं परन्तु यह उतने नहीं हैं जितने की संविधान में व्यवस्था की गई है।

जून १९५४ में शिमला में स्वायत्त-शासन मंत्रियों का सम्मेलन हुआ था जिसमे यह सिफारिश की गई कि पंचायतों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए अधिक व्यापक आर्थिक, प्रशासकीय और न्याय अधिकार दिये जाने चाहियें।

यह सुझाव दिया गया कि द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में 'नीचे से ऊपर की ओर' योजना बनायी जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए और ग्राम को ही नियोजन की इकाई बनाना चाहिए। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने जुलाई १९५४ में अपने अजमेर अधिवेशन में इस बात पर विचार किया और अनुमान है कि उसने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। योजना में यह व्यवस्था की गई है कि पञ्चायतों को स्वशासन को प्रभावशाली आधारभूत इकाई और नीचे से योजना बनाये जाने के लिए आधारभूत एजेन्सी बनाया जायगा। एक गाँव सभा का निर्माण सारा गाँव करेगा और निर्वाचन के आधार पर ग्राम पंचायत बनायेगा जो गाँव सभा की कार्यकारिणी होगी। पंचायत को जो कार्य सौंपे जायँगे उनमें लगान वसूली, भूमि सम्बन्धी कागजात रखने (इन्दराज), समान उप-योगिता की सरकारी जमीन का प्रबन्ध, काश्त के लिए लगान पर जमीन देना, बहुधन्धी ग्राम सहकारी समितियों का विकास करना और अपने अधिकार क्षेत्र के अन्दर सार्वजनिक उपयोग के कार्यों के लिए श्रम से अनिवार्यतः कार्य करना आदि काय सम्मिलित हैं। ग्राम के विकास की नीति पंचायत निर्धारित करेगी, और भूमिक्षरण, वनों के विकास, इंधन के सुरक्षित संग्रह जमा करने, बाँध और जलाशय बनाने, वयस्क शिक्षा, अच्छे बीजों की पूर्ति, और काश्त के नये और सुधरे हुए उपायों को लागू करने की समस्याओं पर भी पंचायत विचार करेगी और इस दिशा में आवश्यक कार्रवाई करेगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना नीचे से ऊपर की ओर बनाई गई है। राज्य सरकारों ने एक-एक गाँव के अथवा गाँवों के समूहों के लिये जैसे तहसील, तालुका, विकास-पीली की इकाइयों के आधार पर योजना बनवाई है। इस कार्य में पचायतों ने बहुत महत्वशाली सहयोग दिया है पर यह कहना कठिन है कि स्थानीय योजनाओं के बनाने में वे यथार्थ में कार्यशील रही हैं और ये स्थानीय योजनायें इस योग्य रही हैं कि उनको राज्य द्वारा बनाई योजना में सम्मिलित कर लिया जाता। जो कुछ भी हो पचायत के सदस्यों को यह ज्ञान हो गया है कि द्वितीय योजना की सफलता के लिये उनके सहयोग की आवश्यकता है। इससे स्थानीय लोगों का उत्साह अवश्य बढ़ा है और वे योजना के प्रति जागरूक हो गये हैं।

सरकार की नीति यह है कि "प्रत्येक गाँव में और विशेषकर उन क्षेत्रों मे जो राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं और सामुदायिक विकास योजनाओं के लिए चुने गये हैं एक कानून के आधार पर पंचायत की स्थापना की जाय। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में पंचायतों की संख्या ८३०८७ से बढ़ कर ११७५९३ हो गई। द्वितीय योजना के कार्यक्रम के अनुसार १९६०-६१ तक ग्राम पंचायतों की संख्या

बढ़ कर २४४५६४ हो जायगी"। यह सोचना युक्तिसंगत है कि भविष्य में पंचायतों को अधिकाधिक महत्ता दी जायगी और वे योजना को कार्य रूप में परिणित करने का एक प्रभावशाली साधन हो जायेंगी। परन्तु अभी तक तो ग्राम पंचायतों का कार्य बहुत ही असन्तोषजनक रहा है। इसके अनेक कारण हैं जैसे (१) "ग्राम पचायतों के प्रभावशाली न हो सकने का सबसे बड़ा कारण उनके पास साधन का अभाव रहा है। बहुत सी पचायतों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय २ आ० या ३ आ० रही है"। टेक्जेशन इन्क्वायरी कमीशन (१९५३-५४) ने अपनी रिपोर्ट में इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया था कि प्रादेशिक सरकारें "पचायतों को कुछ करों के लगाने का अधिकार दे कर उन्हें अपने आप अपनी सहायता करने के लिये छोड़ देती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रायः पंचायतें आरम्भ होते ही करों के आरम्भ करने के कारण जनता की कोपभाजन बन जाती हैं और यदि करों का आरम्भ न करें तो निष्क्रिय हो कर जनता की दृष्टि में नीचे गिर जाती हैं"। इसलिये पचायतों के कार्य को सफल बनाने के लिये सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि उन्हें पर्याप्त वित्त प्रदान किया जाय। (२) दूसरी कठिनाई यह है कि पचायतों के ऊपर उनके साधनों और शक्ति की अपेक्षा अत्यधिक कार्य भार डाल दिया गया है। प्रादेशिक सरकारें जिन्होंने पंचायतों को अनेक उत्तरदायित्व सौंप रक्खे हैं पचायतों से आवश्यकता से अधिक आशा करती हैं। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और पचायतों के हित भी आपस में टकराते हैं क्योंकि दोनों के कार्य क्षेत्र एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते हैं। इस सम्बन्ध में टेक्जेशन इनक्वायरी कमीशन ने यह सिफारिश की है कि आर्थिक क्षेत्र और उत्पादन सम्बन्धी कार्य जो सहकारी समितियों द्वारा अधिक अच्छी तरह किये जा सकते हैं। उन्हें नियमित रूप से पंचायतों के अन्तर्गत आये हुए कार्यों से अलग कर देना चाहिये। हम इसे भी आवश्यक समझते हैं कि पचायतों के लिये नियमावली में दिये गये असंख्य कार्यों के स्थान पर थोड़े से चुने हुये कार्य ही दिये जावें ताकि उनका जिला बोर्ड तथा अन्य स्थानीय ग्राम बोर्ड के कार्यों से सामंजस्य सम्भव हो सके। (३) पंचायतों के मेम्बरों को उन कार्यों की कोई शिक्षा नहीं मिली है जो उनको दिये गये हैं। उनके विचार प्राचीन हैं, उधर उनके मन में स्थानीय कारणों से उत्पन्न द्वेष भावना भरी है, इसलिये जो समस्यायें उनके सामने अज्ञान अशिक्षा और जाति द्वेष के कारण उपस्थित हैं उनको दूर करने के लिये उनके विचार में वे ही पुराने ढंग आते हैं जिससे वे अपना कर्त्तव्य संतोषजनक ढग से पूरा नहीं कर पाते।

अध्याय ५

कृषि उत्पादन और नीति

भारत कृषि प्रधान देश है। भारत का कुल क्षेत्रफल अन्तिम गणना के अनुसार लगभग ८१ करोड़ २० लाख ५० हजार एकड़ है, परन्तु आधे से बहुत कम भूमि कृषि के काम आ रही है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा बनाने के पहिले ही योजना आयोग ने कुछ प्रदेशों में पिछले ४० वर्षों में विभिन्न फसलों के उगाने में लगी हुई भूमि की जाँच की। इससे यह पता लगा कि (१) खेती की जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल उत्तर-प्रदेश को छोड़कर कहीं भी विशेष मात्रा में नहीं बढ़ा। एक से अधिक फसलें उगाने वाले क्षेत्र में २०% की वृद्धि हुई, परन्तु यह वृद्धि बढ़ती हुई जनसंख्या की तुलना में नगण्य थी, (२) सिंचाई का क्षेत्रफल १०% बढ़ा जो कि मुख्यतः नहरों के विस्तार का परिणाम था, (३) परती छोड़ी हुई भूमि का क्षेत्रफल १९२०-४० तक के ही स्तर पर रहा। उसके बाद कुछ वृद्धि रुई का उत्पादन करने वाले क्षेत्रों में हुई क्योंकि यकायक रुई उत्पादन क्षेत्र में कमी आ गई और खेत परती छोड़ दिये गये। किस प्रकार की फसलें उगाने की प्रवृत्ति प्रायः लोगों की रही, इसका योजना आयोग ने अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि (१) पिछले १० वर्षों में यद्यपि दुहरी फसल उत्पन्न करने के कारण फसलों के अन्तर्गत कुल क्षेत्र में वृद्धि हुई पर कोई भी नया भूमि का भाग खेती के कार्य में नहीं लाया गया, (२) मूल्यों में परिवर्तन के कारण फसलों की किस्म में परिवर्तन आ गया यद्यपि अधिकांश ये फसलें छोटे-छोटे खेतों में उत्पन्न की जाती थीं, (३) खाद्यान्न तथा व्यवसायिक फसलों के बीच अदला-बदल किसी विशेष ढंग पर नहीं हुई वरन् मौसम फसलों के हेर-फेर, मूल्य परिवर्तन और किसान की आर्थिक शक्ति पर निर्भर रही।

खाद्यान्न और कच्चे माल में कमी—यह आश्चर्य की बात है कि कृषि-प्रधान देश होते हुए भी भारत में खाद्यान्न की कमी है और उद्योगों के लिए कच्चे माल का अभाव है। इन अभावों के मुख्यतः तीन कारण हैं : (१) १९३६ में बर्मा को भारत से अलग कर देने के कारण देश के अन्दर ही प्राप्त हो जाने वाली खाद्यान्न की मात्रा में १३ लाख टन की कमी हो गई; (२) १९४७ में देश-विभाजन हो जाने के कारण उस मात्रा में ७·५ लाख टन की और कमी हो गई; (३) देश

की जनसंख्या प्रतिवर्ष १½ प्रतिशत की दर से बढ़ रही है, परन्तु खाद्यान्न की मात्रा में इसी दर से वृद्धि नहीं हुई है जिसके परिणाम स्वरूप खाद्यान्न का अभाव हो गया। सन् १९४९-५० में देश को ४६० लाख टन अन्न की उत्पत्ति और सरकारी गोदाम तथा विदेशों से मँगाये अन्न को मिलाकर प्रति वयस्क १३.७१ औंस अन्न प्रतिदिन पड़ता था। यदि जनसंख्या अधिक होती तो प्रति व्यक्ति अन्न का भाग और भी कम होता। पौष्टिक पदार्थ सलाहकार समिति के विचारानुसार प्रति स्वस्थ व्यक्ति (वयस्क) १४ औंस अन्न प्रतिदिन आवश्यक है। इसलिए प्रथम पञ्चवर्षीय योजना ने ७६ लाख टन अन्न की उपज बढ़ाने का निश्चय किया था।

पौष्टिक पदार्थ सलाहकार समिति के सुझाव के अनुसार सन्तुलित भोजन के लिये प्रत्येक व्यक्ति को ३ औंस दाल प्रतिदिन खानी चाहिये। १९५०-५१ में ८३ लाख टन दाल पैदा हुई, जिसमें से सरकारी स्टाक, बीज इत्यादि के लिये २० प्रतिशत निकाल देने के पश्चात् प्रति वयस्क को प्रतिदिन २.१ औंस दाल मिली। इस प्रकार प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत बढ़ी हुई जनसंख्या के अतिरिक्त आवश्यकता ५ लाख टन की और ३ औंस प्रति व्यक्ति के हिसाब से ४० लाख टन की अनुमानित की गई थी।

१९५०-५१ में ५१ लाख टन तिलहन की उपज हुई जिसमें से लगभग १६ लाख ६० हजार टन तेल प्राप्त हुआ। साबुन, [illegible] तथा वार्निश बनाने के काम में प्रयुक्त तेल को अलग करने के पश्चात् शेष १६ लाख टन तेल घरेलू कार्यों के लिए बचा। इसके अनुसार प्रति वयस्क को प्रतिदिन ०.५ औंस तेल मिला, जो आवश्यकता से बहुत कम था और इसलिए उसकी मात्रा बढ़ानी आवश्यक समझी गई। जहाँ तक कपास का प्रश्न है, १९५०-५१ में २९ लाख ७० हजार गाँठों का उत्पादन हुआ (प्रत्येक गाठ का वजन ३९२ पौंड) जब कि खपत ४० लाख ७० हजार गाँठों की थी। उत्पादन और खपत के इस अन्तर को प्रतिवर्ष लगभग ८३० हजार गाँठों का आयात करके पूरा किया गया। अनुमान लगाया गया है कि १९५६ में ५४ लाख गांठों की आवश्यकता होगी। जूट के उत्पादन के विषय में सरकारी तार पर यह अनुमान लगाया गया है कि १९५१-५२ में ३३ लाख कच्चे जूट की गाँठों का उत्पादन किया गया, और मेस्टा (Mesta) की ६ लाख गाँठें पैदा की गई, जो जूट से घटिया किस्म की उपज है और जिसका उपयोग जूट न मिलने पर किया जाता है। अनुमान है कि १९५६ में ७२ लाख गाँठों की आवश्यकता होगी। इस प्रकार माँग और पूर्ति में ३३ लाख गाँठों का अन्तर रह गया।

इस अध्ययन से यह प्रकट होता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरंभ

में खाद्यान्न और उद्योगों के लिए कच्चे माल दोनों का ही अभाव था। भारत को स्वावलम्बी बनाने और विदेशी मुद्रा की बचत करने के लिए यह निश्चित किया गया कि देश के अन्दर ही इनका उत्पादन बढ़ाया जायगा। यदि समस्या केवल खाद्यान्न या व्यवसायी फसलों की पूर्ति की मात्रा बढ़ाने की होती, तो इसके लिये धीरे-धीरे एक फसल की जमीन को दूसरी फसल के उत्पादन के लिये व्यवहार में लाया जा सकता था। परन्तु समस्या दोनों फसलों के उत्पादन में वृद्धि करने की थी, जिससे माँग और पूर्ति के बीच का भारी अन्तर दूर किया जाय।

खाद्यान्न जाँच कमेटी की रिपोर्ट—कमेटी, जिसके अध्यक्ष श्री अशोक मेहता थे तथा जिसने नवम्बर १९५७ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, इस निष्कर्ष पर पहुँची कि खाद्यान्न की कुल उत्पत्ति १९५३-५४ के ६८८·७ लाख टन से घट कर १९५४-५५ में ६७१·१ लाख टन तथा १९५६-५७ में ६५२·९ लाख टन हो गयी। इसके अनन्तर प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ और १९५६-५७ में खाद्योत्पादन बढ़कर ६८६·९ लाख टन हो गया। खाद्यान्न के मूल्यों एवम् खाद्य सामग्री के अभाव की वृद्धि निम्न कारणों से हुई। (i) कृषकों ने अपनी उत्पत्ति का अधिक भाग स्वयं रख लिया। अतएव मूल्यों की वृद्धि में जितना विक्रीत-अतिरिक्त (marketed surplus) की कमी का हाथ था उतना उत्पादन की कमी का नहीं था। १९५५-५६ में मोटे अनाज (millets) की उत्पत्ति में ३० लाख टन की कमी हुई जिसने मूल्य वृद्धि का क्रम प्रारंभ किया और १९५१-५६ में चावल तथा गेहूँ की माँग बढ़ने के कारण खाद्यान्न के मूल्य बढ़ने लगे। यद्यपि बाद में उत्पादन बढ़ गया किन्तु मूल्यों में फिर भी वृद्धि होती रही। (ii) द्वितीय योजना के अन्तर्गत होने वाले व्यय तथा बैंक उदार की वृद्धि ने भी मूल्य-स्तर के बढ़ाने में मदद की, तथा (iii) "खाद्य स्थिति के बारे में अत्यधिक आशावादिता ने अनेक राज्यों में खाद्योत्पादन की वृद्धि के प्रयत्नों को या तो शिथिल कर दिया या उनमें तीव्रता नहीं आने दी"।

भारत की जन संख्या की प्रतिवर्ष १½ – २ प्रतिशत वृद्धि के आधार पर कमेटी ने अनुमान लगाया कि खाद्यान्नों की माँग में बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण १०% तथा आय की वृद्धि से ४.७ प्रतिशत वृद्धि होगी। इस प्रकार द्वितीय योजना में खाद्यान्नों की माँग १४½ से १५ प्रतिशत तक बढ़ जायगी अर्थात् १९५५-५६ में ६६० लाख टन से बढ़कर १९६०-६१ में ७६० लाख टन हो जायगी जबकि उत्पत्ति में केवल १०३ लाख टन की वृद्धि की आशा की जाती है जिसके फलस्वरूप १९६०-६१ तक उत्पत्ति बढ़कर ७७५ लाख टन हो जायगी। कमेटी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि कुछ अगामी वर्षों में प्रतिवर्ष २०-३० लाख टन खाद्यान्न का आयात करना आवश्यक होगा।

कमेटी ने खाद्यान्नों के सम्बन्ध में मूल्य-स्थायित्व (price stabilisation) की नीति की सिफारिश की। (i) इस हेतु उन्होंने उच्चाधिकारों से युक्त 'मूल्य-स्थायित्व परिषद' (Price Stabilisation Board) की नियुक्ति प्रस्तावित की जिसके कार्य मूल्यनीति का निर्धारण तथा उसे लागू करने के उपायों का निर्णय करता था। (ii) नीति को कार्यान्वित करने के लिए खाद्यान्न स्थायित्व संगठन (Foodgrains stabilisation Organisation) के निर्माण की भी सिफारिश की गई। यह संगठन खाद्य और कृषि मंत्रालय का एक विभाग हो सकता है या एक परिनियत निगम (Statutory corporation) अथवा सीमित दायित्व वाली कम्पनी का रूप भी ले सकता है। यह संगठन खाद्यान्न बाजार में एक व्यापारी की भाँति काम करेगा और अन्तःस्थ-स्कन्ध (bufferstock) का काम करेगा अर्थात् मूल्य गिरने पर खरीदेगा जो और बढ़ने पर बेचेगा। (iii) खाद्य मंत्रालय तथा मूल्य स्थायित्व परिषद् की सहायता के लिए केन्द्रीय खाद्य परामर्श समिति (Central-food Advisory Council) के निर्माण की भी सिफारिश की गई। (vi) प्रसंगानुकूल एवम् विश्वसनीय आँकड़े एकत्र करने के लिए मूल्य-जानकारी-संभाग (price Intelligence Division) की स्थापना की भी सिफारिश हुई। परामर्श समिति तथा जानकारी संभाग की सहायता से मूल्य-स्थायित्व परिषद् का उद्देश्य मूल्य सम्बन्धी स्थिति पर सतर्कता बरतने तथा समय समय पर न केवल सामान्य मूल्य स्तर के स्थिर बनाये रखने वरन् विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों में अनुचित अन्तर को रोकने के लिये आवश्यक कार्यावाही की सिफारिश करना था।

इस बात को ध्यान में रखते हुये कि वर्तमान परिस्थितियों में स्वतंत्र व्यापार अवांछनीय है तथा पूर्ण-नियंत्रण (Full-fledged Control) आर्थिक एवम् प्रशासकीय कठिनाइयों से भरा है, कमेटी ने एक मध्य-मार्ग की सिफारिश की जिसके अंतर्गत नियंत्रण का कंट्रोल खुले बाजार में खाद्यान्न के क्रय-विक्रय तक सीमित रहेगा, थोक व्यापार का अंशतः समाजीकरण होगा, अनुज्ञा (License) द्वारा शेष बाजार में कार्यशील व्यापारियों पर नियंत्रण होगा, गेहूँ और चावल का पर्याप्त स्टॉक रखा जायगा तथा अन्य पूरक खाद्य सामग्री के उपभोग और उत्पादन की वृद्धि के लिये प्रचार का संगठन किया जायगा।

उत्पादन प्रवृत्ति—स्वतन्त्रता प्राप्त होने के उपरांत भारत में खाद्यान्न और अन्य कृषि-सम्बन्धी कच्चे माल के उत्पादन में कमी आ गई है। १६५०-५१ में खाद्यान्न का उत्पादन ५०० लाख टन हुआ, जबकि १६४६-५० में इसका उत्पादन ५४० लाख टन हुआ था। कृषि-सम्बन्धी कच्चे मालों की उत्पादन प्रवृत्ति

थोड़ी भिन्न थी। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के तुरन्त बाद उत्पादन में कमी आ गई, किन्तु तत्पश्चात् उसमें फिर वृद्धि हो गई। १९४८-४९ में तिलहन का उत्पान ४५ लाख टन, कपास का १७ लाख ७० हजार गाँठों और कच्चे जूट का २० लाख ७० हजार गाँठों तक ही घटकर रह गया। गन्ने का उत्पादन भी कम होकर ४८ लाख ७० हजार टन ही रह गया। किन्तु अगले वर्षों में इन कच्चे मालों के उत्पादन में वृद्धि हुई और १९५०-५१ मे, जब कि खाद्यान्न का उत्पादन गिरता जा रहा था, उनकी उपज बढ़नी प्रारम्भ हुई।

'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन के बावजूद खाद्यान्न के उत्पादन में कमी आई। बहुत संभव है कि खाद्यान्न उत्पादन के सरकारी आँकड़े बिल्कुल सही न हों। परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि सही आँकड़े चाहे कुछ भी हों, अनेक कारणों से खाद्यान्न का उत्पादन पिछले कुछ वर्षों में काफी गिर गया :

(१) देश के कुछ भागों में सूखा पड़ने और कहीं-कहीं बाढ़ आ जाने से खाद्यान्न के उत्पादन में आंशिक कमी अवश्य हुई है, परन्तु केवल प्रकृति का कोप ही उत्पादन की गिरावट के लिए उत्तरदायी नहीं है।

(२) यह भी सुझाव दिया गया है कि कृषि-सामग्री की ऊँची कीमतें भी कुछ अंश तक कृषि-उत्पादन घटने का कारण हैं। साधारण रूप से अधिक कीमत का अर्थ है अधिक उत्पादन, परन्तु जहाँ तक किसान का सम्बन्ध है आय की लोच (Elasticity) ऋणात्मक (negative) है। इसका तात्पर्य यह है कि किसान कुछ आय चाहता है और जब कीमतें अधिक होती हैं तो वह थोड़ा सा उत्पादन करके उसे प्राप्त कर लेता है, किन्तु जब कीमतें कम होती हैं तो उसे अधिक उत्पादन करना पड़ता है। इसलिये जैसे ही खाद्यान्न की कीमतें बढ़ीं; उसने अपना उत्पादन कम कर दिया। चूँकि कीमतों और उत्पादन के पारस्परिक सम्बन्ध का विस्तारपूर्वक अध्ययन नहीं किया गया है, इसलिए यह कहना संभव नहीं है कि यह सिद्धान्त भारत में कहाँ तक लागू होता है।

(३) खाद्यान्न के उत्पादन मे कमी आने का एक कारण यह भी है कि गन्ने, रुई और जूट की अधिक आवश्यकता होने के कारण खाद्यान्न के उत्पादन में प्रयुक्त भूमि के कुछ भाग में अब व्यवसाई फसलें बोई जाती हैं।

भारत-सरकार के 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन से खाद्यान्न की कमी पूर्ति करने की जो आशा की गई थी, उसमें अधिक सफलता नहीं हुई क्योंकि (अ) इस आन्दोलन में पहले से ही काश्त की जाने वाली जमीन में उत्पादन बढ़ाने की अपेक्षा नयी भूमि को खेती के योग्य बनाने पर अधिक जोर दिया गया। यह एक दीर्घकालीन प्रक्रिया थी और इससे निकट भविष्य में उत्पादन बढ़ाने की

आशा नहीं की जा सकती थी। 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन की नीति में परिवर्तन कर अब अल्पकालीन योजनाओं पर जोर दिया गया है, जिसके अन्तर्गत खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए बीज और खाद दी जाती है और साथ ही साथ सिंचाई की भी व्यवस्था की जाती है। आरंभ में यह आन्दोलन देश के उन भागों में चलाया गया था जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ नहीं थीं और इसलिए सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकले। बाद को नीति बदल दी गई और योजनाओं को उन्हीं स्थलों पर चलाया गया है जहाँ सिंचाई की सुविधा पहले ही से थी या सरलता से आवश्यकतानुसार व्यवस्था की जा सकती थी। इसका परिणाम यह निकला कि 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन में सन्तोषजनक प्रगति हुई; (ब) यह अत्यन्त खेद का विषय है कि 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन का काय-भार जिन अधिकारियों को सौंपा गया है वह सदैव ईमानदारी और लगन से कार्य नहीं करते हैं। बहुत सी बातों में काम कुछ नहीं किया जाता, केवल कागजी खाना पूरी कर दी जाती है और बहुत बार ऐसा भी होता है कि जो बीज या खाद आदि किसानों को मिलनी चाहिए था, उसे या तो बेच दिया गया या उसका रुपया स्वयं रख लिया गया। इस आन्दोलन में या किसी भी नियोजन के अन्तर्गत योजना को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए एक ऐसे संगठन की आवश्यकता है जो कि सुसंगठित हो और जिसके कर्मचारी पूर्णरूप से ईमानदार हों; (स) किसानों ने भी 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन को उतना सहयोग नहीं दिया जितना उनसे आशा की जाती थी।

१९५४-५५ और १९५५-५६ में हुई उत्पादन की थोड़ी सी कमी को छोड़ कर १९५१ के उपरान्त खाद्यान्न के उत्पादन में सन्तोषजनक वृद्धि हुई है। १९५०-५१ में भारत में खाद्यान्न का उत्पादन ५०० लाख टन था जो १९५३-५४ में ६८७ लाख टन हो गया। सबसे अधिक वृद्धि चावल के उत्पादन में हुई और इसके बाद क्रमशः गेहूँ, बाजरा, ज्वार और जौ की उपज बढ़ी। खाद्यान्न के उत्पादन में यह वृद्धि इन कारणों से हुई, (१) मौसम की अनुकूल परिस्थितियाँ, (२) १९५०-५१ में प्रारंभ किए गए सघठित उत्पादन कार्यक्रम (Integrated Production Programme) की सफलता, (३) चावल उत्पन्न करने की जापानी पद्धति का प्रयोग, सिंचाई की अधिक सुविधाएँ और किसानों को आर्थिक सहायता के रूप में रासायनिक खादें (Fertilisers) आदि देना।

१९५४-५५ तथा १९५५-५६ में उत्पादन घटकर क्रमशः ६७१.१ लाख टन तथा ६५२९ लाख टन होने के कारण (i) देश के कुछ भागों में सूखा, (ii) उर्वरक तथा अच्छे बीजों का अभाव तथा (iii) राज्य सरकारों द्वारा प्रयत्नों

में ढिलाई देना था जो अंशतः उनकी लापरवाही तथा अंशतः द्वितीय योजना के खाद्यान्न की उत्पत्ति और कृषि पर अपर्याप्त ध्यान देने के फलस्वरूप हुई। १९५६-५७ में उत्पादन के ६८६.९ लाख टन तक बढ़ जाने के बावजूद भी पिछले दो वर्षों मे उत्पादन के गिरने से मूल्य बढ़ गये जिसके फलस्वरूप सामान्य व्यक्ति को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। खाद्यान्न का आयात, जो १९५१ के ४७ लाख टन के ऊँचे स्तर से घटकर १९५४ में ८ लाख टन तथा १९५५ में ७ लाख टन हो गया था, पुनः १९५६ में बढ़कर १४३ लाख टन तथा १९५७ मे ३७ लाख टन हो गया।

कच्चे माल के उत्पादन की स्थिति कुछ भिन्न ही रही है। १९५२-५३ में रुई और जूट का उत्पादन पिछले वर्ष के ही स्तर पर (३२० लाख और ४६० लाख गाँठ क्रमशः) रही पर तिलहन और गन्ने की उपज क्रमशः ४७ लाख टन और ५० लाख टन हो गई। अगले वर्षों में जूट को छोड़कर इन सभी १९५६-५७ मे अनुमान किया जाता है कि तिलहन ६० लाख टन, रुई ४७.५ लाख गाँठ जूट ४२.५ लाख गाँठ और गन्ना ६५ लाख टन होगा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना का ध्येय खाद्यान्न तथा उद्योगों में काम आने वाले कच्चे माल की उत्पत्ति इस दृष्टि-कोण से बढ़ाने का था कि (१) देश आत्म निर्भरता प्राप्त कर ले, (२) भारतीय उद्योगों की माँग पूरी हो सके और (३) प्रति व्यक्ति अन्न का उपभोग बढ़ाया जा सके।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य

वस्तुयें	आधार माने हुये साल में उत्पत्ति	प्रस्तावित अतिरिक्त उत्पत्ति*	१९५५-५६ तक प्राप्त कर लेने का ध्येय	आधार माने हुये वर्ष की तुलना में प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न	५४० लाख टन	७६ लाख टन	६१६ लाख टन	१४
तिलहन	५१ लाख टन	४ लाख टन	५५ लाख टन	८
गन्ना (गुड़)	५६ लाख टन	७ लाख टन	६३ लाख टन	१३
रुई	२९ लाख गाँठें	१३ लाख गाँठें	४२ लाख गाँठें	४५
जूट	३३ लाख गाँठें	२१ लाख गाँठें	५५ लाख गाँठें	६४

*खाद्यान्नों के लिए आधार वर्ष १९४९-५० है और अन्य के लिये १९५०-५१ है।

खाद्यान्न मे प्रस्तावित ७६ लाख टन की वृद्धि में से ४० लाख टन चावल, २० लाख टन गेहूँ, १० लाख टन चना और अन्य दालें और ५ लाख टन में अन्य अन्न हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है। उपज ६५० लाख टन हुई। (बजाय ६१६ लाख टन के जो कि लक्ष्य था) गेहूँ, चना और दालों के उपज की मात्रा प्रस्तावित लक्ष्य से अधिक बढ़ गई है परन्तु चावल की उपज पिछले वर्ष में बढ़ने के पश्चात् १९५४-५५ मे बाढ़ आदि प्राकृतिक विपत्तियों के कारण घट गई। यह कमी ससार के सभी चावल उत्पन्न करने वाले देशों में हुई थी। पर १९५५-५६ में फिर उत्पत्ति कुछ बढ़ी। व्यवसायिक फसलों में से तिलहन और रुई की उत्पत्ति योजना के अनुकूल बढ़ी पर जूट और गन्ने की उपज में कमी हुई।

प्रथम योजना के काल में अन्न की उत्पत्ति में वृद्धि सिंचाई की सुविधाओं के बढ़ने, खाद के प्रयोग मे आधिक्य और बेकार भूमि को खेती के काम मे लाने के लिये फिर से अधिकृत करने के कारण हुई, परन्तु यह बता सकना कठिन होगा कि किस कारण से कितनी वृद्धि हुई है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—यद्यपि द्वितीय योजना में उद्योगों को विशेष महत्व दिया गया है पर कृषि के प्रति उदासीनता नहीं दिखाई गई है। द्वितीय योजना मे इस बात पर ध्यान रक्खा गया है कि प्रथम योजना के कार्य में विकास हो और कृषि उत्पत्ति तथा कच्चे माल की उत्पत्ति में हमारा देश यथासम्भव आत्मनिर्भर हो जाय। दूसरे, यह अब अच्छी तरह समझ में आ गया है कि खेती का क्षेत्रफल बढ़ा लेने मात्र से ही उत्पत्ति में आवश्यक वृद्धि न हो सकेगी। अन्त में यद्यपि खाद्यान्न की वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है पर दूसरी योजना में उन वस्तुओं की सख्या काफी बढ़ी है जिनकी उत्पत्ति बढ़ाने का ध्येय है। ऐसी वस्तुओं में चाय, काली मिर्च, लाख, नारियल, वृक्षफल, सुपाड़ी भी सम्मिलित हैं। इससे भारतीय किसानों की उन्नति मे स्थिरता और विदेशी विनिमय से अधिक आय प्राप्त होगी।

यदि वर्तमान दर से ही अन्न का उपभोग चलता रहे तो योजना आयोग के अनुसार बढ़ी हुई जनसंख्या को ७०५ लाख टन अन्न की आवश्यकता होगी परन्तु प्रति व्यक्ति अन्न का उपयोग १८·३ औंस प्रतिदिन कर देने का विचार है, इसलिये कुल अन्न की आवश्यकता ७५० लाख टन होगी। इसी आधार पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १९६०-६१ तक १०० लाख मैंन की उपज बढ़ाने का निश्चय किया गया। अन्न की इस वृद्धि में चावल की ३० से ४० लाख टन, गेहूँ की २० से ३० लाख टन, और अन्य अन्नों की २० से ३० लाख टन और दालों की १५ से २० लाख टन वृद्धि सोची गई है। बाद में ऐसा प्रतीत हुआ कि खाद्यान्न के

उत्पादन की यह वृद्धि पर्याप्त नहीं होगी और इसीलिये लक्ष्य बढ़ाकर ८०४ लाख टन कर दिया गया जो १९५५-५६ की तुलना में २४३/५% अधिक है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुछ संशोधित कृषि उत्पादन लक्ष्य

वस्तु	१९५५-५६ में उत्पत्ति अनुमानित	प्रस्तावित अतिरिक्त उत्पत्ति	१९६०-६१ तक वृद्धि करने की मात्रा का ध्येय	प्रतिशत
खाद्यान्न	६५० लाख टन	१०० लाख टन	८०४ लाख टन	२४.६
तिलहन	५५ लाख टन	१५ लाख टन	७६ लाख टन	३७.०
गन्ना (गुड़)	५८ लाख टन	१३ लाख टन	७८ लाख टन	३३.६
रुई	४२ लाख गाँठ	१३ लाख गाँठ	६५ लाख गाँठ	५५.६
जूट	४० लाख गाँठ	१० लाख गाँठ	५५ लाख गाँठ	५८.१
अन्य फसलें	...	...	...	२२.४
सब वस्तुयें	...	...	...	२७.८

संशोधित लक्ष्यों के अन्तर्गत व्यवसायिक फसलों के सम्बन्ध में यह प्रस्तावित है कि कपास की उत्पत्ति ४२ लाख गाँठों से बढ़ाकर ६५ लाख गाँठ, जूट की उत्पत्ति ४० लाख गाँठों से बढ़ाकर ५५ लाख गाँठ, गन्ना (गुड़) की उत्पत्ति ५८ लाख टन से बढ़ाकर ७८ लाख टन, तथा प्रमुख तिलहनों की उत्पत्ति ५५ लाख टन से बढ़ाकर ७६ लाख टन की जाय। अन्य कृषि फसलों के सम्बन्ध में, आधार वर्ष की तुलना में ९ प्रतिशत वृद्धि प्रस्तावित थी जो अब बढ़ाकर २२२/५ प्रतिशत कर दी गई है। द्वितीय योजना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि (1) प्रथम पंचवर्षीय योजना में रुई की खेती के विकास के सम्बन्ध में जो कार्य क्रम आरम्भ किया गया था वह जारी रक्खा जायगा। दूसरी योजना के अन्तर्गत मुख्य बात इस सम्बन्ध में यह होगी कि लम्बे रेशे वाली रुई के उत्पादन पर विशेष जोर दिया जायगा। लम्बे रेशे की रुई के उत्पादन में काफी उन्नति की गई है। (ii) जूट की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जोर इस बात पर दिया रहा है कि जूट की किस्म अच्छी की

जाय न कि केवल उत्पत्ति की मात्रा ही। यदि सभी मिलें भरपूर काम करें तो उन्हें लगभग ७२ लाख जूट की गाँठो की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त १५०,००० गाँठें अन्य कामो के लिये चाहिये। (iii) गन्ने अथवा गुड़ का उत्पादन बढ़ा देने पर यह सम्भव हो सकेगा कि प्रति व्यक्ति प्रतिदिन १·७२ औंस का उपयोग कर सकेगा। (iv) ऋतु की गड़बड़ी के कारण तम्बाकू की इधर कई वर्षों से उपज बड़े निम्नकोटि की हुई है जिसके कारण उसकी बिक्री में बड़ी बाधा पड़ी। इससे गोदामों में तम्बाकू के स्टाक के पड़े रह जाने के कारण उसका मूल्य गिर गया। इसलिये द्वितीत योजना मे उच्चतर कोटि की तम्बाकू के उत्पादन पर जोर दिया गया है, न कि उत्पादन के मात्रा की वृद्धि पर।

खाद्यान्न नीति

मूल्य नीति—खाद्यान्न के सम्बन्ध में सरकार की नीति है कि (१) भारत को खाद्यान्न के सम्बन्ध में स्वावलम्बी बनाया जाय, (२) जब तक अभाव की स्थिति रहती है तब तक खाद्यान्न क मूल्यों और वितरण पर नियंत्रण रखा जाय, जिससे उपभोक्ताओं की कठिनाई दूर हो और जहाँ तक सम्भव हो देश के सभी भागो मे समान आधार पर सभी को खाद्यान्न मिल सके, और (३) किसान को उसके उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त हो सके।

पचवर्षीय योजना मे यह ठीक ही कहा गया है कि "मूल्य के बढ़ने-घटने में खाद्यान्न पर प्रमुख रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि मूल्य पर नियंत्रण रखना है तो यह आवश्यक है कि खाद्यान्न का भाव ऐसे स्तर रखा जाय जो देश की गरीब जनता की पहुँच के बाहर न हो। भारत का वर्तमान स्थिति मे यदि खाद्यान्न की पूर्ति में थोड़ी भी कमी आई, तो भाव अपेक्षाकृत अधिक चढ़ जायेंगे। खाद्यान्न का भाव बढ़ जाने से रहन-सहन का खर्च बढ़ जाता है और उत्पादन व्यय मे भी वृद्धि हो जाती है। इसलिए ऐसी नीति जिससे सभी ओर भाव बढ़ जायें और रुपया लगाने का कार्यक्रम ही ठप हो जाय, उत्पादक के लिए किसी भी रूप मे लाभदायक नहीं है। इस कारण खाद्यान्न नीति निर्धारित करते समय इन सभी बातों पर विचार करना आवश्यक है।" आश्चर्य की बात है कि योजना आयोग द्वारा इस सही सिद्धान्त का प्रतिपादन किए जाने के बाद भी भारत सरकार की नीति इसके बिल्कुल विपरीत है। खाद्यान्न के भाव ऊँचे रखे गए हैं, जिससे उपभोक्ताओं को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उद्योगो के उत्पादन-व्यय में भी वृद्धि हुई। खाद्यान्न ऊँचे भावों के समर्थन में यह कहा गया है कि (१) यदि खाद्यान्न के भाव गिराए जायें तो किसान खाद्यान्न के स्थान पर गन्ना, कपास और जूट बोयेगा, जिनके भाव अपेक्षाकृत अधिक ऊँचे हैं। किसान स्वभा-

बतः ही इन ऊँची कीमतों की ओर आकृष्ट होगा; और (२) खाद्यान्न के भाव केवल भारत में ही ऊँचे नहीं हैं, बल्कि यह स्थिति सारे विश्व में है। जब तक विश्व के अन्य देशों में खाद्यान्न के भाव नहीं गिरते हैं, तब तक देश में खाद्यान्न का अभाव होने के कारण भाव कम नहीं किए जा सकते हैं।

इन तर्कों में सत्य का अंश बहुत अधिक नहीं है। प्रथम तर्क के सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि गन्ने, कपास और जूट की कीमत अधिक इसलिये है क्योंकि सरकार ने इनकी कीमत ऊँची दर पर निश्चित कर रखी है। यदि आरंभ से ही व्यवसायी फसलों और खाद्यान्न के मूल्यों में कुछ सम्बन्ध निश्चित किया गया होता तो इस प्रकार की गड़बड़ी कभी नहीं होती। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कृषिसामग्री के सम्बन्ध में मूल्य और उत्पादन में उल्टा सम्बन्ध होता है। यदि व्यवसायी-फसल और खाद्यान्न दोनों के मूल्य कम रखे जाते तो दोनों के उत्पादन में वृद्धि होती। परन्तु सरकार द्वारा व्यवसायी-फसल का भाव ऊँचा कर दिए जाने से सारी स्थिति ही बदल गई और काफी क्षति पहुँची। इसका अब एक यह उपाय है कि कपास, जूट, गन्ने इत्यादि के मूल्य कम किए जायें। इससे दो लाभ होंगे : (१) उद्योगों का उत्पादन व्यय कम होगा और (२) खाद्यान्न के भाव घट जायेंगे। जहाँ तक दूसरे तर्क का सम्बन्ध है, भारत में खाद्यान्न का भाव इसलिए ऊँचा नहीं है कि विश्व के बाजारों के भाव भी ऊँचे है। उसका कारण तो यह है कि भारत का उत्पादन बहुत कम है। कुछ समय पूर्व भारत में खाद्यान्न का भाव विश्व-बाजार के भाव की अपेक्षाकृत कहीं अधिक था। यदि यह तर्क सही है तो उस समय भारतीय कीमतों को इतना ऊँचा नहीं होना चाहिए था। भारत में ऊँची कीमतों की समस्या केवल दो उपायों से हल की जा सकती है—या तो उत्पादन बढ़ाया जाय अथवा आयात में वृद्धि की जाय। क्योंकि अधिक व्यय होने के कारण खाद्यान्न का अधिक आयात कर सकना संभव नहीं है, इसलिए सबसे उपयुक्त विधि यही है कि देश में उत्पादन की वृद्धि की जाय। यदि खाद्यान्न और व्यवसायी फसलों के लिए प्रयुक्त भूमि में प्रति एकड़ का उत्पादन बढ़ाया जाय, तो दोनों फसलों का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक फसल बोई जाने वाली जमीन पर दूसरी फसल बोई जाय। सिंचाई की व्यवस्था, अच्छे बीज और अधिक खाद के द्वारा प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ा सकना संभव है।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त सबसे पहले १९५४ के मध्य में सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया कि वह ऐसी नीति कार्यान्वित करे जिससे 'किसानों को उनके उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त हो सके'। पिछले वर्षों में खाद्यान्न के मूल्य अधिक थे और सरकार उन्हें नियन्त्रित करने में प्रयत्नशील थी।

किन्तु जब जुलाई १६५४ में नई फसल तैयार होकर बाजार में आई, तो पंजाब में गेहूँ का भाव १० रुपए प्रति मन से भी कम हो गया। हापुड़ आदि उत्तर-प्रदेश को भी कुछ मंडियों में गेहूँ लगभग १० रुपया प्रति मन के हिसाब से बिकने लगा। मूल्यों मे यह गिरावट इसलिए आई कि (१) गेहूँ उत्पन्न करने वाले अधिकांश क्षेत्रो में पिछले वर्षों की अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हुआ, (२) क्रय-शक्ति कम हो जाने के कारण बहुत से लोगों ने गेहूँ का उपयोग करना बन्द कर दिया, जिसके फलस्वरूप उसकी माँग में कमी आ गई, (३) यातायात के साधनो की अधिक सुविधाएँ प्राप्त न होने के कारण यह सभव न था कि जिन क्षेत्रों में गेहूँ का उत्पादन होता है वहाँ से वह उन केन्द्रों को शीघ्रतापूर्वक भेजा जा सके जहाँ उसकी खपत होती है। फलतः मंडियों में उसका भाव गिर गया, और (४) जिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने गेहूँ के भाव को गिराने मे सहायता दी, उनके पीछे एक मनोवैज्ञानिक कारण भी था और यह यह कि विश्व भर मे गेहूँ की पूर्ति बढ़ गई थी और उसके मूल्य मे कमी आ गई थी। इस सकट को दूर करने के लिए पंजाब सरकार ने स्वयं १० रुपया प्रति मन के हिसाब से कुछ गेहूँ खरीदा। उत्तर-प्रदेश सरकार भी ऐसा ही करने के लिए तैयार थी, किन्तु कालान्तर में मूल्यों मे वृद्धि हो जाने पर सरकार ने गेहूँ खरीदना अनावश्यक समझा। जब कि गेहूँ और चने के मूल्य मे अत्यधिक नीचे गिरने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लगी तब चुनी हुई वस्तुओं के मूल्यों की सहायता देने की नीति (Selective price support policy) का अनुसरण किया गया और अप्रैल १६५५ मे गेहूँ, जून में चना और अगस्त मे चावल इसके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिये गये। जुलाई १६५५ से खाद्यान्नों के मूल्य अधिकार के बाहर जाने लगे क्योंकि बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोपों के कारण खरीफ की फसल बिलकुल नष्ट हो गयी थी। सरकार की मूल्य स्थिर रखने की नीति के कारण थोडे समय के लिये अन्न की पूर्ति में कमी आ गयी और जनता की धारणा कुछ ऐसी हो गई कि मूल्य बढ गया।

यदि खाद्यान्न या उद्योगों मे प्रयुक्त होने वाले कच्चे मालों के मूल्यों के एक निश्चित सीमा से अधिक कमी हो जाय, तो उनका सरकार द्वारा खरीदना उसी सीमा तक उचित होगा जहाँ तक उसमे किसानों का भला होता है, क्योंकि उनके हितों को सुरक्षित रखना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना श्रमिकों या उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करना। किन्तु इस नीति से कई हानियाँ हैं : (१) यदि मूल्य बराबर गिरते गए तो सरकार को भारी क्षति उठानी पड़ जायगी, (२) संभव है कि सरकार जमा किए हुए गल्ले को बेंच न सके और उसे पर्याप्त समय तक स्टाक मे ही रखना पड़ेगा, और (३) यदि सरकार किसी अनाज को एक ही भाव पर

बेंचने के लिए जोर देती है तो सामान्य मूल्य स्तर में कृत्रिमता उत्पन्न हो जायगी। यदि कृषि सम्बन्धी उत्पादन का मूल्य गिर जाता है तो इसके फलस्वरूप अन्य कीमतों में भी कमी आ जायगी। इस प्रकार क्रय-शक्ति में वृद्धि हो जाने के कारण किसानों को तो लाभ होगा ही, उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था भी लाभान्वित होगी क्योंकि खाद्यान्न की कीमतों के गिर जाने से सामान्य मूल्य-स्तर निश्चित रूप से कम हो जायगा।

नियन्त्रण (Controls)—सरकार की खाद्यान्न तथा अन्य सामग्रियों पर नियन्त्रण लगाने की नीति की उपयोगिता पर बहुत विवाद चला था। नियंत्रण लगाने का समर्थन करते हुए कहा गया है कि (१) गरीब जनता की कठिनाइयों को दूर करने के लिए और अभाव ग्रस्त क्षेत्रों को खाद्यान्न भेजते रहने के लिए सरकार द्वारा नियंत्रण लगाना आवश्यक है। नियंत्रण न लगाने से खाद्यान्न की कीमतें बढ़ेंगी और इससे निर्धन जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, (२) योजना की सफलता के लिए नियत्रण आवश्यक है, क्योंकि नियोजन और विनियन्त्रण (De-control) साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। किन्तु इन तर्कों में इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि स्वयं नियंत्रण लगाने से ही अभाव की स्थिति पैदा हो जाती है। यदि नियंत्रण हटा दिया जाय तो बहुत संभव है कि गल्ले इत्यादि के छिपाकर रखे गए स्टाक खुले बाजार में आने लगें और उनके वितरण में सुधार हो जाय जिसके फलस्वरूप अभाव की स्थिति भी दूर हो जाय। चूँकि खाद्यान्न के सही आँकड़े प्राप्त नहीं हैं, इसलिए की कमी की मात्रा का ठीक पता चला सकना कठिन है। यह कहा गया है कि जिन अधिकारियों पर खाद्यान्न-नियन्त्रण लागू करने का उत्तरदायित्व है वह अभाव को आवश्यकता से अधिक आँकते हैं जिससे वह काफी समय तक उस पद पर कार्य कर सकें। यदि नियंत्रण हटा दिया जायगा तो यह कृत्रिम स्थिति स्वयं दूर हो जायगी। जहाँ तक नियोजन का प्रश्न है, यह सच है कि विदेशी व्यापार और विदेशी पूँजी पर कुछ सीमा तक नियंत्रण रखना आवश्यक है, परन्तु यही तर्क खाद्यान्न-नियंत्रण पर लागू नहीं किया जा सकता है, क्योंकि योजना को कार्यान्वित करने के लिए यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। इस तर्क का कोई महत्व नहीं है कि योजना की सफलता के लिए नियंत्रण का होना आवश्यक है।

यदि नियंत्रण कुशलता पूर्वक लागू किए जाते और उनको प्रभावशाली बनाने के लिए कड़े उपायों को अपनाया जाता तो स्थिति में सुधार होना संभव था, परन्तु भारत में नियत्रण जितनी अधिक कठिनाइयाँ हल नहीं कर पाते उससे कहीं अधिक कठिनाइयाँ पैदा कर देते हैं। उपभोक्ताओं, व्यापारियों और दुकान-

द्वारा सभी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि नियंत्रण लागू न हो तो विशेष हानि नहीं होती है, परन्तु यदि लागू करके भी उनका कुशलता पूर्वक सचालन न किया जाय तो सुविधा की अपेक्षा कष्ट अधिक बढ़ जाता है और हानि भी होती है। यदि इस प्रकार के नियंत्रण को हटा दिया जाय तो निश्चय ही स्थिति म सुधार होगा। फिर जब तक नियंत्रण लागू रहेगा, देश की आर्थिक व्यवस्था अपने सामान्य स्तर पर नहीं आ सकती है। सामग्री नियंत्रण समिति[1] (Commodity Controls Committee) ने इस बात की ओर ध्यान दिया और यह बताया कि "खाद्यान्न मे अब भी कमी बनी हुई है। इसलिए जब तक यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं और प्राकृतिक विपत्तियों के फलस्वरूप दुर्भिक्ष पड़ने की संभावना बनी हुई है तब तक खाद्यान्न की अनुभूति व उपलब्धि से सम्बन्धित आदेश (Foodgrains Licensing and Procurement Order, 1952) व अन्य पूरक आदेशों का पालन किया जाना अनिवार्य है"। जैसा कि बाद की स्थिति से ज्ञात होता है, नियंत्रण ने स्वयं ही खाद्यान्न का अभाव उत्पन्न कर दिया था। यद्यपि सामग्री नियंत्रण समिति व अन्य लोगों का विचार था कि वर्तमान परिस्थिति में नियंत्रण हटाना संभव नहीं होगा, किन्तु उसे हटा देने से खाद्यान्न की स्थिति निश्चित रूप मे सुधर गई है।

भारत के उस समय खाद्य मन्त्री स्वर्गीय श्री रफी अहमद किदवई की यह धारणा थी कि खाद्यान्न का नियंत्रण कर देने से स्थिति सुधर जायगी। उन्होंने मई १९५२ को अपने एक सार्वजनिक भाषण में कहा कि जिन राज्यों में खाद्यान्न का उत्पादन उनकी आवश्यकता से अधिक हो रहा है वहाँ से नियंत्रण हट जाना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा कि जिन दो तीन राज्यों के अन्तर्गत देहातों में भी राशनिङ्ग (Rationing) है, वह भी हटा लेना चाहिये। किदवई साहब की इस धारणा का सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही क्षेत्रों में विरोध किया गया। किन्तु इस सम्बन्ध मे श्री सी० राजगोपालाचारी ने श्रीगणेश किया और २६ जून १९५२ को मद्रास से खाद्यान्न नियंत्रण हटा लिया। यह विनियन्त्रण की दिशा में पहला कदम था। कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयाँ अवश्य हुई, किन्तु खाद्यान्न विनियन्त्रण मे पर्याप्त सफलता मिली। उत्तर प्रदेश, बिहार आदि कई राज्यों ने मद्रास का

---

१. सामग्री नियंत्रण समिति की नियुक्ति २४ अक्टूबर १९५२ को काउन्सिल ऑव स्टेट्स के उपसभापति श्री एस० वी० कृष्णमूर्ति राव की अध्यक्षता में की गई थी। इस समिति ने खाद्यान्न का विनियंत्रण प्रारंभ होने के थोड़ा पहिले ही २० जुलाई १९५२ को अपनी रिपोर्ट सरकार को दी थी।

अनुसरण किया और सितम्बर १९५२ तक यह विनियन्त्रण ६ राज्यों में लागू हो गया। धीरे-धीरे यह जोर पकड़ता गया और १९५३ तक केन्द्र व राज्य सरकारों ने खाद्यान्न के वितरण और उसके मूल्य पर से नियन्त्रण हटाने का काम बिल्कुल पूरा कर लिया ज्वार, बाजरा, मक्का, जौ जैसे मोटे अनाजों पर से १ जनवरी १९५४ को नियन्त्रण हटा लिया गया; इसके साथ ही इन मोटे अनाजों का एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाने पर जो प्रतिबन्ध था वह सौराष्ट्र, मध्यभारत और उत्तर-प्रदेश के ११ जिलों को छोड़कर सभी जगहों से हट गया। बाद को यह प्रतिबन्ध भी हटा लिया गया। चावल का विनियन्त्रण १० जुलाई १९५४ से लागू किया गया। उसे एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा है और अब देश के सभी भागों में उसका व्यापार स्वतन्त्रतापूर्वक किया जा सकता है। अभी तक चावल अनिवार्य रूप से प्राप्त करना पड़ता था, किन्तु विनियन्त्रण लागू होने से यह प्रक्रिया समाप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त चावल के मूल्य पर सरकारी नियन्त्रण भी बन्द हो गया है।

"जिस क्रमिक विनियन्त्रण (Gradual de-control) को राजा जी १९५२ में प्रारम्भ किया था, वह चावल का पूर्ण विनियन्त्रण हो जाने के उपरान्त अपनी चरमावस्था पर पहुँच गया"। अंतर-प्रदेशीय प्रतिबन्ध जो गेहूँ के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के सम्बन्ध में लागू किया गया था वह नियंत्रण का अंतिम रूप था और १८ मार्च १९५५ से यह भी उठा लिया गया। इसमे १० वर्ष तक लागू नियन्त्रण का अंत हो गया।

विनियन्त्रण के समर्थकों ने यह आशा दिला रखी थी कि खाद्यान्न-नियन्त्रण के फलस्वरूप अकाल, खाद्यान्न के सम्बन्ध में स्थानीय अभाव (Local scarcity) और अन्य आपत्तियाँ उत्पन्न हो जायेंगी, किन्तु भाग्यवश ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ। सच बात तो यह है कि खाद्यान्न नियन्त्रण के कारण अन्न के अभाव की कृत्रिम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं और जिन अधिकारियों को खाद्यान्न-नियन्त्रण का कार्य-भार सौंपा गया था, स्वार्थरत होकर अपना हित साध रहे थे। नियन्त्रण हट जाने से (१) खाद्यान्न का अभाव होने की जो मनःस्थिति बन गई थी वह दूर हो गई। इसके अतिरिक्त मुनाफा खोरी और चोरबाजारी का भी अन्त हुआ, (२) देश में खाद्यान्न के वितरण की स्थिति सुधर गई, (३) खाद्यान्न का भाव कम हो गया जिसके फलस्वरूप लोगों के रहन-सहन की लागत घटी और किसानों को भी अधिक उत्पादन करने में प्रवृत्त होना पड़ा, जिससे वे उतनी आय का उपार्जन कर सकें जो उन्हें पहले प्राप्त हो रही थी, (४) केन्द्र व राज्य सरकारों के द्वारा खाद्यान्न नियन्त्रण व राशनिङ्ग पर जो व्यय होता था उसमें

कमी आ गई। विनियन्त्रण से यदि कोई हानि हुई है तो यही कि खाद्यान्न नियन्त्रण और राशनिङ्ग विभाग के कर्मचारी बहुत बड़ी संख्या में बेरोजगार हो गये और मुनाफाखोरों व चोरबाजारी करने वालों की आय का एक बहुत बड़ा साधन छिन गया।

खाद्य स्थिति बिगड़ते जाने के फलस्वरूप १६५६ में चावल तथा गेहूँ के मण्डल (zone) निश्चित करके, उचित मूल्य पर बेचने वाली दूकानों द्वारा बिक्री करके तथा खाद्यान्न के व्यापार एवम् लाने-ले जाने पर प्रतिबन्ध लगा कर सीमित नियन्त्रण फिर से लागू किया गया। सरकारी अधिकारियों को एक वर्ग पूर्ण नियंत्रण के पक्ष में है तथा योजना आयोग के अर्थशास्त्रियों ने भी इस विचार का समर्थन किया। किन्तु, जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, खाद्यान्न जाँच कमेटी के नियन्त्रण के विरुद्ध सिफारिश की।

Imp. अध्याय ६

जमींदारी उन्मूलन

आर्थिक दृष्टि से जमीदारी उन्मूलन का विशेष महत्व है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की आर्थिक नीति का यह सदैव महत्वपूर्ण आधार रहा है। विशेषज्ञों की अनेक समितियों ने भी समय-समय पर जमींदारी का उन्मूलन करने की सिफारिश की। १९४७ में भारत को स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् कांग्रेस सरकार ने जमींदारी उन्मूलन को अपने आर्थिक कार्य-क्रम का महत्वपूर्ण अंग बना लिया और धीरे-धीरे सभी राज्यों मे इस नीति को लागू किया है। बहुत से राज्यों ने, जहाँ जमींदारी या इसी के अनुरूप कोई अन्य प्रथा प्रचलित थी, इन विशेषाधिकारों का उन्मूलन करने के लिए कानून बनाए हैं और उत्तर प्रदेश तथा विहार ने तो जमींदारी का उन्मूलन कर उन पर अपना कब्जा भी कर लिया है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन सरकारों ने मुआवजा देकर जमीदारी-उन्मूलन करने की नीति अपनाई है अर्थात् सरकार ने जमींदार को उसकी जमीन के बदले उपयुक्त मुआवजा (Compensation) दिया है। ३१ मार्च १९५६ तक जमींदारी प्रथा उन्मूलन हो गया तथा ४.३६ करोड़ एकड़ अथवा राज्य की ९९.८ प्रतिशत कृषि जोतों पर भूमि सुधार के उपाय लागू किये गये।

उन्मूलन के पक्ष में तर्क—जमीदारी उन्मूलन करने के समर्थन में अनेक तर्क दिए गए हैं। यह कहा गया है कि जमींदार किसानो का शोषक (Parasite) है और उसने अपने कब्जे की जमीन में कुछ सुधार नहीं किया, भूमि की चकबन्दी (Consolidation of holding) करने मे सदैव रुकावट डाली है और किसान को जो जमीन जोतता बोता है भूमि सुधार के लिये अपनी अनुमति नहीं दी है। यदि जमींदार को हटा दिया जाय तो भूमि मे सुधार किया जा सकेगा, खाद्यान्न के उत्पादन मे वृद्धि होगी और भूमि सुधार योजना को कार्यान्वित किया जा सकेगा जिसकी बहुत समय से आवश्यकता अनुभव की जा रही है। यह तर्क बहुत अंशों में सही है, फिर भी इस तथ्य को टाला नहीं जा सकता है कि कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिन पर जमींदार का बश नहीं है और यदि वह वश मे रखना भी चाहे तो सफल नहीं हो सकता।

जमींदारी उन्मूलन का समर्थन करते हुए यह भी कहा गया है कि इससे राज्य की भू-राजस्व (Land revenue) आय बढ़ेगी। यह तर्क बिल्कुल सही है

क्योंकि १६५१-५२ में राज्यों की भू-राजस्व से आय ४७·६६ करोड़ रुपये थी जो बढ़कर १६५७-५८ में (बजट के अनुसार) ६२·५४ करोड़ रुपये हो जायगी। इससे राज्य सरकारें मुआवजे की किश्त चुकाने के बाद अपनी भूमि सुधार तथा ग्राम-पुनर्निर्माण (Rural reconstruction) योजनाओं को लागू कर सकेंगी। परिणामस्वरूप देश के प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि होगी और किसान की स्थिति में सुधार हो सकेगा।

जमींदारी उन्मूलन का प्रश्न आर्थिक होने के साथ ही राजनैतिक भी बताया गया है। देश के मतदाताओं में किसानों की संख्या बहुत अधिक है। किसान वर्तमान स्थिति से बहुत असन्तुष्ट हैं और उनका विचार है कि उनको इस दयनीय स्थिति तक पहुँचाने के लिए केवल जमींदार ही उत्तरदायी हैं। यह सर्वविदित है कि जनतंत्र प्रणाली में बहुमत का निर्णय ही मान्य होता है चाहे उनका दृष्टिकोण कुछ भी हो। इसलिए किसानों के असन्तोष को कम करके उनका मत अनुकूल करने के लिए जमींदारी उन्मूलन को एक साधन बनाया गया है। पिछले वैर-भाव की प्रतिक्रिया के रूप में किसान भविष्य में लागू की जाने वाली किसी भी भूमि सुधार योजना में जमींदारों के साथ सहयोग नहीं करेंगे इसलिए भूमि सुधार योजनाएँ तभी सफल हो सकती हैं जब किसानों तथा राज्य सरकार के मध्यस्तों का उन्मूलन कर दिया जाय।

जमींदारी उन्मूलन के विरुद्ध तर्क—जमींदारी उन्मूलन के विरोध में भी अनेक तर्क दिये गये हैं परन्तु उनमें जान नहीं है। यह कहा गया है कि जमींदार के उन्मूलन से बहुत बड़ी संख्या में लोग बेरोजगार हो जायेंगे, जैसे, जमींदार, उनके जिलेदार, कारिन्दे इत्यादि। इससे केवल जमींदारी की आय पर निर्भर करने वाला वर्ग बहुत कठिनाइयों में पड़ जायगा। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि किसी भी परिवर्तन के साथ कुछ कठिनाई और अव्यवस्था का होना जरूरी है और इस कठिनाई तथा अव्यवस्था से डरकर परिवर्तन को रोका नहीं जा सकता है। वास्तव में महत्व तो इस बात का होता है कि परिवर्तन से क्या लाभ होगा अथवा उसका क्या परिणाम होगा। यह सही है कि जमींदारी का उन्मूलन कर देने से जमींदारों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा परन्तु इससे किसानों की दशा में सुधार भी होगा और दीर्घकालिक दृष्टिकोण से यह लाभदायक सिद्ध होगा। जमींदारों के कारिन्दे इत्यादि कर्मचारी आरम्भ में बेरोजगार हो जायेंगे परन्तु बाद में उन्हें रोजगार मिल सकता है क्योंकि सरकार को लगान वसूल करने के लिए तथा अन्य कार्यों के लिये कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ेगी। जहाँ तक जमींदारों की कठिनाइयों का प्रश्न है

सरकार जमींदारी के बदले उन्हें मुआवजा देगी और उन्हें अपने जीवन निर्वाह के लिये स्वयं अन्य साधनों की खोज करनी चाहिए।

यह भी कहा गया है जमींदारी का उन्मूलन हो जाने से किसान को कई प्रकार से हानि पहुँचेगी। इस समय सामाजिक तथा अन्य कार्यों के लिए जमींदार किसानों को ऋण देता है, लगान वसूली में वह किसान की परिस्थितियों का ध्यान रखता है और उसे अदायगी के लिये समय देता है परन्तु सरकार के कर्मचारी किसान को यह सुविधा नहीं देंगे। केवल जमींदारी का उन्मूलन कर देने से ही भूमि सुधार सम्भव नहीं है; यदि सारी घटनाओं को इसी प्रकार घटित होने दिया जायगा तो देश को लाभ होने की अपेक्षा अधिक हानि होगी। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि किसान की स्थिति में कुछ परिवर्तन अवश्य होगा परन्तु यदि कार्य का सुचारु-रूप से संचालन किया गया तो किसान की दशा और अधिक बिगड़ जाने की कोई सम्भावना नहीं। आवश्यकता पड़ने पर किसान को कम सूद पर ऋण देने के लिये विशेष संस्थाएँ स्थापित की जा सकती हैं। यदि जमींदारी का उन्मूलन न किया गया तो जिस भूमि सुधार की बहुत समय से आवश्यकता अनुभव की जाती रही है वह कभी लागू न हो सकेगा। जमींदारी उन्मूलन से जो अव्यवस्था पैदा होगी उसका सामना करना पड़ेगा और जितना शीघ्र यह हो सके उतना ही अच्छा है। इससे सुधार करने के लिये मार्ग खुल जायगा और कुछ समय तक अस्थायी अव्यवस्था के पश्चात् भूमि का उत्पादन बढ़ेगा; किसान की दशा सुधरेगी और देश की आर्थिक समृद्धि बढेगी।

उन्मूलन योजना—जमींदारी उन्मूलन कार्य "अस्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्र में अपेक्षाकृत सरल था, जैसे उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश, क्योंकि यहाँ आवश्यक लेखा तथा इस कार्य को करने वाले अधिकारी उपलब्ध थे। स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों मे जैसे बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बगाल तथा जागीरदारी क्षेत्रों जैसे राजस्थान और सौराष्ट्र में सब लेखा तैयार करना और नये सिरे से अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक थी। जो कुछ भी हो मध्यस्थों को हटा देने के कानून अधिकाँश प्रदेशों में लागू कर दिये गये हैं"।

जमींदारी उन्मूलन में साधारणतया निम्न उपायों का प्रयोग किया गया है: (१) वे भूमि के भाग जो परती पड़े थे, जंगल, आबादी के क्षेत्र, आदि जो मध्यस्थों के अधिकार में थे, प्रबन्ध और सुधार के लिये सरकार के अधिकार में दे दिये गये। (२) खुदकाश्त की भूमि तथा निजी फार्म के क्षेत्र, जिनकी देख-रेख स्वयं जमींदार ही करते थे उन्हीं के अधिकार में रहने दिये गये और वे काश्तकार जिन्होंने ऐसी भूमि पट्टे पर जमींदारों से ले रक्खी थी काश्तकार (tenant) की

हैसियत से उन्हीं के अधिकार में छोड़ दी गई। (२) बहुत से राज्यों में प्रधान आसामी जिन्हें मध्यस्थों से सीधे भूमि प्राप्त थी सीधे राज्य की सरकारों से सम्बन्धित कर दिये गये। बम्बई, हैदराबाद और मैसूर में इनामों से प्राप्त भूमि के सम्बन्ध में यह बात नहीं लागू की गई थी। इन प्रदेशों में मध्यस्थों को आसामियों से लेकर कुछ भूमि दी गई। कुछ प्रदेशों में आसामियों को स्थायी तथा हस्ताँतरण का अधिकार प्राप्त था, इसलिये अब यह आवश्यक नहीं था कि उन्हें और अधिक अधिकार प्रदान किये जायें। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर और दिल्ली राज्यों में आसामियों को भूमिधारी अधिकार प्राप्त करने के लिये उसका मूल्य चुकाने का अवसर दिया गया। आन्ध्र, मद्रास, राजस्थान, सौराष्ट्र (खाली क्षेत्र) व मध्य भारत, हैदराबाद (जागीर क्षेत्र) और अजमेर में या तो आसामियों के अधिकार बढ़ा दिये गये अथवा उनका लगान घटा दिया गया और उनसे कोई मूल्य नहीं वसूला गया"।

"मध्यस्थों को दिये जाने वाले मुआवजे और पुनर्वास में सहायता के रूप में दी जाने वाली रकम का अनुमान लगभग ४५० करोड़ रुपया लगाया गया है। इस रकम का ७०% केवल उत्तर प्रदेश और बिहार में दिया जाने वाला मुआवजा है।

मुआवजे का अधिकार—विभिन्न जमींदारी उन्मूलन कानूनों में मुआवजे के विभिन्न आधार दिये गये हैं। आसाम, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश में मुआवजे का आधार भूमि से प्राप्त होने वाली 'वास्तविक आय' (net income) है। उत्तर प्रदेश में यह आधार 'वास्तविक सम्पत्ति' (net assets) और मद्रास में मूलभूत वार्षिक आय' (Basic annual sum) है। वास्तविक आय और वास्तविक सम्पत्ति के आधार लगभग समान ही हैं। जमींदारी की कुल आय में से भूराजस्व उपकर (cess), प्रबन्ध का व्यय, रैय्यत के लाभ के लिये किये गये कार्यों में व्यय और कृषि आयकर इत्यादि घटाकर ही वास्तविक आय (net income) निकाली जाती है। प्रबन्ध और रैय्यत (ryot) के लाभ के लिये किये गए कार्य में जो रकम व्यय की जाती है वह सभी राज्यों में समान नहीं है। वास्तविक आय निश्चित करने के पश्चात् इसी आधार पर मुआवजा निर्धारित किया गया है। मद्रास में 'मूलभूत वार्षिक आय' निकालने के लिए रैय्यतवाड़ी से प्राप्त वार्षिक आय के एक तिहाई भाग में से पाँच प्रतिशत कर्मचारियों पर व्यय करने और वसूली न हो सकने के लिए अलग कर दिया जाता है और ३½ प्रतिशत सिंचाई व्यवस्था को चलाने के लिये काट लिया जाता है। इससे जो आय शेष रहती है वही 'मूलभूत वार्षिक आय' कहलाती है। यह ढंग अन्य राज्यों से भिन्न है क्योंकि

मुआवजा जमींदार से प्राप्त होने वाली वर्तमान वास्तविक आय पर आधारित न होकर रय्यतवाड़ी प्रथा लागू होने के बाद भू-राजस्व के २५ प्रतिशत पर आधारित होगा।

उत्तर प्रदेश में मुआवजे की दर वास्तविक सम्पत्ति का आठ गुना है। इसके साथ ही जो जमींदार १०,००० रुपये से अधिक भू-राजस्व नहीं देते उनको जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् वास्तविक सम्पत्ति के २० गुने से लेकर एक गुना तक पुनर्वास अनुदान दिए जायँगे। यह अनुदान कम आय वाले जमींदारों के लिये सबसे अधिक गुने होंगे और अधिक आय वालों के लिये क्रमशः कम होते जायँगे मध्यस्थों को दिया जाने वाला मुआवजा तथा पुनर्वास अनुदान का अनुमान क्रमशः ७५ करोड़ रुपया तथा ७० करोड़ रुपया है।

मुआवजे के चुकाने में सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि मुआवजा नकद दिया जाय या वेचे न जा सकने वाले बाण्डों के रूप में। जमींदारों के दृष्टि-कोण से यदि मुआवजा नकद दिया जाता तो सर्वोत्तम होता क्योंकि इससे वह कोई नया कारोबार खोलते या उद्योगों में रुपया लगाते जिससे उन्हें बराबर आय होती रहती। परन्तु मुआवजे की रकम को नकद अदा करना संभव नहीं है क्योंकि राज्य सरकारें इतना अधिक धन नकद देने की व्यवस्था नहीं कर सकती है। उनके पास इसके भुगतान के लिए रुपया नहीं है। उत्तर प्रदेश में जहाँ जमींदार उन्मूलन कोष का निर्माण किया गया है, किसानों को अपने लगान का १० गुना जमा कर भूमिधारी अधिकार लेने को प्रोत्साहित किया जा रहा है फिर भी अभी तक बहुत कम रुपया इकट्ठा हो सका है। मुआवजा वेचे न जा सकने वाले बाण्डों के रूप में दिया गया। परन्तु इस विधि से जमींदार के प्रति पूरा-पूरा न्याय नहीं होता है क्योंकि जमींदारों को उनके मुआवजे की रकम और उस पर ब्याज का भुगतान काफी लम्बे समय में किया जायगा और इस बीच अपना वर्तमान खर्च चलाने में तथा कोई नया कारोबार स्थापित करने में जमींदारों को बहुत कठिनाई होगी।

अन्य प्रणाली—जमींदारी उन्मूलन कर देने से ही सारी समस्या का हल होना संभव नहीं है। यदि इसके बाद भूमि सुधार लागू नहीं किए तो जमींदारी उन्मूलन का लाभ नहीं उठाया जा सकता है। इस विषय में मुख्य समस्याएँ यह हैं : (१) जमींदारी उन्मूलन के बाद भूमि पर अधिकार की व्यवस्था, (२) कृषि के रूप (form of cultivation). और (३) भू-राजस्व वसूल करने के लिए और चरागाह, बंजर जैसी जमीन की देख-रेख करने के लिए सरकार की ओर से निर्धारित उपयुक्त संस्था।

अब तक भूमि सुधार का मुख्य उद्देश्य कृषक को स्वामित्व के अधिकार प्रदान करना था। भूमि के हस्तांतरण के सम्बन्ध में भूस्वामी के अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्ध इसलिये रखे गये हैं ताकि जोतें बहुत बड़ी या बहुत छोटी न हो जाँय और भूमि गैर-कृषकों के हाथ न चली जाय। "भूमि सुधार के उपायों के लागू होने के बाद जमींदारी और जागीरदारी क्षेत्रों से अधिकांश कृषकों के भूमि सम्बन्धी स्वामित्व के, अधिकार प्राप्त कर लिये हैं। इस प्रकार मौरुसी रैय्यत (occupancy raiyat), नियत लगान वाले रैय्यत आदि भू-स्वामी बन गये। गैर मौरुसी रैय्यत और रैय्यत के नीचे वाले किसान, सामान्यतः मूल्य चुकाकर ही भूस्वामी बन सकते हैं। यह सब तथा पूर्ववर्ती मध्यस्थ जो अपनी सीर और खुदकाश्त के मालिक बने हुये है। अधिकतर राज्य के काश्तकार कहलाते हैं किन्तु वास्तव में वे अपनी भूमि के स्वामी है और उनके अधिकार रैय्यतवारी क्षेत्रों के भू-स्वामियों की तरह ही हैं।"

अधिकांश राज्यों में भूस्वामियों को अपनी भूमि बेचने का अधिकार है यद्यपि इस पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य हैं। उत्तर प्रदेश में भूमि धर, मध्यप्रदेश में भूमि स्वामी और भूमिधारी, बिहार में भू-स्वामी और मौरुसी काश्तकार, पश्चिमी बंगाल में रैय्यत, आसाम में भू-स्वामी, विशेष अधिकार प्राप्त रैय्यत, मैरुसी रैय्यत, लगान या सदैव के लिये निश्चित लगान देने वाले काश्तकार, हैदराबाद और बम्बई में भूमि वाले किसान, पंजाब मे भू स्वामी और मौरुसी काश्तकार, उड़ीसा में भू-स्वामी और मौरुसी काश्तकार, पेप्सू मे भू-स्वामी, राजस्थान में खातेदार काश्तकार, मध्यभारत में पक्के काश्तकार इत्यादि सभी को अपनी भूमि बेचने के अधिकार प्राप्त हैं। भूमि बेचने पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध अवश्य हैं जैसे (अ) किस प्रकार के व्यक्तियों को भूमि बेची जा सकती है (ब) किस सीमा तक भूमि बेची जा सकती है, खरीदी भूमि के लिये अधिकतम सीमा होती है तथा बेचने वाले के पास शेष भूमि के लिये निम्नतम सीमा होती है।"

"अनेक राज्यों में गैर-कृषकों को भूमि बेचने की मनाही है। बम्बई हैदराबाद, मध्यभारत और सौराष्ट्र में कानूनन गैर कृषकों को भूमि बेचने की आज्ञा नहीं है। बम्बई और पश्चिमी बंगाल मे अनुमति प्राप्त खरीदारों की प्राथमिकता का क्रम निश्चित है। प्राथमिकता में पहला नम्बर उन काश्तकारो का है जो भूमि पर वास्तव मे काबिज हैं। इसके बाद पड़ोसी कृषकों का नम्बर है तथा इसी तरह लोगों का क्रम निश्चित है।"

"उत्तरप्रदेश में यद्यपि भूमिधार को अपनी जोतों को बेचने का अधिकार है किन्तु इस पर यह प्रतिबन्ध है कि धार्मिक संस्था के अलावा किसी अन्य

व्यक्ति को बेचने पर खरीदने वाले की जोत ३० एकड़ से अधिक न हो जाय। बम्बई में यह सीमा १२ एकड़ से ४८ एकड़ (जो भूमि की किस्म पर निर्भर है) है। हैदराबाद में यह सीमा पारिवारिक जोत की तीन गुनी है। मध्यभारत में यह ५० एकड़, पश्चिमी बंगाल में २५ एकड़ (जिसमें घर से संलग्न खेत नहीं शामिल हैं) दिल्ली में ३० स्टैन्डर्ड एकड़, राजस्थान में ६० असिंचित एकड़ या ३० सिंचित एकड़, आसाम में एक परिवार के लिये १५० बीघा (४६२ एकड़) तथा सौराष्ट्र में तीन आर्थिक जोत है।"

बम्बई, हैदराबाद और मध्यभारत में ऐसी कोई भूमि नहीं बेची जा सकती जो बेचने वाले की जोत को निर्धारित सीमा से कम कर दे। उदाहरण के लिये बम्बई में कोई भी जोत बेचकर या किसी अन्य प्रकार इस तरह विभाजित नहीं की जा सकती कि उसके (एक गुंठा या चार एकड़ सीमा भूमि पर निर्भर है) टुकड़े हो जाँय। हैदराबाद में एक (स्टेन्डर्ड) निश्चित क्षेत्रफल निर्धारित करने की व्यवस्था किसी भी हालत में भूमि इससे कम क्षेत्रों में नहीं विभाजित की जा सकती। इसी प्रकार मध्य प्रदेश में पक्का काश्तकार अपनी भूमि तभी बेच सकता है जब कि वह अपनी कुल भूमि बेचने से तैयार हो अथवा बेचने के बाद उसके पास ५ सिंचित एकड़ या १५ असिंचित एकड़ भूमि बच रही हो।"

इन सब प्रतिबन्धों के बावजूद भी, अधिकांश राज्यों में जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् कृषकों का भू-स्वामित्व हो जायगा तथा प्रत्येक किसान अपनी जमीनें जोतेगा। यदि ऐसा हुआ तो बहुत बड़ी सीमा तक जमींदारी उन्मूलन के लाभ व्यर्थ हो जायेंगे। कृषक के पास अपनी भूमि में सुधार करने तथा कृषि के सुधारे हुये ढंगों का प्रयोग करने के लिये साधन नहीं है।

भूमि से उत्पादन की मात्रा तभी बढ़ाई जा सकती है जब बड़े क्षेत्रों में खेती की जाय और आवश्यकता पड़ने पर मशीनों का उपयोग किया जाय। उत्पादन में वृद्धि होने से किसान की आय में भी वृद्धि होना स्वाभाविक है। उत्तर प्रदेश कानून में दो तरह की सहकारी-कृषि प्रणालियों की व्यवस्था की गई है-(१) ५० एकड़ या अधिक के ऐसे छोटे फार्म जो १० या अधिक किसानों ने स्वेच्छा से समझौता करके बनाए हों और (२) आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त जमीनों को मिलाकर संगठित सहकारी फार्म। यदि दूसरे प्रकार के फार्म के कुल सदस्यों के दो तिहाई यह माँग करते हैं कि इन छोटे फार्मों को मिलाकर एक बड़ा फार्म बनाया जाय तो शेष एक तिहाई को अनिवार्य रूप से यह माँग माननी पड़ेगी। परन्तु इससे समस्या नहीं सुलझ सकती। सहकारी फार्म की प्रणाली लागू करने के लिए काफी परिश्रम करना पड़ेगा।

अध्याय ७

भूमि की चकबन्दी

भारत में भूमि को छोटे-छोटे हिस्सों में विभक्त कर देने से गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई है। भारत के किसान भूमि के छोटे-छोटे अलग-अलग बिखरे हुए टुकड़ों में खेती करते हैं जिससे खाद्यान्न तथा अन्य सामग्री का उत्पादन कम होता है और किसान की गरीबी बढ़ती जाती है। इसके अनेक कारण हैं जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं, (१) भूमि पर जनसंख्या का दबाव और मौरूसी हक सम्बन्धी कानून। परिवार के प्रधान के मरने पर जमीन उसके पुत्रों तथा अन्य सम्बन्धियों में बाँट दी जाती है। बाँटते समय इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता है कि इन भूमि के छोटे-छोटे हिस्सों से हिस्सेदारों का जीवन-निर्वाह नहीं हो सकेगा, इनमें जो कुछ उत्पादन होगा उससे वह अपना भरण-पोषण नहीं कर सकेंगे। (२) किसान के ऋणी होने तथा अन्य कारणों से भूमि का बिक जाना। भारत के किसान ऋण के बोझ से दब जाने के कारण अपनी जमीन रेहन रख देते हैं और ऋण न चुका सकने पर उस जमीन को ऋणदाता बेच देता है या स्वयं ले लेता है; इससे जो जमीन पहले से ही छोटे-छोटे टुकड़ों में थी अब और अधिक विभक्त हो जाता है। यदि किसान के संयुक्त परिवार के एक सदस्य का हिस्सा ऋण न चुका सकने अथवा अन्य किसी कारण से बेच दिया जाता है तो शेष भूमि कम हो जाती है और जब उसका विभाजन किया जाता है तो वह और छोटे छोटे टुकड़ों में बँटती जाती है। (३) किसान इस बात से अनभिज्ञ है कि भूमि का छोटे-छोटे हिस्सों में बँट जाना बुरा है। यह अनुभव किया गया है कि किसान भूमि की चकबन्दी के लिये शीघ्र तैयार नहीं होता। इसके लिये उसे काफी समझना पड़ता है और दबाव डालना पड़ता है। भूमि की चकबन्दी से उत्पादन बढ़ता है तथा कृषक की चिंता भी कम हो जाती है इससे हम छोटे-छोटे हिस्सों में विभक्त होने की गम्भीर समस्या को ही हल नहीं कर लेते बल्कि ग्राम योजना में, खेल के मैदान, स्कूल, गड्ढे आदि बनाने में भी सहायता मिलती है।

हानियाँ—भूमि का विभाजन और उसका छोटे-छोटे टुकड़ों में बट जाना एक गम्भीर दोष है। इससे अनेक हानियाँ होती हैं: (१) इससे भूमि में सुधार नहीं किया जा सकता। भूमि छोटे टुकड़ों में बँटी होने के कारण किसान अपनी खेती के लिये न कुआँ खोद पाता है, न मशीनों का उपयोग कर पाता है और न

अन्य प्रकार के सुधारों को ही लागू कर पाता है। इससे भूमि की उत्पादन शक्ति नहीं बढ़ने पाती और उत्पादन गिरता जाता है। (२) भूमि के छो-छोटे टुकड़ों में बँटे रहने के कारण बहुत सी जमीन एक हिस्से को दूसरे हिस्से से अलग करने के लिये मेड़ बाँधने में व्यर्थ नष्ट हो जाती है और भूमि के टुकड़े बिखरे होने के कारण किसान अपनी खेती की अच्छी तरह देख-भाल भी नहीं कर पाता है। इसस फसल में गहरी हानि होने की हमेशा आशंका बनी रहती है। और (३) किसान को एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने में ही बहुत सा समय नष्ट करना पड़ता है।

यह कहा गया है कि भूमि को छोटे-छोटे हिस्सों में बँटे रहने से किसान को लाभ है क्योंकि इससे गाँव के अनेक भागों में प्रत्येक किसान की कुछ न कुछ भूमि रहती है। यदि बाढ़ तथा टिड्डी इत्यादि का संकट आ जाय तो उसकी सारी भूमि नष्ट होने से बच जाती है। यदि एक भाग इस संकट से नष्ट भी हो जाय तो अन्य भाग दूर होने के कारण बचाये जा सकते हैं। दूसरा लाभ यह बताया जाता है कि भूमि के इस प्रकार के बँटवारे से गाँव की अधिकांश जनता के पास भूमि हो जाती है। यदि यह बँटवारा न किया जाय तो बहुत से ग्रामीण बिना भूमि के रह जायँगे। परन्तु ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से पता चलेगा कि यह दोनो लाभ काल्पनिक हैं। ऐसा बहुत कम संभव है कि प्रकृति के कोप से गाँव का एक ही भाग नष्ट हो और शेष भाग बच जाय। यदि कभी ऐसा हुआ भी तो इससे किसान को बहुत कम लाभ होगा; वर्षों से छोटे-छोटे टुकड़ों में खेती करने से किसानों को जो हानि होती है वह इस संभावित लाभ की अपेक्षा कहीं अधिक है। और जहाँ तक भूमि-विहीन मजदूरों का प्रश्न है यह भूमि के बँटवारे या उसे छोटे छोटे हिस्सों में विभक्त करने से हल नहीं किया जा सकता है। वास्तव में मुख्य समस्या यह है कि किसान को इस योग्य बनाया जाय कि वह रहन-सहन का एक उचित स्तर बनाये रख सके। कुल परिवार के पास संयुक्त रूप से जितनी भूमि है यदि उसका उसके सदस्यों में विभाजन कर दिया जाय और प्रत्येक सदस्य को कुछ न कुछ भूमि दे दी जाय तो इससे रहन-सहन का उचित स्तर नहीं रखा जा सकता। इन छोटे-छोटे भागो से किसान अच्छी तरह जीवन-निर्वाह कर सकने में असमर्थ होता है। यदि भूमि का इस प्रकार बँटवारा न किया जाता तो शायद वह असमर्थ न होता। भूमि-विहीन मजदूरों की समस्या को हल करने के लिए सरकार को अन्य उपायों से काम लेना पड़ेगा।

यह खेद की बात है कि भूमि के बँटवारे और उसके छोटे-छोटे भागों में विभक्त हो जाने की गम्भीर समस्या के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना उपलब्ध

नहीं है। कृषि सम्बन्धी रायल कमीशन (Royal Commission on Agriculture) की रिपोर्ट से केवल यह सूचना मिलती है कि विभिन्न राज्यों में प्रत्येक व्यक्ति के पास औसतन कितनी जमीन है। इस सूचना से समस्या की पूर्ण जानकारी नहीं होती। किसानों के पास औसत भूमि उत्तर प्रदेश, मद्रास, त्रिवाँकुरकोचीन और हिमांचल प्रदेश में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कम है। उत्तर प्रदेश में भूमि प्राप्त कुल व्यक्तियों में से ८१.२ प्रतिशत के पास ५ एकड़ से कम भूमि है और यह कुल काश्त की जाने वाली भूमि का ३८.८ प्रतिशत है।

मद्रास में ८२.२ प्रतिशत के पास १० रुपया या इससे कम वार्षिक लगान की भूमि है जो काश्त की जाने वाली भूमि का ४१.२ प्रतिशत है। त्रिवाँकुर-कोचीन में ६४.१ प्रतिशत के पास ५ एकड़ से कम भूमि है जो कुल काश्त की जाने वाली भूमि ४४ प्रतिशत है। अन्य राज्यों में भी यह समस्या गम्भीर है। और इससे किसानों को आय में हानि सहनी पड़ी है।

रीति (Methods)—भूमि की चकबन्दी करने की दो मुख्य रीतियाँ हैं: (१) स्वयं किसानों में परस्पर स्वेच्छापूर्वक सहयोग की भावना के द्वारा और (२) सरकार द्वारा चकबन्दी अनिवार्य कर देने में। जहाँ तक स्वेच्छापूर्वक सहयोग करने का प्रश्न है इसमें काफ़ी देर लगती है और चकबन्दी का कार्य शीघ्रता में नहीं हो पाता। कहीं-कहीं जमींदार या महाजन चकबन्दी के कार्य में रुकावट पैदा कर देते हैं। इसके साथ ही किसानों का यह समझाना बहुत कठिन है कि चकबन्दी से उनका लाभ होगा। किसान न तो अपनी भूमि छोड़ने के लिए तैयार होता है और न इस काम में छोटा-मोटा व्यय करने को राजी होता है। परन्तु यदि भूमि की चकबन्दी अनिवार्य कर दी जाय तो किसान इसका विरोध करता है। वह समझता है कि भूमि की चकबन्दी से उसके हितों को चोट पहुँचेगी। यदि चकबन्दी योजना को लागू करने वाले कर्मचारी कमजोर और अकुशल हुए हुए तो अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो जाने की सम्भावना रहती है। परन्तु स्वेच्छा-पूर्वक सहयोग करके भूमि की चकबन्दी कराने का परिणाम निराशाजनक ही रहा है इसलिए इस योजना को अनिवार्य कर देने से ही अधिक लाभ हो सकने की सम्भावना है।

इस दिशा में भूमि की चकबन्दी प्रथम प्रयास है। वास्तव में प्रयत्न इस बात का करना है कि भूमि का और बटवारा न हो अन्यथा चकबन्दी में कुछ लाभ सम्भव नहीं। यदि भूमि छोटे टुकड़ों में बँटती गई तो चकबन्दी का उद्देश्य ही विफल हो जायगा। भूमि का चकबन्दी के प्रश्न का इस बात से गहरा सम्बन्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी एकड़ भूमि रख सकता है।

"उत्तर प्रदेश में कम से कम सीमा ६$\frac{1}{4}$ एकड़ भूमि प्रति व्यक्ति रक्खी गई है, मध्य भारत में यह सीमा सिंचाई की सुविधा प्राप्त भूमि के लिये ५ एकड़ और जहाँ सिंचाई की सुविधा नहीं प्राप्त है वहाँ १५ एकड़ निश्चित की गई है। आसाम में पंचायत एक्ट के अनुसार पंचायत को अधिकार है कि यदि उन लोगों में से जिनके लिये यह निर्माण किया जा रहा है $\frac{2}{3}$ इस बात पर राजी हो जायँ तो प्रत्येक किसान के लिये कम से कम भूमि की सीमा १२ बीघा निश्चित कर सकते हैं। बम्बई, पंजाब और पेप्सू में चकबन्दी एक्ट ने राज्यों को यह अधिकार दिया है कि वे जितना भी उपयुक्त समझें प्रति किसान भूमि की सीमा निश्चित कर दें। बम्बई की सरकार ने इसलिये भूमि की विभिन्न न्यूनतम सीमायें १० गुन्ठे से लगा कर ६ एकड़ तक अपने विभिन्न जिलों में नियत कर दी हैं। इन सब राज्यों में ऐसे बटवारों पर रोक लगा दी गई है जिनके परिणाम स्वरूप बँट कर न्यूनतम सीमा से कम हो जायगी"। यदि ये प्रतिबन्ध न लगाये जायँ तो चकबन्दी के लाभ भविष्य में होने वाले बँटवारे के कारण न मिल सकेंगे।

कानून—बम्बई, मध्य प्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश, पेप्सू, जम्मू और काश्मीर में चकबन्दी के सम्बन्ध में विशेष कानून पास किये गये हैं। देहली ने पंजाब एक्ट को अपना लिया है और उड़ीसा ने १६५१ के एग्रीकल्चर एक्ट में कुछ चकबन्दी सम्बन्धी नियम जोड़ दिये हैं। हैदराबाद, सौराष्ट्र, बिलासपुर और राजस्थान में इस सम्बन्ध में कानून विचाराधीन है। आरम्भ में कानून अनुमति प्रदान करने वाले (Permissive) थे और विशेष पदाधिकारियों के द्वारा अदला बदली में सहायता तथा छूट आदि का प्रबन्ध करते थे। बड़ौदा एक्ट इसी ढंग का था। सहकारी समितियाँ किसानों के लिये स्वेच्छा से चकबन्दी कराने में विशेष सहायक हो सकती थीं। जो कानून पास किये गये हैं उन्हें हम दो वर्गों में रख सकते हैं: (१) वे कानून जो किसानों को यदि उस गाँव में निश्चित प्रतिशत किसान राजी हों तो चकबन्दी के लिये बाध्य कर सकते थे और (२) वे कानून जो राज्यों को यह अधिकार प्रदान करते थे कि वे अपनी ओर से चकबन्दी की योजनाओं को लागू करें। मध्य प्रदेश, जम्मू और काश्मीर के कानून पहिले वर्ग में और पंजाब पेप्सू, देहली और बम्बई के कानून दूसरे वर्ग में आते हैं"। मध्य प्रदेश के कानून के अनुसार यदि किसी महाल, पट्टी अथवा गाँव के कम से कम आधे निवासी जिनके हिस्से में गाँव की $\frac{2}{3}$ भूमि आती है मिलकर चकबन्दी की योजना के लागू कराने की प्रार्थना करें और यदि चकबन्दी योजना पक्की हो चुकी है तो सब भूमि पर अधिकार रखने वालों को चकबन्दी योजना स्वीकार करने के लिये बाध्य किया जा सकता है। जम्मू और काश्मीर के एक्ट के अनुसार यदि $\frac{2}{3}$ किसान जिनके

अधिकार में किसी गाँव के ३/४ खेत हैं और वे चकबन्दी की योजना स्वीकार करते हैं तो वह योजना पक्की मान ली जायगी और लागू कर दी जायगी। इन कानूनों के कारण जो थोड़े से व्यक्ति योजना को अस्वीकार करते हैं उन्हें भी योजना के अन्तर्गत लाकर उनकी सफलता निश्चित कर दी गई है।

उत्तर प्रदेश के कानून—"देश में लागू किये हुये कानूनों की प्रवृत्ति के अनुसार ही उत्तर प्रदेश में भी इस सम्बन्ध में एक नया कानून पास किया है जिसके अनुसार राज्य अपनी ओर से अनिवार्य रूप से चकबन्दी लागू कर सकता है। यह नया कानून १९३९ के कानून के स्थान पर (जो चकबन्दी अनिवार्य रूप से लागू करने की तभी अनुमति देता था जब कि किसी गाँव के एक विशेष प्रतिशत लोग चकबन्दी के लिये अपनी स्वीकृति देते थे) पूर्ण रूप से लागू कर दिया गया है"। १९५३ के उत्तर प्रदेश भूमि चकबन्दी एक्ट में अनिवार्य रूप से उसे लागू करने की अनुमति प्राप्त है। यह कानून उ० प्र० की सरकार द्वारा नियुक्त चकबन्दी कमेटी की सिफारशों के आधार पर बनाया गया है और पंजाब के कानून की ही तरह का है।

इस कानून के आधारभूत सिद्धान्त निम्न हैं—(१) प्रत्येक पट्टेदार को जहाँ तक सम्भव हो सके वहीं पर भूमि दी जायगी जिस क्षेत्र में उसकी अधिकांश भूमि है; (२) प्रत्येक गाँव की भूमि का वर्गीकरण निम्न क्षेत्रों में किया जायगा, (क) चावल पैदा करने वाले क्षेत्र, (ख) चावल को छोड़ कर अन्य एक फसली क्षेत्र, (ग) दो फसली क्षेत्र, और (घ) कछार भूमि के क्षेत्र; (३) केवल उन्हीं पट्टेदारों को उस क्षेत्र में भूमि दी जायगी जहाँ पर पहिले से ही उनकी भूमि है, (४) प्रत्येक पट्टेदार को उतने ही चक दिये जायेंगे जितने कि गाँव में क्षेत्र (आबादी के क्षेत्र को छोड़कर) बनाये गये हैं जब तक कि किसी गाँव में केवल एक ही क्षेत्र न हो और उस क्षेत्र की भूमि एक प्रकार की न हो; (५) एक परिवार के पट्टेदारों को यथासम्भव एक दूसरे के पड़ोस में ही चक दिये जायेंगे; (६) पट्टेदारों के निवास स्थान की स्थिति और यदि उसने कोई सुधार किया है तो उन्हें चक देने में इन बातों का विशेष ध्यान रक्खा जायगा; (७) यदि कोई चक या फार्म पहिले से ही ६१/४ एकड़ या अधिक है तो यथासम्भव वह न तो विभाजित किया जायगा और न बाँटा ही जायगा"। इन सिद्धान्तों से न्यूनतम गड़बड़ी तथा किसानों को अधिकतम लाभ होने की सम्भावना है।

इस कानून के अन्तर्गत चकबन्दी के कार्य को करने का एक विशद क्रम दिया हुआ है। इसको कार्यान्वित करने के पहिले प्रत्येक किसान के प्लाटों का लेखा उनके क्षेत्रफलों के साथ तथा प्रत्येक का लगान व मालगुजारी आदि के

सहित तैयार किया जायगा। एक ऐसी तालिका तैयार की जायगी जिसमें प्रत्येक पट्टेदार के कुल खेतों का क्षेत्रफल जो उनके पास विभिन्न प्रकार के आसामी अधिकारों के अन्तर्गत हैं तथा उसे जितनी मालगुजारी अथवा उसका लगान देना पड़ता है, तैयार किया जायगा। जब यह हिसाब पक्के तौर पर तैयार हो जायगा तब किसानों को चक देन की शर्तें तैयार की जायगी जिसमें यह दिखाया जायगा कि कौन कौन से प्लाट प्रत्येक पट्टेदार को उसके पुराने खेतों के बदले में दिये जायँगे तथा यदि नये सिरे से दिये हुये प्लाट उसके पुराने प्लाटों की तुलना में कम मूल्य के हैं तो क्या मुआवजा दिया जायगा और उसके कुओं, पेड़ों और इमारतों के बदले में क्या मुआवज़ा दिया जायगा इत्यादि। इस प्रस्ताव पर किसानों को उजरदारी करने का अधिकार होगा। परन्तु उजरदारी का जवाब दिये जाने पर प्रस्ताव पक्का हो जायगा और चकबन्दी योजना लागू हो जायगी। इसके पश्चात् चक को दिये जाने का हुक्म जारी हो जायगा जिसमें यह दिखाया जायगा कि योजना के अनुसार कौन-कौन से नये खेत किसके हिस्से में आगए हैं और उन्हे उन पर अधिकार दे दिया जायगा। इस बात का ध्यान रक्खा जायगा कि किसानों को चक उसी क्षेत्र में दिया जाय जहाँ पर उनके अधिकाँश खेत हैं। भूमि पर अधिकार के सम्बन्ध में निर्णय ऐसे निर्णायक द्वारा किया जायगा जिसे सरकार उन न्याय-कार्य सम्बन्धी अफसरों में से नियुक्त करेगी जिन्हें कम से कम ७ वर्ष तक का अनुभव है। किसानों से भी राय ली जायगी और उन्हें आपत्ति करने का अधिकार होगा परन्तु जब योजना पक्की हो जायगी तब सब को उसे मान लेना पड़ेगा। यह चकबन्दी योजना न्यायालयों के कार्य-क्षेत्र के बाहर इसलिए मानी गई है कि इस सम्बन्ध में मुकदमेबाजी न हो। एक्ट के अनुसार चकबन्दी का खर्चा ४ रु० प्रति एकड़ नियत कर दिया गया है जो योजना में सम्मिलित विभिन्न व्यक्तियों में बँट जायगा ताकि सरकार को यह खर्च न उठाना पड़े। जिनके खेतों की चकबन्दी की जायगी उन्हे पैमाइश तथा अन्य प्रकार के शारीरिक श्रम वाले कार्य करने में सहयोग देना होगा और जो यह न कर सकेंगे तो उन्हें २ रु० ८ आना प्रति एकड़ के हिसाब से श्रम के बदले में खर्च के प्रति देना पड़ेगा। यह कानून मुजफ्फरनगर और सुल्तानपुर जिलों में लागू कर दिया गया है। थोड़ा अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् पहिले यह २० जिलों में और लागू किया जायगा। आशा की जाती है उत्तर प्रदेश में इस कानून के अन्तर्गत चकबन्दी का कार्य बहुत सुगम होगा।

कठिनाइयाँ—चकबन्दी-कार्य बहुत कठिनाइयों से भरा हुआ है। कुछ कठिनाइयाँ तो मनोवैज्ञानिक हैं और कुछ प्रयागात्मक। (१) बहुत सी जगहों

पर भूमि अधिकारों का कोई लेखा प्राप्त नहीं है। पंजाब में देश के बँटवारे के पश्चात् सारे लगान सम्बन्धी लेखों के खो जाने के कारण बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(२) चकबन्दी का कार्य औद्योगिक ढंग का है। इसके करने वालों को पैमाइश, बन्दोबस्त, भूमि के वर्गीकरण, भूमि के मूल्यांकन तथा पट्टेदारी सम्बंधी ज्ञान आवश्यक है। ऐसे कार्यकर्त्ताओं की कमी के कारण चकबन्दी के कार्य में बाधा पड़ी है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कुछ प्रदेशों में ऐसे अफसरों को इस कार्य के लिये विशेष ट्रेनिंग देने का आयोजन किया गया है।

(३) इस कार्य में किसानों की रूढ़िवादिता और पीढ़ियों से अधिकार में स्थित भूमि के प्रति मोह के कारण भी बाधा पड़ी है। जमींदारों और अन्य असामाजिक वर्गों द्वारा बाधा उपस्थित करने से भी काम में रुकावट पहुँची है। शान्तिपूर्वक जनता में इस कार्य के प्रति प्रचार तथा जानकारी की वृद्धि द्वारा तथा जहाँ आवश्यक हो वहाँ अनिवार्य रूप से लागू करने से ही इन बाधाओं पर विजय पाई जा सकती है।

(४) चकबन्दी में रुपया खर्च होता है और रुपये के प्रबंध के कारण भी इस कार्य में बाधा पहुँचती है। प्रादेशिक सरकारों के समक्ष अनेक प्रकार की विकास योजनायें हैं इसलिये वे सदा इस कार्य के लिये पर्याप्त धन देने के लिये तैय्यार नहीं रह सकतीं। इस सम्बन्ध में खर्च पूरा करने के लिये तीन उपायों के काम में लाने की अनुमति दी गई है। (क) दिल्ली, मध्य प्रदेश और पंजाब में खर्च का एक अंश किसानों से चकबन्दी फीस के नाम पर वसूल कर लिया जाता है। इस प्रकार कुछ अंश तक व्यय सरकार द्वारा और कुछ अंश तक किसान द्वारा पूरा कर लिया जाता है; (ख) बम्बई में सारा व्यय सरकार द्वारा सहन किया जाता है जहाँ पर किसानों के साथ रियायत के रूप में बिना फीस लिये काम किया जाता है; और (ग) उत्तर प्रदेश में जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है पूरा खर्चा किसान से ४ रु० प्रति एकड़ के हिसाब से वसूल कर लिया जाता है।

सफलता की मात्रा—चकबन्दी की सफलता विभिन्न प्रदेशों में कम ही रही है। केवल पंजाब, बम्बई, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पेप्सू और दिल्ली आदि ने कुछ सफलता इस सम्बन्ध में प्राप्त की है। पंजाब में चकबन्दी का काम १९२० से आरम्भ हुआ और उत्तर प्रदेश में १९२४ से। उत्तर प्रदेश में १९५३ के चकबन्दी एक्ट के पास होने पर इस काम की गति बढ़ गई और आगे चलकर एक्ट में भी उपयुक्त सुधार कर दिया गया। मार्च १९५५ तक पंजाब में ४० लाख एकड़, मध्य प्रदेश में २५ लाख एकड़, पेप्सू में १० लाख एकड़ से अधिक भूमि

की चकबन्दी की गई। बम्बई और दिल्ली में १०६० और २१० गाँवों में क्रमशः यह योजना पूर्णतया लागू की गई है। उत्तर प्रदेश में २१ जिलों में यह योजना लागू है। अब भी विभिन्न राज्यों में इस योजना के कार्य को बढ़ाने का अवसर है।

यद्यपि चकबन्दी का कार्य जरा धीमी गति से हुआ है और बहुत कम उन्नति इस ओर हो पाई है फिर भी इससे लाटों की संख्या कम हो गई है और उनका औसत क्षेत्रफल बढ़ गया है। यदि प्लाटों की संख्या में कमी और खेतों के क्षेत्रफल में वृद्धि की दृष्टि से देखा जाय तो हम कह सकते हैं कि सबसे अधिक उन्नति मध्य प्रदेश ने की है जहाँ बिलासपुर, रायपुर और दुर्ग जिलों में प्लाटों की संख्या ८२% कम हो गई है और उनका औसत क्षेत्रफल ४००% बढ़ गया है। इस ओर मद्रास ने सबसे कम उन्नति की है और वहाँ प्लाटों की संख्या में २०% से भी कम कमी हुई है।

खेतों की चकबन्दी के फलस्वरूप प्रत्येक किसान को आर्थिक जोत (economic holding) प्राप्त नहीं हुई है। क्योंकि यदि किसी किसान के खेत गाँव के विभिन्न भागों में छिटके हुये हैं तो चकबन्दी से किसान के अधिकार में भूमि का क्षेत्रफल नहीं बढ़ सकता। इसलिये प्रत्येक किसान को आर्थिक जोत देने के लिये बहुत बड़े प्रयत्न की आवश्यकता है।

अध्याय ८

भूमि-क्षरण

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अनुसार भूमि संरक्षण से अभिप्राय केवल क्षरण को रोक पाना ही नहीं है परन्तु अपने व्यापक अर्थ में भूमि संरक्षण के अन्तर्गत वह सभी बातें शामिल हैं जिनका लक्ष्य भूमि की उत्पादन शक्ति को ऊँचे स्तर पर बनाये रखना है, जैसे भूमि की कमियों को दूर करने के उपाय, रासायनिक तथा देशी खाद का उपयोग, फसलों के बोने के क्रम का उचित संचालन, सिंचाई तथा नाली की व्यवस्था इत्यादि। इस रूप में भूमि-संरक्षण का प्रायः भूमि के उपयोग के ढंगों में सुधार करने से निकट सम्बन्ध है। भूमि संरक्षण के सम्बन्ध में भारत की प्रमुख समस्या भूमि-क्षरण को रोकना है। भूमि क्षरण होते रहने से भूमि का बहुत बड़ा भाग कृषि के योग्य नहीं रहता।

कारण—भूमि क्षरण के अनेक कारण हैं परन्तु उनमें से मुख्य निम्न-लिखित हैं :—

(१) वनों का काटना और वनस्पति का नष्ट हो जाना। जंगल और वनस्पति हवा और पानी के बहाव को रोकते हैं जिससे भूमि का तल इनकी हानि-कारक शक्ति से बच जाता है और उसका क्षरण नहीं हो पाता। यदि वन काट डाले जायँ और वनस्पति नष्ट कर दी जाय तो भूमि पूर्ववत नहीं रहेगी, उसकी उत्पादन शक्ति घट जायगी। प्रायः ईंधन या इमारतों के उपयोग के लिए वनों को काट लिया जाता है। आसाम, बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के कुछ भागों में कबायली जनता (Tribal people) एक निश्चित स्थान पर खेती नहीं करती है। वह प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने कृषि-क्षेत्र बदलती रहती है जिसके लिए उसे पेड़ काटते रहना पड़ता है और इससे वनों का विनाश हो जाता है। इधर जमींदारी उन्मूलन होते ही अनेक जमींदारों ने इमारती लकड़ी से रुपया पैदा करने के लिए अपने क्षेत्र के पेड़ काट डाले हैं।

(२) पशुओं और विशेषकर भेड़ बकरियों का घास-पत्ती इत्यादि चर जाना। इससे भूमि के कण परस्पर गुथे नहीं रह जाते और उसका क्षरण होने लगता है। वनस्पति का इस प्रकार चर लिया जाना भारत के लिए एक गम्भीर समस्या बन गया है। १९५२ में भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद (Indian Council of Agricultural Research) के तत्वावधान में उसके फसल और

भूमि विभाग (Crops and Soils Wing) की प्रथम बैठक में उस समय के खाद्यान्न मंत्री ने कहा कि भेड़ बकरियों को प्रश्रय देने का अर्थ है भूमि-क्षरण और महाविनाश। परन्तु गाय-भैंस को प्रश्रय देकर हम भूमि की सेवा कर सकते हैं और स्वय समृद्धिशाली बन सकते हैं। खाद्य मंत्री ने अधिक जोर देकर जरूर कहा है परन्तु यह सच है कि भेड़ बकरियो से भूमि को बहुत क्षति पहुँचती है। उचित यह होगा कि पशुओं को चारा दिया जाय और बिना रोक-टोक के इधर-उधर, विशेषकर उन क्षेत्रों में जो इस कारण पहले ही क्षतिग्रस्त हो चुके हैं, चरने न दिया जाय।

(३) जिस भूमि में उत्पादक तत्वों की पहले ही से कमी है उसका शीघ्र क्षरण हो जाता है। यदि भूमि उपजाऊ है और उसकी अच्छी तरह देखभाल की गई तो खराब भूमि की अपेक्षा इसमें भूमि-क्षरण कम होगा। काश्त की जाने वाली भूमि का भारत में पीढ़ियों से बिना किसी रोक टोक के बराबर उपयोग होता रहा है और उसकी उत्पादन शक्ति की पूर्ति करने के लिए खाद इत्यादि या तो नहीं डाली गई है या अपर्याप्त रही है। इससे देश के बड़े-बड़े भाग भूमि क्षरण के संकट से ग्रस्त हो चुके हैं।

भूमि-क्षरण अनेक प्रकार का होता है परन्तु भारत में मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं :—

(१) तल क्षरण (Sheet Erosion)—पानी के तेज बहाव से या तेज हवा के बहने के कारण जब भूमि की ऊपरी उपजाऊ सतह बह जाती है तब तल-क्षरण होता है।

(२) अन्तः क्षरण (Gully Erosion)—पानी के तेज बहाव के कारण भूमि में गहरे नाले बन जाने से अन्तःक्षरण होता है। प्रायः अन्तःक्षरण होने का कारण यह होता है कि बहुत समय तक तल-क्षरण होता रहे और उसे रोकने का कोई उपाय न किया जाय। नदियों के आस-पास की भूमि में अन्तःक्षरण की अधिक संभावना रहती है क्योंकि बाढ़ आ जाने से तट की निकटवर्ती-भूमि का तल क्षरण होता रहता है और धीरे-धीरे गहरे नाले बन जाते हैं।

(३) वायु क्षरण (Wind Erosion)—वायु क्षरण देश के मरु प्रदेश में जैसे राजस्थान और पूर्वी पंजाब में होता है। तेज वायु बहने से मरु क्षेत्र की बालू उड़ती रहती है और निकटवर्ती हिस्सों में बैठती रहती है जैसा राजस्थान के मरु प्रदेश के निकट होता है। इससे भूमि की उत्पादन शक्ति को गहरी हानि पहुँचती है।

भूमि क्षरण एक गंभीर संकट है। इससे भूमि की उत्पादन शक्ति कम होती

है, भूमि व्यर्थ हो जाती है और जनता निर्धनता के चंगुल में फंस जाती है। इससे देश के बड़े-बड़े क्षेत्र मरुस्थल में बदल जाते हैं। उन क्षेत्रों में जहाँ नदी-घाटी योजनाएँ लागू की गई हैं, जैसे दामोदर घाटी, वहाँ पर भूमि क्षरण से निर्मित बाँधों को भय उत्पन्न हो जाता है। इस कारण इन बाँधों की देखभाल और बचाव के लिए अधिक व्यय करना पड़ता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हमें अपने देश में भूमि-क्षरण के प्रकार और प्रसार के सम्बन्ध में सही-सही सूचना प्राप्त नहीं है इस सूचना के प्राप्त हो जाने पर भूमि-क्षरण को रोकने के लिए प्रभावशाली उपायों को लागू किया जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों मे भूमि संरक्षण के लिए कुछ काम किया गया है, बम्बई में छोटे-छोटे बाँध बाँधने और टेक लगाने (Terracing) से और पंजाब में जंगल लगाकर तथा पहाड़ी नाला मे बाँध इत्यादि बाँधकर और उत्तर प्रदेश मे नालों तथा खड्डों से परिपूरित भूमि पर कृषि करके भूमि संरक्षण किया जा रहा है। बाँध बाँधने और टेक इत्यादि का निर्माण करने में और कटी-फटी भूमि को समतल बनाने के लिए ट्रैक्टरों तथा अन्य बड़ी-बड़ी मशीनों का उपयोग किया जा रहा है। परन्तु अभी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कार्य करना शेष है।

राजस्थान के मरुस्थल का क्रमशः उत्तर की ओर विस्तार एक विशेष चिन्ता का विषय हो गया है और भारत सरकार ने उसकी रोकथाम के लिये निम्न उपाय किये हैं :—

(१) "दस वर्ष के भीतर ही भीतर ४०० मील लम्बी और ५ मील भीतर को ओर चौड़ी जङ्गल की एक पट्टी राजस्थान की पश्चिमी सीमा पर लगा देना इसमें भेड़, बकरी, गाय, बैल, ऊँट, आदि पशुओं के चरने की आज्ञा न होगी।"

(२) मरुस्थल की भूमि में बालू के कणों को हरियाली द्वारा स्थिर करने में वैज्ञानिक उपायो की खोज करना।

(३) ऐसे नखालस्तानों की व्यवस्था करना जहाँ से पेड़-पौधे फौजी नाकों, रेल के स्टेशनों, पुलिस के थानों, तहसीलो और स्कूलों के इर्द-गिर्द ले जाकर लगाये जा सकें।

(४) ऐसी चुनी हुई सड़को और रेल की लाइनों पर मनुष्यो की आबादी में आवास का प्रबन्ध करना जो वायु के बहाव को काटती हुई बहती हैं।

(५) पौधों के लगाने वाली एजेन्सियों को बीज और पौधों के बाँटने का प्रबन्ध करना।

(६) उपयुक्त चरागाहों की स्थापना का प्रबन्ध करना जो कि समय-समय पर और बारी-बारी से चरने के लिये खोले जायँ।

इन उपायों से आशा की जाती है कि मरुस्थल की बाढ़ रुक जायगी और भूमि-क्षरण बन्द हो जायगा तथा भूमि की उर्वरता स्थिर रह जायगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना में भूमि क्षरण को रोकने और भूमि संरक्षण की आवश्यकता पर विशेष रूप से महत्व दिया गया था। भारत सरकार ने विशेषज्ञों की एक तदर्थ-समिति (ad hoc Committee) बनाई थी जिसका कार्य पंजाब, पटियाला संघ उत्तर प्रदेश, सौराष्ट्र और कच्छ के निकटवर्त्ती उपजाऊ क्षेत्र में मरु प्रसार की समस्या का अध्ययन करना था। समिति ने एक विस्तृत कार्यक्रम की सिफारिश की है जिसमें यह सुझाव दिया गया है कि (१) राजस्थान की पश्चिमी सीमा पर वनस्पति का ५ मील चौड़ा कटिबन्ध लगाया जाय, (२) राजस्थान में वन क्षेत्र को बढ़ाने के लिए नये वन लगाये जाँय, (३) भूमि के उपयोग के तरीकों में सुधार किया जाय। विशेष रूप से कृषक रेगिस्तान के प्रसार को रोकने के लिये वृक्षारोपण करें और रेगिस्तान की समस्या का अध्ययन करने के लिए अनुसंधान केन्द्र (Research Station) स्थापित किया जाय। भारत सरकार ने इस समिति की सिफारिशें मान ली हैं।

प्रथम योजना में भारत सरकार द्वारा २ करोड़ रूपये भूमि संरक्षण पर व्यय करने का आयोजन था। "भूमि संरक्षण कार्य जैसे बाँध बाँधने, खाई खोदने, नाले पाटने (gully Plugging), भूमि पर मेड़ बाँधने, पानी के बहाव पर रोक लगाने, नदी की धारा को तथा खड्डों के बनने को नियन्त्रित करने आदि उपायों के अन्तर्गत जो प्रदेशीय सरकारों द्वारा किये जा रहे हैं लगभग ७००,००० एकड़ भूमि आ गई है जिसका दो तिहाई भाग केवल बम्बई प्रदेश के भाग में आया है।

"प्रथम योजना मे ही भूमि संरक्षण कार्य नियमित रूप से आरम्भ हो गया था। लग-भग २५० कृषि और वन विभाग के अधिकारियों को भूमि संरक्षण उपायों की विशेष शिक्षा दी जा चुकी है। १९५२ में जोधपुर में रेगिस्तान में वृक्षा-रोपण सम्बन्धी अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना की गई थी और प्रथम योजना के पिछले वर्षों में ही पाँच अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण केन्द्रों की भी स्थापना हो गई थी। ग्यारह अग्रगामी योजना केन्द्र बम्बई, आन्ध्र, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, मद्रास, पंजाब, सौराष्ट्र ट्रावनकोर, कोचीन, अजमेर, कच्छ और मीनापुर मे स्थापित किये गये हैं। ट्रावनकोर, कोचीन तथा मद्रास की ये आदर्श योजनायें विकास योजना केन्द्र में परिणित कर दी गई हैं।

इस समस्या को समुचित रूप से सुलझाने के विचार से भारत सरकार ने छः भूमि संरक्षण सम्बन्धी अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण केन्द्र देहरादून, कोटा, वसद

(उत्तरी गुजरात) बेलारी, ऊटाकामण्ड और जोधपुर में खोले हैं। इन केन्द्रों ने बहुत लाभप्रद कार्य किया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—में तो और अधिक विस्तृत आयोजन किया गया है। भूमि संरक्षण के लिये २० करोड़ रूपये की व्यवस्था की गई है। लगभग ३० लाख एकड़ भूमि जहाँ पर भूमि क्षरण बहुत बुरी तरह से हुआ है इस संरक्षण योजना के अन्तर्गत लाने का इरादा है। इस ३० लाख एकड़ भूमि में से २० लाख एकड़ तो ढलुआ ऊँची नीची खेती के योग भूमि, ३५०,००० एकड़ मरुस्थल तथा कटने वाले करार की भूमि, ३३०,००० एकड़ नदी की घाटी वाली भूमि, १७०,००० एकड़ पहाड़ी भूमि और १५०, ००० एकड़ खड्ड वाली भूमि होगी।

भारत में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि भूमि-क्षरण की समस्या की गम्भीरता का जनता को कुछ ज्ञान ही नहीं है। कुछ राज्य सरकारों ने भूमि संरक्षण के लिए बहुत सीमित उपायों को लागू किया है। जनता इस भारी संकट के प्रति बिल्कुल उदासीन है और इस बात की ओर उसका ध्यान नहीं जाता कि भूमि क्षरण को रोकने से कितना लाभ हो सकता है। इस सम्बंध में व्यवहारिक दृष्टि से विचार करके प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं ने निश्चित प्रगति की है परन्तु इस कार्य के लिए जितना धन निर्धारित किया गया है वह आवश्यकता से बहुत कम है। इस कार्य में इससे कहीं अधिक रुपया व्यय होगा। राज्य सरकारों को अपनी वित्तीय कठिनाइयों के पश्चात् भी इस कार्य के लिये अधिक धन देना होगा। दीर्घकाल में इस व्यय से अवश्य लाभ होगा क्योंकि भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ेगी और हमारी अनाज, कपास, तिलहन इत्यादि की उपज में वृद्धि होगी जिससे उत्पादन तथा उपभोग के बीच की वर्तमान खाई को पाटने में सहायता मिलेगी। केन्द्रीय भूमि संरक्षण बोर्ड से यह आशा की जाती है कि भूमि संरक्षण के उपायों के प्रयोग की प्रगति बढ़ाने में समर्थ होगा। यह बोर्ड "विभिन्न प्रकार की भूमियों के जो खेती, जङ्गल लगाने तथा चरागाह बनाने के काम आ रही है संरक्षण सम्बन्धी अनुसन्धान कार्य का आरम्भ, सामंजस्य तथा व्यवस्था करेगा और प्रादेशिक राज्यों को तथा नदी घाटी योजनाओं को भूमि संरक्षण सम्बन्धी योजनाओं के बनाने में तथा तत्सम्बन्धी कानून बनाने में सहायता प्रदान करेगा"। यह बोर्ड भूमि संरक्षण सम्बन्धी जानकारी की बातों के आदान-प्रदान का केन्द्र होगा तथा तत्सम्बन्धी शिक्षा की सुविधा प्रदान करेगा ताकि भूमि संरक्षण सम्बन्ध में आवश्यक कुशल व्यक्तियों की पैमाइश आदि कार्यों के लिये पूर्ति की जा सके।

अध्याय १०

सिंचाई

वर्षा ही भारत में कृषि की भाग्य-विधात्री है। देश के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न मात्र में वर्षा होती है जिसमें काफी अन्तर रहता है। उदाहरणार्थ एक ओर तो चेरापूंजी जैसे स्थान पर ४६० इन्च तक वर्षा होती है जिससे बाढ़ द्वारा फसलों इत्यादि की हानि होती है दूसरी ओर राजपूताना केवल ५ इन्च वर्षा होती है जहाँ पानी की कमी से फसलें नष्ट हो जाती हैं। चावल तथा गन्ने की खेती के लिये आवश्यक होता है कि पानी पर्याप्त मात्रा में निरन्तर नियमित रूप से मिलता रहे। इसलिए प्राकृतिक सुविधा प्राप्त न होने के कारण भूमि के सिंचाई के लिए और नदियों के पानी को उचित उपयोग में लाने के लिए कृत्रिम उपायों का सहारा लेना पड़ता है।

भारत की नदियों से प्राप्त १३,५६० लाख एकड़ फुट पानी[1] में से औसतन केवल ५.६ प्रतिशत का उपयोग १६५१ के पहिले तक किया जाता था और शेप बाढ़ द्वारा प्रायः हानि पहुँचाता हुआ समुद्र में गिरता था। उसके पश्चात् पानी का उपयोग बढ़ा है। आशा की जाती है कि १६५६ में लगभग १,३६० लाख एकड़ फीट जल अथवा कुल का १०% कार्य में आ जायगा। पानी की इस भारी क्षति को रोककर इसे सिंचाई के कार्य में लाना चाहिए जिससे बाढ़ का प्रवाह घटे, भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़े और साथ ही कृषि उत्पादन में वृद्धि हो।

सिंचाई का स्रोत

भारत में सिंचाई के मुख्य साधन कुआँ, तालाब और नहरें हैं। कहीं-कहीं नदियों से पानी खींचकर भी सिंचाई की जाती है। सिंचाई के यह सभी स्रोत निम्न चार्ट में दिये गए हैं :—
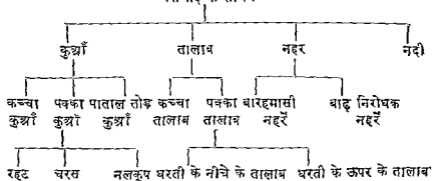
[1] एक एकड़ जमीन को एक फुट गहराई तक भरने के लिए जितने पानी की आवश्यकता होती है वह एक एकड़ फुट पानी कहलाता है।

कुएँ—भारत में सिंचाई के लिए कुएँ का प्राचीन काल से प्रयोग होता आया है। भारत के लिए यह महत्वपूर्ण साधन हैं। कुएँ या तो कच्चे होते हैं या पक्के। हमारे देश में कच्चे कुओं की संख्या बहुत अधिक है क्योंकि इनका निर्माण करने मे न तो अधिक व्यय होता है और न विशेष कला के ज्ञान की ही आवश्यकता है। इनसे पानी निकलने के लिये ढेकली का उपयोग होता है। पक्के कुएँ दो प्रकार के होते हैं, (१) ऐसे कुएँ जिनका पानी खीचने के लिए रहट या चरस का उपयोग किया जाता है और (२) नलकूप (Tube-wells) जिनका पानी खींचने के लिये बिजली के या डिजिल पम्पों का उपयोग किया जाता है।

कुएँ अधिकतर मैदानी भाग में और विशेषकर ऐसे भागों मे बनाये जाते हैं जहाँ पानी का तल बहुत गहरा नहीं होता है और जहाँ भूमि मुलायम होती है। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, पश्चिमी घाट के पूर्वी भाग और कपास की कृषि के योग्य काली भूमि मे अधिकतर सिचाई के लिए कुओं का ही उपयोग किया जाता है। यह कुएँ निजी भी होते हैं और सरकारी भी। उत्तर प्रदेश में लगभग दो हजार सरकारी कुएँ हैं।

कुओं के पानी से सिंचाई करना लाभदायक है क्योंकि कुएँ के पानी में सोडा, नाइट्रेट, क्लोराईड और सल्फेट काफी मात्रा मे रहते हैं। इनसे भूमि की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि होती है। इसके साथ ही कुओं से सिचाई करने का एक और लाभ भी है। नहरों से सिंचाई करने से पानी एक स्थान पर एकत्र हो जाता है परन्तु कुओं के उपयोग से ऐसा होना सम्भव नहीं है। यदि कृषकों को तकावी ऋण देकर और अधिक पक्के कुओं का निर्माण करने के लिये प्रोत्साहन दिया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। उन्हें कुएँ खोदने की सुविधा दी जानी चाहिए और बिजली से चलने वाले पम्प लगाने के लिए गाँव तक बिजली पहुँचानी चाहिये। बिजली के पम्प सस्ते होते हैं और अन्य साधनों की अपेक्षा अच्छे भी होते हैं। सिचाई के लिये नवीन कुओं का निर्माण इसी उद्देश्य के लिए संगठित सहकारी समितियों के द्वारा किया जाना चाहिए।

तालाब—तालाबों के द्वारा सिंचाई करने का अधिक प्रचलन दक्षिण मे और विशेषकर मद्रास तथा मैसूर मे है। वैसे बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश मे भी सिचाई के लिये तालाबों का प्रयोग किया जाता है। कहीं कहीं यह तालाब काफी बड़े हैं जिन्हें झील कहना अधिक उपयुक्त होगा और कहीं छोटे-छोटे हैं जैसे प्रायः गाँवों में होते हैं। इनमें कुछ प्राकृतिक हैं और कुछ का निर्माण किया गया है जो कच्चे-पक्के दोनों प्रकार के हैं। पक्के तालाब भूमि के

नीचे और भूमि के ऊपर भी बनाए जाते हैं। यह तालाब वर्षा के पानी से भरते हैं और अन्य ऋतुओं में इनसे सिंचाई के लिये पानी लिया जाता है।

कुओं के पानी की तरह तालाब का पानी भी उत्पादन शक्ति बढ़ानेवाला है क्योंकि इसमें वर्षा का पानी और गन्दगी दोनों मिले होते हैं। यद्यपि तालाब सिंचाई के महत्वपूर्ण साधन हैं परन्तु इनकी स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। इनकी गहराई मिट्टी भरने से धीरे-धीरे घटती जाती है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि पुराने तालाबों को गहरा किया जाय और अधिक नये तालाब खोदे जायें। चूँकि कृषक इस दिशा में अधिक कार्य नहीं कर सकता है इसलिये तालाब खोदने के लिये सरकार को अधिक सक्रिय होने की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश की सरकार इस दिशा में १९४८ से कार्य कर रही। यह कार्य पंचायतों, स्थानीय संस्थाओं और सहकारी समितियों को सौंपना चाहिये। पक्के तालाबों का निर्माण करने में अधिक व्यय करना पड़ता है। परन्तु इनका अधिक संख्या में निर्माण करना आवश्यक है क्योंकि इनमें पानी काफी समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है। कच्चे तालाबों की तरह इनका पानी शीघ्र सूख नहीं जाता। यदि इन तालाबों से खेतों तक पक्की नाली लगा दी जायें तो इससे पानी की पूर्ति में सुधार होगा और पानी व्यर्थ नहीं जायगा। जब यह तालाब खाली हो जायँ तो सिंचाई की आवश्यकता न रहने पर नहरों के पानी से इन्हें भरा जा सकता है।

नहरें—नहर का पानी भारत में सिंचाई का सबसे बड़ा साधन है। पंजाब उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार, मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, बम्बई, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में नहरों का जाल बिछा हुआ है। नहरें दो प्रकार की होती हैं (१) बारहमासी और (२) बाढ़निरोधक। बाँधों में पानी का संग्रह करके बारहमासी नहरों का निर्माण किया जाता है। इन नहरों से वर्ष भर पानी प्राप्त हो सकता है। दूसरी ओर बाढ़ निरोधक नहरों मे नदियों का पानी एक स्तर से अधिक चढ़ जाने के पश्चात् एकत्रित हो जाता है। बारहमासी नहरें अधिक अच्छी होती हैं क्योंकि सूखा पड़ने पर जब बाढ़-निरोधक नहरों का पानी सूख जाता है तो इन नहरों से सिंचाई इत्यादि के लिये पानी प्राप्त हो सकता है। जहाँ तक निर्माण-व्यय का सम्बन्ध है बाढ़-निरोधक नहरों के निर्माण में बारहमासी नहरों के निर्माण-व्यय की अपेक्षा बहुत कम व्यय होता है। बारहमासी नहरों का निर्माण करने में टेकनिकल कुशलता मशीनों और विभिन्न सामग्रियों की आवश्यकता होती है।

नहरों से सिंचाई करने से कुछ हानियाँ भी होती हैं। इससे पानी एक स्थान पर एकत्रित रहता है और खेत में पहुँचने से पूर्व काफी मात्रा में पानी नष्ट

हो जाता है। परन्तु यह बड़ी समस्यायें नहीं है। नहरों को पक्का कर देने से यह समाप्त हो जायँगी।

सिंचाई-कर—सिंचाई कर की दर और उसकी वसूली के ढंग प्रत्येक फसल और प्रत्येक राज्य मे भिन्न रहते हैं। नहर और नलकूपों की सिंचाई दर भी भिन्न-भिन्न है। एक एकड़ भूमि मे गन्ने की खेती में सिंचाई करने की दर उत्तर प्रदेश मे ५ रुपया और हैदराबाद मे ३३ रुपया है। कपास के लिए पंजाब मे ३३ रुपया और मद्रास मे १० रुपया है, चावल की प्रति एकड सिंचाई दर ४ रुपये से १८ रुपये तक है और गेहूँ की ढाई रुपये से १० रुपये तक है। इससे ज्ञात होता है कि व्यवसायी-फसल के लिए सिंचाई कर की दर खाद्यान्न की अपेक्षा अधिक है। दर का यह अन्तर इस बात पर आधारित है कि प्रति एकड व्यवसायी-फसल से खाद्यान्न के प्रति एकड़ की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। आजकल पानी की जो अनावश्यक क्षति होती है उसे बन्द करना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो व्यय किये गए पानी की मात्रा के आधार पर सिंचाई कर लगाना चाहिए।

पिछले कुछ वर्षों मे कुछ राज्यों ने नई विकास योजनाओं की वित्तीय आवश्यकता पूर्ति करने के लिए अपनी सिंचाई कर की दरों को बढ़ा दिया है जिससे कृषक पर भार और बढ़ गया है। सिंचाई के कार्य को भी अन्य साधारण कार्यों की तरह चलाना चाहिए। सिंचाई कर की दर केवल इतनी होनी चाहिए जिससे इस कार्य को चलाने मे होने वाला व्यय निकल आए और योजना को कार्यान्वित करने मे जो पूँजी लगाई गई है उसकी वसूली होती रहे। सिंचाई कर राज्यों के लिये आय का साधन न होना चाहिए, जैसा कि उत्तर प्रदेश मे बना दिया गया है, क्योंकि इससे कृषक पर अनुचित भार पड़ता है और उत्पादन व्यय बहुत अधिक बढ़ जाता है।

संगठन—१६१६ से सिंचाई व्यवस्था राज्य सरकारों के हाथ में आ गई है। प्रत्येक राज्य में एक सिंचाई विभाग है जो राज्य मे सिंचाई के कार्यों के विकास के लिये उत्तरदायी होता है। अन्तर-राज्य सिंचाई व्यवस्था का संचालन करने के लिए दो केन्द्रीय संस्थाएँ हैं। इनमें से एक केन्द्रीय जलविद्युत, सिंचाई और जलयान सम्बन्धी आयोग है। इसकी स्थापना भारत सरकार ने १६४५ में की थी। इसका उद्देश्य जल शक्ति पर नियंत्रण रखने, उसका उपयोग और संरक्षण करने के लिए योजनाएँ बनाना और सभी कार्यों को सुसम्बद्ध करके उन्हे कार्यान्वित करना है। इसके साथ ही इसको यह भी कार्य सौंपा गया है कि आवश्यकता पड़ने पर सम्बन्धित राज्य सरकारों से परामर्श करके कोई नई योजना तैयार करे। दूसरी संस्था केन्द्रीय सिंचाई-परिषद् है। इसकी स्थापना १६३१ मे हुई थी।

परिषद् को यह कार्य सौंपा गया कि भारत के अनुसन्धान केन्द्रों में सिंचाई तथा
इसके सम्बन्धित अन्य विषयों पर किये जाने वाले खोज कार्यों का समन्वय करे।
इन समस्याओं से सम्पर्क रखने वाली विदेशी संस्थाओं से भी परिषद् अपना
सम्बन्ध बनाए रखती है। इनके अलावा केन्द्रीय भौमिक जल संघ (Central
Ground Water Organisation) नाम की संस्था भी है जो १९४६-४७ से
जल-स्रोतों का अध्ययन कर रही है।

१९५४ से भारत संघ के कृषि तथा खाद्य मंत्रालय के अन्तर्गत नलकूप
योजनाओं के प्रशासक के निर्देशन में एक नलकूप विकास संघ भी कार्य कर रहा
है। यह संस्था जहाँ सदा वर्षा कम होती है वहाँ इस बात का पता लगायेगी कि
भूमि के अन्तस्तल से कितना पानी प्राप्त कर लेने की सम्भावना है।

सिंचाई की समस्या को दो ढंग की योजनाओं द्वारा सुलझाने का प्रयत्न
किया गया है। प्रथम बहुमुखी नदी घाटी योजनाओं द्वारा तथा छोटे-छोटे सिंचाई
के साधनों द्वारा। बहुमुखी नदी घाटी योजना अन्य लाभों के अतिरिक्त बहुत बड़े
क्षेत्र को सिंचाई के लिए पानी देती है। छोटे-छोटे सिंचाई के साधन यद्यपि देखने
में इतने आकर्षक नहीं हैं फिर भी कृषकों को सिंचाई के लिये अत्यन्त आवश्यक
पानी देते हैं। यह आशा की जाती है कि जब सब नदी-घाटी योजनायें पूर्ण हो
जायेंगी तो उनसे लगभग १६५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

कठिनाइयाँ—भारत में सिंचाई की व्यवस्था का विकास करने में अनेक
कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनका विवरण निम्नलिखित है :—

(१) वित्त की समस्या—सिंचाई योजनाओं को लागू करने में सबमें बड़ी
कठिनाई वित्त की है। इनके लिए बहुत अधिक रुपयों की आवश्यकता पड़ती है।
प्रथम पंचवर्षीय योजना में बड़ी सिंचाई योजनाओं के लिए ५५८ करोड़ और
छोटी सिंचाई योजनाओं के लिए ४७ करोड़ रुपये का आयोजन किया गया था।
इसके साथ ही कुओं तथा तालाबों का निर्माण करने के लिए व्यक्तियों और
सहकारी समितियों को कुछ अतिरिक्त धन की आवश्यकता होगी। यह धन प्राप्त
करने के लिए पंचवर्षीय योजना में ऋण लेने, राजस्व की आय से सहायता लेने,
विशेष अनुदानों, जलपूर्ति कर और लगान में वृद्धि करने और सिंचाई तथा
विकास कर लागू करने की व्यवस्था की गई थी। परन्तु यह कर उसके भार को
ऐसे समय में बढ़ा देते हैं जब कि कर-भार स्वयं काफी अधिक है। इसमें सन्देह
नहीं कि इतना धन प्राप्त करने में जनता पर अनुचित भार पड़ेगा जिससे असन्तोष
फैलने की सम्भावना है।

(२) प्राविधिक (टेक्निकल) ज्ञान का अभाव—धन के अभाव के

साथ ही योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अपेक्षित प्राविधिक कर्मचारियों का भी अभाव है। प्रायः सभी बड़ी योजनाओं में विदेशी प्रविधिज्ञों को नियुक्त किया गया है और इससे अनावश्यक रूप से अधिक व्यय करना पड़ रहा है। इसलिये यह आवश्यकता है कि देश में भारतीयों के लिए अनुसन्धान और प्रशिक्षण केन्द्र खोले जायें।

(३) आवश्यक सामान की कमी—भारत में इन योजनाओं के लिए आवश्यक इस्पात और सिमेंट की भी कमी है। इसलिए यह आवश्यक है कि इनका उत्पादन और बढ़ाया जाय और जो कुछ सामान उपलब्ध हो सके उसको सबसे पहले सिंचाई के लिए निर्माण-कार्य में लगाया जाय।

(४) पानी का अनुचित उपयोग और क्षति—भारतीय कृषक पानी का उचित उपयोग नहीं करता। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न फसलों के लिए आवश्यक पानी की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। परन्तु भारतीय कृषक पानी का बिना सोचे-समझे उपयोग करता है। पानी की अधिकता खेती के लिये उतनी ही हानिकारक है जितनी उसकी न्यूनता। एक समय में अधिक पानी देने की अपेक्षा बार-बार पानी देना अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ है। पानी की इस क्षति को कुछ सीमा तक नहरों को पक्का बनाने और काम में लाये गये पानी की मात्रा के आधार पर सिंचाई कर लागू करने से रोका जा सकता है।

(५) पानी का गलत बँटवारा—भारतीय कृषक बहुत समय तक अपने खेत को सींचने के लिए वर्षा के आगमन की प्रतीक्षा करता है। जब वर्षा से देर हो जाती है तब वह सिंचाई के लिये नहरों और नल कूपों से पानी लेने के लिए दौड़-धूप करता है। परन्तु सब कृषकों को एक ही समय में नहरों और नल कूपों से आवश्यक पानी मिलना सम्भव नहीं है क्योंकि भारत में नहरों और नल कूपों का पानी कृषक की औसत आवश्यकता से कम है। इस प्रकार की दौड़ धूप से सिंचाई की व्यवस्था पर बहुत भार पड़ता है जिसको कम करने के लिए किसानों को अपनी आवश्यकतायें पहले से दर्ज करानी चाहिये और रजिस्ट्री के क्रमानुसार उन्हें पानी मिलना चाहिए।

यह कठिनाइयाँ असाध्य नहीं हैं। उचित प्रयत्नों से इनको हल किया जा सकता है। यदि कृषक सहयोग दें और पानी को उचित रूप से व्यवहार में लाने की आवश्यकता को समझें और बहुमुखी नदी घाटी योजनाओं के साथ-साथ फलीभूत होनेवाली योजनाओं पर जोर दिया जाय तो देश की सिंचाई व्यवस्था सँभल जायगी।

अध्याय ११

बहुउद्देशीय योजनाएँ और बाढ़ नियंत्रण कार्यक्रम

सिंचाई और शक्ति उत्पादन योजनायें प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के मुख्य अंग हैं। इनमें विद्युत शक्ति के उत्पादन और सिंचाई की सुविधा में वृद्धि होगी जिनका अभाव उद्योगों और कृषि की उन्नति में बाधक रहा है। इन योजनाओं से बाढ़ पर नियंत्रण, मलेरिया के फैलने में रुकावट, तथा देश को अन्य अनेकों लाभ होंगे। प्रथम और द्वितीय योजनाओं के अन्तर्गत तीन प्रकार की सिंचाई योजनाओं की व्यवस्था है। (१) बहुउद्देशीय योजनायें, (२) बड़ी तथा साधारण सिंचाई की योजनायें तथा (३) छोटी सिंचाई की योजनायें।

इन योजनाओं की तीन विशेषतायें हैं। (क) इनमें से अनेकों तो पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होने के पूर्व ही से चल रहीं थीं। "द्वितीय महासमर का अन्त होते ही बहुत सी परियोजनायें जिनमें कई बहुउद्देशीय योजनायें भी थीं आरम्भ कर दी गईं थी। इनमें से कुछ तो ऐसी थीं जिनका कार्य तो बिना उनके सम्बन्ध में आवश्यक प्राविधिक और आर्थिक छान बीन के ही आरम्भ कर दिया गया था। १९५१ में जब सिंचाई और शक्ति उत्पादन की योजनाओं का निर्माण कार्य चल रहा था, उनके पूर्ण होने में कुल व्यय ७६५ करोड़ रुपये होने का अनुमान था" इसमें से १५३ करोड़ रुपया तो इन अपूर्ण योजनाओं पर व्यय हो चुका था क्योंकि ऐसा विचारा जाता था कि जितना शीघ्र हो सके उतना शीघ्र ये योजनायें पूर्ण की जाँय जिससे कि जो कुछ धन इन पर व्यय किया जा चुका है वह सार्थक हो और उसका यथा-सम्भव लाभ बढ़ी हुई मात्रा मे अन्न की उत्पत्ति के रूप मे शीघ्र मिल जाय।

(ख) प्रथम योजना के अन्तर्गत जिन परियोजनाओं को आरम्भ किया गया था उन पर पुन: विचार किया गया और सिंचाई तथा शक्ति उत्पादन की योजना पर व्यय ५५८ करोड़ रुपये से बढ़ाकर ६७७ करोड़ रुपया कर दिया गया। जो अन्य महत्वशाली परिवर्तन किये गये वे निम्न हैं। (१) १९५१ में योजना निर्माण के समय सदा से कमी के क्षेत्र की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। इन क्षेत्रों की जनता के निर्धन होने तथा उनके आर्थिक कार्यों में निरन्तर प्राकृतिक बाधा की उपस्थिति के कारण निरन्तर सहायता की आवश्यकता पड़ती रहती थी। इसलिये १९५३-५४ में इन क्षेत्रों के स्थायी विकास के

लिये कार्यक्रम निश्चित किए गए और इस प्रकार सम्पूर्ण योजना के कुल व्यय में ४० करोड़ रुपये की वृद्धि की गई। इन योजनाओं का ध्येय था कि वे जनता के पास धन की वृद्धि करेंगी और वे भविष्य के विकास कार्यक्रम में उससे सहायता दे सकेंगे। (२) १९५४-५५ में छोटी छोटी शक्ति उत्पादन की योजनाओं इसमें सम्मिलित कर लीं गई जिन पर २० करोड़ रु० इस विचार से व्यय करने का निश्चय किया गया कि उनसे छोटे-छोटे कस्बों और गाँवों में जनता को कार्य पाने का अवसर प्राप्त हो सकेगा, और (३) बाढ़ पर नियंत्रण रखने का १९५४-५५ में क्रम बनाया गया जिसपर १९३ करोड़ रुपया व्यय करने का निश्चय किया गया।

(ग) इन योजनाओं का कार्य इतना अधिक था और धन तथा अन्य आवश्यक साधनों का इतना अभाव था कि सबको कार्यान्वित करना सम्भव नहीं हो सका। इसलिए सम्पूर्ण कार्यक्रम को अंशों में विभाजित करना आवश्यक हो गया। प्रथम योजना में यह निर्णय किया गया कि चम्बल, कोसी, कृष्णा, कोयना और रिहन्ड योजनाओं को सम्पूर्ण योजना के अन्तिम काल में आरम्भ किया जाय।

इस प्रकार द्वितीय पचवर्षीय योजना में यह निर्णय किया गया है कि कुछ बड़े काम जैसे आन्ध्र की वमसाधरा योजना, बिहार की कन्साई योजना और बम्बई की उभाई नर्मदा, माही, खड़गवासला, गिरना और बनस योजनायें, मध्यप्रदेश की तावा योजना और पश्चिमी बंगाल की कगसाबाती योजना सम्पूर्ण योजना काल के अन्तिम भाग में कार्यान्वित की जायँगी।

योजना के अन्य कार्यक्रमों की अपेक्षा सिंचाई और शक्ति उत्पादन योजनाओं पर बजट में निश्चित व्यय कहीं अधिक व्यय किया गया। यह एक संतोषप्रद बात है, क्योंकि इसमें भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति सुधरेगी और उद्योगों तथा कृषि में तीव्र गति से विकास सम्भव होगा। प्रथम योजना के तीन वर्ष व्यतीत होने के पूर्व ही भारतवर्ष यदि अन्न के लिये आत्म निर्भर हो सका है तो किसी सीमा तक इसका कारण सिंचाई तथा शक्ति उत्पादन योजनायें हैं। प्रथम योजना के प्रथम चार वर्षों में ६७७ करोड़ की व्यवस्था में से ४४५ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका था। बहुउद्देशीय योजनाओं पर १८७·२४ करोड़ रुपया जो कि कुल व्यय का ७६% है, शक्ति उत्पादन योजनाओं पर, ११२·७५ करोड़ रुपया जो कि ६६% है, सिंचाई योजनाओं पर (जिनमें कमी के क्षेत्रों का कार्यक्रम सम्मिलित है) १३३.३७ करोड़ रुपया जो कि ६४% है, व्यय किया, जायगा। १९५४-५५ के अन्त तक कृषि के अन्तर्गत लाया गया अतिरिक्त क्षेत्र ४० लाख एकड़ था जब कि लक्ष्य ५७ लाख एकड़ था। लम्बे शक्ति उत्पादन के क्षेत्र में

६६२००० किलोवाट शक्ति उत्पादन किया गया, जब कि ध्येय ८८१००० किलोवाट उत्पादित करने का था।

बहुत सी बड़ी योजनाओं पर बहुत उन्नति की जा चुकी है, और यह आशा की जाती है, कि वे द्वितीय योजना काल में पूर्ण कर दी जायेंगी। इन योजनाओं में भाकड़ा, हीराकुण्ड, कोयना, चम्बल और रिहन्द योजनायें आती हैं। इन सबसे १७ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति उत्पन्न की जा सकेगी।

बहुउद्देशीय योजनाएँ

कुछ बहुउद्देशीय योजनाओं जैसे भाकड़ा नांगल, हिराकी, दामोदर घाटी और हीराकुण्ड आदि ने पंचवर्षीय योजना के प्रथम चार वर्षों में संतोषप्रद उन्नति की और योजना में निश्चित २८२·०२ करोड़ रुपए में से उन पर १९७·२६ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका है, इसके फलस्वरूप ६ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई सम्भव हो सकी है, और २०२००० किलोवाट विद्युत शक्ति उत्पन्न की जा सकी है।

भाकड़ा नांगल योजना—यह योजना पंजाब, पेप्सू और राजस्थान को सुविधायें पहुँचायेगी। इसके अन्तर्गत (१) सतलज नदी के आरपार भाकड़ा बाँध बनेगा; (२) नांगल बाँध नदी में बहाव की ओर ८ मील तक बनेगा; (३) नांगल नहर बनेगी, (४) दो नांगल पावर हाउस बनेंगे और (५) भाकड़ा नहर व्यवस्था बनेगी। यह योजना १९४६ में आरम्भ की गई थी, और अब तक नांगल बाँध नहर-नियामक (canal regulator), नांगल जल द्वार तथा पंजाब में भाकड़ा नहर की खुदाई पूर्ण हो चुकी है। हमारे प्रधान मंत्री ने ८ जुलाई १९५४ को इस नहर व्यवस्था का उद्घाटन किया था। भाकड़ा बाँध को चूने द्वारा ठोस करने के कार्य का उद्घाटन १७ नवम्बर १९५५ में किया गया।

दामोदर घाटी योजना—योजना काल के प्रथम चार वर्षों में इस योजना पर ५८·१३ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका था, और १·१ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई और १५ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति का उत्पादन होने लगा। दामोदरघाटी योजना एक ऐसे महत्वशाली औद्योगिक क्षेत्र को सुविधायें पहुँचाती है, "जहाँ से देश में प्राप्त कुल कोयले की मात्रा का ८०% अभ्रक का ७०%, कोमाइट का ७०%, फायरक्ले का ५०%, लोहे का ९८%, ताँबे का १०० प्रतिशत और कामोनाइट का १००% प्राप्त होता है"। जब यह योजना पूर्ण हो जायगी तब यह देश के औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी विकास में काफी मात्रा में सहयोग प्रदान करेगी।

हीरा कुण्ड योजना—यह योजना उड़ीसा राज्य को सुविधा प्रदान करेगी, और इस योजना की प्रारम्भिक अवस्था में (१) महानदी की घाटी में एक बाँध ककड़ पत्थर और मिट्टी का, (२) दोनों किनारों पर मिट्टी के जल घरण (dykes) (३) दोनों किनारों पर नहर, (४) बाँध पर एक पावर हाउस १८३००० किलोवाट विद्युत उत्पन्न करने के लिये और (५) ट्रान्समिशन लाइन्स बनाई जायेंगी। खेतों में नालियों को खुदवा देने से अधिकाधिक क्षेत्रों की सिंचाई की सुविधा हो सकेगी और इस प्रकार १६५८-५६ तक कुल ४'५४ लाख एकड़ क्षेत्र सींचा जा सकेगा।

विभिन्न प्रदेशों में योजनाओं की प्रगति

राज्यों में सिंचाई योजनाओं की प्रगति बहुउद्देशीय योजनाओं की तुलना में कम हुई। १६५१ से ५५ तक चार वर्षों में वास्तविक व्यय १८८'०८ करोड़ रुपया हुआ जब कि सम्पूर्ण योजना के पुनरीक्षण के पश्चात् २०७'६८ करोड़ रुपये के व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। अतिरिक्त क्षेत्र जिसपर सिंचाई की गई वह केवल ३५ लाख एकड़ था, जब कि योजना में ६४ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई करने का ध्येय था। इन योजनाओं की प्रगति 'क' राज्यों क कुछ भागों में तथा 'ख' राज्यों के अधिकांश भागों मे धीमी ही रही है। इसका कारण संगठन का अभाव, प्रसाधनों और काम करने वालों का अभाव और योजना में बार-बार परिवर्तन करना रहा है।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पचवर्षीय योजना में सम्मिलित नई सिंचाई योजनाओं का कुल व्यय लगभग ३८० करोड़ रुपये हैं, इसमें से १७२ करोड़ रुपया द्वितीय योजना काल में व्यय किया जायगा, शेष धन तीसरे तथा अन्य भविष्य में होने वाली पचवर्षीय योजनाओं के काल में व्यय होगा। बड़े और साधारण श्रेणी के सिंचाई साधनों पर द्वितीय पचवर्षीय योजना में कुल ३८१ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त ३५ करोड़ रुपये की और व्यवस्था की गई है जिसमें कि सिन्धु नदी की योजनाओं तथा अन्य ऐसी योजनाओं से जिनके सम्बन्ध मे अभी निर्णय नहीं हो पाया है, प्राप्त जल का प्रयोग करने के लिये अन्य नई योजनायें पूर्ण करवाई जा सकें। द्वितीय योजना काल मे जो २१० लाख एकड़ भूमि सींची जा सकेगी उसमें से लगभग १२० लाख एकड़ भूमि को बड़ी और साधारण श्रेणी की योजनाओं से सुविधा प्राप्त होगी और लगभग ६०० लाख एकड़ भूमि को छोटी सिंचाई की योजनाओं से यह सुविधा प्राप्त होगी।

अधिकांश अतिरिक्त सिंचाई (लगभग ६० लाख एकड़) जो बड़े और साधारण श्रेणी की योजनाओं से होगी वह उन कार्यक्रमों की पूर्ति हो जाने के कारण होगी जो कि प्रथम योजना से ही चल रहे हैं। द्वितीय योजना में सम्मिलित नई योजनाओं से लगभग ३० लाख एकड़ भूमि सींची जायगी। द्वितीय योजना के अन्तर्गत बड़ी और साधारण श्रेणी की योजनाओं के पूर्ण हो जाने पर उनकी सींचने की शक्ति लगभग १६० लाख एकड़ होगी।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत विद्युत-शक्ति उत्पादन के विकास-कायक्रम के तीन ध्येय हैं: (क) वर्त्तमान पावर हाउसों पर बढ़े हुये सामान्य भार को वहन करना; (ख) पूर्ति के क्षेत्रों के युक्ति संगत विकास के लिये आवश्यक विद्युत शक्ति का उत्पादन करना और (ग) द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नवीन आरम्भ किए हुए उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

बाढ़ नियंत्रण का कार्यक्रम

सरकार ने समन्वित आधार पर बाढ़ की समस्या के निराकरण का अत्यन्त महत्वशाली निर्णय किया है। प्रथम योजना के आरम्भ में बाढ़ नियंत्रण की कोई भी निश्चित व्यवस्था नहीं की गई थी। उस समय बाढ़ नियंत्रण योजनाएँ नदी घाटियों के विकास सम्बन्धी बहुउद्देशीय योजनाओं के अन्तर्गत रखी गई थी। १९५४ की अपूर्व बाढ़ों ने प्राण सम्पत्ति तथा यातायात को विशेषकर देश के उत्तर-पूर्वी भाग में, बहुत हानि पहुँचाई। इस कारण बाढ़ की समस्या पर सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन कार्यक्रमों से अलग स्वतंत्र रूप से विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया। प्रदेशों द्वारा तात्कालिक बाढ़ नियंत्रण के लिये उपायों के प्रभावशाली सिद्ध न होने के कारण १९५४ में यह निणय किया गया कि एक व्यापक बाढ़ नियंत्रण कार्यक्रम इस समस्या को उचित ढंग से सुलझाने के लिये बनाया जाय। १९५ करोड़ रुपये की योजना में इसीलिये १६.५ करोड़ रु० की व्यवस्था और कर दी गयी। बाढ़ नियंत्रण के काय पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में अधिक ध्यान दिया गया है।

२'३१ करोड़ रुपये का ऋण प्रदेशों को १९५४-५५ में दिया गया और केन्द्रीय सरकार के १९५५-५६ के बजट में १० करोड़ रुपये की व्यवस्था इसके लिये कर दी गई है। जिससे कि ऋण की सहायता प्रदान की जा सके। मार्च १९५५ तक विभिन्न प्रदेशों में जो सफलता मिली है, उसका विवरण निम्नलिखित है।

	१६५४-५५	१६५५-५६	योग
आन्ध्र	...	...	...
आसाम	१००	२१०	३१०
बिहार	३५	१५५	१६०
बम्बई	...	...	...
मध्य प्रदेश	...	...	..
मद्रास	...	..	..
उड़ीसा	...	...	..
पजाब	...	...	...
उत्तर प्रदेश	१५	७६	६१
पश्चिमी बंगाल	३५	२६७	३३२
पेप्सू	५०	२००	२५०
जम्मू और काश्मीर	५	१५	८०
अन्य प्रदेश	१०	६०	१००
सरकार के सी० डबलू० और पी०	...	२००	२००
सी भारत सर्वे मिट्रोला साक्ल विभाग इत्यादि	३४	१२३	१५७
कुल	२८४	१३६६	१६५०

आसाम—डिबरूगढ़ और पलासबाड़ी नगर रक्षा योजनायें पूर्ण हो चुकी है। सैखोवा, नवगांग, और सुवन्सिरी जिलों में बाढ़ से रक्षा करने की योजना का कार्य आरम्भ किया गया।

पश्चिमी बंगाल—अधिक महत्वशाली योजनायें जिन्हें आरम्भ किया गया, वे निम्न थी (१) जलपाईगुरी नगर की रक्षा, (२) बरनीज मैनागुरी रोमोहाल क्षेत्र।

बिहार—भूरी गण्डक नदी के बाँध का ८०% कार्य समाप्त हो चुका है। भागवती बलान, खिरोही इत्यादि नदियों पर सुरक्षा कार्य आरम्भ किया गया था।

उत्तर प्रदेश—"गण्डक और गंगा नदी पर बाढ़ से रक्षा करने का कार्य जिससे बस्ती, गोरखपुर और देवरिया जिलों के लगभग ४०० गाँवों की रक्षा संभव है, पूर्ण किया गया।"

पंजाब—निम्न कार्य पूरे किये गये (१) ४३ मील लम्बा डेरा बाबा नानक से आकर मन्ज तक रावी नदी के किनारे आधार बाँध का बनवाना; (२) देहली प्रदेश में जमुना नदी के किनारे जो पतली दारार पाई गई थी उनको बन्द करवाना और टकोला बाँध बनवाना ; (३) कर्नाल जिले में बाबैल से थानसौली तक जमुना नदी के दाहिने किनारे बाढ रोकने के लिये बाँध बनवाना; और (४) जमुना नदी से ताजेवाला शीर्ष क्रम से नीचे की ओर बाँध बनवाना;।

यह तो सर्व विदित है, कि बाढ़ न तो सदा के लिये रोकी जा सकती है, और न रोक देना उचित ही है। इन बाढ़ो से बारीक मिट्टी बह कर आती है, जिससे पानी डूब जाने वाले क्षेत्रों की उपज बढ़ जाती है। उन वर्षों में जब कि बाढ़ असमान्य हो जाती है, उनमें बहुत हानि पहुँचती है और जनता को कष्ट पहुँचता है। बाढ़ का प्राय: आना और उसके द्वारा हानि को कम करने के लिये बाढ़ों के घनत्व पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। इसके लिये क्रमबद्ध कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता है। जिन उपायों से प्रायः काम किया जाता है, वे निम्न हैं। (१) किनारे पर बाँध बाँधना (२) संग्रह जलाशय, विशेषकर सहायक धाराओं पर (३) अवरोधन गड्ढा बनवाना जहाँ पर बाढ़ का पानी एकत्रित करके थोड़े समय के लिये रोका जा सके; (४) नदी की धारा को मोड़ देना जिससे कि एक नदी का पानी दूसरी नदी में पहुँच जाय ; (५) नदी का ढाल बढ़ाना उसमें आरपार द्वार खुदवा कर, (६) नदियों तक ले जाने वाली धाराओं को जिनमें मिट्टी भर गई है, खुदवाना और उसकी मिट्टी निकलवाना, (७) स्थानीय रक्षा के उपाय जैसे पक्की दीवार और ऊँचे टीले आदि बनवाना ताकि भूमि कटने न पावें, और (८) वन लगाना और स्थान-स्थान पर बहाव की तीव्रता रोकने के लिये बाँध बाँधना।

सिंचाई और शक्ति मंत्रालय द्वारा कुछ दिन पूर्व ही बाढ़ रोकने के कार्यक्रम की रूपरेखा बनाई गई है। इसके तोन भाग हैं। (क) तात्कालिक—इसके अन्तर्गत अन्वेषण योजना बनाना और समय का अनुमान करना होगा। दीवार बनाना और बांध आदि भी विशेष स्थानो पर बनवाये जा सकते हैं ; (ख)अल्पकालीन—इसके अन्तर्गत बाँधों और नालों आदि का सुधार किया जायगा। इस प्रकार की रक्षा के उपायों का प्रयोग उन क्षेत्रों में विशेष रूप से किया जायगा जहाँ बाढ़ अधिक आती हैं ; (ग) दीर्घ कालीन—इसके अन्तर्गत नदियों तथा उनकी सहायक धाराओं के जल सचय का कार्य सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन योजनाओं के कार्य के साथ किया जायगा।

द्वितीय योजना में ६० करोड़ रुपये की व्यवस्था तत्कालीन और

अल्पकालीन योजनाओं के लिये की गई है। इसमें ५ करोड़ रुपया परीक्षण तथा तत्सम्बन्धी सूचना सामग्री एकत्रित करने के लिये नियत किया गया है। वनों का लगाना और भूमि संरक्षण के उपायों को कार्य में लाना, बाढ़ नियंत्रण के महत्वशाली उपाय हैं, इनको बाढ़ नियंत्रण के कार्यक्रम मे विशेष स्थान मिलना चाहिए।

केन्द्रीय बाढ निरोधक मंडल ने जून १९५५ को अपनी पाँचवीं सभा में १६ बाढ़ नियंत्रण योजनाओं को स्वीकृति प्रदान की, जिनमें बाँध बाँधना, नगरों की रक्षा के उपायों और गाँवों की स्थिति के स्तर को ऊँचा करने के उपाय आदि सम्मिलित है। इनमें से प्रत्येक योजना पर १० लाख रुपये से अधिक व्यय होगा, और ७·५ करोड़ रुपये का अनुदान प्रादेशिक सरकारों को बाढ़ रोकने के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिये दिया गया है। बोर्ड ने यह भी सिफारिश की है कि प्रत्येक प्रदेश के बाढ़ रोकने के कार्यों को प्रदेशीय बाढ़ निरोधक विभाग के नियंत्रण में कर देना चाहिये। इससे कार्य में समन्वय और उसकी गति में तीव्रता होगी।

आलोचना—बाढ़ नियंत्रण की यह योजना जनता के प्राण, सम्पत्ति और फसल की हानि को रोकने मे अभी तक सफल नहीं हो पाई है। इसका कारण सरकारी कार्यक्रम के दोष हैं। मुख्य दोष निम्न हैं। (१) अभी तक जो प्रयत्न सरकार द्वारा किये गये हैं, वह सर्वथा अपर्याप्त है। योजनाएँ बनाने तथा प्रशासन कार्य करने के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं हो पाया है। जो व्यय नियत किया गया है, वह बहुत ही कम है। द्वितीय योजना में भी केवल ६० करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई है, जब कि कम से कम इसका दुगना धन उपयुक्त होता। (२) जल विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान के अभाव के कारण योजनायें दोषपूर्ण हो बन पाती हैं। प्रायः प्रयत्न विफल हो जाते हैं, और परिणाम प्रयत्न की तुलना में कुछ भी नहीं होता (३) बाढ़ों को रोकने के लिये अभी तक तटबँधों पर अधिक निर्भर रहे हैं। बाढ़ द्वारा लाई हुई मिट्टी तटबन्धों के किनारे जमा हो जाती है इससे तटबन्धों को ऊँचा करने की अथवा मिट्टी खुदवाने की समस्या सदैव बनी रहती है। और यदि बाढ़ बहुत तीव्र हुई तो तटबन्धों के बह जाने का भी डर रहता है। अधिक अच्छा उपाय तो भूमि के संरक्षण का है, इससे बाढ़ की तीव्रता कम हो जायगी। इससे एक और भी लाभ यह होगा कि बाढ़ पीड़ित स्थानों की उपजाऊ भूमि के बह जाने की समस्या भी सुलझ जायगी।

कठिनाइयाँ—सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन योजनाओं को कार्यान्वित करने में निम्नलिखित अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है।

(१) दोषपूर्ण योजना और अकुशल प्रबन्ध के कारण बहुत सा धन और प्रसाधन निष्फल हो गये। राव समिति ने दामोदर घाटी कारपोरेशन के कार्य की परीक्षा की और इस परिणाम पर पहुँची कि केवल कोनार योजना के कुप्रबन्ध के कारण १·६४ करोड़ रुपये की हानि हुई। सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन योजनायें जैसे बड़े कार्य में धन का थोड़ा बहुत नष्ट होना तो अवश्यम्भावी था क्योंकि कर्मचारीगण अनुभवहीन थे, और ऐसी स्थिति में भूल होना स्वाभाविक था परन्तु वास्तविक हानि अनुमान से कहीं अधिक हुई इसलिये भविष्य में इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि जनता का धन व्यर्थ न जाय।

(२) "स्थिरयत्रों और प्रसाधनों के क्रय के सम्बन्ध में निश्चित नीति के अभाव के कारण समय-समय पर विभिन्न प्रकार के यंत्रों का क्रय किया गया। सिंचाई, शक्ति और योजना मंत्रालय द्वारा १६५३ में नियुक्त प्लान्ट और मशीनरी कमेटी ने सिफारिश की है कि इस कठिनाई को दूर करने के लिए मुख्य-मुख्य यांत्रिक प्रसाधनों को एक ही प्रमाप का होना चाहिए।

(३) अपेक्षित योग्यता और सनद प्राप्त इंजीनियर और विशेषज्ञों के अभाव के कारण भारत की नदी घाटी तथा अन्य योजनाओं को बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यह समस्या दो प्रकार की है; (क) विशेषज्ञों का अभाव तथा (ख) जो व्यक्ति दामोदर घाटी तथा अन्य योजनाओं का कार्य कर रहे हैं, वे अपने भविष्य के बारे में सशंक हैं कि इन योजनाओं का कार्य जब समाप्त हो जायगा तब उनका क्या होगा। एक समय भारत सरकार अखिल भारतीय सिंचाई तथा शक्ति विशेषज्ञों का एक विशेष सेवा वर्ग बना रही थी, अथवा इसके स्थान पर ऐसे कर्मचारियों का जो विभिन्न प्रदेशों से आये थे एक संचय (deputation pool) बनाने का विचार कर रही थी।

(४) सिंचाई तथा शक्ति उत्पादन योजनायें सुधार-कर लगाने अथवा सिंचाई की दर बढ़ाने को बाध्य करती हैं। सुधार कर एवं सिंचाई की बढ़ी हुई दर के कारण कुछ प्रदेशों के कृषकों को अधिक भार वहन करना पड़ा है। इसलिये यह आवश्यक है, कि इन करों के आरोपित करने के साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रक्खा जाय कि कृषकों की कर क्षमता कितनी है। यदि राज्य सरकारें सिंचाई की दर, सुधार-कर तथा शक्ति की दर (Power rate) निश्चय करते समय कृषकों की देय-क्षमता को भी ध्यान में रखें तो बड़ा ही अच्छा हो।

अध्याय ११

सामुदायिक विकास योजनाएँ

भारतीय कृषकों की निर्धनता और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े होने का प्रमुख कारण है कि वे नई प्रणालियों और जीवन के नवीन उपायों के प्रति उदासीन हैं। उनके सम्मुख जो जटिल समस्याएँ हैं उन्हें हल करने के लिए वे सुसंगठित रूप में प्रयत्न भी नहीं करते। सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्य-क्रमों और राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं (National Extension Service) का उद्देश्य यह है कि उनके द्वारा "जनता के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हो, उनमें जीवन के उच्चतर स्तर तक पहुँचने का महत्त्वाकांक्षी और साथ ही साथ उस स्तर को प्राप्त करने के लिए दृढ़ निर्णय और इच्छाशक्ति उत्पन्न की जाय। ग्रामों में निवास करने वाले ७ करोड़ परिवारों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना, नवीन ज्ञान व जीवन के नवीन उपायों के प्रति उत्साह उत्पन्न करना और श्रेष्ठतर जीवन व्यतीत करने के लिए उनके हृदय में अभिलाषा व दृढ़ इच्छा-शक्ति का संचार—यह वास्तव में एक मानवीय समस्या है।" इस उद्देश्य के पूर्ण होने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि विकास कार्य-क्रम ग्रामीण जनता के ऊपर बलपूर्वक न लादे जायें, वरन् इस बात का प्रयास किया जाय कि उन लोगों में ही आत्मविश्वास का उदय हो और वे नियोजन के कार्यक्रम में व्यक्तिगत रूप से रुचि ले सकें। सामुदायिक विकास योजनाओं के आधारभूत सिद्धान्त निम्न हैं :—

(अ) "विकास कार्य के लिए प्रेरक-शक्ति स्वयं ग्रामवासियों से आनी चाहिए। ग्रामों में विपुल शक्ति निष्क्रिय रूप में बिखरी पड़ी है जिसका उपयोग नहीं किया जा रहा है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि वह शक्ति क्रियात्मक कार्यों के लिए नियोजित की जाय और प्रत्येक परिवार के सदस्य न केवल अपने हित के लिए कार्य करें वरन् सामुदायिक कल्याण के लिए भी समय दें।"

(ब) "सहकारिता के सिद्धान्त को विविध रूपों में लागू होना चाहिए, जिससे ग्राम्य-जीवन की अनेक समस्याएँ हल की जा सकें।"

सामुदायिक विकास योजनाओं के तीन उद्देश्य हैं : (१) कृषि, बागबानी, पशु-पालन, मछली-पालन आदि में वैज्ञानिक विधियों को लागू करके और अन्य पूरक धंधों व कुटीर-उद्योगों को प्रारंभ करके बेरोजगारी दूर की जाय और उत्पादन

में वृद्धि की जाय (२) जनता के सहयोग से प्रत्येक ग्राम या कई ग्रामों को मिलाकर कम से कम एक बहुउद्देश्यीय सहकारी संस्था होनी चाहिए जिसमें कृषि करने वाले लगभग सभी परिवारों के प्रतिनिधि हों, (३) गाँव की सड़कों, तालाबों, पाठशालाओं, स्वास्थ्य-केन्द्रों आदि सार्वजनिक हित के निर्माण-कार्यों के लिए सुसंगठित प्रयास होना चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्रामीण जनता में प्रगतिशील दृष्टिकोण उत्पन्न करने की भी आवश्यकता है।

यह सामुदायिक विकास योजना २ अक्तूबर १९५२ को प्रारंभ की गई थी, जिसके अन्तर्गत ५५ केन्द्रों में सामुदायिक विकास योजनाएँ प्रचालित की गई। इन योजनाओं का कार्यक्षेत्र लगभग ३०,००० ग्रामों तक विस्तृत है जिनकी जनसंख्या लगभग १ करोड़ ६८ लाख है। कालान्तर में और भी अधिक सामुदायिक विकास योजनाएँ चलाई गई और २ अक्तूबर १९५३ को राष्ट्रीय प्रसार सेवा के अन्तर्गत प्रसार-मंडलों (Extension Blocks) का भी समारंभ किया गया। इस प्रकार इस समय दो योजनाएँ साथ-साथ चल रही हैं, जिनमें से प्रथम हैं सामुदायिक विकास योजनाएँ और द्वितीय हैं राष्ट्रीय प्रसार सेवाएँ। 'इन राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं के भी वही उद्देश्य हैं जो सामुदायिक विकास योजनाओं के हैं। कृषि, पशु-पालन, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में दोनों के कार्य-क्रमों में पर्याप्त समानता है। उनमें यदि कोई भेद है तो यही कि सामुदायिक विकास योजनाओं का कार्य-क्रम विस्तृत है और इसके अन्तर्गत स्थानीय कार्यों पर पर्याप्त धन-राशि भी व्यय की जायगी योजना में यह व्यवस्था की गई है कि जिन विकास-मंडलों की प्रगति पर्याप्त रूप से संतोषजनक होगी और जहाँ जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त होगा, उन्हें सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत सुसंगठित के लिए चुन लिया जायगा।

संगठन—सामुदायिक विकास योजना की व्यवस्था पंचायतों और इसी उद्देश्य के लिए निर्माण की गई अन्य उच्च संस्थाओं द्वारा की जाती है। "जनता और उसके अनेक प्रतिनिधियों से काफी विचार-विमर्श करने के उपरान्त विकास कार्य-क्रम निश्चित किया जाता है। गाँव के स्तर पर नियोजन का कार्य-भार पंचायत पर ही रहता है। वही विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित भी करती है। जिन क्षेत्रों में या तो पचायतें बिल्कुल है ही नहीं या उनका अधिक प्रभाव नहीं है, वहाँ यह प्रयास किया गया है कि इस उद्देश्य के लिए ग्रामीण विकास समितियों की स्थापना की जाय, जिन्हें ग्राम विकास मंडल, ग्राम मंडल समिति, ग्राम सेवा संघ आदि कुछ भी नाम दिया जा सकता है। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा नियोजन के कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने के लिए जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त

होता है। विकास-मंडल के स्तर पर एक परामर्शदात्री समिति की स्थापना की जाती है, जिसमें ग्राम समितियों के प्रतिनिधि, विधान-परिषद, विधान-सभा व संसद के सदस्य, सहकारी समितियों के प्रतिनिधि, प्रगतिशील कृषक आदि सम्मिलित होते हैं। यह परामर्शदात्री समिति ग्राम-संस्थाओं द्वारा तैयार की गई योजनाओं पर विचार करती है। फिर इस परामर्शदात्री समिति द्वारा निर्माण की गई मंडल की विकास योजनाओं को जिला विकास समिति के द्वारा जिले की विकास-योजना के कार्य-क्रम में सम्मिलित कर लिया जाता है। इस जिला विकास समिति में प्रमुख गैर सरकारी व्यक्ति और जिले के अनेक टेक्निकल विभागों के अध्यक्ष सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्तर पर विकास योजना तैयार करने और उनको कार्यान्वित करने के लिए सरकारी और गैरसरकारी संगठन साथ-साथ कार्य करते हैं"। इस योजना की एक प्रमुख विशेषता यह है कि "वर्तमान शासन-सम्बन्धी सरकारी ढाँचे में इस प्रकार परिवर्तन किया जा रहा है कि वह जन-कल्याण के दायित्व का भी निर्वाहकर सकें, जिसका परिणाम यह है कि सामान्य प्रशासनयंत्र से भिन्न एक पृथक जन-कल्याण विभाग स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रशासन-यंत्र (administrative machinery) की रचना राजस्व-संग्रह (revenue collection) का निरीक्षण और नियम व व्यवस्था की स्थापना करने के उद्देश्य से की गई थी, उसने परिवर्तित होकर कल्याणकारी शासन का रूप ग्रहण कर लिया है और सरकार के विकास-सम्बन्धी सभी विभागों के साधनो का उपयोग ग्राम-विकास की समस्याओं को हल करने के लिए किया जा रहा है।"

विकास-सम्बन्धी नीति के सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करने के लिए प्रत्येक राज्य में एक राज्य विकास समिति (State Development Committee) की स्थापना की गई है, जिसमें मुख्य मंत्री और विकास-कार्य से सम्बद्ध अनेक विभागों के अध्यक्ष सम्मिलित होते हैं। डेवलॅपमेन्ट कमिश्नर इस समिति का मंत्री होता है और समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से वह सरकार के विकास के सम्बन्धी अनेक विभागों के अध्यक्ष और मन्त्रियों के दल का प्रधान भी होता है। जिले, तहसील और मंडल के स्तर पर ऐसा ही समन्वय स्थापित करने के लिए डेवलपमेन्ट कमिश्नर से समान ही क्रमशः कलक्टर और मंडल-विकास अधिकारी (Block Development Officer) को भी उसी प्रकार के कार्य सौंपे गए हैं। विकास-सम्बन्धी शासन की इस शृंखला में ग्राम-सेवक अन्तिम कड़ी के समान होता है और जिले के शासन का एक अग समझा जाता है। और बहु-उद्देशीय कार्य करमें पड़ते हैं। शासन के ढाँचे को निर्माण करने का उद्देश्य यह है कि

अधिकारी अधिक से अधिक कार्यक्षमता से काम करें और जनता से अधिकतर सहयोग उपलब्ध है।

योजना के अन्तर्गत—राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास योजनायें प्रथम पंचवर्षीय योजना की देन है। कार्य की इकाई एक विकास मंडल है, जिसके अन्तर्गत लगभग १०० ग्राम आते हैं, जिनकी जनसंख्या ३०,००० से लगाकर ७०,००० तक होती है, और उनका क्षेत्रफल १५० से १७० वर्गमील तक हो सकता है, १९५२ में जब से यह कार्यक्रम आरम्भ हुआ है; समुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत ३०० मंडल और राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजना के अन्तर्गत ९०० मंडल बना लिए गये हैं, और इस प्रकार १९५६ तक विस्तार मंडलों का योग १२०० हो गया है। इसके अन्तर्गत तालिका नं० १ के अनुसार १२३००० ग्राम और ८ करोड़ व्यक्ति आ जायेंगे।

तालिका नं० १

विकास मंडल का कार्य जो प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में आरम्भ किया गया

	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	जोड़
विकास मंडल					
सामुदायिक विकास	२४७	५३			३००
राष्ट्रीय विस्तार	...	२५१	२५३	३९६	९००
जोड़	२४७	३०४	२५३	३९६	१२००
ग्राम संख्या					
सामुदायिक विकास	२५,२६४	७,६९३	...	...	३२,९५७
राष्ट्रीय विस्तार	...	२५,१००	२५,३००	३९६००	९०,०००
जोड़	२५,२६४	३२.७९३	२५,३००	३९,६००	१,२२,९५७
जनसंख्या (दस लाख में)					
सामुदायिक विकास	१६.४	४.०	...	...	२०.४
राष्ट्रीय विस्तार	...	१६.६	१६.७	२६.१	५९.४
जोड़	१६.४	२०.६	१६.७	२६.१	७९.८

विकास क्षेत्र में १४००० नये स्कूलो को आरम्भ करना और ५,१५४ प्राइमरी स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित किया जाना है, ३५,००० वयस्कों के लिये शिक्षा केन्द्रों का स्थापित करना, जिनके द्वारा ७७,३०० वयस्क साक्षर किये

गये हैं, तथा ४०६६ मील पक्की और २८००० मील कच्ची सड़क का बनवाना और ८०,००० शौचालयों का गाँवों में निर्माण करवाना स्थानीय विकास के उदाहरण हैं। जिनका सामाजिक प्रभाव बहुत ही महत्वशाली होगा। इस कार्य में बहुत अधिक अंश तक सहायता जनता तथा विस्तार योजनाओं को कार्यान्वित कराने वाले सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्राप्त हुई है, जिन्होंने पथ प्रदर्शक का कार्य किया है। यदि ग्राम उद्योगों तथा सहकारिता के क्षेत्र में सफलता कम प्राप्त हुई है, इसका कारण यदि सम्पूर्ण देश के दृष्टिकोण से ही देखा जाय तो सहकारिता तथा नवीन उद्योगों की कार्य व्यवस्था का दोष है, जिसमें सुधार करना चाहिए।

"राष्ट्रीय विकास परिषद् ने सितम्बर १६५५ में यह स्वीकार कर लिया था कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में समस्त देश राष्ट्रीय विकास सेवा योजना के अन्तर्गत आ जायगा और जो राष्ट्रीय विस्तार मंडल सामुदायिक विकास मंडलों में परिणत कर दिये जायेंगे, उनकी संख्या ४०% से कम न होगी। यदि पर्याप्त वित्तीय सहायता प्राप्त हो सकेगी तो सम्भवतः यह संख्या ५०% भी हो जाय। द्वितीय योजना में ३८०० नये विकास मंडल राष्ट्रीय विस्तार योजना के कार्यक्रम के अन्तर्गत आरम्भ किये जाने वाले हैं और यह आशा की जाती है कि इनमें से ११२० सामुदायिक विकास मंडलों में परिणित कर दिये जायेंगे। योजना के इस कार्य के लिए २०० करोड़ रुपयों का भी प्रबन्ध प्रबन्ध किया गया है।"

"सामुदायिक योजना प्रशासन के निश्चित किए हुये कार्यक्रम के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना में, प्रत्येक वर्ष, राष्ट्रीय विस्तार मंडल तथा उनके सामुदायिक विकास मंडलों में परिणत किये जाने का कार्य किया जाया करेगा।" जैसा कि तालिका नं० २ में दिखाया गया है।

तालिका नं० २

विस्तार मंडलों की संख्या

वर्ष	राष्ट्रीय विस्तार सेवा	सामुदायिक विकास मंडलों में परिवर्तन
१६५६-५७	५००	२५०
१६५७-५८	६५०	२००
१६५८-५६	७५०	२६०
१६५६-६०	६००	३००
१६६० ६१	१०००	३६०
	३८००	११२०

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रत्येक ग्रामीण परिवार में यह भावना उत्पन्न करनी होगी कि अपने रहन-सहन के स्तर को सुधारना तथा एक निश्चित कार्यक्रम का अनुसरण करना और उसमें सहयोग देना उनका कर्त्तव्य है। यह आशा की जाती है, कि राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम द्वारा और अन्य अनुपूरक कार्यक्रमों द्वारा आगामी कुछ वर्षों में ही कृषि उत्पत्ति में वृद्धि के अतिरिक्त निम्न अन्य क्षेत्रों में उन्नति होगी। (१) सहकारिता के कार्य में जिसमें सहकारी कृषि भी सम्मिलित है विस्तार होगा, (२) ग्रामोन्नति में सक्रिय उत्तरदायित्व रखनेवाली संस्थाओं के रूप में ग्राम पंचायतों का विकास होगा, (३) भूमि की चकबन्दी, (४) ग्राम के छोटे उद्योगों का विकास होगा, (५) ऐसे कार्यक्रमों को कार्यान्वित करना होगा जिनमें गाँव के पिछड़ी हुई जनता को जैसे छोटे-छोटे कृषक, भूमिहीन कृषक, कृषि कार्य करने वाले मजदूर एवं शिल्पी इत्यादि, (६) स्त्रियों और नवयुवकों की उन्नति के लिये और पिछड़ी जातियों के विकास के लिये विस्तृत कार्यक्रम बनाये जायेंगे।

"ऐसे बहुमुखी कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिये जिसके अन्तर्गत उद्योग, सहकारिता, कृषि उत्पादन, भूमि सुधार, तथा सामाजिक सेवायें आती हैं, जो क्षेत्र राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को लागू करने के लिये चुने जायेंगे, उनके शीघ्र ही उन्नति करने की बहुत अधिक सम्भावना होगी। जब इन कार्य-क्रमों को संयोजित रूप से कार्यान्वित किया जाता है, और स्थानीय संस्थाओं का सहयोग व्यवस्थित रूप से प्राप्त होता है, तो एक कार्य में सफलता दूसरे में सफलता के लिए अवसर प्रदान करती हैं। और इस प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्र में आर्थिक व्यवस्था दृढ़ हो जाती है। द्वितीय योजना के अन्तर्गत विकास कार्य-क्रम में कृषि उत्पादन को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। इसके पश्चात् ग्राम की सबसे अधिक महत्वशाली आवश्यकता कार्य करने के पर्याप्त अवसरों का प्रदान करना है। संतुलित ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था में यह आवश्यक है, कि औद्योगिक कार्यों के अवसरों की कृषि कार्यों की अपेक्षा द्रुततर गति से वृद्धि की जाये। हाल के ग्राम तथा छोटे उद्योगों के विकास कार्य-क्रमों के सम्बन्ध में जो अनुभव हुआ है उससे यह संकेत मिलता है, कि ऐसी विस्तार सेवा की आवश्यकता है, जिसका सम्पर्क ग्रामीण शिल्पकारों से हो और जो उन्हें आवश्यक पथप्रदर्शन कर सके, सहायता दे सके, उनकी सहकारिता के आधार पर व्यवस्था कर सके और अपने माल को गाँव में तथा बाहर बेचने में सहायता दे सके। इसका प्रारम्भ २६ अग्रगामी योजनाओं को कार्यान्वित करके किया जा चुका है। यह आवश्यक है

कि यथासम्भव शीघ्र प्रत्येक विस्तार तथा सामुदायिक विकास क्षेत्र में एक प्रवीण प्रशिक्षित इन ग्राम उद्योगों के कार्यक्रम को चलाने के लिये नियुक्त किया जाय।

वित्त की व्यवस्था—इन विकास कार्यक्रम के लिए वित्त की व्यवस्था सामुदायिक योजना प्रशासन (Community Project Administraion), राज्य सरकारों और जनता के द्वारा की जाती है। सी० पी० आर्थिक रूप से वित्त का प्रबन्ध तो करता ही है, इसके अतिरिक्त उस पर विशेष यन्त्रों व तत्सम्बन्धी अन्य सामग्रियों को उपलब्ध करने का भी दायित्व है। इस विकास कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने के लिए अतिरिक्त कर्मचारियों को रखने पर जितना व्यय होगा, उसका आधा धन राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार द्वारा आर्थिक सहायता के रूप में प्राप्त होगा केन्द्रीय सरकार यह प्रयास भी कर रही है कि योजना की अवधि समाप्त होने तक सहकारी अन्दोलन और अन्य एजेन्सियों के द्वारा अल्पकालीन, औसतकालीन और दीर्घकालीन ऋण के रूप में क्रमशः १०० करोड़, और २५ करोड़ रुपये का धन प्रति वर्ष प्राप्त होने लगे। सामुदायिक विकास योजना के कार्य-क्रम पर जो धन-राशि व्यय होती है उसकी लगभग १०% भारतीय-अमरीकी टेकनिकल सहयोग योजना द्वारा यन्त्रों और टेकनिकल परामर्श आदि के रूप में प्राप्त होती है।

सामुदायिक योजनाओं और विकास मंडलों के लिए १९५२-५३ से लेकर १९५५-५६ तक कुल मिला कर ३२·६० करोड़ रुपये धन का बजट में स्वीकृत हुआ है। इस प्रकार मार्च १९५४ तक प्रथम १८ महीनों में व्यय के लिए १६.३० करोड़ रुपये निर्धारित थे, किन्तु इस अवधि में वास्तव में जो धन राशि व्यय की गई वह केवल ५·९५ करोड़ रुपया थी। इसके अतिरिक्त इस अवधि में नकद धन, श्रम, सामग्री आदि की ऐच्छिक सहायता के रूप में कुल मिलाकर २·९३ करोड़ रुपया का धन प्राप्त हुआ, जो सरकारी व्यय के धन के आधे से थोड़ा ही कम है। प्रारम्भिक काल की अनेक कठिनाइयों के कारण योजना की प्रगति धीमी रही, किन्तु जब हम इस तथ्य पर ध्यान केन्द्रित करते हैं कि जून १९५४ तक व्यय की गई धनराशि ८·१० करोड़ रुपये तक पहुँच गई, तो भविष्य में अधिक तीव्र प्रगति होने की समावना प्रकट होती है।

धीमी प्रगति के कारण—सामुदायिक योजनाओं की प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए फोर्ड फाउन्डेशन के सहयोग से एक कार्य-मूल्यांकन संस्था (Programme Evaluation Organisation) की स्थापना की गई है। सामुदायिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के मार्ग में निम्न कठिनाइयाँ हैं—

(१) प्रारम्भिक अवस्था में प्रगति के अवरुद्ध होने का कारण यह था कि

जनता उदासीन थी और अन्य लोकप्रिय व्यक्तियों ने भी योजना के कार्य-क्रम में सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया। इस स्थिति में किसी सीमा तक सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु फिर भी ग्रामवासियों का पूर्ण सहयोग नहीं प्राप्त हो रहा है। प्रगति के धीमी और अनिश्चित होने का यह एक प्रमुख कारण था।

(२) पचायतों अथवा विशेष कर इसी उद्देश्य से स्थापित की गई अन्य लोक प्रिय संस्थाओं से जो सहयोग प्राप्त हुआ है, वह अपर्याप्त है। पंचायतें सभी क्षेत्रों में नहीं हैं और जहाँ हैं भी, वहाँ उनमें गुटबन्दी के कारण प्रायः संघर्ष चलता रहता है। सहकारी संस्थाएँ उपयोगी हो सकती हैं, किन्तु विकास योजनाओं के सम्बन्ध में उनकी उपयोगिता सीमित ही है। उनके नियमों के अनुसार सामान्य रूप से सदस्य भी नहीं बनाए जा सकते, क्योंकि उनका चुनाव किया जाता है। सहकारी संस्थाओं की रचना ही कुछ विशिष्ट प्रकार की होती है जिससे उनके कार्य सीमित होते हैं। विकास कार्य-क्रम की सहायता के लिए अनेक परामर्शदात्री संस्थाओं की स्थापना की गई है जिनके भिन्न-भिन्न नाम हैं और जो कुशल अधिकारियों के निर्देशन में सन्तोषजनक कार्य कर रही हैं। किन्तु फिर भी यह आशंका बनी हुई है कि जब सरकारी अधिकारी हटा लिए जायेंगे, तो संभव है कि ये संस्थाएँ कार्य करना बन्द कर दें।

(३) धीमी प्रगति के लिए उचित योजना का अभाव भी अधिक सीमा तक उत्तरदायी है। विकास की प्रगति इसलिए धीमी नहीं रही है कि आवश्यक वित्त का अभाव था, वरन् उसका कारण यह था कि प्रारम्भिक अवस्था में अधिकारियों-द्वारा बजट में कोई निश्चित मात्रा निर्धारित नहीं की गई। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी थे। बजट बहुत जल्दी में तथा अस्पष्ट विचारों के साथ तैयार किए जाते थे तथा धनराशि को मंजूरी देने के पूर्व विवरण जानने में समय लगता था।

(४) कार्य-क्रम की इस धीमी प्रगति और अनेक भूलों के लिए प्रशिक्षण-प्राप्त कर्मचारियों का अभाव बहुत बड़ी सीमा तक उत्तरदायी है। किन्तु अब अधिक संख्या में कर्मचारियों को प्रशिक्षण देकर यह अभाव शीघ्रता से दूर किया जा रहा है।

पी० ई० ओ० की तीसरी सफलतांकन रिपोर्ट (Evaluation Report) ने कार्य को समुचित रूप से चलाने के सम्बन्ध में अनेक प्रयोगात्मक सुझाव दिये हैं जो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास कार्य-क्रम को आशानुकूल सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि (१) औद्योगिक विभागों को प्रत्येक दिशा में

और प्रत्येक स्तर पर पर्याप्त मात्रा मे दृढ़ बनाया जाय। अनेक स्थानों पर प्रत्येक क्षेत्र तथा जिला सम्बंधी औद्योगिक विभागीय व्यवस्था की क्षमता तथा संख्या में सुधार करना आवश्यक हो गया है, (२) इसके अतिरिक्त अन्वेषण के कार्य की सुविधाओं का विस्तार किया जाय, भूमि के आस-पास के गवेषणागारों को विस्तृत किया जाय और इस बात का विशेष ध्यान दिया जाय कि खेतों से सब सूचनायें गवेषणागारों तक पहुँच जायँ, (३) विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों पर क्षेत्र विकास कर्मचारी के नियन्त्रण (जो आवश्यकता से अधिक हो सकता है) तथा जिलों के अन्य प्राविधिक अधिकारियों के दुहरे नियन्त्रण की व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर रही है। (४) निर्माण कार्यों ने ग्रामों में कार्य करने वाले कर्मचारियों का जिनको कृषि तथा कृषि विस्तार की प्रारम्भिक शिक्षा मिली है और जिनका सबसे अधिक आवश्यक कर्त्तव्य कृषि उत्पादन बढ़ाने का है, अधिकांश समय ले लिया है, (५) ग्राम पंचायतों को अपने बुद्धिमान उत्तरदायित्व को जो कि उनके ऊपर डाल दिया गया है पूर्ण करने के लिये सदैव पथ प्रदर्शन तथा सक्रिय सहायता मिलनी चाहिए; (६) कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने में आवश्यकता से अधिक महत्व भौतिक और आर्थिक सफलताओं पर दिया गया है, जैसे निश्चित किये हुये कार्य के, व्यय और भवन निर्माण के ध्येयों को पूरा करना इत्यादि; और जनता को नये ढंग से कार्य करने की शिक्षा देने तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा को सुधार और विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों के पूर्ण करने के लिये, जो राष्ट्रीय प्रादेशिक योजना के अन्तर्गत है, एक प्रभावशाली साधन बनाने की ओर कम ध्यान दिया गया है।

कार्य करने में त्रुटि—सामुदायिक विकास योजनाओं ने ग्रामीण जनता में आत्मविश्वास उत्पन्न करने में बहुत कुछ योग दिया है। उसने ग्रामनिवासियों को इस बात का आभास दिया है कि ग्राम्य-जीवन में निश्चित रूप से कुछ गड़-बड़ी है जिसका पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही सुधार किया जा सकता है। अभी इतना अधिक समय नहीं हुआ है कि इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके; फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि सामुदायिक विकास योजनाओं ने उत्पादन बढ़ाकर और बेरोजगारी कम करके ग्रामों में रहन सहन का स्तर ऊँचा किया है। किन्तु जिस रूप में कार्य-क्रम को कार्यान्वित किया जा रहा है उसमें कई दोष हैं: (१) भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के श्रम का उपयोग करने की समुचित व्यवस्था नहीं है। कृषि के क्षेत्र में उत्पादन-वृद्धि और कृषकों के लिए कार्य के अवसर उत्पन्न करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है, किन्तु भूमिहीन मजदूरों को बसाने की व्यवस्था भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जब कभी विकास योजनाओं

के अन्तर्गत अस्थायी रूप से मजदूरी देकर कार्य करने की आवश्यकता पड़ती है तभी इन्हें थोड़ा-बहुत कार्य मिलता है। इसके अतिरिक्त वे निःसहाय, बेरोजगार और उपेक्षित-से रहते हैं, (२) यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय तो सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्य-क्रम में एक और दोष प्रकट होगा। वह यह है कि खेतिहर मजदूरों को पूरक कार्य उपलब्ध कराने के लिए ग्राम्य-उद्योगों की स्थापना करने पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। इस सम्बन्ध में पी० ई० ओ० की यह धारणा है कि "ग्रामीण उद्योग-धन्धों की अनिश्चित संभावना के पीछे चाहे जो भी कारण हो, किन्तु तथ्य तो यह है कि सामुदायिक विकास योजनाओं के वर्तमान स्वरूप और साधनों से भूमिहीन मजदूरों की बेरोजगारी की समस्या हल करने की आशा नहीं की जा सकती"। किन्तु पी० ई० ओ० का यह दृष्टिकोण गलत है। चूंकि सामुदायिक विकास योजनाओं का उद्देश्य है कि उत्पादन कार्य और ग्रामीण जनता की आय में वृद्धि हो और ग्रामवासियों में नई आशा का संचार किया जाय, इसलिए गैर खेतिहर वर्ग की बेरोजगारी' की समस्या को उपेक्षा की दृष्टि से देखना उचित नहीं है ऐसा करने पर सामुदायिक विकास योजनाओं की उपयोगिता बहुत कुछ कम हो जायगी, (३) सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत भूमि की समस्या को सुलझाने के लिए भी कोई प्रयास नहीं किया गया है। चकबन्दी का कार्य एक अन्य संगठन द्वारा किया जा रहा है, किन्तु इसने अभी अधिक सफलता नहीं प्राप्त की है। बम्बई, उत्तर-प्रदेश और सौराष्ट्र को छोड़कर सहकारी कृषि के क्षेत्र में अधिक प्रगति नहीं हुई है और इन राज्यों में भी यह आन्दोलन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। बहुत से कृषकों के पास कृषि के लिये इतनी कम भूमि है कि उस पर कृषि करना आर्थिक दृष्टि से लाभ-पूर्ण नहीं है। जब तक कृषि की इकाई के रूप में प्रयुक्त होने वाली भूमि का क्षेत्रफल नहीं बढ़ाया जाता और निम्नतम लागत से अधिकतम उत्पादन नहीं होगा, तब तक किसान खेती की विकसित प्रणालियों का पूरा लाभ नहीं प्राप्त कर सकेंगे, और (४) सामुदायिक विकास योजना के कार्य-क्रम में अब तक कोई ऐसा व्यवस्था नहीं है जिससे जन-संख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण रखा जाय और परिवार-आयोजन (Family Planning) का सुचारु प्रबन्ध हो सके। जब तक यह कार्य नहीं हो जाता तब तक भारतीय ग्रामीण जनता की जटिल समस्याओं को सन्तोषजनक रूप से हल करने की आशा करना व्यर्थ है। उत्पादन बढ़ाकर और जन-संख्या की वृद्धि को नियंत्रित करके ही ग्रामवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा किया जा सकता है।

अध्याय १२

सहकारी आन्दोलन

भारत में सहकारी आन्दोलन का विकास २० वीं शताब्दी में हुआ। सह-कारिता का अर्थ है किसी समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिलजुल कर प्रयत्न करना। समान उद्देश्य की दृष्टि से यह व्यक्तिगत प्रयत्न और सहायता से बिल्कुल भिन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की परिभाषा के अनुसार सहकारी समिति ऐसे *व्यक्तियों की संस्था है जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है और जो समान* अधिकार तथा उत्तरदायित्व के आधार पर स्वेच्छा-पूर्वक सगठित होकर अपनी ऐसी समान आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का भार एक संस्था को सौंप देते हैं जिनको वह अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा पूर्णतः सन्तुष्ट कर सकने में असमर्थ होते हैं। यह लोग आपस में मिलकर इस संस्था का प्रबन्ध करते हैं और समान भौतिक एवम् नैतिक लाभ उठाते हैं। इस प्रकार सहकारी समिति समान हितों का संघ है; यह समान अधिकार प्राप्त सदस्यों का स्वेच्छा से निर्मित एक ऐसा आर्थिक संगठन है जो अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और उनके समान हितों की रक्षा करता है।

सहकारी समितियाँ दो प्रकार की हैं—(१) रेफिजेन (Raiffeisen type) और (२) शुल्ज डेलित्ज (Schulze Delitsch type)। इन दो प्रकार की सह-कारी समितियों में जिन व्यक्तियों का नाम सम्मिलित है वह जर्मनी में सहकारी आन्दोलन के प्रणेता थे। प्रथम प्रकार की सहकारी समिति के सिद्धान्तों का उप-योग ग्राम में संगठित की जानेवाली समितियों में किया जाता है और दूसरे प्रकार की समितियों के सिद्धान्तों का उपयोग नगरों में किया जाता है। रेफिजेन-समि-तियों का कार्य क्षेत्र प्रायः एक ग्राम तक सीमित रहता है और इनके सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है। इन समितियों से केवल सदस्यों को ही ऋण दिया जाता है और वह भी केवल उत्पादन के लिए। शुल्ज-डेलित्ज समितियों का कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक है और इनके सदस्यों का उत्तरदायित्व भी सीमित है। इस प्रकार की सीमित सदस्यों से प्रवेश शुल्क वसूल करती है और बिना आय वाला व्यक्ति इसका सदस्य नहीं बन सकता है।

वित्त, उत्पादन, वितरण इत्यादि किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन समितियों को सगठित किया जा सकता है परन्तु भारत में ऋण देने वाली

साख समितियों का ही प्रभुत्व है। वास्तव में भारत में सहकारी आन्दोलन आरंभ करने का निश्चित उद्देश्य ग्रामों में ऋण की भयानक समस्या को हल करना और ग्रामीणों को सुविधा जनक रीति से ऋण देना था। भारत में जून १९५५ में सब प्रकार की २,१९,२८८ समितियों की तुलना में जून १९५६ में २,४०,३९५ सहकारी समितियाँ थीं। कृषि साख समितियाँ ही प्रमुख थीं। इनकी संख्या कुल समितियों की ६७½% तथा कृषि समितियों की ८०½% थी। आन्दोलन अब भी साख-प्रधान है।

विकास—भारत में सहकारी आन्दोलन के इतिहास की सर्वप्रथम महत्व-पूर्ण घटना १९०४ का सहकारी साख-समिति अधिनियम है। इस नियम के बनने से पूर्व भी मद्रास में सहकारिता के सिद्धान्तों का महत्वपूर्ण विकास हो रहा था। वहाँ साख-समितियों का कार्य 'निधियाँ' करती थीं। देश में सहकारिता के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के लिए सरकार ने सर्वप्रथम १९०१ में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि जब तक सरकार अधिनियम नहीं बनाती इस दिशा में विशेष प्रगति की संभावना नहीं है। इसी रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने सहकारी साख-समिति अधिनियम पास किया। इसमें केवल साख-समितियों की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार अन्य देशों की अपेक्षा भारत में सर्वप्रथम साख-समितियों का ही विकास हुआ। नियम लागू होने के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि इससे उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। साख-समितियों के पास ग्राम से ऋण प्रथा समाप्त करने के लिए आवश्यकता से बहुत कम पूँजी थी।

इस नियम के दोषों को दूर करने के लिए १९१२ में दूसरा सहकारी समिति अधिनियम पास किया गया। इस नियम में क्रय-विक्रय करने वाली अन्य प्रकार की सहकारी समितियों का सगठन करने की व्यवस्था की गई। नगर और ग्राम समितियों के अंतर को मिटा दिया गया। सीमित उत्तरदायित्व और असीमित उत्तर-दायित्व के आधार समितियों को अधिक वैज्ञानिक रूप से वर्गीकृत किया गया। नियम में यह निश्चित कर दिया गया कि जिन समितियों के सदस्य रजिस्टर्ड समितियाँ हैं वह सीमित उत्तरदायित्व वाली समितियाँ होंगी और साख-समितियाँ तथा ऐसी अन्य समितियाँ जिनके अधिकांश सदस्य कृषक हैं असीमित उत्तरदायित्व वाली समितियाँ होंगी। इस नियम से सहकारी आन्दोलन के विकास में सहायता मिली। उत्पादन के विक्रय के लिए, पशु-बीमा, दूध की पूर्ति और खाद इत्यादि क्रय के लिए नई प्रकार की समितियाँ स्थापित की गईं।

मैकलैगन समिति की रिपोर्ट के आधार पर सहकारी आन्दोलन के विकास

में एक और प्रयास किया गया। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर १६१६ के सुधार अधिनियम (Reform Act) के द्वारा सहकारी आन्दोलन का कार्य राज्य-सरकारों को सौंप दिया गया। राज्य सरकारों ने कुछ वर्षों तक इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं की परन्तु १६२५ में बम्बई की सरकार ने अलग से सहकारी समिति अधिनियम नियम बनाया। इसके पश्चात् अन्य राज्यों में भी आवश्यक कानून बनाये गये।

सहकारिता आन्दोलन के विकास का कुछ अनुमान इस बात से लग सकता है कि १६५१-५२ में समितियों की संख्या, सदस्या संख्या तथा कुल चालू पूँजी क्रमशः १·८५ लाख, १३७·६२ लाख तथा ३०६·३४ करोड़ रु० थी। १६५५-५६ में यह बढ़ कर क्रमशः २·४० लाख, १७६·२ लाख और ४६८·८२ करोड़ रु० हो गई। विभिन्न प्रकार की समितियों के दृष्टिकोण से अन्य समितियों की अपेक्षा कृषि साख समितियों में वृद्धि अधिक हुई है। पिछले वर्षों की ही तरह साख समितियाँ ही अधिक प्रधान रहीं और कुल चालू पूँजी का ७५% साख क्षेत्र में ही था। यह मानते हुए कि भारतीय परिवार के सदस्यों की औसत संख्या ५ है हम कह सकते हैं कि १६५५-५६ में ८·८ करोड़ व्यक्ति अथवा जनसंख्या के २३ प्रतिशत व्यक्ति सहकारी आन्दोलन के सम्पर्क में आये। १६५१-५२ में ६·६ करोड़ व्यक्ति अथवा १६ प्रतिशत जन संख्या सम्पर्क में आई थी। इसी प्रकार (प्राइमरी) प्राथमिक समितियों, जो आन्दोलन का आधार प्रस्तुत करती है, द्वारा १६५१-५२ में दिया हुआ ६७·६५ करोड़ रु० था। १६५५-५६ में यह राशि बढ़कर १४०·७८ करोड़ रु० हो गयी। दिये गये ऋण की इस वृद्धि से भी प्रगति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। चिन्ता का विषय तो यह है कि बकाया ऋणों के प्रतिशत के रूप में कालातीत ऋणों में कुछ कमी अवश्य हुई है किन्तु उनका अनुपात अब भी बहुत अधिक है।

प्रगति के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (क) सहकारिता से जनसंख्या का बहुत छोटा अंश लाभ उठा रहा है; (ख) जनसंख्या की वृद्धि के अनुकूल अनुपात में सहकारिता का विकास नहीं हुआ है; (ग) यद्यपि गैर साख समितियों की संख्या में वृद्धि हुई है, फिर भी साख समितियों का ही अधिक विकास हुआ है। इसलिये सहकारिता आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिये यह आवश्यक है कि सहकारी समितियों में साख के अतिरिक्त अन्य पक्षों पर भी आवश्यक ध्यान देना चाहिये।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—सहकारी आन्दोलन न तो सारे देश में समान रूप से फैला है और न सभी जगह इसका सङ्गठन समान है। सहकारी आन्दोलन ने

खण्ड 'क' के कुछ राज्यों में विशेष प्रगति की है परन्तु अन्य राज्यों में इसका उपयुक्त विकास नहीं हो पाया है। खण्ड 'ख' और 'ग' राज्यों में से कुछ में इस आन्दोलन का बिल्कुल विकास नहीं हुआ। सम्पूर्ण देश में कुल जितनी सहकारी समितियाँ हैं उनका ३८ प्रतिशत और प्रारम्भिक समितियों के लगभग ४६ प्रतिशत उदस्य केवल बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में हैं जबकि उत्तर प्रदेश, मद्रास, बम्बई, पश्चिमी बङ्गाल, पञ्जाब तथा हैदराबाद में क्रमशः ६१ तथा ६५ प्रतिशत है। परन्तु देश में जहाँ जनसंख्या तथा क्षेत्रफल में भारी अन्तर है सहकारी समितियों की प्रगति की जाँच करने के लिए समितियों की संख्या उपयुक्त नहीं है। यह जानना आवश्यक है कि इन समितियों से कितने प्रतिशत जनता लाभ उठाती है। कुछ खण्ड 'ख' और 'ग' राज्यो में सहकारी समितियों का कार्य सन्तोष-जनक रहा है। रिज़र्व बैङ्क ने सुझाव दिया है कि सहकारी आन्दोलन के सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य में समितियों के कार्य-क्षेत्र पर और खण्ड 'ख', 'ग' और 'घ' राज्यों में उनको कार्य कुशलता पर विशेष महत्व दिया जाय।

सङ्गठन—सहकारी समितियों का सङ्गठन वास्तव में शुंडाकृति (Pyramid) के समान है। इस सङ्गठन का आधार वह प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ हैं जिनको सङ्गठित करने के लिए कोई भी दस व्यक्ति सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार को आवेदन पत्र दे सकते हैं। विभाग के निरीक्षक द्वारा आवश्यक जाँच-पड़ताल के पश्चात् समिति स्थापित करने की अनुमति दी जाती है। इन समितियो की चालू पूँजी, प्रवेश शुल्क, सरकारी ऋण, केन्द्रीय समितियों तथा राज्य बैङ्कों से ऋण लेकर एकत्र की जाती हैं। इनमें से कुछ समितियों के पास शेयरों की पूँजी भी है। केवल साख समितियों को छोड़कर इन समितियों का उत्तरदायित्व सीमित है और सारी व्यवस्था प्रबन्धक समिति तथा ग्राम-सभा के हाथ में होती है।

इन प्रारम्भिक समितियों के ऊपर केन्द्रीय समितियाँ और राज्यीय सहकारी समितियाँ होती हैं। प्रारम्भिक समितियों के सङ्गठन से केन्द्रीय समितियाँ बनती हैं और इन (केन्द्रीय) समितियों के सङ्गठन से राज्यीय समितियाँ जन्म लेती हैं। सम्पूर्ण आन्दोलन इसी प्रकार परस्पर गुँथा हुआ है। यद्यपि केन्द्रीय साख-समितियों को अपनी पूँजी का अधिकांश भाग रिजर्व बैङ्क से अल्पकालीन ऋण के रूप मे प्राप्त होता है फिर भी इनकी और प्रदेशीय समितियों की व्यवस्था तथा वित्त की आवश्यकता की पूर्ति इत्यादि कार्य प्रारम्भिक समितियों की ही तरह होते हैं। पहले केन्द्रीय समितियों को रिजर्व बैङ्क से प्राप्त होने वाले अल्पकालीन ऋण की अवधि ६ महीने थी परन्तु अब इसे बढ़ाकर १५ महीने कर दिया गया है। ऋण के

धन पर ब्याज की दर डेढ़ रुपया प्रतिशत है। यह दर बैंक के ब्याज की दर से दो प्रतिशत कम है।

सहकारी समितियों के शुंडाकृति की व्यवस्था में शीर्ष पर सहकारी सङ्घ नाम की अखिल भारतीय संस्था है। इस संस्था का प्रथम सम्मेलन फरवरी १९५२ में बम्बई में हुआ था।

साख-समितियाँ—प्रारम्भिक कृषि साख समितियों की सख्या जो कि सहकारी ऋण व्यवस्था का मूलाधार है, जून १९५५-५६ में १½ लाख थी और उनका सदस्यों की संख्या ७८ लाख थी।

तालिका नं० ३

प्रारम्भिक कृषि साख समितियों का कार्य

(अन्न बैंक और भूमिबंधक बैंकों को छोड़कर)

	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५
समितियों की संख्या	१,०७,९२५	१,११,६२८	१,२६,९५४	१,४३,३२०
सदस्यों की संख्या	४७,७६,८१९	५१,२६,००२	५८,४९,३८०	६५,६५,४१६
वर्ष के अन्तर्गत	(करोड़ रुपये में)			
दिये हुए ऋण की धन राशि	२४'२०	२५'६९	२९ ६४	३५'४८
वर्ष के भीतर ऋण में वसूल की धनराशि	१८'९७	२१'२१	२६'४८	२८'६
वर्ष के अन्त मे वसूल होने वाला ऋण	३३'६६	३७'६८	४१'५६	४८'५
वर्ष के अन्त में शेष ऋण	८'५२	१०'४७	१२'०३	१४'७
निजी कोष	१७'६७	१९ २७	२१'५५	२३'६
जमा धन	४'४१	४'४१	४'६१	५'४
ऋण में लिया हुआ धन	२३'१५	२४'४९	२८'२४	३३'५
चालू पूँजी	४५'२२	४९'१८	५४ ४१	६२'६

प्रारम्भिक साख समितियाँ आर्थिक दृष्टि से निर्बल हैं और इस कारण कृषक को उतना लाभ नहीं पहुँचा पातीं जितना कि चाहिये। तालिका न० ३

से हम कह सकते हैं कि ऋण के धन में निन्तर वृद्धि ही हो रही है। आसाम,
भोपाल, बिहार, जम्मू और काश्मीर, विन्ध्यप्रदेश और मध्यभारत में बहुत अधिक
धन वसूल होने के लिये शेष रह गया था।

कृषि साख समितियों की वित्त व्यवस्था दोषपूर्ण है। १९५३-५४ के अन्त
कृषि साख समितियों की पूँजी का ढाँचा दोषपूर्ण है। निजी सम्पत्ति तथा जमा
धन का कम अनुपात कृषि-साख समितियों की आर्थिक दुर्बलता का कारण है।
कृषि साख समितियों का औसत आकार भी छोटा ही है।

१९५५-५६ में औसत सदस्यों की संख्या प्रति समिति ४९ थी और अधि-
कांश समितियाँ व्यवसायिक इकाइयों की दृष्टि से अनार्थिक ही थीं। प्रति समिति
औसत जमाधन, शेयर पूँजी, और चालू पूँजी क्रमशः ४४१ रु०, १०५१ रु० और
४९४६ रु० और प्रति सदस्य जमाधन, शेयर पूँजी और दिया हुआ ऋण क्रमशः
९ रु०, २२ रु० और ६४ रु० था। यह औसत आँकड़े कम ही हैं।

इसी वित्तीय दुर्बलता के कारण समितियाँ कृषकों को सुविधा पूर्वक कम
ब्याज पर ऋण देने के उद्देश्य की पूर्ति में असमर्थ हैं। पर्याप्त ऋण दे सकने में
असमर्थ होने के कारण ही वे कृषकों से ब्याज की अधिक दर वसूल करती हैं,
जैसा कि उत्तर प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश और हिमांचल प्रदेश में होता है, वहाँ ब्याज
की दर ९ से लगाकर १२½% तक है। "ऊँची ब्याज दर के प्रचलन के कुछ कारणों
में सहकारी आन्दोलन था अपर्याप्त विस्तार, ठीक दिशा मे पर्याप्त जमा एकत्रित
करने में सहकारी समितियों की असफलता तथा कुछ राज्यों में केन्द्रीय बैंक और
बैंकिंग यूनियन की अनर्थिक प्रकृति है।"

१९५५-५६ में १०,००३ गैर-कृषि, साख समितियाँ थी जिनकी सदस्य संख्या
३०¾ लाख और चालू पूँजी ८५¾ करोड़ रु० थी। यह वेतन भोगियों, मिल के
कर्मचारियों की समितियाँ तथा शहरी बैंक थे जिनका काम वहाँ अच्छा था क्योंकि
इनकी चालू पूँजी में जमा धन का प्रतिनिधित्व था जो ५३½ करोड़ रु० था।
इन समितियों द्वारा उधार दिये गये ऋण की मात्रा ७२ करोड़ रु० थी। कुछ
समितियाँ गैर साख २ काम भी करती थीं तथा उनके द्वारा खरीदे और बेचे माल
की मात्रा का मूल्य क्रमशः २·४२ करोड़ रु० और २·७२ करोड़ रु० था। यह समि-
तियाँ मुख्यतः बम्बई और मद्रास में थी इन समितियों के ५४% सदस्य इन्हीं दो
राज्यों में थे तथा उधार दिये धन का ६३% भी इन्हीं राज्यों के अन्दर था।

गैर-साख समितियाँ—कृषि सम्बन्धी तथा कृषि से असम्बन्धित गैर साख
समितियाँ प्रत्येक स्तर पर प्रारम्भिक केन्द्रीय तथा राज्यीय पाई जाती हैं।
१९५५-५६ में ३०,२६८ कृषि गैर साख (प्रारम्भिक) समितियाँ थीं जिनके सदस्यों

की संख्या २४ लाख थी इनकी चालू पूँजी २·८ लाख रु० थी तथा इनके द्वारा बेचे गये माल का मूल्य ३ लाख रु० था। १९५५-५६ में गैर-कृषीय, गैर-साख प्रारम्भिक समितियाँ जैसे उपभोक्ता भण्डार, विद्यार्थी भण्डार कैन्टीन आदि संख्या में २७,७४५ थीं तथा इनकी सदस्य संख्या ३३½ लाख और चालू पूँजी ५·८ लाख रु० थी तथा इन्होंने ४३ लाख रु० के मूल्य का सामान बेचा। इनके अतिरिक्त ८२ राज्यीय गैर साख समितियाँ थीं जिनकी सदस्य संख्या २२,८९४ तथा चालू पूँजी ९२,०४१ रु० थी और इन्होंने १½ लाख रु० के मूल्य का सामान बेचा। २७९४ केन्द्रीय गैर साख समितियाँ थी। इनकी सदस्य संख्या १६ लाख तथा चालू पूँजी २ लाख रु० से कम थी तथा इन्होंने ५⅔ रु० का सामान बेचा।

समस्याएँ—भारत में अधिकतर सहकारी समितियों का संगठन प्रायः एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया है। मनुष्य की विभिन्न माँगों का परस्पर सम्बन्ध होता है और वह एक दूसरे पर निर्भर भी रहती हैं इसलिये उसकी विभिन्न जटिल आवश्यकताओं की पूर्ति अनेक समितियों की अपेक्षा एक ही समिति अधिक सन्तोषजनक रीति से कर सकती है। विशेषज्ञों का विचार है कि ग्रामीण समस्याओं को बहुमुखी समितियों के द्वारा कुशलता और अधिक बचत के साथ हल किया जा सकता है। अनेक समितियों की उचित व्यवस्था करने के लिए योग्य कर्मचारियों का अभाव होने के कारण तथा अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केवल महाजन से सहायता लेने के आदी ग्रामीणों की विभिन्न समितियों से सम्बन्ध रखने की अनिच्छा के कारण भी बहु उद्देश्यीय समितियों की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसके साथ ही साख की पूर्ति और विक्रय तथा गैर साख की अन्य क्रियाओं से पृथक् करके एक उद्देश्यीय सहकारी कृषि साख-समिति का मुख्य उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता।

राष्ट्रीय नियोजन समिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने के पश्चात् भारत में और विशेषकर उत्तर प्रदेश, आसाम और बिहार में बहु उद्देश्यीय समितियाँ स्थापित करने की ओर निश्चित प्रयास किया गया है। १९४७ में उत्तर प्रदेश की सरकार ने विकास योजना तैयार की थी जिसमें यह व्यवस्था की गई थी कि १२ से १५ ग्रामों को मिलाकर एक विकास-क्षेत्र बनाया जाय और प्रत्येक ग्राम में एक-एक बहु उद्देश्यीय समिति तथा सम्पूर्ण क्षेत्र में इन समितियों का एक संघ स्थापित किया जाय। इन संघो का ज़िला सहकारी विकास संघ होता है। इस दिशा में आसाम और बिहार ने क्रमशः १९४८ व १९४९ में प्रयास किया। यह आवश्यक है कि अन्य राज्यों में भी बहु उद्देश्यीय समितियाँ अधिक संख्या में

स्थापित की जायें परन्तु इनका उद्देश्य सभी कृषि साख-समितियों को हटाना न होकर उनके अधूरे कार्यक्षेत्र की पूर्ति करना होना चाहिए।

साख समितियों का असीमित उत्तरदायित्व होने के कारण सहकारी आन्दोलन की सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो पाई है जैसा कि बंगाल प्रदेशीय अधिकोषण जाँच समिति ने कहा है "कि गाँवों में ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनकी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति इतनी अच्छी है कि वे इन समितियों के सदस्य बनकर असीमित उत्तरदायित्व का जोखिम उठाना पसन्द नहीं करते हैं।" असीमित उत्तरदायित्व तभी सफल हो सकता है जब जनता की स्थिति समान हो और वह साक्षर भी हो। इसलिए वर्तमान समय में आन्दोलन का और तीव्रता से प्रसार करने के लिये सदस्यों का उत्तरदायित्व सीमित रखने की योजना लागू करना आवश्यक है।

जो समितियाँ स्थापित की जा चुकी हैं और जिनको अभी स्थापित करना है उनका कार्य सुव्यवस्थित रीति से चलाने और उनका विकास करने के लिए (ट्रेनिंग प्राप्त) प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता है। कुछ ही राज्यों के पास शिक्षण-केन्द्र हैं। पूना सहकारी कालेज में अन्य राज्यों के कर्मचारियों को भी शिक्षा दी जाती है। वर्तमान समय में कर्मचारियों की समुचित शिक्षा की उपयुक्त सुविधा नहीं है, इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में कम से कम एक शिक्षण-केन्द्र स्थापित किया जाय।

भारत की सहकारी समितियों की सबसे बड़ी कठिनाई वित्त की है। इनकी वित्तीय स्थिति बहुत नाजुक है। वित्तीय सहायता देने वाली गैर सरकारी संस्थाओं की दृष्टि में इन समितियों का विशेष महत्व नहीं है। इसलिए रिजर्व बैंक के सुझाव के अनुसार यह समितियाँ तभी मान्यता प्राप्त कर सकती हैं जब यह सुरक्षित कोष में अधिक धन रखने की व्यवस्था करें। जब तक इन समितियों का सुरक्षित-कोष शेयर पूँजी के बराबर नहीं हो जाता तब तक लाभांश का कम से कम एक तिहाई भाग प्रतिवर्ष सुरक्षित कोष में जमा कर देना चाहिए। इसके पश्चात् लाभांश का केवल २५ प्रतिशत सुरक्षित कोष में जमा किया जा सकता है। ग्रामों में बचत के साधनों का उपयोग करने के लिये ग्रामीणों में अधिकोषण स्वभाव, का विकास करना चाहिए।

सहकारी आन्दोलन वास्तव में जनता द्वारा प्रेरित आन्दोलन नहीं है। इसका प्रारम्भ बाहर से हुआ। इसी कारण जनता में इसके प्रति उत्साह का अभाव है। राज्य सरकार को अपना कार्य-क्षेत्र इन समितियों के पथ-प्रदर्शन, निरीक्षण तथा थोड़ा नियंत्रण रखने तक ही सीमित रखना चाहिए। राज्य को साक्षरता का प्रसार करना चाहिये और समाचार पत्रों, रेडियो तथा अन्य साधनों

द्वारा सहकारिता के लाभों का जनता में प्रचार करना चाहिए। सहकारी तथा निजी संस्थाओं में श्रेष्ठतर समन्वय की आवश्यकता है।

इन समस्याओं के साथ ही साथ तथा उपभोक्ता समितियों की कुछ विशेष समस्याएँ भी हैं, साख समितियों के सामने अत्यधिक कलातीत ऋणों की समस्या भी है। १९५५-५६ में प्रारम्भिक कृषि साख समितियों के कलातीत ऋण को धनराशि १४·९६ करोड़ रुपया थी जो जून १९५६ के अन्त तक देय ऋणों का २५ प्रतिशत थी। यह स्थिति मुख्यतः उन क्षेत्रों में है जो पिछड़े हुए क्षेत्र कहे जाते हैं। इसका सामान्य कारण पक्षपात और भ्रष्टाचार है।

कुछ राज्यों में, मुख्यतः हिमांचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश में, सहकारी समितियों की ब्याज की दर ९ से १२½ प्रतिशत तक है। यह दरें बहुत अधिक हैं। इन दरों को भी अन्य राज्यों की दरों के समान करने की आवश्यकता है।

नियन्त्रण की समाप्ति के उपरान्त गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ बहुत कठिनाइयों का सामना कर रही हैं और व्यक्तिगत व्यापारी की तुलना में कार्य संचालन व्यय अधिक होने के कारण कुछ समितियाँ तो बन्द भी हो चुकी हैं। कार्य-संचालन व्यय कम करने के लिए इन समितियों के कार्य क्षेत्र में वृद्धि करने तथा इनको और अधिक कार्य-कुशल बनाने की आवश्यकता है। यदि थोक बिक्री के स्टोर स्थापित किए जायें और उनकी पूँजी तथा सुरक्षित कोष में वृद्धि की जाय तो इनकी स्थिति सुधर सकती है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—विभिन्न प्रदेशों के सहकारी विभाग के मन्त्रियों की सभा ने जो कि १९५५ में हुई थी यह सुझाव दिया कि "१५ वर्ष के अन्दर गाँवों में व्यापार की व्यवस्था सहकारिता के आधार पर इस प्रकार की हो जानी चाहिये कि साख विक्रय तथा विधायन इत्यादि जैसे सब व्यापार का कम से कम ५० % कार्य सहकारी समितियों के द्वारा होने लगे। इस के लिये प्रारम्भिक कृषि साख समितियों के सदस्यों की संख्या द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक ५० लाख से बढ़ाकर १५० लाख कर देनी चाहिये और अल्पकालीन ऋण की राशि ३० करोड़ रुपये से बढ़ाकर १५० करोड़ रु०, मध्यम कालीन ऋण की राशि १० करोड़ रुपये से बढ़ाकर ५० करोड़ रुपये तथा दीर्घकालीन ऋण की राशि ३ करोड़ रुपये से बढ़ाकर २५ करोड़ रुपये कर देनी चाहिये।"

उपर्युक्त सुझाव के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विस्तृत योजना की रूपरेखा बनाई गई है। भारत सरकार के कृषि तथा अन्य विभाग ने इस सम्बन्ध में कानून बनाकर तैयार कर रक्खे हैं जिनकी सहायता से केन्द्रीय और

प्रदेशीय गोदामों की व्यवस्था सम्भव हो सकेगी। इन गोदामों का स्थान भी सोच लिया गया है।

भारत में सहकारी आन्दोलन का भविष्य बहुत उज्जवल है क्योंकि सहकारी राष्ट्र का संगठन करना हमारा घोषित उद्देश्य है। भारत की पिछड़ी हुई आर्थिक स्थिति के अनेक दोषों को सहकारिता के आधार पर संयुक्त प्रयत्न करने से दूर किया जा सकता है। सहकारी आन्दोलन के कार्यक्षेत्र का विकास करने के लिये बहु उद्देश्यीय सहकारी समितियों की स्थापना पर अधिक महत्व देने की आवश्यकता है। पूंजी-निर्माण तथा ग्रामीण जीवन के सुधार के लिये सहकारी समितियों पर योजना आयोग ने जोर दिया है। कृषि के अर्थ प्रबन्धन के साधन के रूप में भी सहकारी आन्दोलन पर भरोसा किया गया है।

अध्याय १३

सहकारी विक्रय

उत्पादन स्वतः लक्ष्य नहीं है। जो कुछ वस्तु उत्पादित की जाती है या जो कुछ उत्पादन किया जाता है अन्ततः उसे उपभोक्ता के पास पहुँचना चाहिये। उत्पादक से उपभोक्ता तक वस्तु पहुंचने की साधन बाजार होता है। इसके लिये कई स्थितियाँ पार करनी पड़ती हैं और इसमें अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। सभी उत्पादित वस्तु के साथ एक सा व्यवहार नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं के अपने विशेष गुण होते हैं, जैसे कुछ वस्तुएँ काफी स्थूल, भारी तथा शीघ्र नष्ट होने वाली होती हैं और छोटे-छोटे उत्पादक विस्तृत क्षेत्र में उनका उत्पादन करते हैं। इसी प्रकार कुछ वस्तुएँ हल्की, शीघ्र न होने वाली और सस्ती होती हैं। इनका उत्पादन बहुत कम लोग करते हैं। इनवस्तुओं के विक्रय के लिये विभिन्न काम करने पड़ते हैं। उनको एक स्थान में एकत्र किया जाता है, उनके लिये गोदाम की व्यवस्था की जाती है, इनका क्रमबन्धन और प्रमापीकरण किया जाता है, यातायात की व्यवस्था की जाती है, आर्थिक सहायता का प्रबन्ध किया जाता है और विक्रय के लिये बातचीत चलाई जाती है, इत्यादि इस प्रकार विक्रय व्यवस्था के लिये विशेषज्ञों और कुशल व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।

कुशल विक्रय की आवश्यक बातें—विक्रय व्यवस्था उत्तम तभी कहला सकती है जब उत्पादक को उत्पादित वस्तु का अधिकतम मूल्य मिल सके, वस्तु के रखने इत्यादि मे निम्नतम व्यय करना पड़े और उपभोक्ता को दिये हुये मूल्य के बदले मे उचित प्रकार का सामान मिले।

यदि वस्तुओं का क्रम बन्धन और प्रमापीकरण किया गया हो तो उत्पादक को सर्वोत्तम मूल्य मिल सकता है। अधिकतम लाभ उठाने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादक यथा समय उचित स्थान पर उसे बेचे। इसके लिये उत्पादक को वित्त सम्बन्धी तथा बाजार की परिस्थितियों का ज्ञान होना चाहिये।

विक्रय की दृष्टि से सामान को बरतने (handling) की लागत न्यूनतम करने की दृष्टि से सचार तथा परिवहन के साधन सस्ते और अच्छे होने चाहिये। दलालों की सख्या को न्यूनतम कर दिया जाय क्योंकि दलालो के बढ़ने से लागत तथा परिणामत: मूल्य भी बढ़ जाता है। इसके साथ ही वस्तु को नष्ट होने से

हैसियत से १,८३,५७३ रु० का तथा अभिकर्ता की हैसियत से १,१०५ रु० का सामान बेचा। उत्पादन तथा विक्रय (गैर कृषीय) समितियों की संख्या ११,५२४ तथा सदस्य संख्या ६'३ लाख थी। इन्होंने २२६, ६२१ रु० का सामान मालिक की हैसियत से और ८७४८ रु० का सामान अभिकर्ता (एजेन्ट) की हैसियत से बेचा।

शीर्ष संस्थायें—भारत में सहकारी विक्रय-व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष शीर्ष संस्थाओं का अभाव रहा है। १९५५-५६ में १६ राज्यीय विक्रय संघ थे। इनकी व्यक्ति-सदस्यता की संख्या ४०१४ तथा समिति सदस्यता की संख्या ३५३५ थी। इन्होंने ३३, १७७ रु० का सामान मालिक की हैसियत से तथा ५२७१४ रु० का सामान अभिकर्ता की हैसियत से बेचा। इन १६ संघों में से कुर्ग में ४, दिल्ली में ३, उत्तर प्रदेश तथा हैदराबाद प्रत्येक में २, तथा बम्बई, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, जम्मू और काश्मीर, मैसूर, पैप्सू, हिमालय प्रदेश और मनीपुर—प्रत्येक में एक संघ था। अधिकतर राज्यों में केन्द्रीय विक्रय संघ थे। १९५५-५६ में ऐसे संघों की संख्या २३५४ थी। (इनकी व्यक्ति सदस्यता १८ लाख तथा समिति सदस्यता ४५,३६५ थी इन्होंने १३ लाख रु० का सामान मालिक की हैसियत से तथा ३.३ लाख रु० का सामान अभिकर्ता की हैसियत से बेचा।) इनमें से २१५३ उत्तर प्रदेश में, ७० बिहार में, ४४ राजस्थान में, सौराष्ट्र तथा हिमांचलप्रदेश-प्रत्येक में २६, तथा बम्बई में १६ थे। *अंशतः गन्ने के संघों के कारण केन्द्रीय विक्रय संघों केन्द्रीकरण* उत्तर प्रदेश में है। कुछ राज्यों में कोई विक्रय संघ नहीं था।

विभिन्न राज्यों में शीर्ष संस्थाएं स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के कार्य करती हैं। "बम्बई की राज्यीय सहकारी समिति फल, सब्जी, नियमित पदार्थ, चीनी, कृषि की आवश्यकता की वस्तुएँ तथा खाद्य-तैल आदि की व्यापार करती है। वह राज्य में सल्फेट अमोनिया की एक मात्र वितरक है। समिति ने विक्रय-ज्ञान-सेवा भी चला रखी है तथा प्रति माह एक बुलेटिन निकलती है जिसमें हर सप्ताह के अन्त में प्रमुख कृषि पदार्थों के प्रचलित भाव दिये जाते हैं।" मैसूर की प्रान्तीय सहकारी विक्रय समिति खाद, शहद, चन्दन को लकड़ी का सामान तथा अन्य अनेक सामान खरीदने और बेचने का काम करती है। उड़ीसा की प्रान्तीय सहकारी विक्रय समिति कुटीर उद्योगों तथा वन की छोटी-मोटी उत्पत्तियों के विक्रय का कार्य करती है।

इन शीर्ष संस्थाओं में सबसे बड़ी और सुसगठित उत्तर प्रदेश की विक्रय संस्था अर्थात् सहकारी विकास तथा विक्रय संघ है। उत्तर प्रदेश की इस शीर्ष संस्था ने विशेष उन्नति की है, पर दुर्भाग्य वश इसका कार्य ऐसी वस्तुओं से

सम्बन्धित रहा है जिनकी गणना कृषि उत्पत्ति में नहीं की जा सकती। इसके कारण कृषकों को आशानुरूप लाभ नहीं पहुँच सका है। इन संस्थाओं द्वारा जो कार्य किये गये हैं उनमें अच्छे बीज, खाद तथा कृषि सम्बन्धी मशीन और औजार का वितरण, शिकोहाबाद में घी परीक्षण तथा क्रमबन्धन के केन्द्र का संचालन, जड़ी बूटियों का विक्रय तथा विकास, विधावगंज की लाख फैक्ट्री को आर्थिक सहायता पहुँचाना, तथा बम्बई में एक कुटीर उद्योगों की उत्पत्ति के प्रदर्शन गृह का संचालन आदि हैं। भविष्य में संघ के कार्यक्रम में इस बात का प्रयत्न है कि (क) सबसे उत्तम प्रकार के बीजों को अपने कोष में संचित करे और आगामी ३ वर्ष के अन्दर सारे प्रान्त में उनकी भरमार कर दे, (ख) परिदत्त पूँजी की मात्रा बढ़ाकर २५ लाख रुपए कर दे; और (ग) कृषि-उत्पत्ति के विक्रय पर विशेष ध्यान दे।

शीर्ष संस्थाओं की कार्य प्रणाली की तीन विशेषताएँ हैं (१) इनकी सदस्यता सहकारी समितियों तक ही सीमित नहीं है। राज्यीय संघों में व्यक्ति सदस्यों की संख्या कुल सदस्यों की एक तिहाई है और केन्द्रीय संघों में व्यक्ति सदस्यों की संख्या समितियों की सदस्य संख्या की छः गुनी है। व्यक्ति सदस्यों का बाहुल्य कुछ अस्थिरता उत्पन्न करता है; (२) परिदत्त हिस्सा पूँजी और इन संघों का निजी कोष मिलाकर चालू पूँजी का एक बहुत छोटा अंश है। इससे भी इनके कार्य में अस्थिरता आती है; (३) इन संस्थाओं का और विशेषकर केंद्रीय संघों का प्रबन्ध व्यय बहुत अधिक है। सहकारी विक्रय को प्रभावपूर्ण मितव्ययी बनाने के लिये इन दोषों का सुधार आवश्यक है।

प्रारम्भिक समितियाँ—कृषि उत्पत्ति का क्रय-विक्रय करने के लिए प्रारम्भिक कृषीय गैर-साख तथा गैर-कृषीय गैर साख समितियाँ हैं। परन्तु इनका प्रत्येक राज्य में समान रूप से विकास नहीं हुआ है। जहाँ तक कृषि उत्पत्ति और विक्रय का सम्बन्ध है बिहार, पश्चिमी बंगाल, मद्रास और आंध्र अग्रगामी थे तथा आसाम, उड़ीसा और राजस्थान पिछड़े हुये थे। परन्तु गैर-कृषि तथा साख समितियाँ एक भिन्न चित्र अंकित करती हैं। आसाम, बम्बई, मद्रास और मध्य-प्रदेश में क्रय-विक्रय समितियों में अग्रगामी थे। जब कि पश्चिमी बंगाल, बम्बई, मद्रास, आन्ध्र और राजस्थान उत्पत्ति और विक्रय समितियों में अग्रगामी थे। गैर-कृषि गैर-साख समितियों में उत्तर प्रदेश, हिमांचल प्रदेश और कुर्ग की स्थिति पिछड़ी हुई है।

ये समितियाँ या तो उत्पादकों से माल खरीद कर विक्रय करती हैं, या उत्पादकों में एजेन्ट के रूप में कार्य करती हैं जिससे दलालों की संख्या घट जाती

है। कहीं कहीं पर ये समितियाँ कारखाने तथा दुकानें चलाती हैं और इस प्रकार माल का उत्पादन तथा विक्रय करती हैं। वे उन उत्पादकों को ऋण तथा अन्य सुविधायें प्रदान करती हैं जिनसे वे माल खरीदती हैं। उनका कार्य क्षेत्र माल विक्रय करने तक ही सीमित नहीं है वरन् वे उत्पादकों में सक्रिय रूप से सहायता देती हैं। ये समितियाँ कभी केवल एक वस्तु का ही क्रय-विक्रय करती हैं और कभी अनेकों का। बहुउद्देशीय समितियाँ, जिनका दिन प्रतिदिन अधिक प्रचार होता जा रहा है, अपने विभिन्न कार्यों के साथ ही साथ कृषि उत्पत्ति तथा अन्य वस्तुओं के क्रय विक्रय का भी कार्य करती हैं। यह कहा जा सकता है कि बहुउद्देशीय समितियाँ अपने सदस्यों की लगभग सभी कृषि-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं और राज्य के गाँवों के आर्थिक जीवन में बहुत अधिक हाथ बँटाती हैं। ये समितियाँ कृषि उत्पत्ति की बिक्री में अधिकाधिक कार्य कर रही हैं और अधिकांश राज्यों में वर्तमान हैं।

सबसे अधिक महत्वशाली एकोद्देशीय सहकारी विक्री समितियाँ उत्तर प्रदेश और बिहार में गन्ने की, बम्बई में रुई और फलों की, मैसूर में इलायची और नारियल की और कुर्ग में इलायची, शहद और नारंगियों की हैं। ये समितियाँ निम्न कार्य करती हैं।

(१) यह समितियाँ अपने सदस्यों से कृषि सामग्री और कुटीर उद्योगों में उत्पादित माल लेकर उनका क्रमबन्धन और प्रमाणीकरण करती हैं और विक्रय के लिए अपने सहकारी संघों को दे देती हैं।

(२) यह मितियाँ उत्पादित माल के बदले अपने सदस्यों को ऋण देती हैं परन्तु धन का अभाव और गोदामों की उचित व्यवस्था न होने के कारण इस कार्य में समितियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(३) सामान बेचने के लिए यह समितियाँ उत्पादकों के एजेन्टों का भी कार्य करती हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार की गन्ना-समितियाँ केवल यही कार्य करती हैं। गत कुछ वर्षों में अनाज वसूली के लिए कुछ समितियों ने सरकार के एजेन्टों के रूप में कार्य किया।

(४) उत्पादन और विक्रय समितियों का यह कार्य है कि अच्छे प्रकार के माल का उत्पादन करें। अन्य समितियाँ अपने सदस्यों को अच्छे माल का उत्पादन करने में सहायता देती हैं।

(५) मद्रास की कुछ समितियों ने विक्रय के साथ ही ऋण तथा अन्य सुविधाएँ देने की भी व्यवस्था कर रखी है। कृषि साख समितियाँ इस शर्त पर

सदस्य कृषक को मुख्य प्रकार की फसलें उगाने को ऋण देती हैं कि फसल तैयार हो जाने पर वही उसका विक्रय करेंगी।

(६) स्कूल तथा पुस्तकालय चला कर तथा अस्पताल और सड़कों का निर्माण करके यह समितियाँ समाज सेवा का कार्य भी करतीं हैं।

लाभ (Advantages)—सहकारी विक्रय समितियों ने कृषि विक्रय-व्यवस्था के अनेक दोषों को दूर कर दिया है।

(क) इनसे दलालों की संख्या कम हो गई है। दलालों की लम्बी शृङ्खला में से कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया और थोक व्यापारी प्रायः समाप्त हो गये हैं। यह समितियाँ उत्पादकों से स्वयं माल क्रय कर सीधे उपभोक्ताओं को बेच देती हैं। इस रीति मे विक्रय व्यवस्था के व्यय में कमी होती है किन्तु उतनी नहीं हुई जितनी होनी चाहिये थी।

(ख) यह समितियाँ छोटे उत्पादकों को वित्तीय सहायता देती हैं और विशेषज्ञ-परामर्श देती रहती हैं जिससे वह छोटे व्यापारियों के धोखे से बच जाते हैं। उत्पादित माल के विक्रय तथा उसकी देख भाल में होने वाली समय और शक्ति की बरबादी भी बच जाती है। इन समितियों ने कुटीर उद्योगों के माल को कुशलता पूर्वक और सस्ते मूल्य मे बेचने का प्रबन्ध करके उद्योग के लिए बहुत कुछ किया है।

(ग) उपभोक्ताओं को भी इन समितियों से बहुत लाभ होता है। उन्हें इनसे अच्छे प्रकार का माल मिल जाता है क्योंकि समितियाँ उनका उचित रीति से क्रम बन्धन तथा परीक्षण करती हैं। इसके साथ ही यह समितियाँ अच्छा सामान तैयार करने तथा मिलावट रोकने मे वह साधक बन जाती हैं। इस दिशा मे घी और दूध की सहकारी समितियों ने काफी सफलता प्राप्त की है।

प्रारम्भिक कृषि क्रय-विक्रय समितियाँ तथा उत्पादन और विक्रय समितियाँ सीमित व्यापार करती हैं, पर गैर कृषि क्रय विक्रय समितियाँ, यद्यपि इनका कार्य क्षेत्र सीमित है, फिर भी अधिक कार्य करती हैं। शीर्ष संस्थाओं के तरह इन दोनों प्रकार की समितियों की, परिदन्त हिस्सा पूँजी चालूपूँजी का एक तिहाई ही है और प्रबन्ध व्यय भी बहुत अधिक है। इसके कारण इनका कार्य अस्थिर है। युद्ध काल मे विशेष परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर इन समितियों को गत वर्षों में लाभ भी हुआ था, पर परिस्थिति बदल जाने से और कार्य कम हो जाने से प्रारम्भिक कृषि और गैर कृषि गैर साख समितियो दोनों को हानि उठानी पड़ी। भविष्य में इन समितियों के कार्य प्रणाली में परिवर्तन करना पड़ेगा ताकि ये लाभप्रद सिद्ध हो सकें।

भविष्य—सहकारी विक्रय गैर-साख सहकारी समितियों में सबसे महत्वपूर्ण है। ऊपर कहा जा चुका है कि सहकारी साख की तरह इनकी शुण्डाकृति है। "यह ढाँचा ऋण समितियों की भाँति न सुनिर्मित ही है और न एक दूसरे से सम्बन्धित ही है। संस्था की प्रत्येक इकाई अपने-अपने स्थान पर स्वतंत्र रूप से कार्य करती है। नीचे की इकाइयों का प्रायः ऊपर की इकाइयों से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसीलिये ऊपर की इकाइयाँ नीचे की इकाइयों को कोई विशेष सहायता भी नहीं देतीं। उदाहरण स्वरूप राज्यीय संस्थायें नीचे की इकाइयों की प्रतिनिधि अथवा आढ़तियों की तरह कार्य नहीं करतीं वरन् वे एक स्वतंत्र व्यापारिक एजेन्सी की तरह कार्य करती हैं"। पर यदि इनकी ओर उचित ध्यान दिया गया तो हम कह सकते हैं कि हमारे देश में सहकारी विक्रय समितियों का भविष्य बहुत उज्जवल है। हमारे देश में सहकारी राष्ट्र (Cooperative Commonwealth) की स्थापना होने से सहकारी क्रय विक्रय समितियों को विशेष महत्व के कार्य करने पड़ेंगे। पर उसमें कुछ कठिनाइयाँ हैं जिन्हें दूर करना होगा।

(१) निजी व्यापारी इन समितियों का विरोध करते हैं और इनके सामान के विक्रय में रुचि नहीं दिखलाते। उदाहरणस्वरूप कर्नाटक के व्यापारियों ने सहकारी विक्रय समितियों द्वारा दिये गये कपास को क्रय करने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार के विरोध का प्रायः सभी समितियों को सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों को तभी दूर किया जा सकता है जब इन्हें सरकार की ओर से और अधिक सहायता दी जाय तथा इन समितियों का बहुमुखी विकास किया जाय। इन समितियों का कार्य-क्षेत्र और विस्तृत करना चाहिए जिससे कुटीर उद्योग के उत्पादन का विक्रय कार्य इनके कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाय। इसके साथ ही १९५२ के प्रथम भारतीय सहकारी सम्मेलन के सुझाव के अनुसार राज्य द्वारा व्यापार का कार्य बन्द कर दिया जाय और इस अभाव की पूर्ति करने के लिए सहकारी समितियों को यह कार्य सौंप दिया जाय। राज्य-व्यापार-जाँच समिति ने सिफारिश की है कि "जब कभी उत्पादक घरेलू व्यापार अथवा विदेशी व्यापार के लिए परस्पर मिलकर सहकारी समितियाँ संगठित करें तो सरकार को उन्हें यथासंभव सहायता और प्रोत्साहन देना चाहिए।"

(२) भारत में विक्रय सहकारी समितियों को प्रायः धन के अभाव का सामना करना पड़ता है क्योंकि इनकी हिस्सा पूँजी बहुत कम होती है। उदाहरणार्थ उड़ीसा और हिमाचल प्रदेश की शीर्ष विक्रय सहकारी समितियों की हिस्सा पूँजी क्रमशः १४,०९० और १३,४९० रुपया है। यह पूँजी बहुत छोटे पैमाने पर विक्रय

करने के लिए भी कम है। इन समितियों को अपना कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए दीर्घकालीन और अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकता है। यदि यह समितियाँ अपनी हिस्सा पूँजी में वृद्धि कर लें तो दीर्घकालीन पूँजी प्राप्त हो सकती है। मशीनों तथा अन्य प्रकार के सामान क्रय करने के लिए केन्द्रीय तथा राज्यीय औद्योगिक वित्तीय निगमों से दीर्घकालीन पूँजी की सहायता लेनी चाहिए। जिन राज्यों में औद्योगिक वित्तीय निगम नहीं हैं वहाँ इनकी स्थापना की जानी चाहिए। इसके साथ ही भारत में लाइसेन्स प्राप्त गोदामों (Warehouses) का विकास करने की आवश्यकता है जिससे यह समितियाँ इन गोदामों में जमा किये गये अपने सामान के बदले में भारतीय रिजर्व बैंक कानून की धारा १७ (४) (घ) के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक से ऋण ले सकें। यह खेद की बात है कि बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, मैसूर और त्रिवांकुर-कोचीन की सरकारों द्वारा आवश्यक कानून बना लिये जाने के पश्चात् भी भारत में कहीं ऐसे लाइसेन्स प्राप्त गोदामों की व्यवस्था नहीं की गई है।

(३) जो विक्रय समितियाँ इस समय प्रचलित हैं उनमें शिक्षित, ईमानदार और अनुभवी कर्मचारियों का अभाव है, इन समितियों में अफसरी का बोलबाला है। इससे कार्य में देर और हानि होती है। इन समितियों में कार्य को सुचारु रूप से संचालन करने के लिए अनुभवी कर्मचारियों को नियुक्त करना चाहिए जिससे अनावश्यक और अकुशल कर्मचारियों को अलग करके समिति का व्यय कम किया जा सके। सबसे छोटी समिति में कम से कम तीन कर्मचारी होते हैं— मैनेजर, सामान तौलनेवाला और चौकीदार—जब कि निजी व्यापारी यह तीनों कार्य स्वयं कर लेता है। इससे समितियों की कार्य-क्षमता कम तथा लागत अधिक हो जाती है।

(४) विक्रय करने वाली सहकारी समितियों को गोदामों की उचित सुविधा प्राप्त नहीं है। बहुत सी समितियों के अपने गोदाम नहीं हैं और उन्हें बहुत अधिक किराये पर गोदाम लेने पड़ते हैं। शीघ्र नष्ट हो जाने वाले सामानों को रखने के लिए समितियों के पास कोई साधन नहीं हैं। राज्य सरकारों को गोदाम बनाने में इन समितियों की सहायता करनी चाहिए और गोदाम निर्माण के कुल व्यय ५० प्रतिशत स्वयं देना चाहिए। इस कार्य के लिए सहकारी गृह निर्माण समितियों से भी ऋण का प्रबन्ध करना चाहिए। यदि गोदामों की स्थापना से समितियों को सामान रखने की कठिनाइयाँ बहुत कम हो जायेंगी।

(५) अनेक राज्यों में राज्य के बाहर देश के अन्य भागों में बेचने के लिए शीर्ष संस्थायें नहीं है। यदि कहीं ऐसी संस्थायें कार्य करती है तो वह केवल विक्रय

समिति संघ के रूप में कार्य नहीं करतीं बल्कि विक्रय समितियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी इसके सदस्य बन सकते हैं। अन्य लोगों को भी सदस्य बनाने के कारण विरोधी हितो का संघर्ष आरम्भ हो जाता है जिससे यह समितियाँ सरलता से कार्य नहीं कर सकती हैं और इन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसलिए जिन राज्यों में अभाव है वहाँ इस प्रकार की सर्वोच्च समितियों का निर्माण करना आवश्यक है। जहाँ तक संभव हो सके इन समितियों को संघ-समिति के रूप में संगठित करना चाहिए। ऐसी वस्तुओं के विक्रय के लिए जिनका उत्पादन एक राज्य में होता है और उपभोग दूसरे राज्य में किया जाता है अन्तर्राज्यीय क्रय-विक्रय समितियों का संगठन करना आवश्यक है।

(६) वर्तमान समय में इन समितियों के हित सुरक्षित नहीं हैं क्योंकि व्यापारी संघों में इनका प्रतिनिधित्व नहीं है जिसकी वजह से एक समान कार्यक्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता और इनके दोषों को संगठित रूप में दूर किया जा सकता है। इन व्यापारी संघों में इनका उचित प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है।

यह उचित ही कहा गया है कि कम से कम व्यय पर उत्पादकों की अधिक से अधिक सेवा करने की क्षमता पर ही इन विक्रय समितियों की सफलता निर्भर करती है। यह पुनः विधायन क्रियाओं, गोदामों की सुविधा, वित्तीय सहायता और सबसे अधिक समितियों के ईमानदार, योग्य और कुशल कर्मचारियों पर निर्भर करता है। ये ही बातें हैं जिनका सहकारी विक्रय समितियों में अभाव है।

अध्याय १४

सहकारी कृषि

उत्तम कृषि करने का उद्देश्य कम से कम व्यय पर अधिकतम उत्पादन करना है। उसके लिये यह आवश्यक है कि कृषि के आधुनिक उपायों की सहायता से कृषि सं-साधनों का अत्युत्तम उपयोग किया जाय। कृषकों के पास बहुत कम भूमि होने और उसके छोटे-छोटे भागों में विभक्त होने के कारण भारत में प्रति एकड़ उत्पादन की मात्रा कम है। उत्पादन में कमी के अन्य कारण उचित प्रकार की खाद का अभाव, घटिया प्रकार के बीज, सिंचाई की उपयुक्त सुविधा का अभाव तथा प्राचीन उपायों से कृषि करना है। प्रति एकड़ भूमि की उत्पादन मात्रा में वृद्धि करने के लिये फार्म में कृषि के उपायों में सुधार करना आवश्यक है।

कृषि प्रणालियाँ—कृषि की कम से कम पाँच प्रणालियाँ हैं—

(१) व्यक्तिगत कृषि व्यवस्था—यदि कोई व्यक्ति अकेले अपनी ही भूमि पर या किराये की भूमि पर अपने ही साधनों से कृषि करता है तो उसे व्यक्तिगत कृषि प्रणाली कहा जाता है। कृषक बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपनी इच्छानुसार सम्पूर्ण कार्य का संचालन करता है। भारत में इस कृषि प्रणाली का ही अधिक प्रचलन है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि व्यक्ति के साधन बहुत सीमित होते हैं इसलिए वह इन सीमित साधनों द्वारा कृषि क्षेत्र में विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार की प्रणाली का प्रचलन होतेहुये कृषि के आधुनिक उपायों का प्रयोग कर सकना बहुत कठिन है और बड़े पैमाने पर कृषि करने का लाभ उठा सकना तो असम्भव है।

(२) निगम-कृषि (Corporate farming)—इस प्रणाली के अन्तर्गत कृषि कार्य संचालन के लिये एक निगम व्यवस्था या ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनी स्थापित की जाती है। इसके सभी सदस्यों का उत्तरदायित्व सीमित होता है। लाभांश को कुल पूँजी के अंशों या शेयरों के आधार पर विभाजित किया जाता है और इनकी व्यवस्था संचालक मण्डल करता है। इस प्रकार की कार्य के लिये बहुत अधिक भूमि और काफी मात्रा में धन की आवश्यकता होती है। यह प्रथा अधिकतर अमेरिका में प्रचलित है। भारत में बम्बई, मद्रास तथा मैसूर में इस प्रथा से कृषि की जाती है। इस प्रणाली से वही लाभ होते हैं जो बड़े पैमाने पर कृषि करने से सम्भव हैं। भूमि और धन के अभाव के कारण यह प्रणाली भारत के लिये उपयुक्त नहीं है।

(३) सामूहिक कृषि व्यवस्था—सामूहिक कृषि व्यवस्था में कृषि साधनों पर अनेक व्यक्तियों के एक समूह का अधिकार होता है। वे संयुक्त होकर कृषि की व्यवस्था करते हैं और कृषि के सामूहिक रूप से अधिकारी भी होते हैं। सामुहिक कृषि के तीन रूप हैं:—(अ) कृषि के साधनों पर पूरे समूह का अधिकार हो परन्तु कृषि व्यक्तिगत रूप में की जाती हो, (ब) सामुहिक कृषि के साथ ही रहने और खाने पीने का भी सामूहिक रूप से प्रबन्ध हो, और (स) भूमि पर पूर्णतया समाज का अधिकार हो और कृषि का कार्य संयुक्त प्रबन्धक मंडल चलाता हो। इस प्रणाली से अनेक लाभ हैं परन्तु यह जनतन्त्र के उपयुक्त नहीं हैं।

(४) राजकीय कृषि व्यवस्था—इस व्यवस्था के अनुसार फार्म पर राज्य का अधिकार होता है और वही उसकी व्यवस्था करता है। इस प्रकार के फार्मों में वेतन भोगी कर्मचारियों द्वारा कृषि कराई जाती है। उत्तर प्रदेश तथा अन्य राज्यों में कुछ राजकीय फार्म हैं जिनमें खोज कार्य किया जाता है और मशीनों के द्वारा कृषि की जाती है। जहाँ नई भूमि कृषि के योग्य बनाई गई है वहां भी कुछ राजकीय फार्म स्थापित किये गये हैं। इन फार्मों को मुख्यतः कृषि की नई प्रणालियों तथा मशीनों के उपभोग का प्रदर्शन करने के कार्य में लाया जा सकता है।

(५) सहकारी कृषि व्यवस्था—आई० सी० ए० आर० (१९४९) की सलाहकार परिषद् के स्मृति पत्र के अनुसार सहकारी कृषि समिति एक ऐसी समिति है जिसमें प्रत्येक कृषक को अपनी भूमि पर पूर्ण अधिकार होता है परन्तु कृषि संयुक्त रूप से की जाती है। सहकारी कृषि की मुख्य विशेषताएँ हैं : (अ) भूमि के विभिन्न भागों को सम्मिलित कर एक इकाई का रूप दे दिया जाता है, (ब) प्रत्येक सदस्य को अपनी भूमि पर पूर्ण अधिकार होता है, (स) भूमि का प्रबन्ध संयुक्त रूप से चलाया जाता है, (द) सदस्यों को उनके कार्य का पारिश्रमिक दिया जाता है और (य) कुल लाभाँश में से सुरक्षित कोष का अंश निकाल लेने के पश्चात् शेष सदस्यों में विभाजित कर दिया जाता है। सहकारी कृषि व्यवस्था फिलिस्तीन में बहुत लोकप्रिय है परन्तु भारत में अभी इस ओर प्रयोग किये जा रहे हैं। सहकारी कृषि समितियों को विभिन्न रूपों में सरकारी सहायता दी जाती है। इन समितियों पर कर कम लगाया जाता है, बीज क्रय करने के लिये ऋण दिया जाता है, रियायती मूल्य पर खाद तथा कृषि के अन्य औज़ार दिये जाते हैं और बिना लाभाँश में भाग लिये हिस्सा पूँजी में सरकार अपनी ओर से कुछ रुपया देती है। हिस्सा-पूँजी में जो रुपया दिया जाता है उसका भुगतान ब्याज सहित किश्तों में किया जा सकता है।

सहकारी कृषि के प्रकार

सहकारी कृषि के निम्नलिखित चार प्रकार है—

(१) सहकारी संयुक्त कृषि—इस प्रकार की समितियाँ अपने सदस्यों की छोटी मोटी भूमि को एक बड़ी इकाई में परिणत करती हैं परन्तु प्रत्येक सदस्य का अपनी भूमि पर पूर्ण अधिकार होता है। समितियाँ नई भूमि क्रय कर सकती है या पट्टे में ले सकती हैं, जैसा कि बम्बई की सहकारी कृषि समिति ने सुझाया है, परन्तु यह वास्तव में सहकारी संयुक्त कृषि-व्यवस्था और सहकारी सामुहिक कृषि व्यवस्था का मिश्रण मात्र है। यह समिति स्वयं इस प्रकार फार्म में कृषि और अन्य प्रबन्ध करती है। इस प्रकार की कृषि से बड़े पैमाने पर कृषि करने के प्रायः सभी लाभ उठाये जा सकते हैं। भूमि के छोटे-छोटे भागों में विभक्त होने तथा आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त भाग की समस्याओं को भी इस कृषि प्रणाली से सुलझाया जा सकता है। परन्तु भारतीय कृषक रुढ़िवादी और परम्पराभक्त है, इसलिए यह प्रणाली भारत में आशानुरूप लोकप्रिय नहीं हो सकी है।

(२) सहकारी श्रेष्ठतर कृषि व्यवस्था—इस प्रकार की समितियों का उद्देश्य कृषि करने के उपायों मे सुधार करना है। कृषक अपनी भूमि के अधिकारी होते हैं और अपनी भूमि का प्रबन्ध भी स्वय करते हैं। समिति का कार्य इन कृषकों को अच्छा बीज देना, खाद तथा अन्य कृषि-औजारों के साथ ही सिंचाई भंडार की सुविधा देना है। ये समितियां अपने सदस्यों द्वारा उत्पादित माल को एकत्र करके उसको सफाई और कमबन्धन के बाद विक्रय की व्यवस्था करती हैं। इस प्रकार की भूमि से भी बड़े पैमाने पर की गई कृषि के कुछ लाभ उठाये जा सकते हैं, जैसे कृषि के लिए मशीनों का उपयोग किया जा सकता है और उत्पादित माल के विक्रय की व्यवस्था की जा सकती हैं। परन्तु इस स्थिति मे भी फार्म छोटे और भिन्न-भिन्न भागो मे विभक्त रहते हैं। इस कारण बड़े पैमाने पर की गई कृषि के सभी लाभ नहीं उठाये जा सकते। इस प्रणाली को उन क्षेत्रों में प्रारम्भिक रूप में लागू किया जा सकता है जहाँ कृषक अपनी भूमि सहकारी समिति को देने का लिये प्रस्तुत न हो। उत्तर प्रदेश की गन्ना समितियाँ इस प्रणाली के अनुसार कार्य करती हैं और उनका कार्य काफी संतोषजनक रहा है।

(३) सहकारी आसामी कृषि व्यवस्था—इन समितियों के पास या तो अपनी निजी भूमि होता है या ये भूमि पट्टे पर ले लेती हैं परन्तु कृषि स्वयं नहीं करतीं। इस प्रणाली के अन्तर्गत भूमि को कई खण्डों मे विभक्त करके प्रत्येक खण्ड एक कृषक को दे दिया जाता है। कृषक को समिति द्वारा निर्धारित योजना के अनुसार कृषि करनी पड़ती है। समिति अपने सदस्यों को कृषि के लिये बीज,

औजार और वित्त इत्यादि की सभी सुविधायें देती है। भारत में जहाँ कहीं नई भूमि कृषि योग्य बनाई जा रही है वहाँ इस प्रणाली को लागू किया गया है, जैसे उत्तर प्रदेश की गंगा खादर योजना में। इस योजना में समिति ने कुल भूमि को १० एकड़ के खण्डों में विभक्त किया है जिन्हें कृषकों को पट्टे पर दे रखा है। प्रत्येक समिति के पास इस प्रकार के कम से कम १०० खण्ड हैं। मद्रास में भी इसी प्रकार की एक योजना लागू की जा रही है। वहाँ उपनिवेश समितियाँ स्थापित की गई हैं और भूमिहीन मज़दूरों को भूमि पट्टे पर देने की व्यवस्था की गई है। यह समितियाँ उन्हीं स्थानों पर उपयुक्त सिद्ध हो सकती हैं जहाँ नई भूमि को कृषि के योग्य बनाया जा रहा है।

(४) सहकारी सामूहिक कृषि व्यवस्था—इस प्रणाली के अन्तर्गत समिति ही भूमि की अधिकारिणी होती है अथवा वही भूमि को पट्टे पर लेती है। समिति स्वयं कृषि करती है और हिस्सा पूँजी पर कुछ लाभांश नहीं दिया जाता। सदस्यों को उनके कार्य का पारिश्रमिक दिया जाता है और इसी पारिश्रमिक के अनुपात में बोनस का वितरण होता है। इस समिति का सदस्य समिति से अपना सम्बन्ध विच्छेद करने को स्वतन्त्र है। समिति से पृथक हो जाने पर उसकी पूँजी वापस कर दी जाती है। जहाँ तक उत्पादन और मूल्य निर्धारित करने की नीति का प्रश्न है सरकार इन समितियों के कार्य में बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं करती परन्तु भारत में अभी इस प्रकार की समितियाँ लोकप्रिय नहीं हो सकी हैं।

यद्यपि यह आन्दोलन अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है, फिर भी भारत में सहकारी कृषि के विकास के लिये विस्तृत क्षेत्र पड़ा हुआ है। इसको अधिक लोक प्रिय बनाने का प्रयत्न आवश्यक है। यू० एन० ओ० की खाद्य तथा कृषि संगठन ने इस बात पर सही जोर दिया है कि सहकारी कृषि व्यवस्था कृषक की भूमि, पूँजी और श्रम को सम्मिलित करने का सबसे अच्छा ढङ्ग है। प्रथम भारतीय सहकारी कांग्रेस ने बम्बई में फरवरी १६५२ में यह प्रस्ताव पास किया कि जहाँ कहीं भी सम्भव हो सके और वांछनीय समझा जाय सहकारी कृषि समितियों की स्थापना के लिए प्रदेशों और सहकारी विभागों को सम्यक रूप से प्रयत्नशील होना चाहिये। प्रदेशों में कृषि और सहकारी मन्त्रियों की सभा ने अन्य प्रस्तावों के साथ ही साथ निम्न प्रस्ताव भी पास किये, (१) प्रदेश की सरकारों को सहकारी विभाग के कर्मचारियों तथा अन्य सहकारियों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना चाहिये, (२) सहकारी कृषि समितियों की स्थापना के लिए क्षेत्र चुनते समय निम्न क्षेत्रों को प्राथमिकता देना चाहिये; (क) जहाँ सरकार की ओर से अन्य विकास सम्बन्धी प्रयत्न केन्द्रित है, (ख) जहाँ पर पहले से ही किसी न

किसी प्रकार का सहकारिता के आधार पर कृषि चल रही है, (ग) वे ग्राम जहाँ पर भूमि बहुत छोटे भागों में है और (घ) वे क्षेत्र जो हाल ही में कृषि के अन्तर्गत किये गये हों; और (३) ऐसी समितियों की स्थापना करने में अनावश्यक शीघ्रता नहीं करनी चाहिये और न कृषकों को उनकी इच्छा के विरुद्ध सहकारी कृषि समिति बनाने के लिए बाध्य ही करना चाहिये क्योंकि अभी इस आन्दोलन की यह प्रारम्भिक स्थिति है। हमारा ध्येय तो कृषकों को स्वयं ऐसी सहकारी समितियों का सदस्य बनने के लिये उत्साहित करने का होना चाहिये।

सहकारी कृषि की कठिनाइयाँ—(अ) सहकारी कृषि को लोकप्रिय बनाने में सबसे बड़ी कठिनाई कृषक को सहकारी कृषि के लाभों के प्रति विश्वास दिलाने की है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि सहकारी-कृषि व्यवस्था का प्रचार तथा उसके लाभों का प्रदर्शन करने के लिये सहकारी फार्मों की स्थापना की जाय।

(ब) दूसरा प्रश्न यह है कि सहकारी कृषि-व्यवस्था को अनिवार्य रूप से लागू किया जाय अथवा स्वेच्छा के आधार पर। कांग्रेसी कृषि समिति ने १९४९ में स्वेच्छा के आधार पर सहकारी कृषि का समर्थन किया था परन्तु स्वेच्छा के सफल हो जाने पर यह प्रणाली अनिवार्य रूप से लागू कर देने की सिफारिश की थी। यदि इस प्रकार की समितियाँ अनिवार्य रूप से सङ्गठित की जाँय तो यह सम्भव है कि सदस्य समिति के कार्य में विशेष रुचि नहीं रखेंगे और समितियाँ असफल सिद्ध होंगी। यदि किसी ग्राम के अल्प कृषकों के विपरीत अधिकांश कृषक सहकारी कृषि-फार्म स्थापित करना चाहते हों तो ऐसी दशा में यह प्रणाली अनिवार्य रूप से लागू की जा सकती है। प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में सुझाव दिया गया था कि यदि किसी क्षेत्र के अधिकांश कृषक जिनके पास कुल कृषि की गई भूमि का कम से कम आधा भाग है, सहकारी फार्म स्थापित करना चाहते हैं तो ऐसी वैधानिक सुविधा होनी चाहिये जिसके द्वारा सारे गाँव के लिये सहकारी कृषि समिति स्थापित की जा सके। हम ऊपर बता चुके हैं कि सहकारिता और कृषि के राज्यीय मन्त्रियों की सभा ने यह सिफ़ारिश की थी कि कृषकों को उनकी इच्छा के विरुद्ध ऐसी समितियों का सदस्य बनने के लिये बाध्य नहीं करना चाहिये, उनकी सहायता उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर होनी चाहिये। बाध्य करके बनाये हुये सदस्य भार स्वरूप होते हैं और ऐसी समितियाँ अप्रिय भी हो जाती हैं। इस आन्दोलन के लिये हित की बात यह होगी कि अभी तक कुछ समय तक कृषकों को उनके लिये विवश न किया जाय। जब वे इस प्रकार की व्यवस्था से परिचित हो जायें तब आवश्यकता पड़ने पर उन्हें बाध्य भी किया जा सकता है।

(स) यह कहना संभव नहीं है कि सम्पूर्ण देश के लिये किस प्रकार की सहकारी समिति उपयुक्त होगी। विभिन्न परिस्थितियों में समितियों के प्रकार भी भिन्न होंगे। चाहे किसी प्रकार की समिति स्थापित की जाय इस बात पर प्रमुख रूप से ध्यान देना आवश्यक है कि समिति की सदस्यता स्वेच्छा पर आधारित हो, समिति की व्यवस्था जनतन्त्री ढंग से की जाय और मजदूरों को वास्तविक अतिरिक्त में न्यायोचित भाग दिया जाय।

(द) सहकारी आधार पर कृषि में बड़े पैमाने पर कृषि के लिए मशीनों का उपयोग करने के कारण कुछ मजदूरों के बेरोजगार हो जाने की संभावना है। इस लिए यह समस्या उत्पन्न हो सकती है कि इन मजदूरों के लिए नयी रोजी खोजी जाय।

भारत में सहकारी-कृषि व्यवस्था की समस्याओं को सुलझाने के लिए समय समय पर अनेक सुझाव भी दिये गये हैं—(१) यह विदित है कि भारतीय कृषक अपनी भूमि छोड़ने के लिए शीघ्र तैयार नहीं होता। इसलिए जब कृषक समिति को अपनी भूमि सौंपने के लिए प्रस्तुत न हो तब तक प्रारम्भिक कार्यवाही के रूप में नई भूमि पर सहकारी कृषि की जाय। इस नीति से भारतीय कृषक का ध्यान इस प्रणाली की ओर जायगा और इस ओर प्रयास करने के लिए उसे प्रेरणा मिलेगी। इस नीति से सहकारी कृषि की लोकप्रियता बढ़ेगी; (२) जब तक संयुक्त-सहकारी कृषि संभव नहीं है तब तक सहकारी श्रेष्ठतर कृषि समितियाँ स्थापित की जानी चाहिएँ। इससे धीरे-धीरे सहयोग करने की प्रकृति का विकास होगा; (३) किन परिस्थितियों में किस प्रकार की सहकारी प्रणाली उपयुक्त होगी यह जानने के लिए ऐसे प्रयोगात्मक फार्म स्थापित किये जाने चाहिएँ जहाँ प्रयोग किये जा सकें; (४) सहकारी कृषि का जोरदार प्रचार किया जाना चाहिए और इस प्रणाली के लाभ से जनता को परिचित करने के लिए राज्य को ऐसे फार्म स्थापित करने चाहिएँ जिनमें उपयुक्त प्रदर्शन किया जा सके और जिनके परिणामों को देखकर अन्य कृषक प्रभावित हो सकें।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना म योजना-आयोग ने सहकारी कृषि-व्यवस्था को लोकप्रिय बनाने के कुछ सुझाव दिये हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(अ) प्रत्येक सहकारी-कृषि फार्म के लिए कम से कम भूमि की मात्रा निर्धारित की गई है इसलिए प्रत्येक फार्म के पास न्यूनतम निर्धारित मात्रा से कम भूमि नहीं होनी चाहिए। यह न्यूनतम मात्रा परिस्थितियों के अनुकूल निर्धारित की जा सकती है, उदाहरण स्वरूप एक क्षेत्र में औसत परिवार के भरण

पोषण योग्य भूमि का चार से छः गुना अधिक भूमि होनी चाहिए। सहकारी कृषि-फार्म के लिए भूमि की अधिकतम मात्रा निर्धारित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(ब) वित्तीय एवम् प्राविधिक (टैकनिकल) सहायता और विक्रय व्यवस्था में सहकारी कृषि समितियों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

(स) भूमि की चकबन्दी के कार्य-क्रम को लागू करने में उन ग्रामों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए जिनमें सहकारी कृषि-फार्म स्थापित किये गये हों।

(द) सरकार को (अपनी या किसी व्यक्ति की विकास करने के उद्देश्य से अपने अधिकार में ली गई) कृषि योग्य खाली भूमि को पट्टे पर देते समय सहकारी कृषि समितियों को प्राथमिकता देनी चाहिए। इसके साथ ही इस भूमि को कृषि के योग्य बनाने के लिए उचित सहायता भी देनी चाहिए।

(य) यह व्यवस्था की जा सकती है कि जब तक सहकारी कृषि-समिति का कार्य चालू है तब तक इसके उन सदस्यों के विरुद्ध जो स्वयं कृषि नहीं करते हैं प्रतिकूल आसामी अधिकार लागू नहीं होंगे। इस रियायत का उद्देश्य किसी भी रूप में वर्तमान आसामियों के अधिकारों पर प्रभाव डालना नहीं है। इसका उद्देश्य छोटी-छोटी भूमि के मालिकों को आपस में मिलकर सहकारी समितियाँ सगठित करने को प्रोत्साहित करना है।

वास्तव में भारत के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या यह है कि वर्तमान कर्षित भूमि उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि की जाय। इसके लिए यह आवश्यक है कि कृषि-क्षेत्र में बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक प्रणालियों और साधनों का प्रयोग किया जाय और विभिन्न रूपों से पूँजी लगाई जाय। जहाँ भूमि छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित नहीं है और काफी बड़े क्षेत्रों में कृषि की जाती है वहाँ इन उपायों का उपयोग अपेक्षाकृत सरल है। बड़े आकार के फार्म में सुधार करके अनेक व्यर्थ क्रियाओं को समाप्त किया जा सकता है, भूमि की पूरी उपयोगिता का लाभ उठा सकने के लिए उचित योजना बनायी जा सकती है, उस पर बोई जाने वाली फसलें, फसलों को बोने के क्रम; भूमि संरक्षण, सिंचाई की व्यवस्था और कृषि के नये उपायों को लागू करने के सम्बन्ध में उपयुक्त प्रयास किया जा सकता है। बड़े फार्म को वह मितव्ययतायें उपलब्ध होती हैं जो छोटे फार्म को उपलब्ध नहीं होती। बड़े आकार के और विस्तृत क्षेत्र वाले फार्मों को अधिक ऋण और वित्तीय सहायता मिल सकती है जिसका वे अधिक लाभपूर्ण ढंग से उपयोग कर सकती हैं—अपनी अर्थ व्यवस्था में विविधता ला सकती है तथा खाद्यान्न-समस्या के हल में अपेक्षाकृत अधिक योग दे सकता है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अनुसार "प्रधान कार्य ऐसे आवश्यक कदमों का उठाना है जो सहकारी कृषि के विकास की ठोस नींव प्रस्तुत करें ताकि १० वर्ष की अवधि में अधिकांश कृषि भूमि पर सहकारी आधार पर खेती होने लगे।"

सात-सदस्यी भारतीय प्रतिनिधि मण्डल, जो १९५६ में चीन और जापान गया था तथा जिसने १९५७ के मध्य में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, का निष्कर्ष यह था कि सहकारी खेती लादी न जाय वरन् धीरे धीरे विकसित की जाय। अगले चार वर्षों में ५० गाँवों के बीच कम से कम एक सहकारी समिति की स्थापना के उद्देश्य से एक प्रदर्शन कार्यक्रम निश्चित किया जाय। इसका अर्थ लगभग १०,००० समितियाँ होगी।" अनुभव प्राप्त होने तथा सहकारी खेतों से लोगों के परिचित होने पर इसका विस्तार किया जाय। ऐसा करने से वह हानि भी नहीं होगी जो चीन में उसे ज़बर्दस्ती लादने के कारण हुई है।

अध्याय १५

सहकारी अधिकोषण (बैंकिंग)

भारत में सहकारी अधिकोषण संघीय आधार पर संगठित की गई है। इसके तल में छोटी ग्राम और कस्बा समितियाँ हैं और उसके पश्चात् केन्द्रीय समितियाँ और केन्द्रीय सहकारी बैङ्क हैं और सबके ऊपर राज्यीय सहकारी बैंक हैं जो शीर्ष बैंक कहलाते हैं। छोटी समितियां कृषकों को कृषि-कार्य तथा अन्य उत्पादन कार्य के लिये ऋण देती हैं। छोटी समितियों के पास कुछ तो अपना रुपया होता है और कुछ वह केन्द्रीय सहकारी बैंकों से लेती हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंक शेयरों से, जमा धन से, शीर्ष बैंकों से ऋण लेकर और जहाँ वे नहीं हैं वहाँ भारतीय रिजर्व बैंक से और व्यापारिक बैंकों से ऋण लेकर पूँजी संग्रहित करते हैं। छोटी समितियों और केन्द्रीय सहकारी बैंकों के बीच में जो केन्द्रीय समितियाँ हैं वह या तो शीर्ष और आधारभूत समितियों के बीच में सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ी के रूप में हैं, या निरीक्षण करने वाली यूनियन हैं, या बैंकिंग यूनियन हैं। यूनियन छोटी समितियों का संघ हैं; यह या तो छोटी सहकारी समितियों के कार्य का निरीक्षण करती हैं या केन्द्रीय सहकारी बैंक से ऋण की व्यवस्था करती हैं। केन्द्रीय यूनियन स्वयं वित्तीय सहायता देनेवाली संस्थायें नहीं हैं वरन् केन्द्रीय सहकारी बैंक और छोटी समितियों में सम्बन्ध जोड़ने वाली संस्थायें हैं। शीर्ष बैंक जो राज्यीय स्तर पर सहकारी आन्दोलन की सर्वोच्च संस्था है अपनी पूँजी शेयरों, जमाधन, व्यापारिक बैंकों, रिजर्व बैंक और सरकार से ऋण के द्वारा संग्रहित करती हैं। यह केन्द्रीय सहकारी बैंकों को ऋण देती हैं जिससे केन्द्रीय सहकारी बैंक छोटी समितियों को ऋण दे सकें।

केन्द्रीय सहकारी बैंक का मुख्य कार्य छोटी सहकारी समितियों को ऋण देना है परन्तु इधर कुछ वर्षों से ये साधारण व्यापारिक बैंकों तथा गैर-साख कार्य करने लगे हैं। एक प्रकार से केन्द्रीय सहकारी बैंक संतुलन स्थापित करने वाले केन्द्र की तरह हैं क्योंकि यह अधिक आय वाली समितियों की अतिरिक्त आय से उन समितियों की सहायता करते हैं जो हानि पर चल रही हैं। इसके साथ ही ये बैंक व्यापारिक बैंकों, द्रव्य बाजार और कृषकों में परस्पर सम्बन्ध बनाये रखते हैं क्योंकि जिन राज्यों में शीर्ष बैंकों की अभी स्थापना नहीं हुई है वहाँ यह बैंक व्यापारिक बैंकों, रिजर्व बैंक और सरकार से ऋण लेते हैं। शीर्ष बैंक केन्द्रीय

सहकारी बैंकों के लिये वही कार्य करते हैं जो केन्द्रीय सहकारी बैंक छोटी सहकारी समितियों के लिये करते हैं। शीर्ष बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंकों को ऋण देते हैं और अधिक आय वाले केन्द्रीय सहकारी बैंकों की अतिरिक्त आय से घाटे में चलने वाले केन्द्रीय सहकारी बैंकों की सहायता करके सन्तुलन स्थापित करते हैं। लोगों को धन जमा करने की प्रेरणा देकर तथा व्यापारिक बैंकों, रिजर्व बैंक और सरकार से ऋण लेकर यह द्रव्य बाजार और केन्द्रीय सहकारी बैंकों के बीच संबन्ध स्थापित करते हैं और इस धन से केन्द्रीय सहकारी बैंकों की सहायता करते हैं।

१६०४ के सहकारी समिति कानून में जो १६१२ में संशोधन किया गया उसके पश्चात् केन्द्रीय यूनियनों, केन्द्रीय सहकारी बैंकों और सर्वोच्च बैंकों ने काफी प्रगति की है। १६०४ के कानून में सशोधन करके इन केन्द्रीय सहकारी संस्थाओं को मान्यता प्रदान की गई। फिर भी इन केन्द्रीय संस्थाओं की संख्या और भारतीय कृषकों को इनसे मिलने वाली वित्त सहायता पूर्णतया अपर्याप्त है। वास्तव में इस बात पर जोर देना चाहिये कि इन संस्थाओं की संख्या में वृद्धि हो, इनके साधन बढ़ाये जांय जिससे ये कृषकों के लिये अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकें।

शीर्ष बैंक—सहकारी अधिकोषण द्वारा की गई प्रगति का अनुमान इसी से लग सकता है कि १६५०-५१ से १६५५-५६ के बीच १० नई राज्यीय सहकारी बैंकों की स्थापना की गई तथा ३० जून १६५६ को देश में २४ ऐसी बैंकें थीं। केवल पाँच राज्यों—कच्छ, मनीपुर, पाँडुचेरी, त्रिपुरा अडमन और निकोबार,—में अब तक राज्यीय बैंक नहीं हैं। इन बैंकों की सदस्यता बढ़कर ३६,३६४ (जिसमें ११,७४३ व्यक्ति, और २४,६५१ बैंक तथा समितियाँ थीं) तथा चालू पूँजी बढ़कर ६३·३४ करोड़ रु० हो गई।

शीर्ष सहकारी बैंक दो प्रकार के होते हैं, मिश्रित और अमिश्रित। मिश्रित बैंकों के शेयर व्यक्ति तथा सहकारी संस्थायें दोनों ही ले सकते हैं परन्तु अमिश्रित में केवल सहकारी संस्थायें ही शेयर ले सकती है। यदि प्रत्येक शीर्ष बैंक अमिश्रित ढंग के ही होते तो सहकारिता आन्दोलन की भावना के सर्वथा अनुकूल होता। परन्तु अमिश्रित बैंक तो केवल आन्ध्र, पंजाब, पश्चिमी बङ्गाल और मैसूर ही में प्रचलित हैं। शेष सब राज्यों में मिश्रित बैंक ही हैं।

१६५५-५६ में शीर्ष बैंकों की चालू पूंजी में (जो ६३·३४ करोड़ रुपए थी) निजी कोष १२·१%, जमा धन ५७·६% तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त ऋण ३०% था जब कि १६५१-५२ में यह प्रतिशत क्रमशः ११·४, ५७·७ और ३०·८ थे इन

बैंकों के निजीकोष का इतना कम होना बड़ी चिन्ता का विषय है क्योंकि बिना निजी कोष में वृद्धि के इन में स्थिरता आना सम्भव नहीं।

ये बैंक वर्तमान समय में ऋण और जमाधन पर अपना कार्य चलाने के लिए निर्भर रहते हैं। १९५५-५६ में ३६·६७ करोड़ रु० के जमा-धन में १८·८५ करोड़ रु० गैर-सहकारी स्रोतों से प्राप्त किया गया रिजर्व बैंक और सरकार से लिये नये ऋण की मात्रा क्रमशः २२·२ करोड़ रु० तथा ७·४ करोड़ रु० थी। १९·२ करोड़ रु० की अन्य ऋण की राशि में व्यापारिक बैंकों से लिया गया ऋण २,०५१,००० रु० तथा सहकारी बैंकों से लिया ऋण ८८,०००रु० था। इससे व्यापारी बैंकों पर निर्भरता घटती और सरकार, रिजर्व बैंक तथा सहकारी बैंकों पर बढ़ती दिखाई पड़ती है। इन बैंकों का लगभग १८·३६ करोड़ रुपया सहकारी तथा अन्य प्रतिभूतियों (ट्रस्टी सिक्योरिटीज़) लगा हुआ था।

"राज्यीय सहकारी बैंकों द्वारा दिये गये अग्रिम (advance) की मात्रा १९५४-५५ के ५०·२४ करोड़ रुपया से बढ़कर १९५५-५६ में ६७·८६ करोड़ रु० हो गई। यह वृद्धि बैंकों तथा समितियों को दिये गये अग्रिम में अधिक दर्शनीय थी। व्यक्तियों को दिये गये अग्रिम की मात्रा १९५४-५५ में घट गई थी किन्तु विषाद का विषय तो यह है कि १९५५-५६ में इसमें २·३० करोड़ रु० की वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों को दिये गए अग्रिम की मात्रा बढ़कर ६·७६ करोड़ रु० हो गई।"

केन्द्रीय सहकारी बैंक—केन्द्रीय बैंकों की संख्या १९५४-५५ में ४८५ थी। १९५५-५६ में यह घटकर ४७८ हो गई। "यह कमी कुछ राज्यों में केन्द्रीय वित्तीय एजेन्सियों के युक्तिकरण की नीति बरतने के परिणाम स्वरूप हुई है। उदाहरण के लिये हिमांचल प्रदेश में राज्य की दो अवशिष्ट बैंकिंग यूनियन राज्यीय सहकारी बैंक में विलयित हो गई। जम्मू और काश्मीर में तीन जिला बैंक जम्मू केन्द्रीय सहकारी बैंक में विलयित हो गई। केन्द्रीय बैंकों की संख्या में कमी होने के बावजूद भी उनकी सदस्य संख्या १९५४-५५ के अंत में २,७२,००० (१,३२,२७२ व्यक्ति तथा १,३६,७२८ समितियाँ) से बढ़कर १९५५-५६ में २९९, ५५५ (१,४४,००६ व्यक्ति तथा १,५५,५४९ समितियाँ) हो गई।" आन्ध्र, आसाम, बिहार, मध्य प्रदेश, मद्रास, हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर, मध्यभारत, मैसूर, सौराष्ट्र और भोपाल में मिश्रित ढङ्ग के और त्रिवंकुर कोचीन में अमिश्रित ढङ्ग के केन्द्रीय बैंक थे। शेष प्रदेशों में जैसे बम्बई, उड़ीसा, पञ्जाब, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बङ्गाल, पेप्सू, राजस्थान, अजमेर, हिमाञ्चल प्रदेश में मिश्रित और अमिश्रित दोनों ढङ्ग के केन्द्रीय बैंक थे।

केन्द्रीय सहकारी बैंकों के कुल सदस्यों में से ५२ प्रतिशत बैंक और समितियाँ हैं और ४८ प्रतिशत व्यक्ति हैं। इन बैंकों की चालू पूँजी ६२·६७ करोड़ रुपये हैं जिसमें से १६·४ प्रतिशत निजी पूँजी हैं, ६०·१ प्रतिशत जमाधन है, और २३·५ प्रतिशत अन्य स्रोतों से लिया गया ऋण है। १९५१-५२ में यह प्रतिशत क्रमशः १६·३, ६३·५, २०·१ थे। सर्वोच्च बैंको की तरह इन बैंकों की निजी पूँजी का अनुपात पिछले वर्षों की अपेक्षा कुछ बढ़ रहा है पर फिर भी निजी पूँजी का अनुपात बहुत कम है। इससे इन बैंकों का कार्य अस्थिर रहता है। भविष्य में इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि इनकी हिस्सा पूँजी और सुरक्षित कोष की पूँजी बढ़ाई जाय जो इन बैंकों की निजी पूँजी होती है। १९५५-५६ में जमाधन का ६७ प्रतिशत विभिन्न व्यक्तियों से और ३० प्रतिशत प्रारम्भिक समितियों से तथा ३ प्रतिशत सहकारी बैंको से प्राप्त हुआ। इन्होंने ऋण अधिकतर सहकारी बैंको से प्राप्त किये। सहकारी बैंकों पर निर्भरता स्वाभाविक ही है क्योंकि जिन राज्यों में सर्वोच्च बैंक हैं वहाँ केन्द्रीय सहकारी बैंकों को सर्वोच्च बैंकों के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से ऋण लेने को प्रोत्साहित नहीं किया जाता।

केन्द्रीय सहकारी बैंकों के कार्य की एक विशेषता यह थी कि व्यक्तियों को दिये जाने वाले अग्रिम में कमी आ गई। १९५५-५६ में बैंकों तथा समितियों को दिये जाने वाला अग्रिम ८८ प्रतिशत तथा व्यक्तियों को दिया जाने वाला अग्रिम १२ प्रतिशत था जबकि इससे पहिले वर्ष के प्रतिशत क्रमशः ८१ तथा १९ थे। बुरे तथा सन्देहात्मक ऋणों का अनुपात अब भी अधिक है हालाँकि इस दिशा में भी कुछ सुधार हुआ है।

समान विशेषताएँ—सर्वोच्च और केन्द्रीय सहकारी बैंकों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है; (१) इन दोनों संस्थाओं की हिस्सा पूँजी और सुरक्षित निधि (अर्थात् निजी पूँजी) अपर्याप्त हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंकों की स्थिति कुछ अच्छी है, परन्तु उनमें भी हिस्सा पूँजी और सुरक्षित कोष का धन पर्याप्त नहीं है इसका एक कारण तो यह है कि इन बैंकों का जिन लोगों से सम्बन्ध रहता है वह निर्धन हैं और इनका लाभ भी बहुत कम होता है जिससे सुरक्षित कोष में पर्याप्त धन-राशि एकत्रित नहीं हो पाती। यह खेद का विषय है कि द्वितीत महायुद्ध के समय और महायुद्ध के तुरन्त पश्चात् जब कृषकों की वित्तीय स्थिति सुधरी थी, इन बैंकों की हिस्सा पूँजी बढ़ाने का अवसर खो दिया गया। इन बैंकों की हिस्सा पूँजी में तभी वृद्धि की जा सकती है जब कि कृषकों की वित्तीय स्थिति में सुधार हो प्रथम व द्वितीय पञ्चवर्षीय योजनाओं की समाप्ति तक कृषकों की वित्तीय स्थिति सुधर जायगी और तब बैंकों की हिस्सा पूँजी में वृद्धि की जा सकेगी।

(२) दोनों संस्थाओं में कुछ मिश्रित तथा कुछ अमिश्रित बैंक हैं। अमिश्रित बैंक सहकारिता के सिद्धान्त के अधिक अनुकूल होते हैं। परन्तु मिश्रित प्रकार के बैंकों से यह लाभ है कि इनको अधिक वित्त प्राप्त हो सकता है और साथ ही उन लोगों का अधिक सहयोग मिल सकता है जिनका कृषि से सम्बन्ध नहीं है। इस बात को ध्यान में रखने हुये कि भारतीय कृषक अभी अविकसित अवस्था में है यह बहुत बड़ा लाभ है। मिश्रित बैंकों से केवल यही हानि नहीं हैं कि इनका व्यवसाय सहकारिता के नियमों के अनुसार सामान्य नहीं होता बल्कि साथ ही इसका कभी-कभी हानिकारक परिणाम भी होता है। विभिन्न व्यक्तियों को इन बैंकों के शेयरों को क्रय करने का अधिकार है इसलिये इन बैंकों से ऋण लेने का भी अधिकार है। व्यक्तियों को कृषि की उत्पत्ति के आधार पर ऋण देना सहकारिता के नियमों के अनुकूल नहीं है क्योंकि इससे ये बैंक उन दलालों की भी सहायता करते है जिनको सहकारिता आन्दोलन समाप्त करना चाहती है। साथ ही इस प्रकार की सहायता से सहकारी विक्रय व्यवस्था के विकास में बाधा पहुँचती है। इसलिए यह उद्देश्य होना चाहिये कि 'मिश्रित' समितियों को कुछ समय तक रहने दिया जाय और बाद में कृषकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के परिणाम स्वरूप उनके द्वारा इन संस्थाओं को वित्तीय आवश्यकता पूर्ण हो जाने पर इन्हें अमिश्रित समितियों में बदल दिया जाय।

(३) केन्द्रीय सहकारी बैंक अधिकतर निश्चित समय के लिये जमा और बचत को स्वीकार करते हैं परन्तु सर्वोच्च बैंक इनके अतिरिक्त चालू खाते में धन स्वीकार करते हैं। सर्वोच्च बैंक और कुछ सीमा तक केन्द्रीय सहकारी बैंक साधारण व्यापारिक बैंकों का व्यवसाय करते हैं। यह बैंक ड्राफ्ट देते हैं, हुण्डी, चेक और ऋणपत्रों का क्रय-विक्रय करते हैं और सामान को सुरक्षित रखते हैं। यह प्रश्न काफी विवाद ग्रस्त है कि सहकारी संस्थाओं का कार्य-क्षेत्र केवल सहकारी बैंकों के व्यवसाय तक ही सीमित रखा जाय या वे व्यापारिक बैंकों का व्यवसाय भी करें। वर्तमान समय में सहकारी बैंकों का कार्य उनको व्यस्त रखने के लिये पर्याप्त नहीं है इसलिये इन्हें व्यापारिक बैंकों का भी कार्य करना पड़ता है। यदि यह व्यवसाय न किया जाय तो बैंकों की आय बहुत कम हो जायगी।

(४) इन संस्थाओं को बहुत कम लाभ होता है। इन सस्थाओं का लाभ और सदस्या का दिया गया लाभांश भारत के अन्य बैंकों की अपेक्षा कम है।

ब्याज दर—भारतीय रिजर्व बैंक की हाल की रिपोर्ट में बताया गया है कि अनेक राज्यों मे छोटी सहकारी समितियों के ब्याज की दर काफी अधिक है। केवल बम्बई और मद्रास में जहां सहकारी आन्दोलन काफी सगठित हैं और

काफी विकसित है ब्याज की दर कुछ कम रखना संभव हो सका है। अनेक समितियों ने इस सिद्धान्त पर जोर दिया है कि योग्य कृषकों को दिए जानेवाले ऋण पर अल्पकाल तथा मध्यकाल के लिए ६½ प्रतिशत से अधिक ब्याज न लिया जाय और दीर्घकालिक ऋण के लिए ब्याज की दर ४ प्रतिशत होनी चाहिए। यह सिद्धान्त मद्रास और बम्बई में लागू रहा है। इन राज्यों की सरकारें घाटे की पूर्ति के लिए आर्थिक सहायता देकर सहकारी बैंकों को कम ब्याज पर ऋण देने में सहायता कर रही हैं। इसके लिए सरकार बैंक प्रशासन का कुछ भार स्वयं वहन करती है। अन्य राज्यों में भी इस प्रकार की व्यवस्था होना चाहिए। सहकारी बैंकों द्वारा वसूल किये जाने वाले ब्याज की दर अधिक होने के कुछ कारण निम्न हैं—(१) सहकारी समितियाँ स्थानीय तौर पर पर्याप्त पूँजी का संग्रह करने में असफल रही हैं; (२) बम्बई और मद्रास को छोड़कर केन्द्रीय सहकारी बैंक साधारणतः छोटे हैं, इनके प्रबन्ध का व्यय अधिक है और आर्थिक दृष्टि से यह अनुपयुक्त हैं। यह अपना कारोबार तभी चला सकते हैं जब ऋण लेने और देने की ब्याज की दर में काफी अन्तर हो; और (३) विभिन्न राज्य जो ऋण तथा आर्थिक सहायता से आन्दोलन की सहायता करते रहे हैं अब द्रव्य बाजार से आवश्यक ऋण एकत्रित करने में और परिणाम स्वरूप उसे कम ब्याज पर विभिन्न सहकारी कार्यों में लगाने में विशेष कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। रिजर्व बैंक के मतानुसार निम्नलिखित प्रयत्नों से ब्याज की दर कम की जा सकती है—(अ) सहकारी आन्दोलन को दृढ़ बनाया जाय, उसकी कार्य कुशलता में सुधार किया जाय और ग्राम्य क्षेत्रों की बचत को संग्रहीत करने पर जोर दिया जाय; (ब) आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त इकाई का रूप देने के लिए सहकारी बैंकों और समितियों को एक में मिला दिया जाय और समितियों के कार्यक्षेत्र का व्यापक प्रसार किया जाय और (स) आरम्भ में राज्य सरकारें बम्बई की तरह आर्थिक सहायता दें जिससे सहकारी बैंकों को कम ब्याज लेने से जो घाटा होता है उसकी पूर्ति की जा सके।

रिजर्व बैंक से ऋण—रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १७ (२) (ब) और १७ (४) (स) के अनुसार यह बैंक सहकारी बैंकों को कृषि उत्पादन और फसल बेचने के लिए बिना धरोहर के अल्प-कालिक और मध्य-कालिक ऋण देता है। धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत सरकारी प्रतिभूतियों और भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्रों की जमानत पर भी ऋण देता है।[1] सन् १९५५ की फर्वरी से रिजर्व बैंक ने धारा

---

1. विस्तार पूर्वक अध्ययन के लिये 'ग्राम्य वित्त व्यावस्था' का अध्याय देखिये

१७ (४) (अ) के अन्तर्गत तीन वर्ष की अवधि के लिये मध्य कालीन ऋण देना आरम्भ कर दिया है। १९५३ के रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट के संशोधन के कारण यह सम्भव हो गया है कि १५ महीने से लगाकर ५ वर्ष तक की अवधि के लिये ऋण दिया जा सके। इस नियम का प्रयोग करने के विचार से ही बैंक ने तीन वर्ष की अवधि के स्थायी ऋण, एक्ट की धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत देना आरम्भ कर दिया है, यद्यपि अधिक लम्बी अवधि अर्थात् ५ वर्ष तक के आवेदनों पर आवश्यकता पड़ने पर विचार किया जा सकता था। ऐसे ऋणों पर ब्याज कीर दर बैंक की दर से २% कम निश्चित की गई थी। राज्य सरकारों द्वारा दी हुई गारन्टी और ऋण लेने वाले केन्द्रीय सहकारी बैंक अथवा समिति द्वारा लिये हुये प्रतिज्ञा पत्र ही इन ऋणों की जमानत थे। जिन कार्यों के लिये मध्य कालीन ऋण दिये जा सकते थे वे बेकार भूमि को पुनः अधिकृत करना, बाँध बनाना अथवा भूमि में किसी अन्य प्रकार का सुधार करना, बैल आदि जानवर खरीदना, कृषि सम्बन्धी औजार खरीदना तथा जानवरों को बाँधने के बाड़े और खेतों में गोदाम बनाना इत्यादि थे। रिजर्व बैंक द्वारा राज्यीय सहकारी बैंक को दिये गये अग्रिम की राशि १९५१-५२ में ११·२९ करोड़ रु० थी। १९५७-५८ में यह बढ़कर ५७·१२ करोड़ रु० हो गई। इस अवधि के अन्त में देय ऋणों की राशि ७·८१ करोड़ रु० से बढ़ कर ३५·११ करोड़ रु० हो गई। १९५७-५८ में दिये गये ५७·११ करोड़ रु० के कुल अग्रिम में से ४१·४१ करोड़ रु० धारा १७ (४) (स) के अन्तर्गत, १२·७२ करोड़ रु० धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत तथा २·९९ करोड़ रु० धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत दिये गये।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों के अनुसार १० करोड़ रु० की प्रारम्भिक राशि से राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष का निर्माण ३ फरवरी १९५६ को किया गया ताकि "राज्य सरकारों, (जिससे वे सहकारी समितियों की हिस्सा पूंजी में योग दे सकें) राज्यीय सहकारी बैंकों और भूमिबन्धक बैंको को दीर्घ एवम् मध्यकालीन ऋण दिये जा सकें।" जून १९५६ में इस कोष में ५ करोड़ रु० के वार्षिक अनुदान से वृद्धि की गई। मार्च १९५७ के अन्त तक २·६८ करोड़ रु० का ऋण ११ राज्यों को दिया गया ताकि वे सहकारी संस्थाओं को हिस्सा पूंजी में योग दे सकें।

अध्याय १६

भूमि बंधक बैंक

भूमि बधक बैंकों से कृषक को दीर्घकालीन[1] ऋण प्राप्त होता है। भूमि बधक बैंको की आवश्यकता इस लिए है क्योकि छोटी सहकारी समितियाँ कृषकों को दीर्घकाल के लिए ऋण नहा दे सकती क्योंकि वह अपने कार्य सचालन के लिये स्वयं केन्द्रीय सहकारो बैंक से अल्पकालिक और मध्यकालिक ऋण लिया करती हैं। इसके साथ ही भू-सम्पत्ति के आधार पर दीर्घकालिक ऋण देने के लिये विशेषज्ञों की सहायता की आवश्यकता होती है जो भू-सम्पत्ति का मूल्य बता सकें और इस सम्बन्ध में अन्य प्रकार का परामर्श दे सकें। छोटी सहकारी समितियों को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। इन कारणों से सहकारी समितियाँ दीर्घकालिक ऋण नहीं दे पाती हैं। पहले जमींदार, साहुकार और महाजन कृषकों को दीर्घकालीन ऋण देते थे परन्तु इस प्रथा के टूट जाने से भूमि बन्धक बैंकों की अधिक आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। पिछले कुछ वर्षों से भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ाने और विभिन्न प्रकार के खाद्यान्नों तथा व्यापारिक फसलों का उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया जा रहा है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि दीर्घकाल के लिये भूमि के सुधार में काफी धन लगाया जाय। इससे भी भूमि बन्धक बैंकों के महत्व में वृद्धि हो गई है। यदि भूमि बन्धक बैंकों का उचित

---

1. कृषक को कृषि में वृद्धि करने और अन्य घरेलू कार्यों के लिये अल्पकालिक ऋण की आवश्यकता होती है और फसल कट जाने के पश्चात् तुरन्त उसको चुकाया भी जा सकता है। पशु खरीदने, कृषि के औजार इत्यादि का प्रबन्ध करने के लिये कृषक मध्यकालिक ऋण लेता है। यह ऋण एक से तीन वर्ष के लिये और कभी-कभी ५ वर्ष तक के लिए लिया जाता है। कृषक को दीर्घकालिक ऋण की भी आवश्यकता होती है जिससे वह कृषि के लिए मशीनें तथा अन्य मूल्यवान सामान क्रय करता है, भूमि क्रय करता है और पुराने ऋण को चुकाता है। चूंकि इस प्रकार के ऋण की धन राशि काफी बड़ी होती है और, जैसा कुछ अन्य देशों में होता है, इसकी अवधि १७५ वर्ष तक की हो सकती है, इस लिये इस प्रकार के ऋणों को भू सम्पत्ति के बदले ही प्राप्त किया जा सकता है। (रिज़र्व बैंक के कृषि साख विभाग द्वारा प्रकाशित भूमिबन्धक बैंक (Land Mortgage Banks) नामक प्रकाशन से)।

संगठन किया जाय तो इससे जनता की बचत को भूमि सुधार कार्य में पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में लगाया जा सकता है। व्यापारिक बैंकों को रुपया लोगों को अल्पकालिक जमाधन से मिल जाता है परन्तु इसके विपरीत भूमि बन्धक बैंकों को ऋण पत्र चला कर या बन्धक बाँडों के द्वारा धन मिलता है। ये बांण्ड बैंकों से धन लेने वाले व्यक्तियों द्वारा बन्धक रक्खी हुई सम्पत्ति के आधार पर प्राप्त होते हैं। कुछ परिस्थितियों में, जैसे छोटे छोटे कृषकों के लिए विशेष उपयोगी होने के कारण या राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में इनका विशेष महत्त्व होने के कारण, सरकार इन बन्धक बाँण्डो के भुगतान की गारन्टी देती है।

भूमि बन्धक बैंकों को व्यापारिक बैंकों के आधार पर सहकारी संस्थाओं के या कार्पोरेशन के आधार पर रूप में संगठित किया जा सकता है। भारत में भूमि बन्धक बैंकों को सहकारी आधार पर संगठित किया गया है परन्तु चूँकि कुछ व्यक्ति निजी रूप से इस प्रकार के बैंकों के सदस्य हैं इसलिए इनकी प्रकृति अध सहकारी संस्था के समान कही जा सकती है।

भारत में सर्व प्रथम सहकारी भूमि बन्धक बैंक १६२० में पंजाब के झंग नामक स्थान मे स्थापित की गयी परन्तु इसको सफलता नहीं मिली। मद्रास में सर्व प्रथम १६२५ में भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये गये और वहाँ इन्हें अधिक सफलता मिली। यहाँ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक १६२६ मे स्थापित किया गया। इसके पश्चात् कुछ अन्य प्रदेशों ने भी मद्रास की तरह भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये।

१६२६ में रजिस्ट्रार-सम्मेलन ने भूमि बन्धक बैंकों की समस्या पर विचार किया और कुछ सुझाव दिये। भारत मे इन बैंकों का विकास सम्मेलन के सुझावों के अनुसार हुआ। रजिस्ट्रार सम्मेलन के कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखित हैं—

(१) इस प्रकार के बैंकों का सगठन सहकारी समिति नियम के अन्तर्गत किया जाना चाहिये। इनका कार्य क्षेत्र न तो इतना कम हो कि आर्थिक दृष्टि से यह अनुपयुक्त सिद्ध हो और न इतना अधिक हो कि प्रबन्ध करना कठिन हो जाय।

(२) भूमि बन्धक बैंक कृषकों को इन कार्यों के लिए ऋण दे सकते हैं—(अ) भूमि तथा मकान छुड़ाने के लिये, (ब) भूमि और कृषि के साधनो में सुधार करने के लिए, (स) पहले का ऋण चुकाने के लिए और (द) भूमि क्रय करने के लिए। बैंक को अपने उपनियमों मे यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि इस प्रकार का ऋण कम से कम कितना और अधिक से अधिक कितना दिया जा

सकता है। बैंक को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि ऋण की धन राशि इतनी कम न हो कि उससे लेन-देन का व्यय भी वसूल न हो सके और न इतनी अधिक हो कि प्रारम्भिक समिति उसे सुगमतापूर्वक न दे सके। सम्मेलन ने सुझाव दिया कि ऋण की धनराशि सम्पत्ति के मूल्य के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिये।

(३) बैंक को कृषक की ऋण चुकाने की शक्ति तथा जिस कार्य के लिए ऋण लिया गया है उसको ध्यान में रखते हुए ऋण चुकाने की अवधि निश्चित करनी चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस ऋण से लेने वाले को आर्थिक दृष्टि से लाभ न हो वह ऋण न दिया जाय। सम्मेलन ने सुझाव दिया है कि वर्तमान परिस्थितियों में ऋण चुकाने की अधिकतम सर्वोत्तम अवधि २० वर्ष है।

(४) प्रत्येक राज्य में प्रादेशिक सहाकारी बैंक स्थापित किये जायें। इन बैंकों को राज्य के केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक के रूप में कार्य नहीं करना चाहिये, किन्तु प्रान्तीय भूमि बन्धक कार्पोरेशन की स्थापना होने तक अस्थायी रूप मे इनके इस कार्य पर आपत्ति नहीं की जानी चाहिये।

(५) सरकार को ऋणपत्रों पर ब्याज और पूँजी चुकाने की गारन्टी देनी चाहिए। कार्य चालू करने के आरंभ काल में सरकार को भूमि बन्धक बैंकों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। इन बैंको को स्टाम्प कर इत्यादि में कुछ सुविधाएँ दी जानी चाहिये। साथ ही इन बैंको को रेहन रखो वस्तुओं के छुटाने की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् बिना न्यायालय की सहायता लिए उन पर अधिकार कर लेना या उनके विक्रय का अधिकार मिल जाना चाहिये परन्तु ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे दूसरे पक्ष के हितों की भी रक्षा की जा सके।

तालिका १ से यह स्पष्ट है कि यह आन्दोलन समान रूप से देश के विभिन्न भागों मे विकसित नहीं हुआ है। १९५१-५२ में केवल ६ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक थे। इसके पश्चात् तीन और स्थापित हुये, एक हैदराबाद में, एक अजमेर में और एक आन्ध्र में। इस प्रकार १९५५-५६ के अन्त में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक ९ राज्यों में स्थापित हो गये (आन्ध्र, बम्बई, मद्रास, उड़ीसा, हैदराबाद, मैसूर, सौराष्ट्र, त्रिवाँकुर कोचीन और अजमेर) और प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक ७ 'क' राज्यों में ३ 'ख' राज्यों में और १ 'ग' राज्यों में स्थापित हो गये। चूँकि सौराष्ट्र, उड़ीसा और ट्रावँकुर कोचीन में प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक नहीं हैं, इसलिये इन राज्यों के केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक व्यक्तियों से अपना सीधा सम्बन्ध रखते हैं। आन्ध्र, मद्रास, बम्बई और मैसूर में प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक

तालिका १

भूमि बन्धक बैंकों की सदस्यता १९५५-५६ में

राज्य	बैंकों की संख्या	व्यक्तियों की सदस्य संख्या	बैंकों की संख्या
	केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक		
आन्ध्र	१	१७४	५७
बम्बई	१	१,०१७	११५
मध्य प्रदेश	..	...	२७
मद्रास	१	३२६	७५
उड़ीसा	१	८३६७	१०
हैदराबाद	१	...	३७
मैसूर	१	२०६	१६३
सौराष्ट्र	१	७३,५१९	...
ट्रॉवनकुर कोचीन	१	५,६८३	...
अजमेर	१	..	७
योग	९	९०,२९१	४९१
	प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक		
आन्ध्र	५७	६५,८८२	...
आसाम	२	२७५	...
बम्बई	१८	३२,६४५	..
मध्यप्रदेश	११	२२,४६३	...
मद्रास	७३	१,०१,४८४	...
उत्तर प्रदेश	६	८७५	...
पश्चिमी बङ्गाल	६	२,६६४	..
हैदराबाद	२०	९,६५४	...
मध्यभारत	१	६२	....
मैसूर	८३	४५,६२५	...
राजस्थान	१०	२७१	...
अजमेर	१२	१,५६७	...
योग	३०२	२,१३,८२७	

तालिका नं० २

१९५५-५६ में भूमि बन्धक बैंकों का कारोबार

	केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक (लाख रुपयों में)	प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक (लाख रुपयों में)
शेयर पूँजी	७८·७३	८५·६४
ऋण और जमा धन		
(क) बैंकों और समितियों से	२१·०२	२३·६९
(ख) व्यक्तियों तथा अन्य स्रोतों से	११७·८६	८·३३
सरकार से प्राप्त ऋण	८७·१२	०·७४
ऋण पत्र	१४६४·३८	७·६२
केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक से प्राप्त ऋण	—	९७८·७६
व्यक्तियों को दिया गया ऋण	—	१७३·६४
बैंकों और समितियों को दिया गया ऋण	२८३·०४	—
वर्ष भर में चुकाया हुआ ऋण	१३७·४५	७९·९१
वर्ष के अन्त में कुल ऋण	१३०८·२१	१०५१·१४
सुरक्षित कोष	३६·३२	१७·८२
अन्य कोष	१७·१६	१०·०५
चालू पूँजी	१८५२·६३	११३४·८५

सुव्यवस्थित हैं। मध्य प्रदेश में उनकी व्यवस्था साधारण स्तर की है। वहाँ अभी कोई केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक नहीं है। इन बैंकों द्वारा कृषकों की समस्याएँ हल करने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक हो और अनेक छोटे भूमि बन्धक बैंक हों। आवश्यकता इस बात की है कि उन राज्यों में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये जाँय जहाँ अभी तक इनकी स्थापना नहीं हुई है। इसके साथ ही वर्तमान छोटे भूमि बन्धक बैंकों के व्यवसाय में वृद्धि की जाय तथा उन राज्यों में जहाँ यह अभी तक नहीं है प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये जाँय।

१९५५-५६ में केन्द्रीय और प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों की चालू पूँजी तालिका २ के अनुसार क्रमशः १८·५३ और ११·३५ करोड़ रुपया थी। केन्द्रीय

भूमि बन्धक बैंकों ने २८३ करोड़ रुपये तथा प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों ने १७४ करोड़ रुपये ऋण में दिये। इन बैंकों के व्यवसाय की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं।

(१) इन बैंकों ने जितना ऋण दिया है और जितना व्यवसाय किया है, वह आवश्यकता को देखते हुए बहुत कम है। १६५५-५६ में केन्द्रीय तथा प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों द्वारा दिये गये ऋण की मात्रा क्रमशः २.८३ करोड़ रु० १.७४ करोड़ रु० थी जब कि इससे पहिले वर्ष में इनके द्वारा ऋण दी हुई राशि क्रमशः २.४३ करोड़ रु० तथा १.४५ करोड़ रु० थी। कृषकों की दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता की तुलना में ये धन बहुत कम हैं।

(२) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के १८.५३ करोड़ रु० की चालू पूँजी तथा प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों के ११.३५ करोड़ रु० की चालू पूँजी में से मद्रास और आंध्र क्रमशः १०.१२ करोड़ रु० तथा ७.६६ करोड़ रु० के लिए उत्तरदायी थे। मद्रास में भूमि बन्धक बैंकों के सफल होने के अनेक कारण हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि छोटे बैंकों के व्यवसाय के लिए उपयुक्त स्थान के चुनाव, भूमि के मूल्य इत्यादि की परीक्षा, ऋण लेने वाले की ऋण चुकाने की शक्ति का अनुमान, वसूली में शीघ्रता और छोटे बैंकों की कार्य कुशलता इत्यादि के विषय में सावधानी से कार्य लिया गया। सरकार ने इन बैंकों के व्यवसाय का भली भाँति निरीक्षण किया, केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों ने बड़ी सतर्कता की नीति अपनाई। इसके साथ ही बैंकों के कुशल प्रबन्धकों ने भी अपने उत्तरदायित्व को भली भाँति निभाया। इस आन्दोलन की सफलता के लिए यही कारण प्रमुख रूप से सहायक रहे। आवश्यकता इस बात की है कि आंदोलन का अन्य राज्यों में भी विस्तार किया जाय और उसे मद्रास की ही तरह सफल बनाने का प्रयत्न किया जाय।

(३) राज्य के और केन्द्रीय सहकारी बैंकों की ही तरह भूमि बन्धक बैंकों के पास अपनी धनराशि बहुत कम है और उन्हें ऋणपत्रों, सरकार से ऋण और जमापूँजी पर ही निर्भर करना पड़ता है। जहाँ तक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों का सम्बन्ध है, १४.६४ करोड़ रुपया जो कि कुल चालू पूँजी का लगभग ८०% होता है ऋणपत्रों द्वारा ही प्राप्त किया गया था। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों की सहायता करने के विचार से रिजर्व बैंक ने १६४८ में भूमि बन्धक बैंकों द्वारा निर्मित ऋण पत्रों के १०% तक धन (जो सीमा १६५० में २०% कर दी गई थी) इस दशा पर देने की अनुमति दी कि उन राज्यों की सरकारें जहाँ वे बैंक स्थित हैं, मूलधन और ब्याज देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने को प्रस्तुत हों। १६५३ में इस सहायता योजना का और अधिक विस्तार किया गया और भारत सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जो ५ करोड़ रुपया दीर्घकाल के

लिये कृषि सम्बन्धी ऋण देने के लिये निश्चित कर दिया था, उसमें से १ करोड़ रुपया भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्र क्रय करने के लिये नियत कर दिया गया। यह निश्चित कर दिया गया कि केन्द्रीय सरकार अथवा रिजर्व बैंक दो में से कोई भी केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों द्वारा निर्मित कुल ऋणपत्रों के ४० प्रतिशत अथवा जितने जनता द्वारा न क्रय किए जाँय दोनों में से जो कम होगा विक्रय करें। क्रय की दशा यह होगी कि केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक इस सुविधा का लाभ के लिये यह बात स्वीकार करें कि वे एक वर्ष के अंदर सरकार और रिजर्व बैंक द्वारा मिल कर दी गई धनराशि का कम से कम आधा उत्पादक कार्यों के लिए ऋण रूप में व्यय करें। १६५३-५४ में केवल आंध्र के भूमि बन्धक बैंक को १७ लाख रुपये की इस योजना के अंतर्गत सहायता दी गई थी। १६५५ के जून के अन्त तक इस योजना के अन्तर्गत ऋणपत्रों के क्रय की बातें आंध्र, मद्रास, मैसूर, और त्रावंकुर कोचीन के केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों से, जिन्होंने ऋणपत्र निर्मित किये थे, चलाई गई। मद्रास और आंध्र सरकारों ने इस योजना की दशाओं को स्वीकार कर लिया था। पर रिजर्व बैंक से इसके क्रय में सहयोग माँगने की ऋणपत्रों के जनता द्वारा आवश्यकता से अधिक क्रय करने के कारण आवश्यकता नहीं पड़ी। मैसूर और त्रावंकुर कोचीन की सरकारों ने रिजर्व बैंक द्वारा उनके ऋण पत्रों के क्रय कर लिये जाने पर जोर नहीं डाला।

१६५५-५६ के अंत में वह योजना समाप्त हो गई जिसके अंतर्गत केन्द्रीय सरकार और रिजर्व बैंक सम्मिलित रूप से केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्रों को खरीदती थीं। किन्तु ऋणपत्रों अप्राधित्व अंश या २०% में से जो भी कम हो रिजर्व बैंक द्वारा उसके योग दान की प्रथा चालू रही। फरवरी १६५६ में राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष का निर्माण किया गया। इस कोष से लिये गये ऋण से राज्य सरकारें भूमि बन्धक बैंकों की चालू पूंजी में योग दान कर सकती थीं।

प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों के सम्बन्ध में उनके ११·३५ करोड़ रुपये को चालू पूँजी में ६.७६ करोड़ रुपया अर्थात् कुल का ८६% केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक द्वारा ऋण रूप में प्राप्त हुआ था। इन बैंकों के लिये यह तो अनिवार्य है कि वे ऋण पत्रों द्वारा बाजार से रुपया प्राप्त करें तथा केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों से उधार लें, फिर भी उनके व्यवसाय को स्थिरता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी शेयर पूँजी तथा रक्षित कोष बढ़ाया जाय।

(४) सहकारी बैंकों की भाँति भूमि बन्धक बैंकों ने भी बहुत अधिक ब्याज की दर पर ऋण दिया है। इसका एक कारण यह था कि केन्द्रीय बन्धक बैंकों में

ब्याज की दर बहुत अधिक थी। दूसरा कारण यह था कि छोटे भूमि बन्धक बैंकों ने स्वयं लाभ प्राप्त करने के लिये भी अधिक ब्याज लिया। इन बैंकों को कृषकों के लिये लाभदायक बनाने के लिए यह व्यवस्था करनी पड़ेगी कि यह बैंक कम ब्याज पर ऋण लें और अपनी ब्याज की दर घटाएँ तथा आवश्यकता पड़ने पर इन्हें सरकार भी आर्थिक सहायता दे। इसके साथ ही यह प्रयत्न करना चाहिये कि इन बैंकों की कार्यकुशलता बढ़े जिससे छोटे बैंकों ने ब्याज में जो अतिरिक्त वृद्धि की है वह कम हो जाय। इन बैंकों का प्रबन्ध-सम्बन्धी व्यय कम करना होगा जिससे ब्याज की दर में भी कमी की जा सके और जो कुछ रुपया लगाया गया है उसका उचित लाभ प्राप्त हो।

सुधार-सम्बन्धी सुझाव

भूमि बन्धक बैंकों का मद्रास में २३ वाँ सम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसमें भूमि बन्धक बैंकों के कार्य मे सुधार करने के लिये अनेक सुझाव दिये गये। सम्मेलन में यह बताया गया कि बैंकों के पास पर्याप्त धन नहीं है, ऋण देने में देर होती है, ब्याज की दर बहुत अधिक है और देश के कुछ भागों मे, विशेषकर मद्रास में, कृषि की स्थिति बिगड़ने के कारण कृषक आसानी से ऋण नहीं चुका पाता है और बैंकों का ऋण वसूली का कार्य धीमा पड़ गया है। सम्मेलन मे इस बात पर भी प्रकाश डाला गया कि जो ऋण लिया जाता है उसका उद्देश्य भूमि मे सुधार करने की अपेक्षा पुराना ऋण चुकाना रह गया है। सम्मेलन में इस बात पर जोर दिया गया कि बैंक के पास जितना भी धन है उसका उपयोग इस रूप मे करना चाहिये जिससे कृषि उत्पादन बढ़े और किसानों को बचत करने में सहायता दी जाय ताकि वह अपना पुराना ऋण चुका सकें। यद्यपि अब तक ऋण इस उद्देश्य से भी दिया जाता रहा है कि भूमि और कृषि उत्पादन में सुधार हो परन्तु इस बात पर अधिक जोर दिया गया है कि ऋणों से पुराने कर्ज को चुकाया जाय। इसका एक कारण यह है कि भूमि बन्धक बैंकों का आरम्भ उस समय हुआ जब आर्थिक मदी के कारण कृषक ऋण के बोझ से लद गया था परन्तु युद्ध के समय कृषि की उपज के मूल्य में वृद्धि हो जाने से किसानों ने अपना बहुत कुछ ऋण चुका दिया और यह समस्या अब किसी भी रूप में उतनी गम्भीर नहीं रह गई है जितनी कि वह पहिले थी। वर्तमान समय में देश की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उत्पादन बढ़ाया जाय, सगठन मे सुधार करके उत्पादन व्यय कम किया जाय और उत्पादन के साधनों मे कुशलता प्राप्त की जाय। इसलिये भूमि बन्धक बैंकों से दिये जाने वाले ऋण का अब यही प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये। सम्मेलन में यह बताया गया कि वर्तमान ऋण देने की प्रणाली त्रुटिपूर्ण है। वर्तमान प्रणाली के अनुसार

ऋण लेने वाले को दूसरा और तीसरा ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिये दिया जाता है और ऋण की अधिकतम तथा न्यूनतम मात्रा भी निश्चित नहीं की जाती। यह ऋण २० वर्ष के अंदर चुकाये जा सकते हैं और उन पर ब्याज की वही दर लागू होती है जो मूल ऋण के ब्याज की दर होती है। इसमें सुधार करने की आवश्यकता है—(अ) दूसरे और तीसरे ऋण की ब्याज की दर अधिक होनी चाहिये, (ब) ऋण कम समय के लिये दिया जाय जिससे भूमि से प्राप्त अधिक आय को अन्य कार्यों में लगाने से रोका जाय सके और उसका उपयोग ऋण चुकाने में किया जा सके, और (स) ऋण लेने के उद्देश्य पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

वर्तमान समय में अधिक आवेदन पत्र आने के कारण, आवेदन पत्रों की जाँच करने के लिए शिक्षित कर्मचारियों की कमी होने के कारण, ऋण के सम्बन्ध में किसान को अधिक ज्ञान न होने और मालिकों द्वारा आवश्यक कागजात इत्यादि सावधानी से न रखने के कारण ऋण देने में बहुत समय लग जाता है। इन कठिनाइयों को हल करने के लिए सम्मेलन में यह सुझाव दिया गया कि केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित करें जैसा कि मद्रास में किया गया है। इस पुस्तिका में सरल शब्दों में उन सारी बातों को लिखा जाय जो ऋण लेने के लिए आवश्यक हैं। पुस्तिका में ऋण लेने की पूर्ण विधि दी जाय। बैंक में उपयुक्त शिक्षा प्राप्त कर्मचारी नियुक्त किये जाँय और ग्राम्य क्षेत्रों में ऐसे एजेन्ट नियुक्त किये जायँ जो ऋण के सम्बन्ध में जनता को विभिन्न जानकारी दे सकें।

अध्याय १७

ग्राम्य वित्त व्यवस्था

कृषक को अल्पकालिक, मध्यकालिक और दीर्घकालिक ऋण की आवश्यकता होती है। बीज, खाद, चारा इत्यादि क्रय करने के लिये वह अल्पकालिक ऋण लेता है, पशु तथा कृषि के औजार इत्यादि खरीदने के लिये वह मध्यकालिक ऋण लेता है, और भूमि में स्थायी सुधार करने, बंजर भूमि को उपजाऊ बनाने और कुएँ तथा इमारतों का निर्माण करने के लिये उसे दीर्घकालिक ऋण की आवश्यकता होती है परन्तु इस दिशा में वास्तविक कठिनाइयाँ यह हैं कि (१) कृषक निर्धन और निरक्षर है। कभी कभी तो ऋण लेने के लिये वह आवश्यक जमानत भी नहीं दे पाता। साख के क्षेत्र में उसकी स्थिति प्रायः नगण्य है; और (२) कृषक साधारणतया जमींदारों और महाजनों से ऋण लेता रहा है, यह उसकी परम्परा रही है। परन्तु अब (अ) जमींदारी का उन्मूलन हो जाने से, (ब) महाजनी में अनेक कानूनी प्रतिबन्ध लग जाने से, जैसे लाइसेन्स लेना, लेखा रखना, ब्याज की दर पर नियन्त्रण इत्यादि, और (स) महाजनी कार्य की एक प्रतिकूल सामाजिक प्रतिक्रिया के कारण कृषक के लिये यह स्रोत भी प्रायः समाप्त हो गये हैं। महाजन और जमींदार या तो ऋण देते ही नहीं और यदि देते भी हैं तो बहुत कम।

कृषकों की सहायता के लिये तकावी ऋण प्रणाली है, परन्तु यह प्रणाली लोकप्रिय नहीं हो पाई है क्योंकि (अ) तकावी ऋण लेने में अनेक कारवाइयाँ करनी पड़ती हैं, (ब) यह ऋण विशेष कार्य के लिये दिया जाता है, और (स) ऋण वसूली में कोई रियायत नहीं दी जाती।

इस दिशा में सहकारी साख समितियों और भूमि बन्धक बैंकों ने कुछ प्रगति की है, परन्तु इनकी संख्या बहुत कम है, और महाजनों तथा जमींदारों के आँशिक उन्मूलन से जो अभाव हो गया है उसको पूर्ण कर सकने के लिये यह संस्थाएँ न पर्याप्त हैं और न सुसँगठित। इसका परिणाम यह हुआ है कि कृषक बड़ी कठिनाइयों में ग्रस्त दिखाई देते हैं। पिछले कुछ वर्षों में कृषि उपज के मूल्य में वृद्धि होने से कृषक की वित्तीय स्थिति में कुछ सुधार हुआ है। इस वृद्धि से कृषक के वित्तीय अभाव की आंशिक पूर्ति तो हुई है, पर उसे और अधिक वित्त की आवश्यकता है। कृषक के लिये यह दुष्चक्र है। पर्याप्त वित्त

न होने से वह अपनी भूमि में आवश्यक सुधार नहीं कर पाता। इससे वह निर्धन रहता है और ऐसी स्थिति में रहकर वित्त प्राप्त नहीं कर सकता। भारतीय कृषक की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये इस दुष्चक्र को समाप्त करना आवश्यक है।

ग्राम्य बैंक व्यवस्था जांच समिति—श्री पुरोषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में ग्राम्य बैंक व्यवस्था जाँच समिति ने १९५० ग्राम्य साख व्यवस्था के पुर्नसंगठन के लिये विस्तृत सुझाव दिये हैं। ग्रामों की साख व्यवस्था को पुर्नसंगठित करने के लिये समिति ने कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, (१) समिति का मत है कि ग्रामीण जनता की बचत को संग्रहीत करने का कार्य और ग्रामीण जनता को साख की सुविधा देने का कार्य पृथक नहीं किया जा सकता। ये दोनों कार्य एक ही संस्था द्वारा किए जाने चाहियें। (२) वर्तमान समय की सबसे बड़ी समस्या यह है कि ग्रामों में ऋण इत्यादि देने के लिये उपयुक्त संस्थाओं की व्यवस्था को जाय। (३) देश के विभिन्न भागों में अल्पकालिक और मध्यकालिक ऋण देने की व्यवस्था करने के लिये एक ही प्रकार की संस्था से कार्य नहीं चल सकता है। प्रत्येक क्षेत्र को अपनी स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उचित प्रकार की संस्था का निर्माण करना होगा और इस संस्था को सहकारिता के सिद्धान्त के आधार पर संगठित करना होगा। (४) सरकार को ऋण तथा भूमि सम्बन्धी कानून बनाते समय इस ओर ध्यान देना चाहिये कि इन कार्यों के लिये नई और उपयुक्त संस्थायें किसी गति से स्थापित्त की जा सकती हैं। इस प्रकार के नियमों का साख संस्थाओं पर जो प्रभाव पड़े उसका सरकार को अध्ययन करना चाहिये।

समिति ने यह बताया कि देश में व्यापारिक बैंक व्यवस्था का प्रसार हुआ, परन्तु इसके साथ ही उसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया कि व्यापारिक बैंक और विशेषकर अनुसूचित बैंक बड़े नगरों और कस्बों में केन्द्रित हैं। छोटे कस्बों और ग्राम्य क्षेत्रों में यह कार्य सहकारी बैंक, डाकखाने के सेविंग बैंक और गैर अनुसूचित बैंक चलाते हैं। समिति ने बताया कि ८६६ कस्बों में, जिनमें ४६२ स्थानों पर या तो जिले के प्रधान कार्यालय है या तालुका के, बैंक सम्बन्धी कोई सुविधा उपलब्ध नहीं थी।

समिति ने सुझाव दिया कि यद्यपि व्यापारिक बैंकों को ग्राम्य क्षेत्रों में अपनी और अधिक शाखायें स्थापित करने और व्यवसाय में उन्नति करने के लिये प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करना चाहिये परन्तु फिर भी सम्भावना यही है कि वर्तमान परिस्थितियों में व्यापारिक बैंक तालुका या तहसील के प्रधान कार्यालयों, कस्बों, मंडियों और व्यापारिक तथा औद्योगिक महत्व के अन्य कस्बों के सिवाय

अन्यत्र अपना प्रसार कम करेंगे। छोटे कस्बों में सहकारी बैंकों का विकास करने की आवश्यकता है क्योंकि (अ) उनका ग्रामों की सहकारी समितियों से निकट सम्बन्ध रहता है और (ब) उनके व्यवसाय का व्यय भी अपेक्षाकृत कम होता है। छोटे ग्रामों में सहकारी समितियों और डाकखाने के सेविंग बैंकों की व्यवस्था होनी चाहिये।

व्यापारिक बैंकों की सहायता करने के लिये समिति ने अनेक सुझाव दिये हैं, (१) सड़कों का निर्माण करके, ग्राम-यातायात एवम् संचार के साधनों का विकास करके, इन बैंकों पर दुकान निर्माण नियम लागू न करके और इन्हें औद्योगिक पचन्यायालय के निर्णयों से मुक्त करके उन सारी बाधाओं को दूर किया जाय जिनसे व्यापारिक बैंकों का विकास अवरुद्ध है। (२) रिजर्व बैंक तथा उसकी शाखाओं द्वारा कम ब्याज पर या बिना ब्याज के इनको रुपया दिलाने की व्यवस्था करके अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन दिया जाय। इनको बड़े तथा छोटे कोष गृह में अपना रुपया सुरक्षित रखने की सुविधा दी जाय और भाण्डागार विकास बोर्ड के द्वारा इनके लिये भंडार बनवाये जाँय (३) सहकारी बैंकों और सहकारी साख समितियों को विशेष सहायता दी जाय, जैसे इन्हें नेशनल सेविंग सर्टीफिकेट विक्रय का अधिकार दिया जाय और डाकखाने के सेविंग बैंकों से प्रति-सप्ताह रुपया निकालने और अधिकतम निक्षेप के सम्बन्ध में सुविधा, कम दर पर रुपया माँगने और भेजने की सुविधा इत्यादि।

ग्रामों में सेविंग बैंक का कार्य करने वाले डाकखानो की संख्या में वृद्धि की जाय और उनके कार्य में सुधार करने का प्रयत्न किया जाय। समिति के मतानुसार यह मान लेना गलत है कि ग्रामों में काफी मात्रा में नकद बचत है। जिसे बैंकिंग की सुविधाओं का प्रसार करके संग्रह किया जा सकता है।

दीर्घकालीन साख के लिये समिति ने यह सुझाव दिया कि जिस क्षेत्रो में प्रारम्भिक तथा केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक नही हैं वहाँ उन्हें स्थापित किया जाय। समिति ने देश भर के लिये एक केन्द्रीय कृषि साख कारपोरेशन की स्थापना करने और बैंकों के प्रसार के लिये प्रोत्साहन देने के लिये नकद आर्थिक सहायता देने के अनेक प्रस्तावों को सिद्धान्तों के आधार पर और अनेक प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण स्वीकार नहीं किया। वर्तमान परिस्थियों में निक्षेप बीमे को लागू करना और बड़े पैमाने पर चल बैंकों की व्यवस्था करना उपयुक्त नहीं समझा गया।

समिति के प्रस्तावों की आलोचना—जाँच समिति की उक्त योजना की आलोचना करते हुये यह बताया गया है कि—(१) योजना में ग्रामीण क्षेत्रों

को वित्तीय सहायता देने की अपेक्षा इस बात पर जोर दिया गया है कि ग्रामीणों की बचत को संग्रहीत किया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तावित व्यवस्था के अन्तर्गत धन एकत्र करने वाली संस्था अपने द्वारा संग्रहीत कोष में से स्थानीय उपयोग के लिये कुछ योगदान नहीं देगी और ऐसी स्थिति में ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापारिक एवम् सहकारी बैंकों के कार्य का प्रसार करने में यह आवश्यक नहीं होगा। (२) समिति ने दीर्घकालिक वित्तीय सहायता पर जोर दिया है परन्तु यह सुझाव नहीं दिया है कि यह वित्तीय सहायता किन स्रोतों से और किस प्रकार प्राप्त की जाय। इसने केवल यह सुझाव दिया है कि भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये जाँय। इस प्रकार के बैंकों की स्थापना करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं और जहाँ यह स्थापित हो चुके हैं वहाँ भी यह दीर्घकालिक वित्तीय सहायता यदि किसी केन्द्रीय कृषि कार्पोरेशन से भूमि बन्धक बैंकों द्वारा या अन्य संस्थाओं द्वारा प्राप्त हो सके तो यह बहुत उपयुक्त होगा। परन्तु कुछ कारणों से समिति ने केन्द्रीय कारपोरेशन स्थापित करने के विचार को अस्वीकृत कर दिया। (३) अल्पकालिक वित्तीय सहायता के लिये समिति ने सहकारी बैंकों को उपयुक्त साधन माना है, परन्तु समिति ने इस सम्बन्ध में कोई सुझाव नहीं दिया है कि इन सहकारी संस्थाओं को भविष्य में किस प्रकार अधिक सफल बनाया जा सकता है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण—अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण, अथवा गोरवाला कमेटी, ने ग्राम्य अर्थ प्रबन्धन की दशा का विश्लेषण किया और अपनी १९५४ में प्रकाशित रिपोर्ट में विशद अभिस्ताव किये हैं। भारतीय कृषक संतोषप्रद ढंग से अपनी ऋण की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाता। जितना ऋण ग्रामों में लिया जाता है उसका केवल ३% सहकारी संस्थाओं द्वारा प्रदान किया जाता है और ३% से कुछ ही अधिक सरकारी संस्थाओं से। अपनी आवश्यकता के ९४% के लिये अब भी ग्रामवासियों को ग्रामीण महाजन और साहूकार के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। इसके कारण कृषक के लिये अपनी आवश्यकता पर ऋण लेना बहुत ही महगा, अपर्याप्त और अनिश्चित है। समिति इस निष्कर्ष पर पहुँची कि कृषि सम्बन्धी ऋण जैसे प्राप्त है "न तो मात्रा में ही आवश्यकता अनुसार पूर्ण है और न जिस ढग से मिलता है वही उचित है, और यदि जनता की आवश्यकता की दृष्टि से देखा जाय (ऋण लेने की क्षमता की उपेक्षा न करते हुये) तो जिसे मिलना चाहिये उसे प्राप्त भी नहीं होता।" समिति के मत में सहकारी समितियाँ इस समस्या को सुलझाने के लिये अयोग्य हैं, उनके पास धन का अभाव है। उनका यह भी मत है कि सहकारी-ऋण-आन्दोलन अपने निजी प्रयत्न द्वारा तो कृषकों की ऋण की

आवश्यकता को पूर्ण नहीं कर सकता। समिति ने कहा कि भारत में ग्राम्य ऋण समस्त देश की सजीव और विस्तृत समस्या का एक अंश है। बिना उस सदर्भ में उसे ठीक-ठीक समझे सुलझाया नहीं जा सकता। उसकी सर्व विदित कठिनाई का केन्द्र ग्राम ही है, पर उसके कार्यों और निराकरण के उपायों को अन्यत्र ढूंढ़ना होगा। इस प्रकार यह समस्या केवल ग्राम की ही समस्या नहीं है। प्रत्यक्ष रूप से इसका रूप ऋण लेना है पर वास्तव में यह समस्या आर्थिक व्यवस्था की है, इसलिये विस्तृत आर्थिक क्रियाओं तथा ध्येयों का यह एक अंग है।

समिति द्वारा ग्राम्य ऋण की अभिस्तावित सम्यक योजना तीन मूलाधार सिद्धान्तों पर आधारित है; (१) सरकार को विभिन्न स्तरों पर सहयोग देना चाहिये; (२) ऋण तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं में पूर्ण सामजस्य होना चाहिये; और (३) इस योजना का प्रशासन पूर्ण रूप से प्रशिक्षित तथा कुशल कर्मचारियों द्वारा होना चाहिये जिनके हृदय में ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं के प्रति सहानुभूति हो। समिति ने सरकार के सहकारी ऋण सुविधाओं में, भान्डागारों की सुविधाओं और ग्रामों में साधारण बैंकों के विस्तार कार्यों में सहयोग के लिये विशद अभिस्ताव किये हैं। कमेटी ने इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की सिफारिश की और रिजर्व बैंक, कृषि तथा खाद्य मंत्रालय राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भाण्डागर बोर्डों के तत्वाधान में अनेकों कोषों के स्थापना की ग्राम पुर्नसंगठन के कार्यों में आर्थिक सहायता देने के लिये सिफारिश की।

आलोचना—गोरवाला कमेटी ने भारतीय ग्राम्य समस्याओं का ठीक-ठीक विश्लेषण किया और इस निर्णय पर ठीक ही पहुँची कि ग्राम अपनी ऋण समस्या को बिना बाह्य सहायता के अपने आप सुलझा नहीं सकते। भूतकाल में मुख्य जोर सहकारी ऋण सुविधा पर दिया गया था। कमेटी का यह निष्कर्ष उचित ही था कि सहकारी ऋण आन्दोलन अपनी वर्तमान समय की स्थिति के अनुसार ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर सकता। कमेटी का यह प्रस्ताव भी बहुत ही श्लाघनीय है कि ऋण समस्या के सुलझाने की योजना को सम्पूर्ण रूप से लेना चाहिये और साख तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं को एक साथ कार्यान्वित करना चाहिये तभी योजना सफल हो सकती है। परन्तु कमेटी के सुझाव किसी सीमा तक दोषपूर्ण भी हैं। (१) यद्यपि कमेटी ने अधिकाधिक सरकारी सहयोग की सिफ़ारिश की है, पर उन्हें इस बात की आशंका न हुई कि इससे जनता सरकारी सहायता पर आवश्यकता से अधिक निर्भर रहने की आदी हो जायगी और उनकी निर्भरता सरकार के हर स्तर पर सहयोग देने से धीरे-धीरे लुप्त हो जायगी। (२) कमेटी ने इम्पीरियल बैंक आफ़ इंडिया के राष्ट्रीय-

कारण की ओर ग्रामो मे साधारण बैंको के विस्तार की सिफ़ारिश की पर उनका इस बात की ओर ध्यान नहीं गया कि यह तभी सफ़ल हो सकता है जब ग्रामीण जनता की बैंकों के प्रयोग करने की आदत पड़ जाय, जिसकी निकट भविष्य में तो कोई सम्भावना नहीं दिखाई पडती। बिना इस आदत के स्टेट बैंक आफ़ इंडिया की जो शाखायें ग्रामों में खोली जाँयगी वे बैंकों को हानि ही पहुँचायेंगी और उसके द्वारा राष्ट्र को हानि होगी और कार्य कुछ न हो सकेगा; और (३) कमेटी द्वारा सरकारी सहयोग और आर्थिक सहायता से ग्राम्य ऋण समस्या के सुलझा सकने की आशा नहीं की जा सकती। यह समस्या इतनी विशाल है और सरकारी आर्थिक सहायता जो इस कार्य के लिये नियत की गई है इतनी नगण्य है कि सम्यक योजना की बड़ी बड़ी बातो के होते हुये भी थोड़ी सी भी सफलता प्राप्त करने में बहुत समय लगेगा। यदि सरकार ने भूतकाल में गाँवों के ऋण स्त्रोतों के विनाश करने में, जब कि वे उनके स्थान पर दूसरी सुविधा प्रदान करने मे असमर्थ थे, शीघ्रता न की होती तो स्थिति इतनी निराशजनक न होती।

योजना के अन्तर्गत—सर्व प्रथम कार्य इम्पीरियल बैंक आफ़ इंडिया को प्रथम जुलाई १९५५ से राष्ट्रीय करण करके स्टेट बैंक आफ़ इंडिया को समर्पित करके किया गया। ग्राम्य अधिकोषण जाँच कमेटी ने इम्पीरियल बैंक की २७४ नई शाखाओं के खोलने का सुझाव दिया पर इम्पीरियल बैंक १ जुलाई १९५१ से ३० जून १९५६ तक केवल ११४ नई शाखाओं के खोलने के लिये प्रस्तुत हुआ था। जब से स्टेट बैंक आफ़ इंडिया का जन्म हुआ है, नवीन शाखाओं के खोलने की गति मे वृद्धि हुई है। स्टेट बैंक आफ़ इंडिया के लिए अपने जीवन काल के प्रथम पाँच वर्षों के भीतर अर्थात् ३० जून १९६० तक ४०० नवीन शाखाओं का खोलना नियम के अनुसार अनिवार्य कर दिया गया है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अभिस्तावों के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अल्प कालिक, मध्य कालिक, तथा दीर्घ-कालिक ऋण सुविधाओं के सम्बन्ध मे निश्चित किये हुये ध्येय प्रथम योजना के ध्येयों की अपेक्षा बहुत ऊँचे नियत किये गये हैं जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट होता है।

	प्रथम योजना के ध्येय	द्वितीय योजना के ध्येय
अल्पकालिक ऋण	३० करोड़ रुपया	१५० करोड़ रु०
मध्यकालिक ऋण	१० करोड़ रुपया	५० करोड़ रु०
दीर्घकालिक ऋण	३ करोड़ रुपया	२५ करोड़ रु०

इससे यह स्पष्ट है कि अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण ग्रामीण साख समस्या के प्रति जनता का ध्येय आकर्षित करने में सफल हुआ है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण द्वारा प्रस्तावित पुनर्संगठन की योजना की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने साख तथा गैर साख समितियों को एक दूसरे से सम्बद्ध कर देने की सिफारिश की ताकि कृषक को ऋण, बीज, खाद, कृषि सम्बन्धी औजार तथा आवश्यक उपभोग की सामग्री प्राप्त हो सके और उसे अपनी उत्पत्ति को बाजार में लेजाकर विक्रय करने में भी सुविधायें मिल सकें। कार्यों के सोचे हुये विस्तार के अनुकूल ग्रामीण साख सर्वेक्षण ने यह भी सिफ़ारिश की कि ग्राम में वर्तमान छोटी छोटी समितियों को मिलाकर बड़ी समितियों में परिणित कर देना चाहिये ताकि वे अनेक ग्रामों के समूह की सेवा कर सकें और ये पहिले पहिले बनाई जाने वाली बड़ी समितियों की रूप रेखा वही हो जो सर्वेक्षण ने प्रस्तावित की है। ऐसी बड़ी समितियों की सामान्य रूप रेखा कुछ इस ढग की होगी कि उसके सदस्य संख्या में लगभग ५०० तक होंगे और प्रत्येक सदस्य का उत्तरदायित्व उनके द्वारा जमा की हुई पूँजी के द्राव्यिक मूल्य के पाँच गुने तक सीमित होगा। समिति की न्यूनतम शेयर पूँजी लगभग १५,००० रु० के होगी और वह एक उपयुक्त संख्या में ग्रामों की जो एक समूह के अन्तर्गत रख दिये जायेंगे सेवा करेगी और जो यथासम्भव प्रतिवर्ष लगभग १·५ लाख रुपये का व्यवसाय करके दिखायेगी। ऐसा प्रस्ताव किया गया है कि १९६०-६१ तक १०,४०० ऐसी बड़ी समितियाँ जिनके प्रबन्धक प्रशिक्षित होंगे स्थापित हो जानी चाहिये।

सरकार को सहकारिता में सहयोग दे सकने में सुविधा प्रदान करने के विचार से रिजर्व बैंक ने एक राष्ट्रीय-कृषि-साख (दीर्घ कालीन) कोष की स्थापना १० करोड रुपये से की है। द्वितीय योजना काल में प्रतिवर्ष ५ करोड़ रुपये का अनुदान दिया जायगा ताकि १९६०-६१ तक कोष में ३५ करोड़ रुपया हो जाय। इस कोष से राज्यों को इसलिये ऋण दिया जायगा कि वे सहकारी संस्थाओं की शेयर पूँजी क्रय कर सकें। एक दूसरे कोष की भी, जिसका कि नाम राष्ट्रीय सहकारी विकास कोष होगा, केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापना की जायगी। इस कोष से राज्य-सरकारें गैर साख समितियों की शेयर पूँजी खरीदने के लिये ऋण ले सकेंगी। इसी कोष में से भण्डारगृह के निर्माण, सहकारी समितियों के कर्मचारियों पर व्यय, तथा सहकारी विभागों के प्रशासन का दृढ़ बनाने पर व्यय करने के लिये द्राव्यिक सहायता दी जायगी।

भण्डागार, साख समितियों तथा गैर साख समितियों के बीच एक महत्त्वपूर्ण संस्थागत कड़ी के रूप में होंगे। प्रारम्भिक बिक्री समितियों और सुव्यवस्थित

साख समितियों को अधिक संख्या में गोदाम बनवाने होंगे। ग्रामीण साख सर्वेक्षण के सुझाव के अनुकूल ही यह प्रस्ताव किया गया है कि एक केन्द्रीय भाण्डागार-निगम की स्थापना की जाय और प्रत्येक प्रदेश में भी उसी प्रकार भाण्डागार-निगम स्थापित किये जाँय। ये निगम राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भाण्डागार बोर्ड के निर्देशन में कार्य करेंगे। एक प्रदेश के भाण्डागार निगम की अधिकृत पूँजी २ करोड़ रुपये तक अनुमानित की गई है पर निर्गमित पूँजी विभिन्न राज्यों को उनकी आवश्यकता के अनुकूल होगी। यह प्रस्ताव किया गया है कि केन्द्रीय भाण्डागार निगम द्वारा आधी पूँजी और शेष आधी प्रादेशिक सरकार द्वारा क्रय की जानी चाहिये। यह आशा की जाती है कि १६ भाण्डागार निगम स्थापित किये जायेंगे और द्वितीय पंचवर्षीय योजना में २५० भाण्डागार विभिन्न केन्द्रों में स्थापित किये जायेंगे, जिनकी माल सुरक्षित रखने की शक्ति लगभग १० लाख टन होगी। भाण्डागारों की स्थापना के लिये उपयुक्त केन्द्रों की खोज की जा रही है। ऐसी आशा की जाती है कि केन्द्रीय भाण्डागार निगम की कुल पूँजी १० करोड रुपये के लगभग होगी जिसमें से केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय विकास तथा भाण्डागार बोर्ड द्वारा ४ करोड़ रुपये तक के शेयर सम्भवतः क्रय कर ले और शेष पूँजी स्टेट बैंक आफ इन्डिया, अनुसूचित बैंकों, तथा सहकारी संस्थाओं द्वारा क्रय की जाय। केन्द्रीय भाण्डागार निगम से यह आशा की जाती है कि वह मुख्य मुख्य केन्द्रों में १०० बड़े भाण्डागार स्थापित करेगा। भाण्डागार रसीदों को क्रय-विक्रय योग्य (negotiable) माना जायगा, जिसकी जमानत पर अधिकोषण संस्थायें उन व्यक्तियों को ऋण दे सकेंगी जिन्होंने भाण्डागारों में कृषि उत्पत्ति जमा की है।"

सहकारी साख, बिक्री, विधायन तथा भाण्डागारों इत्यादि के सम्बन्ध में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत मुख्य ध्येय निम्न हैं।

साख	
बड़ी समितियों की संख्या	१०४००
अल्पकालीन ऋण की मात्रा का ध्येय	१५० करोड रु०
मध्यकालीन ऋण की मात्रा का ध्येय	५० करोड़ रु०
दीर्घकालीन ऋण की मात्रा का ध्येय	२५ करोड रु०
बिक्री तथा विधायन	
प्रारम्भिक बिक्री समितियाँ जिनकी व्यवस्था की जायगी	१८००
सहकारी चीनी कारखाने	३५

सम्बन्धी विपत्रों का रिजर्व बैंक द्वारा पूर्व प्रापण नियमानुकूल कर दिया गया है और इस बात की भी अनुमति दे दी गई है कि स्वीकृत घरेलू उद्योग तथा छोटे उद्योगों को उत्पादन में तथा उनके माल के विक्रय में आर्थिक सहायता पहुँचा सकता है।

१९४२ से भारतीय रिजर्व बैंक ने फसल की बिक्री के लिए सहकारी संस्थाओं को बैंक दर से एक प्रतिशत कम व्याज की दर पर वित्तीय सहायता दी है। १९४४ में इसके अन्तर्गत फसल बोने, काटने, बेचने इत्यादि का कारोबार भी सम्मिलित कर लिया गया। १९४६ में ब्याज की दर में बैंक दर से एक प्रतिशत से बढ़ाकर डेढ़ प्रतिशत कमी कर दी गई है। बैंक के व्याज की दर में ३ प्रतिशत से ३½ प्रतिशत तक वृद्धि हो जाने पर भी रिजर्व बैंक ने कृषि कार्य के लिए डेढ़ प्रतिशत व्याज की दर पर ही सहायता दी, यह दर अब २ प्रतिशत कम कर दी गई है।

रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंकों को कुछ अन्य सुविधाएँ प्रदान की हैं। पहले सहकारी बैंकों को सभी ऋण प्रति वर्ष ३० सितम्बर तक चुकाने पड़ते थे। इससे सहकारी बैंकों को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। रिजर्व बैंक ने अब यह निश्चय किया है कि सहकारी बैंकों द्वारा लिए गए ऋण अपनी पूरी अवधि के बाद भी चुकाये जा सकते हैं परन्तु इसमें यह शर्त लगा दी गई है कि किसी भी समय इन बैंकों के पास कुल शेष ऋण उस वर्ष के लिए निर्धारित साख सीमा से अधिक न हो। सहकारी बैंकों को एक और सुविधा दी गई है। अब सहकारी बैंक रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित साख सीमा को बढ़ा भी सकते हैं, यह बैंक ऋण की इस रकम को अब अपनी सुविधानुसार ले सकते हैं और उसका भुगतान कर सकते हैं जैसा कि बैंक में जमा रुपये के साथ किया जाता है। पहले यह स्थिति थी कि ऋण को निर्धारित अवधि में चुकाने के पश्चात् पुनः उसी वर्ष बिना रिजर्व बैंक की अनुमति के नया ऋण नहीं लिया जा सकता था परन्तु अब किसी वर्ष की ऋण की निर्धारित रकम के बराबर उपयोग में इस अनुमति की आवश्यकता नहीं रही है।

ग्राम्य बैंक व्यवस्था जाँच समिति की सिफारिश पर रिजर्व बैंक ने वित्तीय सहायता देने के सम्बन्ध में सुविधाएँ बढ़ायीं और १ सितम्बर १९५१ से कमीशन में ५० प्रतिशत कमी कर दी है। जैसा ऊपर बताया गया है रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि सम्बन्धी साख कोष की स्थापना की है। इस कोष से राज्य सरकारों को दीर्घकालीन ऋण दिया जायगा जिसकी सहायता से वे सहकारी साख संस्थाओं की शेयर पूँजी क्रय करने में योगदान दें। १९५६ में रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख

(स्थायित्व) कोष स्थापित किया। कृषि उत्पत्ति (विकास और भाण्डागार) निगम अधिनियम भी १९५६ में पास किया गया और उसके अन्तर्गत राष्ट्रीय सहकारी विकास और भाण्डागार बोर्ड १ सितम्बर १९५६ में स्थापित किया गया। "बोर्ड के अन्तर्गत दो कोष हैं, (१) राष्ट्रीय सहकारी विकास कोष तथा (२) राष्ट्रीय भाण्डागार विकास कोष। पहले कोष का उद्देश्य राज्य सरकारों को ऋण और आर्थिक सहायता देना है ताकि वे सहकारी समितियों की हिस्सा पूँजी में भाग ले सके या अन्य प्रकार से उनके अर्थ प्रबन्धन मे मदद कर सकें। दूसरे कोष का उद्देश्य (१) केन्द्रीय भाण्डागार निगम की हिस्सा पूँजी में भाग लेने, (२) राज्य सरकारों के राज्यीय भाण्डागार निगमों को हिस्सा पूँजी में भाग लेने तथा (३) कृषि उन्नति के संग्रह को प्रोत्साहित करने के लिये भाण्डागार निगम अथवा राज्य सरकार को ऋण तथा आर्थिक सहायता देने का है।

अध्याय १८

कृषि नियोजन

भारत की प्रथम पञ्चवर्षीय योजना ने कृषि नियोजन पर विशेष महत्व दिया था। प्रथम योजना के अन्तर्गत २३५६ करोड़ रुपये के कुल व्यय में से १५.१% (३५७ करोड़ रु०) कृषि तथा सामुदायिक विकास योजनाओं, तथा २८.१% (६६१ करोड़ रुपये) सिंचाई तथा विद्युत शक्ति योजनाओं पर व्यय के लिये निश्चित कर दिये गये थे। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि नियोजन का स्थान महत्वपूर्ण है, पर अधिक जोर औद्योगिक विकास पर दिया गया है। इस प्रकार प्रथम योजना में जो असंतुलित होने का दोष आ गया था उसे दूर कर दिया गया है। द्वितीय योजना में विकास सम्बन्धी ४८०० करोड़ रुपये के कुल व्यय में से कृषि तथा सामुदायिक विकास योजनाओं को ११.८% (५६८ करोड़ रुपये) और सिंचाई तथा शक्ति योजनाओं को १९% (९१३ करोड़ रुपये) मिले हैं।

प्रथम योजना में कृषि पर विशेष महत्व देने के सम्बन्ध में योजना आयोग ने दो तर्क दिये थे—(१) जा योजनाएँ प्रचलित हैं उनको पूर्ण करने की आवश्यकता है और (२) जब तक खाद्यान्न का और उद्योगों के लिये आवश्यक खनिज पदार्थों का पर्याप्त उत्पादन नहीं कर लिया जाता औद्योगिक विकास के कार्यक्रम में विशेष प्रगति ला सकना सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि उद्योगों का विकास करने के लिये खनिज पदार्थों और खाद्यान्न की आवश्यकता होती है। यदि यह सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रा में मिल जाँय तो भारतीय उद्योग को विकसित करने में निश्चय ही सहायता मिल सकती है। इसके साथही भारत की अधिकाँश जनता कृषि कार्य करती है। कृषि में सुधार करने से इनकी आय में वृद्धि होगी और परिणाम स्वरूप रहन सहन में सुधार होगा। परन्तु इतने पर भी योजना आयोग द्वारा कृषि को प्रधानता दिये जाने की कड़ी आलोचना की गई थी। भारत की आर्थिक व्यवस्था असन्तुलित है, क्योंकि उद्योगों का विकास करने की पूर्ण सम्भावना होते हुये भी अब तक उद्योग पूरी तरह विकसित नहीं हो पाये हैं। इस तथ्य की ओर ध्यान न देकर निरन्तर इस बात पर महत्व दिया जा रहा है कि कृषि का विकास करने की विशेष आवश्यकता है। पंचवर्षीय योजना के पूर्ण हो जाने पर इस असंतुलित व्यवस्था के दूर होने की सम्भावना नहीं है। वास्तव में

सम्भावना में इस बात की है कि योजना के परिणाम स्वरूप यह व्यवस्था दृढ़तर हो जायगी। यदि पञ्चवर्षीय योजना निर्माण करते समय उद्योगों पर अधिक ध्यान दिया गया होता तो इस दोष के दूर हो सकने की आशा थी और भारत का और अधिक सन्तुलित विकास हो सकता था। यदि योजना आयोग उद्योगों के विकास पर महत्व देता तो इससे कृषि के विकास की समुचित व्यवस्था करने में उसको किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता। दूसरे, यह बिल्कुल सही है कि भविष्य में औद्योगिक विकास करने के लिए दृढ़ आधार का निर्माण किया जाय परन्तु इस बात पर कैसे विश्वास कर लिया जाय कि भारत की कृषि का पूर्ण विकास हो जाने के पश्चात् उद्योगों का इस स्तर तक विकास कर लिया जायगा कि उसमें उस समय उत्पादित कच्चे माल और बिजली इत्यादि का पूर्ण उपभोग हो सकेगा। यह बहुत सम्भव है कि उस समय तक अन्य देशों के उद्योग अधिक शक्ति शाली हो जायेंगे और भारतीय उद्योग के लिये नवीन समस्याएँ उत्पन्न कर दें। योजना आयोग उद्योगों का और अधिक विकास करने और भारतीय कृषि से उपलब्ध न हो सकने पर खाद्यान्न तथा कच्चे माल का आयात करने की व्यवस्था कर सकता था जैसे जापान और ब्रिटेन ने किया। यदि उद्योग और कृषि दोनों का साथ साथ विकास किया जाय तो भारत का आर्थिक विकास और अधिक सन्तुलित हो जायगा और उद्योग तथा कृषि के विकास का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हो जायगा। योजना में कृषि पर आवश्यकता से अधिक महत्व दिये जाने से कृषि तथा उद्योग के विकास में सन्तुलन स्थापित कर उनका सुनियोजित विकास करने में बाधा पहुँचेगी जब कि नियोजन का आधार ही सन्तुलित और क्रम बद्ध विकास करना है।

प्रथम योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि की सर्वतोन्मुखी उन्नति का प्रबन्ध किया गया था। उसके अन्तर्गत कृषि उत्पत्ति के अतिरिक्त पशु-सुधार, सहकारी आंदोलन का विकास, गव्यशाला, वन, भूमि संरक्षण तथा पंचायतों के विकास और सुधार की योजनाएँ सम्मिलित थीं। भारत को केवल खाद्यानों और उद्योगों के लिये कच्चे माल के उत्पादन में ही आत्म निर्भर बनाने पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था, वरन ग्रामीण जनता के रहन सहन के स्तर को उन्नत करने तथा प्रति व्यक्ति वार्षिक उत्पादन में भी वृद्धि करने का विचार किया गया था। प्रथम योजना में कृषि तथा सामुदायिक विकास योजनाओं पर व्यय किये जाने वाले ३५७ करोड़ रुपये में से १९७ करोड़ रुपये कृषि सम्बन्धी कार्य क्रमों पर, ९० करोड़ रुपये राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं पर तथा सामुदायिक योजना क्षेत्रों पर, २२ करोड़ रुपया पशु पालन पर, १५ करोड़ रुपये

स्थानीय सुधार कार्यों पर, ११ करोड़ ग्राम पंचायतों पर, १० करोड़ वनों पर, ४ करोड़ मछली पकड़ने के कार्यों पर, ७ करोड़ सहकारिता पर और १ करोड़ रुपये अन्य बातों पर व्यय करने के लिये नियत किये गये थे।

प्रथम योजना का सिंचाई सम्बन्धी तथा विद्युत शक्ति के विकास का कार्यक्रम बहुत ही विशद था। यह कार्यक्रम उन योजनाओं पर आधारित था जो योजना के पूर्व से ही प्रचलित थीं। योजना में इन योजनाओं को आगे बढ़ाने का प्रबन्ध किया गया था। परन्तु इनकी संख्या इतनी अधिक थी कि सम्पूर्ण योजनाओं को एक साथ नहीं लिया जा सकता था। इसलिये यह निर्णय किया गया कि कोसी, कोयना, कृष्णा, चम्बल और रिहन्ड योजनाओं को योजना काल के अंतिम भाग में लिया जायगा। ६६१ करोड़ रुपयों के कुल व्यय में से ३८४ करोड़ सिंचाई के लिये, २६० करोड़ विद्युत योजना के लिये और १७ करोड़ बाढ़ नियंत्रण तथा अन्य खोज कार्यों के लिये नियत किये गये। प्रथम योजना का लक्ष्य सींची जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल ५१० लाख एकड़ से, जो कि १९५०-५१ में था, बढ़ा कर ६७० लाख एकड़ १९५५-५६ तक करने का और विद्युत शक्ति का उत्पादन २३ लाख किलोवाट से बढ़ाकर ३४ लाख किलोवाट कर देने का था। यदि इस विकास योजना को दीर्घ कालीन दृष्टि से देखा जाय तो यह आशा की जा सकती थी कि २० वर्षों के अन्तर्गत ही ४०० लाख से लगाकर ४५० लाख एकड़ तक अतिरिक्त भूमि सिंचाई के अंतर्गत आ जायगी और वर्तमान विद्युत शक्ति की मात्रा जो उत्पादित की जा रही है उसमें ७० लाख किलोवाट की और अधिक वृद्धि हो जायगी। यह कार्यक्रम का बड़ा ही श्रेष्ठ आदर्श है और यदि पूर्ण हो गया तो भारतीय ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था की रूप रेखा बदल जायगी।

प्रथम योजना में कृषि नियोजन की तीन प्रमुख विशेषताएँ थीं—(१) सम्पूर्ण कार्य केवल राज्य सरकारों द्वारा संचालित किया जायगा और उद्योगों के विपरीत निजी व्यवसाय का इसमें कुछ हाथ नहीं रहेगा। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के कार्य में काफी दीर्घ अवधि के पश्चात् लाभ अर्जित किया जा सकता है और रुपयों के रूप में तुरन्त लाभांश प्राप्त नहीं होता। विगत वर्षों में निजी उद्योग इस प्रकार के कार्यों से पृथक रहा है। इसलिये स्वाभाविक ही योजना आयोग ने इस कार्य का सचालन करने के लिये निजी उद्योगों को उपयुक्त साधन नहीं समझा। आयोग को निजी उद्योगों की कार्यक्षमता पर विश्वास नहीं हो सका। योजना के अनुसार राज्य सरकारें सिंचाई तथा विद्युत योजना कार्यों का प्रबन्ध करेंगी और केन्द्रीय सरकार विभिन्न राज्यों के इस कार्य में उचित सम्बन्ध स्थापित करेगी तथा अन्य सामान्य सहायता देगी; (२) दीर्घकालीन योजनाओं पर

विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रकार की योजनाओं से होने वाले लाभ का अनुभव १५ से २० वर्ष के पश्चात् किया जा सकेगा जब कि भारत की कृषि का पूर्ण विकास हो चुकेगा। यद्यपि दीर्घकालीन योजनाओं पर महत्व दिया गया है, फिर भी अल्पकाल में खाद्यान्न तथा उद्योग के लिये आवश्यक कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि करने की भी समुचित व्यवस्था की गई है। जैसा कि 'कृषि उत्पादन और नीति' शीर्षक अध्याय में बताया गया है, यह आशा की जाती है कि खाद्यान्न के सम्बन्ध में भारत को योजना की अवधि में ही स्वावलम्बी बनाया जा सकेगा और कपास तथा जूट के सम्बन्ध में भारत की विदेशों पर निर्भरता को कम किया जा सकेगा; (३) इस योजना का उद्देश्य केवल कृषि उत्पादन में वृद्धि ही नहीं बल्कि ग्राम्य-जीवन का बहुमुखी विकास भी करना है।

द्वितीय योजना—प्रथम योजना का अभाव द्वितीय योजना में पूर्ण कर दिया गया और उद्योगों को प्रमुख स्थान दिया गया है, जो कि न्यायपूर्ण और उचित था। इससे भारत के विकास की असतुलित अवस्था सुधर जायगी और राष्ट्रीय आय में अधिक तीव्र गति से वृद्धि होगी और कार्य करने के अधिक अवसर प्राप्त हो सकेंगे। द्वितीय योजना के अन्तर्गत ४८०० करोड़ रुपयों के विकास कार्यक्रमों पर नियत व्यय में से १८·५% उद्योगों और खान खोदने पर, २८·९% सचार तथा यातायात पर, ११·८% (५६८ करोड़ रु०) कृषि तथा सामुदायिक विकास पर, और १९% (९१३ करोड़ रुपये) सिंचाई तथा विद्युत शक्ति के उत्पादन पर व्यय किया जायगा। यद्यपि द्वितीय योजना में उद्योगों और यातायात को अधिक महत्ता दी गई है पर कृषि तथा सिंचाई को छोड़ नहीं दिया गया है। द्वितीय योजना में कृषि नियोजन की मुख्य विचारणीय बातें निम्न हैं—

(अ) कृषि सुधार सम्बन्धी कार्यक्रमों से यह आशा की जाती है कि बढ़ी हुई जनसख्या के लिये पर्याप्त खाद्य सामग्री तथा विकसित उद्योग व्यवस्था के लिये कच्चा माल दे सकेंगे और इतनी कृषि उत्पत्ति बच रहेगी कि उसका निर्यात भी किया जा सकेगा। इसलिये यह कहा जा सकता है कि द्वितीय योजना में प्रथम योजना की अपेक्षा कृषि तथा अन्य उद्योगों के विकास कार्यक्रम में अधिक पारस्परिक निर्भरता का आयोजन किया गया है। इन ध्येयों को प्राप्त करने के कार्यक्रमों को निर्माण करते समय दीर्घकालीन दृष्टिकोण रखना आवश्यक है ताकि भौतिक साधनों और मानव श्रम का सर्वोत्तम प्रयोग, कृषि का सर्वतोमुखी सतुलित विकास, और ग्राम वासियों की आय में तथा रहन-सहन के स्तर में पर्याप्त वृद्धि सम्भव हो सके। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कृषि विकास सम्बन्धी कार्यक्रम निर्माण करने में यह आवश्यक है कि ग्राम के सन्मुख एक ऐसा आदर्श उपस्थित कर दिया

जाय जिसे प्राप्त करने में वे प्रयत्नशील हो सकें। द्वितीय योजना निर्माण के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि यह आदर्श १० वर्ष के अन्तर्गत ही उत्पादन को जिसमें खाद्यान्न, तिलहन, कपास, गन्ना, पशु पालन से प्राप्त वस्तुएँ इत्यादि सम्मिलित ...गी दुगनी कर देगा।

(ब) कृषि उत्पत्ति को अनेक-रूपता प्रदान करना और खाद्यान्न सम्बन्धी फसलों को अब तक जा प्रधानता दी जाती थी उसे बदलना आदर्श होगा। द्वितीय योजना में ऐसी फसलों की वृद्धि भी है जैसे सुपाड़ी, नारियल, लाख, काली मिर्च, वृक्कफल इत्यादि जिनकी ओर प्रथम योजना में कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था।

(स) कृषि के क्षेत्रफल की वृद्धि करने की सम्भावना तो बहुत सीमित है। जो थोडी बहुत वृद्धि कृषि के क्षेत्रफल में सम्भव होगी उससे मोटे अन्न के ही उत्पादन में वृद्धि की जा सकेगी। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती चलेगी वैसे-वैसे मोटे अन्न की माँग गेहूँ और चावल की माँग में बदल ही जायगी। ऐसी स्थिति में कृषि उत्पत्ति में वृद्धि का मुख्य स्रोत अधिक कुशल, लाभदायक तथा घनी खेती ही होगा।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत कृषि नियोजन की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं—(१) भूमि के प्रयोग का नियोजन; (२) दीर्घकालीन और अल्पकालीन लक्ष्यों का निश्चित करना; (३) उत्पादन लक्ष्यों तथा भूमि प्रयोग योजनाओं को एक दूसरे से सम्बद्ध कर देना; और (४) उपयुक्त मूल्य नीति का निर्धारण करना।

द्वितीय योजना में ५६८ करोड़ रुपयों के व्यय में से १७० करोड़ रुपये कृषि कार्यक्रमों पर, २०० करोड़ रुपये राष्ट्रीय विस्तार योजनाओं पर, ५६ करोड़ रुपये पशुपालन पर, ४७ करोड़ रुपये वनों और भूमि संरक्षण पर, १५ करोड़ रुपये स्थानीय विकास पर, १२ करोड़ रुपये पंचायतों पर, १२ करोड़ रुपये मछली पकड़ने के व्यवसाय पर, ४७ करोड़ रुपये सहकारिता पर जिसके अन्तर्गत भाण्डागार तथा विक्रय सुविधायें भी सम्मिलित होंगी, और ६ करोड़ रुपये अन्य विविध बातों पर व्यय किये जायेंगे। इस प्रकार प्रथम योजना की तुलना में कृषि पर कुल व्यय कम हो गया है। स्थानीय विकास कार्यों तथा ग्राम पंचायतों पर लगभग समान ही है और राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं तथा सामुदायिक योजनाओं, पशुपालन, वन तथा भूमि संरक्षण और सहकारिता पर पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो गई है।

कठिनाइयाँ—भारत में कृषि नियोजन को सफलता पूर्वक कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं योजना को सफल बनाने के लिये सर्व प्रथम कृषक का स्वेच्छा से सक्रिय सहयोग आवश्यक है, परन्तु भारतीय कृषक अधिकतर रूढ़िवादी है और प्रत्येक बात पर परम्परागत दृष्टिकोण से ही विचार करता है।

यह इस बात के लिये प्रस्तुत नहीं कि परम्परा की रूढ़ि छोड़कर कुछ नवीन प्रयोग किये जाँय। अतीत में कृषकों की स्थिति में सुधार करने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये परन्तु कृषकों की उदासीनता के कारण उनमें से अधिकांश असफल रहे। पंचवर्षीय योजना मे कहा गया है कि कृषि के क्षेत्र में विकास कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये और निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि जनता सहयोग दे। बिना जन-सहयोग के समाज कल्याण की योजना सफल नहीं हो सकती। कृषि विकास कार्यक्रम उसी सीमा तक सफलता पूर्वक कार्यान्वित हो सकता है जहां तक जनता उत्साह और स्वेच्छा से उसके लिये कार्य करने को प्रस्तुत हो। कृषकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि (१) विभिन्न उपायों से कृषकों को यह विश्वास दिलाया जाय कि योजना उपयुक्त है और इसके कार्यान्वित होने से उनका लाभ होना निश्चित है; (२) योजना लागू करके शीघ्र ही ऐसे परिणाम निकाले जाने चाहियें जिनसे कृषकों में विश्वास उत्पन्न हो और उन्हे प्रेरणा मिले और जिनको वह स्वय आँखों से देख और परख सकें। यदि योजना का उद्देश्य दीर्घकालीन लक्ष्य की प्राप्ति करना हो तो कृषकों में योजना की निश्चित उपयोगिता के प्रति विश्वास उत्पन्न करना कठिन हो जायगा। मूल्य अधिक होने से, बेरोजगारी में वृद्धि से और व्यापक आर्थिक कठिनाइयों के कारण बड़ी योजनाओं को सफलता पूर्वक लागू करने में सरकार की समर्थता पर कृषकों में विश्वास घटता जा रहा है; और (३) जनता मे योजना लागू करने के लिये उत्तरदायी पूर्ण अधिकारियो की ईमनादारी और क्षमता पर विश्वास उत्पन्न किया जाये। यदि जनता प्रशासन के हर स्तर पर भ्रष्टाचार देखे, उसे सब स्थानों पर कार्य में अनावश्यक देरी तथा अकुशलता का सामना करना पड़े और यदि उसे यह मालूम हो कि समाज का शोषण कर समाज की हानि से लाभ उठाने वाले हानिकारक तत्वों के विरुद्ध उपयुक्त कार्यवाही नहीं की जा रही है तो जनता को उत्साहित कर उसका सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सकना अत्यन्त कठिन हो जायगा।

कृषि नियोजन की सफलता अन्य योजनाओं की तरह सम्बन्धित अधिकारियों की कार्यक्षमता और ईमानदारी पर निर्भर करती है। योजना आयोग ने बताया है कि कार्यक्रम की सफलता की गति प्रशासन संगठन, उसकी कार्य-कुशलता और उसके द्वारा प्रेरित जनता के सहयोग पर निर्भर करती है। प्रशासन को आज गत वर्षों की अपेक्षा अधिक बड़ी और जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। यह समस्याएँ बड़ी और जटिल अवश्य हैं, परन्तु आज इनके महत्व मे अतीत की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्धि हो गई। योजना के कार्य का

सफलतापूर्वक संचालन करने के लिये शिक्षित, कुशल और ईमानदार अधिकारियों का अभाव है। कार्य बहुत विशद है, परन्तु विभिन्न योजनाओं का कार्य सँभालने के लिये शिक्षित कर्मचारी पर्याप्त संख्या में नहीं हैं। केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों के अनेक जिला, राजस्व तथा अन्य अधिकारी हैं, जिनमें से कुछ बहुत कुशल और परिश्रमी हैं, परन्तु खेद है कि इन अधिकारी में से अनेक प्राचीन प्रथा के अनुकूल चलते हैं और कृषकों से अपने को काफी दूर रखते हैं। इन अधिकारियों की दृष्टि में रचनात्मक कार्य की अपेक्षा कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने का अधिक महत्व है, इससे यह अधिकारी योजना को कार्यान्वित करने के लिये उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकते। 'अधिक-अन्न उपजाओ' तथा अन्य आन्दोलनों के सम्बन्ध में अनेक ऐसी घटनायें प्रकाश में आई है जिनसे पता चलता है कि अधिकारियों ने बीज, खाद तथा रुपया कृषकों तक पहुँचाने की अपेक्षा केवल कागजों में खाना पूर्ति की और रुपयों को स्वयं हड़प लिया। इससे योजना को सफल बनाने में सफलता नहीं मिल सकती और जनता का उस पर से विश्वास उठ जाता है। पंचवर्षीय योजना में इस बात पर महत्व दिया गया है कि सर्वप्रथम प्रशासन में निष्ठा, कुशलता, बचत और सार्वजनिक सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता है। योजना में इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अनेक सुझाव दिये गये हैं। इनकी पूर्ति में अवश्य काफी समय लगेगा। योजना के अन्तर्गत विभिन्न कार्यों के लिये उपयुक्त व्यक्तियों को छाँटने और उनको उचित ट्रेनिंग देने के साथ ही पंचवर्षीय योजना में सम्बन्धित अधिकारियों की कार्यक्षमता, निष्ठा और ईमानदारी में सुधार करने के लिये अनेक सुझाव दिये गये हैं इनमें से कुछ सुझाव इस प्रकार हैं—(१) प्रशासन सम्बन्धी, राजनीतिक तथा अन्य पदों पर कार्य करने वाले अधिकारियों पर भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करने के लिये उपयुक्त व्यवस्था की जाय। यदि अपराध स्पष्ट हो तो तथ्यों का पता लगाने और अपराध सिद्ध करने के लिये तुरन्त जाँच की जाय। (२) वर्तमान कानून में ऐसे मामलों के लिये व्यवस्था की गई है जिनमें सरकारी कर्मचारी आय के गैर कानूनी साधनों का उपभोग करता है और उन साधनों के सम्बन्ध में सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नहीं दे पाता। परन्तु वर्तमान कानून के अनुसार ऐसे मामलों की जाँच करने की व्यवस्था नहीं है जिससे यह ज्ञात हो कि अमुक सरकारी कर्मचारी के रिश्तेदार एकाएक धनवान कैसे हो गये। इसलिये कानून के इस अभाव को पूरा करने के लिये अध्ययन किया जाय और उपयुक्त कानून बनाया जाय। (३) ऐसे अधिकारी को जिसकी ईमानदारी पर सन्देह किया जाता है बड़े उत्तरदायित्व के पद पर नहीं नियुक्त करना चाहिये।

भारतीय ग्राम्य जीवन की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे कृषि नियोजन के कार्य में बाधा पहुँचती है। ग्रामों में अच्छी सड़कों, सिंचाई तथा अन्य सुविधाओं का अभाव है। कृषकों के इन अभावों की शीघ्र पूर्ति करने की आवश्यकता है, परन्तु यदि इन कार्यों पर अधिक ध्यान दिया जाय तो बहुमुखी व्यापक कार्यक्रम को लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो जायँगी। यदि दीर्घकालीन योजनाओं पर अधिक ध्यान दिया गया तो स्थिति में सुधार करने की शीघ्र फलदायक योजनाएँ लागू करने की सम्भावना कम हो जायगी। यह सम्भव है कि दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों प्रकार की योजनाओं पर ध्यान दिया जाय परन्तु इससे प्रगति की गति मन्द हो जाती है और कार्य तेजी से आगे नहीं बढ़ पाता है। जमींदारी, जागीरदारी तथा इसी प्रकार की अन्य प्रथाओं के उन्मूलन से अनेक नई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। ग्रामों में महाजनों और साहूकारों के धीरे धीरे समाप्त हो जाने से नई कठिनाइयों में वृद्धि हुई है। इससे एक खाई उत्पन्न हो गई है जिसको अभी तक नई व्यवस्था से पाटा नहीं जा सका है। भारतीय कृषक एक दुष्चक्र में फँसा हुआ है। वह निर्धन है क्योंकि अच्छे प्रकार का बीज, अच्छे पशु और खाद इत्यादि खरीदने के लिये उसके पास द्रव्य नहीं है, और जब तक वह धनी नहीं बन जाता तब तक वह इन वस्तुओं का क्रय कर सकने के साधन नहीं जुटा सकता है। दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि कृषकों की ऋण लेने की क्षमता नहीं है। वह जमानत न रख सकने के कारण सहकारी बैंकों तथा ऋण नहीं देने वाली अन्य संस्थाओं से ऋण नहीं ले सकता है। और जब तक कृषकों की आर्थिक व्यवस्था अच्छी नहीं हो जाती वह इन साधनों को नहीं जुटा सकता है। यही कारण है कि शताब्दियों से भारतीय कृषक निर्धनता और दुखों में फंसा हुआ है। कृषि नियोजन को सफल बनाने के लिये कृषकों को इन कठिनाइयों को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है।

अध्याय १६

बड़े पैमाने के उद्योग

भारत में अनेक बड़े उद्योग हैं परन्तु औद्योगिक क्षेत्र में अभी ब्रिटेन मे १८वीं शताब्दी में हुई औद्योगिक क्रान्ति के समान औद्योगिक क्रान्ति यहाँ नहीं हुई है। भारत में प्रति व्यक्ति औद्योगिक उत्पादन की मात्रा बहुत कम है और इन उद्योगों में देश की जन संख्या का बहुत कम भाग लगा हुआ है। भारत के कारखानों में प्रतिदिन कार्य करने वाले श्रमिकों की औसत संख्या १६३६ में १६ लाख थी जो बढ़कर अब २५ लाख हो गई है। देश की ३८ करोड़ जनसंख्या को देखते हुये यह बहुत कम है। देश में नवीन उद्योगों का विकास करने के लिये काफी बड़ा क्षेत्र खुला पड़ा है और वर्तमान उद्योगों के उत्पादन में भी अधिक वृद्धि की जा सकती है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भारतीय उद्योग की दो प्रमुख विशेषताएँ थीं—(अ) कुछ उद्योगों में जैसे सूती कपड़ा और चीनी उद्योग में बहुत अधिक श्रमिक कार्य करते थे और ये उद्योग आवश्यकता से अधिक उत्पादन करते थे; (ब) इसके साथ ही बड़े रसायनिक, इंजीनियरिंग और इसी श्रेणी के अन्य उद्योग थे ही नहीं। युद्धोत्तर काल में कुछ सीमा तक इन दोषों को दूर कर दिया गया है। यद्यपि कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं के लिए भारत को आयात पर निर्भर करना पड़ता है फिर भी देश में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ हो गया है। इन वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हो रही है और ऐसी सम्भावना है कि भविष्य में अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये इनका पर्याप्त मात्रा में उत्पादन किया जा सकेगा। आशा की जाती है कि भारतीय औद्योगिक विकास में जो अभाव शेष हैं उनको पंचवर्षीय योजना के औद्योगिक विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करके पूर्ण कर दिया जायेगा।

सूती कपड़ा उद्योग

भारतीय सूती कपड़ा उद्योग की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसका युद्ध के पश्चात् विशेष रूप से विकास हुआ है। विश्वयुद्ध के पश्चात् कपड़ों की मिलों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। देश का विभाजन हो जाने से मिलों की संख्या १६४७ मे ४२३ से गिरकर १६४८ में ४०८ रह गई थी परन्तु नवीन मिलों की स्थापना से और प्राचीन मिलों में मशीन इत्यादि बढ़ा देने से भारतीय

सूती मिलों की उत्पादन शक्ति में काफी वृद्धि हो गई है। १६५१ में भारत में ४४५ मिलें थीं जिनमें १ करोड़ १२ लाख ४० हजार तकुए (Spindles) और २,०१,४८८ करघे थे पर १६५७ के अन्तर्गत में ४८६ मिलें हो गईं जिनमें १२६ लाख तकुए और २०६,१२६ करघे हो गये। कई नई मिलें स्थापित की जा रही हैं और आशा की जाती है कि इन मिलों द्वारा उत्पादन आरम्भ होने पर भारतीय सूती मिलों की वास्तविक उत्पादन शक्ति में मुख्यतः कताई मिलों (spinnig mills) में, और वृद्धि हो जायगी।

कुछ मिलों में केवल सूत काता जाता है और अन्य में सूत की कताई और बुनाई दोनों होती है। युद्ध के पश्चात् काल की योजना समिति ने अनुमान लगाया कि आर्थिक दृष्टि से कताई-बुनाई दोनों कार्य करने वाली अनुकूलतम आकार की सूती मिल में २५ हजार तकुए और ६०० करघे होने चाहिये। परन्तु दुर्भाग्यवश अधिकाश मिलें जिनमें कताई बुनाई दोनों कार्य होते हैं और जिनमें केवल कताई होती है आर्थिक दृष्टि से अनुकूलतम आकार की मिलें नहीं कही जा सकतीं। सूती कपड़ा उद्योग की वर्किङ्ग पार्टी के अनुमान के अनुसार लगभग १५० मिलों में अनार्थिक हैं। इसके साथ ही अधिकांश मिलों में पुरानी और घिसी पिटी मशीनें हैं। बम्बई मिल-मालिक संघ के अनुमान के अनुसार बम्बई की मिलों में ६०% मशीनें २५ वर्ष से भी अधिक पुरानी है। सूती कपड़ा उद्योग के सम्मुख सब से बड़ी समस्या यह है कि वर्तमान मिलों को आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त स्तर पर लाया जाय, पुरानी मशीनों के स्थान पर नई आधुनिक मशीनें लगाई जायं और उन्हें आवश्यक औद्योगिक प्रसाधनों से सुसज्जित किया जाय। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि देश के अन्य भागों जैसे मद्रास, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में इस उद्योग का विकास हुआ परन्तु फिर भी यह उद्योग बम्बई में ही अधिक केन्द्रित है। कुल उद्योग में जितने तकुए और करघे उपयोग में लाये जाते हैं उनके ६० प्रतिशत केवल बम्बई में हैं। इसलिए भविष्य में विकास करते समय उद्योगों के स्थान-निर्धारण की समस्या पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। स्थानीकरण की स्थिति में सुधार आवश्यक है।

उत्पादन की प्रवृत्तियाँ—१६४४ में सूती कपड़े और १६४६ में सूत का उत्पादन अधिकतम अर्थात् क्रमशः ४८५२० लाख गज और १६८५० लाख पौण्ड था। यह उत्पादन १६५० में गिरकर ३६६५० लाख गज और ११७५० लाख पौण्ड हो गया। १६४६ और १६५० में उत्पादन के गिरने के मुख्य तीन कारण थे—(१) १६४७ में देश का विभाजन हो जाने से कच्चे माल की कमी हो गई और पाकिस्तान तथा अन्य देशों से रूई का आयात करने में अनेक कठिनाइयाँ

उत्पन्न हो गई, (२) उद्योगों में श्रमिकों के झगड़े में वृद्धि हुई; और (३) विद्युत शक्ति पर्याप्त न होने के कारण बम्बई मिलों को दी जाने वाली विद्युत कम कर दी गई। धीरे-धीरे इन कठिनाइयों को दूर करके उत्पादन में वृद्धि होने लगी। सूती कपड़ा उद्योग में श्रमिक तथा मालिकों के सम्बन्धों में सुधार हुआ, उत्पादन शक्ति में वृद्धि की गई और देश में कपास की उत्पत्ति में वृद्धि से कच्चे माल की पूर्ति में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप १६५१ में सूती कपड़े और सूत का उत्पादन क्रमशः ४०७६० लाख गज और १३०४० लाख पौण्ड और १६५२ में ४५६८० लाख गज और १४५०० लाख पौण्ड हो गया। मिलों द्वारा कपास के क्रय पर से नियंत्रण के हटजाने के कारण, रुई और कपड़ों के यातायात के लिये मालगाड़ियों के मिलने तथा माँग की वृद्धि से उत्पादन में और अधिक वृद्धि हुई है। इसके परिणाम स्वरूप सूती कपड़ों और सूत का उत्पादन बढ़कर १६५७ में क्रमशः ५३१५० लाख गज और १७७६० लाख पौण्ड हो गया।

भारत की सूती मिलों में पहले मोटे कपड़े का ही अधिकतर उत्पादन किया जाता था परन्तु प्रशुल्क मण्डल (टेरिफबोर्ड) की सिफारिशों के अनुसार उत्तम प्रकार के कपड़े का उत्पादन घटाने के लिए १६२५ से १६४० तक काफ़ी रुपया लगाकर अनेक टेकनिकल सुधार किये गये परन्तु उद्योग का पुनर्संङ्गठन कार्य पूर्ण होने के पूर्व ही द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के लिए सैनिक मांगों तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उद्योग को फिर मोटे तथा माध्यम वर्ग के कपड़े का उत्पादन करना पड़ा। इसमें कुछ और रुपया लगाना पड़ा जिससे उद्योग पर काफ़ी भार पड़ा। परन्तु इधर कुछ वर्षों से मोटे और अत्युत्तम प्रकार के कपड़े के स्थान पर मध्यम और उत्तम प्रकार के कपड़ों के उत्पादन में वृद्धि की गई। यह एक वान्छनीय प्रवृत्ति है और हम यह आशा कर सकते हैं कि भविष्य में देश की मांग पूरी करने तथा निर्यात के लिए इस उद्योग को महीन और मध्यम श्रेणी के कपड़ों की उत्पत्ति बढ़ानी पड़ेगी।

कच्चा माल—अपनी पूर्ण वास्तविक उत्पादन शक्ति के बराबर उत्पादन करने के लिये भारतीय सूती का कपड़ा उद्योग को लगभग ५२·५ लाख गांठ कपास की आवश्यकता होती है। विभाजन होने से देश में कपास का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन होता था। भारतीय मिलों को आवश्यकता पूरी करने के साथ ही विदेशों को भी कपास निर्यात किया जाता था जिससे उद्योग को कच्चे माल के अभाव की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। देश विभाजन के पश्चात् स्थिति में परिवर्तन हो गया। देश में कपास का उत्पादन गिर गया। १६४७-४८ में २२ लाख और १६४८-४६ में १८ लाख गांठों का उत्पादन किया जा सका। इससे

उद्योग के सम्मुख कच्चे माल के अभाव का गंभीर संकट उत्पन्न हो गया। सामान्य स्थिति में कपास का आयात करके इस संकट को दूर किया जा सकता या परन्तु पाकिस्तान ने भारत को आवश्यकता के अनुसार कपास नहीं दिया। पाकिस्तान के अतिरिक्त अन्य देशों की कपास का भाव बहुत अधिक था और भारतीय सूती कपड़ा उद्योग के अनुकूल नहीं था। परन्तु १९५७-५८ में कपास का उत्पादन ५० लाख गांठें से कुछ ही कम था और इस प्रकार अंशतः कच्चे माल की कमी पूरी हो गई। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अंतर्गत कपास के उत्पादन में और भी वृद्धि होने की सम्भावना है। इससे सूती कपड़ा उद्योग के कच्चे माल की कठिनाई को बहुत कुछ दूर किया जा सकेगा।

निर्यात—१९४८-४९ के विपरीत १९५०-५१ में सूती कपड़े और सूत के निर्यात में अपेक्षाकृत वृद्धि हुई है। १९४८-४९ में ३४१० लाख गज कपड़ा और ७४ लाख पौण्ड सूत देश से बाहर भेजा गया। १९५०-५१ में १२६९५ लाख गज कपड़ा और ७४५ लाख पौण्ड सूत विदेश भेजा गया इस वृद्धि का कारण यह है कि भारतीय माल का मूल्य अपेक्षाकृत कम रहा और साथ ही विदेशी बाजार पर अधिकार जमाने के लिये भारतीय मिल मालिकों ने जोरदार प्रयत्न किये।

परन्तु बाद में स्थिति फिर बदली और निर्यात की इसी स्तर पर स्थिर नहीं रखा जा सका। १९५२-५२ में निर्यात की मात्रा घटकर ४२३७५ लाख गज कपड़े और ६२५ लाख पौण्ड सूत तक पहुँच गई। इस कमी के कारण निम्न-लिखित हैं—(१) सूती कपड़े और सूत के उत्पादन में कमी आजाने से अधिक माल का निर्यात नहीं किया जा सका और सरकार ने कपड़े के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये। (२) निर्यात कर लगाने से भारतीय सूती माल का मूल्य बढ़ गया। भारतीय सूती उद्योग ने बराबर यह माग की है कि निर्यात की मात्रा बढ़ाने के लिये सरकार निर्यात कर को समाप्त कर दे। (३) भारतीय माल को विदेशों जापान, ब्रिटेन और अन्य देशों की बढ़ती प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। भारतीय सूती मिलें सरकार की अनिश्चित नीति के कारण अपने निर्यात की मात्रा पूर्ण नहीं कर सकीं और भारतीय माल की प्रकार, पैकिंग इत्यादि निर्यात की शर्तों के अनुकूल नहीं हो सके। इसके परिणाम स्वरूप विदेशी बाजार में भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति गिरती चली गई। निर्यात के बढ़ाने के सम्बन्ध में अनेकों उपायों का अनुसरण किया गया जैसे निर्यात कर की दरों में कमी करना, निर्यात किये जाने वाले कपड़ों के बनाने में काम आने वाली विदेशी रुई पर लगाये गये आयात कर में छूट देना, १ मार्च १९५४ से आयात-कर को ही बंद कर देना और निर्यात पर नियंत्रण कम करना इत्यादि। इनके

परिणाम स्वरूप सूती कपड़ों का निर्यात बढ़ गया है। १९५६ व १९५७ में भारत ने क्रमशः ६८४० लाख गज तथा ८५४० लाख गज कपड़े का निर्यात किया। किन्तु विश्वबाजार में प्रति स्पर्धा बढ़ने तथा आयात करने वाले देशों में लगे प्रतिबन्धों के कारण १९५८ में निर्यात घटकर ६५०० लाख गज रह जाने की संभावना है। मुख्य प्रकार के कपड़े जो भारत से निर्यात किये जाते हैं वे चादरें, कमीज और कोट के कपड़े, वायल तनजेब और छींट आदि हैं।

कर—केन्द्रीय सरकार सूती कपड़े पर उत्पादन कर और निर्यात कर लगाती है। सितम्बर १९५६ में उत्पानकर में बहुत वृद्धि कर दी गई। इससे उत्पादन-लागत बढ़ गई। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारें सूती कपड़े और सूत पर बिक्री कर लगाती हैं। इससे उत्पादन लागत मे अधिक वृद्धि हो गई है।

१९५२ में केन्द्रीय सरकार ने हथकर्घा उद्योग अथवा बुनकरों की सहायता के लिये ६ करोड़ रुपये का कोष एकत्र करने के लिये मिल के बने सभी कपड़ों पर ३ पाई प्रति गज की दर से एक उप-कर लगा दिया। यह वास्तव में अपनी प्रकार का बिल्कुल नवीन उपाय था। इसके अनुसार यह पहले ही स्वीकार कर लिया गया है कि उद्योग को बहुत अधिक लाभ हो रहा है और वह इस नवीन कर का भार वहन कर सकने में समर्थ है। इन सभी प्रकार के करों से सूती मिल उद्योग को अपना उत्पादन व्यय कम करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। इस-स्थिति में सुधार करने के लिये यह आवश्यक है कि कर कम किये जायँ और मशीनों की टूट फूट के लिए जिस दर से धनराशि दी जाती है उसके प्रति उदार नीति अपनाई जाय जिससे सूती मिल उद्योग पुरानी और टूटी मशीनों के स्थान पर नवीन मशीनें लगा सकें और कारखानों में आधुनिक टेकनिकल सुविधाएँ प्रदान कर सकें। मशीनों की टूट फूट के लिये जो धनराशि निश्चित की गई है वह अपर्याप्त है। नवीन मशीनों को लगाने के लिये इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि सरकार कम ब्याज पर उद्योग को ऋण दे और मशीनों की टूट फूट के लिये निश्चित धन के प्रति उदार नीति अपनाये। भारतीय सूती कपड़ा उद्योग में युक्तीकरण की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु यह निम्न तीन बातों पर निर्भर हैं; (१) आवश्यक धन की प्राप्ति, (२) आवश्यक मशीनों की प्राप्ति और (३) इस समस्या के प्रति श्रमिकों का विचार। फिर भी सरकारी कर नीति इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विचारणीय है क्योंकि वही युक्तिकरण के लिये आवश्यक धन प्राप्त करने का स्रोत है।

एकत्रित सामग्री का संकट—१९५७ के प्रारम्भ से सूती वस्त्र उद्योग गम्भीर संकट का सामना कर रहा है। लगभग २६ मिलें, जिनमें से १६ उत्तर प्रदेश में हैं,

बन्द होगई है तथा ३७ मिले केवल अंशतः कार्य कर रही हैं। अप्रैल १६५८ के अन्त में मिलों के पास बिना बिके कपड़े की एकत्रित सामग्री ५०५३०० गाँठे तथा मार्च १६५८ के अन्त में बिना बिके सूत की एकत्रित सामग्री १११,८०० गाँठे थीं। अनेक मिलों को हानि उठानी पड़ी है तथा, मिलों के अनेक मजदूर बेकार हो गये हैं। इस संकट के मुख्य कारण निम्न हैं: (१) खाद्यान्न तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं के मूल्य अत्यधिक ऊँचे होने के कारण लोगों की क्रय शक्ति घट गयी जिसके फल स्वरूप बिक्री कम होगई। साथ ही १६५८ में निर्यात में भी कमी आगई। (२) कपड़े पर लगे उत्पादकर की ऊँची दर के फलस्वरूप उत्पादन-लागत बराबर ऊँची बनी हुई हैं। (३) उद्योग का मजदूरी-बिल बहुत अधिक है। लागत के घटने का कोई सहज उपाय भी नहीं दिखाई देता क्योंकि मशीनें घिसी पिटी तथा पुरानी हैं तथा उत्पादन के युक्तीकरण में देर होती रहती है। उद्योग के बरबादी से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादन कर १६५५-५६ के स्तर पर कर दिया जाय तथा उत्पादन का युक्तीकरण किया जाय।

उद्योग के सम्मुख दो कठिनाइयाँ हैं। एक ओर उत्पादन पर नियंत्रण लगा दिया गया है तथा दूसरी ओर हथकर्घा उत्पादकों के हित में मिल उद्योग पर १ ली दिसम्बर १६५२ से प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं जिनके अनुसार धोतियों के उत्पादन के १६५१-५२ के मासिक औसत के ६०% पर मिलों का धोतियों का उत्पादन निश्चित किया गया है तथा साड़ियों का रंगना निषिद्ध घोषित कर दिया गया है।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सूती कपड़ा उद्योग की उत्पादन शक्ति को १६५५-५६ तक ४७७८० लाख गज कपड़े और १७२२० लाख पौंड सूत तक बढ़ाने का अनुमान था और वास्तविक उत्पादन ४७००० लाख गज कपड़े और १६४०० लाख पौंड सूत का करने का था। इसका लक्ष्य प्रति व्यक्ति को १५ गज कपड़ा प्राप्त हो सकने का था। प्रथम योजना के अन्त तक वास्तविक उत्पादन और उत्पादन शक्ति दोनों ही लक्ष्य से आगे बढ़ गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत यह प्रस्ताव किया है कि कुल कपड़े के उत्पादन की मात्रा (मिल और हथकर्घे और शक्ति संचालित कर्घे से बने कपड़े मिलाकर) को ६८५ करोड़ गज से, जितना कि १६५५-५६ में था, १६६०-६१ तक ८५० करोड़ गज कर दिया जाय और सूत का उत्पादन १६३ करोड़ पौंड से १६५ करोड़ पौंड कर दिया जाय। इसका उद्देश्य प्रति व्यक्ति कपड़े का उपभोग १८ गज तक बढ़ा देने का है और लगभग १ अरब गज कपड़े का निर्यात

करना है। द्वितीय योजना में कपड़ा उद्योग के सम्बन्ध में दो मुख्य दोष हैं—(१) भविष्य की कपड़े की माँग का कम अनुमान करना, क्योंकि बम्बई के मिल मालिकों की एसोसियेशन के मतानुसार यह माँग ८५० करोड़ गज नहीं वरन् १००० करोड़ गज होगी; और (२) मिलों के विस्तार पर इस विश्वास से प्रतिबन्ध लगाना कि इससे हथकर्घों के प्रयोग को सहायता मिलेगी। हथकर्घा उद्योग को सहायता मिलों की उत्पत्ति को कार्वे कमेटी के अनुसार ५०० करोड़ गज तक अथवा किसी अन्य मात्रा तक सीमित कर देने में नहीं मिलेगी वरन् हथकर्घे से *बने कपड़े अधिक अच्छे बनाने और उसके मूल्य के घटाने से मिलेगी।*

जूट उद्योग

भारत में जूट की ११२ मिलें हैं जिनमें लगभग ७२,३६५ कर्घे चलते हैं। इनमें से ४५% कर्घे जूट के टाट और ५५% बोरे इत्यादि बनाने के लिये हैं। अनुमान लगाया गया है कि यदि उद्योग में केवल एक शिफ्ट से कार्य चलाया जाय और प्रति सप्ताह ४८ घंटे उत्पादन किया जाय तो प्रतिवर्ष १२ लाख टन उत्पादन किया जा सकता है। जूट उद्योग अधिकतर पश्चिमी बंगाल में केन्द्रित है। भारत की कुल रजिस्टर्ड ११२ जूट मिलों में से १०१ मिलें पश्चिमी बंगाल ही में स्थित है। शेष मिलों में से ४ आन्ध्र में, ३ बिहार में ३ उत्तर प्रदेश में और १ मध्य प्रदेश में हैं।

भारतीय जूट उद्योग अन्य सब उद्योगों से अधिक सुसंगठित है परन्तु दुर्भाग्यवश इसकी मशीन इत्यादि आधुनिक नहीं है और साथ ही यह मशीनें बनाये हुये माल की वर्तमान माँग के दृष्टिकोण से अधिक भी हैं। भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी पुरानी मशीनों के स्थान पर आधुनिक मशीनें लगाई जाँय और इस प्रकार उत्पादन व्यय घटाया जाय। परन्तु मुख्य कठिनाई यह है कि उद्योग का युक्तीकरण करने में ४० से ४५ करोड़ रुपये तक की पूँजी लगानी पड़ेगी और वर्तमान में उद्योग इतनी पूँजी लगा सकने की क्षमता नहीं रखता। "अभिनवीकरण (modernisation) के लिये राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम द्वारा ऋण दिये जा रहे हैं। मार्च १९५८ के अन्त तक ६ मिल कम्पनियों के लिये ऋण स्वीकृत हो चुके हैं जिनमें से ७ को १.१९ करोड़ रु० दिया भी जा चुका है। वर्तमान स्थित यह है कि ८२ जूट मिल कम्पनियों मे से ४४ ने ३० सितम्बर १९५७ तक कताई सम्बन्धी आधुनिक मशीनों को स्थापित कर लिया था। कुछ ने पूर्णतः तथा कुछ ने अंशतः अभिनवीकरण कर लिया था। पुराने तकुओं में से ४% के स्थान पर नये तकुवे लगाये जा चुके तथा लगाये जा रहे हैं।

उत्पादन की प्रवृत्ति—जूट उद्योग में उत्पादन १६४५-४६ में उच्चत्तर तक पहुँच चुका था जबकि ११·४ लाख टन माल का उत्पादन किया गया। इसके पश्चात् १६४६ तक उत्पादन दस लाख टन प्रतिवर्ष के लगभग रहा। परन्तु १६४६-५० में उत्पादन ८६ लाख टन तक गिर गया। इसके पश्चात् उत्पादन में कुछ सुधार अवश्य हुआ परन्तु फिर भी उत्पादन पूर्व स्तर तक नहीं पहुच पाया। १६५४-५५ में उत्पादन बढ़ कर १०,४३,४०० टन हो गया था। उत्पादन में कमी का मुख्य कारण कच्चे माल की कमी थी क्योंकि देश का विभाजन हो जाने के पश्चात् जूट का उत्पादन करने वाले अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। इस अभाव को पूरा करने के लिये देश में ही जूट उत्पादन की वृद्धि पर जोर दिया गया। तब से देश में जूट के उत्पादन में वृद्धि हुई है जिसके परिणाम स्वरूप जूट के माल के उत्पादन में भी वृद्धि हुई है। जूट उद्योग में प्रति सप्ताह केवल १२½ घन्टे उत्पादन कार्य हो रहा था और उद्योग के कुल कर्घे के १२½ प्रतिशत बन्द पड़े हुये थे। परन्तु अक्टूबर १६५४ से ४८ घन्टे प्रति सप्ताह कार्य आरम्भ हो गया और १६५६ के मार्च तक बन्द कर्घों में से ७½ प्रतिशत चालू हो गये थे। १६५६-५७ में उत्पादन १,०२५,२०० टन था तथा आशा की जाती है कि १६५७-५८ में भी लगभग इतना ही होगा।

कच्चा माल—उद्योग की इस समय सबसे बड़ी कठिनाई कच्चे माल की कमी है। यदि सब मिलें शक्ति भर कार्य करें तो भारतीय जूट उद्योग के लिये प्रतिवर्ष पटसन की ७५ लाख गाँठों की आवश्यकता है। परन्तु भारत में १६४७-४८ में १५ लाख गाँठों से कुछ अधिक, १६४८-४६ में २० लाख गाँठ, १६४६-५० में ३० लाख गाँठ और १६५०-५१ में ३३ लाख गाँठ से कुछ अधिक का उत्पादन किया गया। भारत सरकार ने पाकिस्तान सरकार से समझौता कर पटसन के आयात की व्यवस्था की, परन्तु आयात का यह कार्यक्रम कार्यान्वित नहीं किया जा सका। पाकिस्तान से बहुत थोड़ी मात्रा में जूट का आयात किया गया। फलस्वरूप भारतीय जूट उद्योग के कच्चे माल की आवश्यकता पूर्ण नहीं की जा सकी। इधर हाल के वर्षों में भारत में कच्चे जूट का उत्पादन बढ़ गया है। १६५६-५७ में इसका उत्पादन ४२·५ लाख गाँठे थी। १६५७-५८ में इससे घट-कर ४० लाख गांठे (४०० पौ० की एक गाँठ) रह जाने की आवश्यकता है। कच्चे जूट के विषय में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिये किये जाने वाले गहन प्रयत्नों के संदर्भ में १६५७-५८ में उत्पादन की यह कमी शोचनीय विषय है। द्वितीय योजना के अन्त तक भारत को पाकिस्तान से जूट मंगाना ही पड़ेगा। किन्तु उन पर हमारी निर्भरता बहुत कुछ कम हो जायगी और यह सम्भव हो

सकेगा कि भारत में जूट उद्योग पाकिस्तान से जूट बिना पाये भी संतोषप्रद ढंग में चले।

निर्यात—भारतीय जूट उद्योग अधिकतर अपने माल के निर्यात पर निर्भर करता है। १६४८-४६ में भारत में ११ लाख टन उत्पादित माल में से ६३०,००० टन माल का विदेशों को निर्यात कर दिया गया। यद्यपि निर्यात की मात्रा पूर्व की अपेक्षा घटकर १६५६-५७ में ८५६००० टन हो गई है फिर भी यह कुल उत्पादन का बहुत बड़ा भाग है

भारतीय जूट के टाट के दो बड़े बाजार यूनाइटेड स्टेटस तथा यू० के० हैं। १६५६-५७ में इन देशों को गये निर्यात में क्रमशः ५% और ५०% की कमी हुई। यद्यपि यूनाइटेड स्टेट्स को किये जाने वाले निर्यात की कमी से ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी अमेरिका में व्यापारियों ने टाट सामग्री कुछ कम कर दी थी; किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। अधिक महत्व की बात तो यह है कि १६५६-५७ में टाट के उपभोग में (यू० एस० में) १२% की कमी हुई। उपभोग की यह कमी थैले बनाने के लिये टाट का प्रयोग कम करने के कारण हुई। सन्तोष का विषय है कि औद्योगिक तथा अन्य उद्देश्यों के लिये जूट का प्रयोग बढ़ता रहा। यू० के० में जूट के उपभोग में हुई भारी कमी वहाँ पर लागू जूट-नियन्त्रण के कारण हुई।

जूट से बनने वाले थैलों से यह लाभ होता है कि यह अपेक्षाकृत सस्ते होते हैं और इनका अनेक बार उपयोग किया जा सकता है जब कि पैकिंग के लिये कागज के थैलों तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुओं का केवल एक ही बार प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु जूट के थैलों के स्थान पर कागज़ तथा अन्य प्रकार की वस्तुओं के प्रयोग से जूट के माल की माँग काफ़ी गिर गई है और यह जूट उद्योग के लिये चिन्ता का कारण बन चुकी है। फिर भी यदि उचित प्रयत्न किये जाँय तो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा जूट का माल अपने लिये आवश्यक स्थान बना सकता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि भारतीय जूट उद्योग का उत्पादन व्यय घटाया जाय, उत्पादन बढ़ाया जाय और उत्पादित माल की प्रकार में सुधार किया जाय।

भारत सरकार ने जूट के माल पर बहुत अधिक निर्यात कर लगाया जिस से कि माल के भारतीय तथा विदेशी मूल्य का अन्तर सरकारी खजाने में जमा हो जाय। यदि यह कर न लगाये गये होते तो उद्योग अपने आधुनिकीकरण तथा पुरानी घिसी पिटी मशीनों के बदले नई मशीनें लगाने के लिये पर्याप्त सुरक्षित कोष का संग्रह कर सकता था। निर्यातकर से बहुत हानि उठानी पड़ रही थी। कोरिया युद्ध के कारण हुई मंहगी के काल में जूट के बने कपड़ों पर तो यह कर

१५०० रु० प्रति टन और बोरों पर ३५० रु० प्रति टन तक बढ़ गया था। अगस्त १९५५ में पाकिस्तानी रुपये की विनिमय दर घटने पर यह कर हटा लिया गया। हटाते समय टाट पर यह कर १२० रु० प्रति टन और बोरों पर ८० रु० प्रति टन था। निर्यात कर के हटा देने का परिणाम यह हुआ कि मूल्यों में कमी हो गई और निर्यात बढ़ गया तथा घरेलू माँग भी बढ़ गई।

जूट जाँच आयोग—जूट जाँच आयोग ने जिसके अध्यक्ष के० आर० पी० आयंगर थे अपनी १९५४ में प्रकाशित रिपोर्ट में यह पाया कि ७५% मिलें लगभग १२ मैनेजिंग एजेन्सियों के हाथ में थी, जिनमें से चार के अन्तर्गत ४५% कर्घे थे। मैनेजिग एजेन्टों के हाथ में सारे व्यवसाय के केन्द्रित होने और जूट उद्योग के भूतकाल में ऊँची दर पर आय प्राप्त करने के कारण इन मैनेजिंग एजेन्सियों के शेयर बहुत ही आकर्षक हो गए थे और उनके खरीदारों की संख्या बढ़ गई थी। चूँकि जूट उद्योग के वर्तमान सयंत्र की उत्पादन शक्ति वर्तमान और भविष्य की सम्भावित माँग से कहीं अधिक है इसलिये आयोग ने और नई मिलों की स्थापना को पसन्द नहीं किया। उसने मिलों को अपने सयंत्रों को आधुनिक बनाने की सिफारिश की। इन्डियन जूट मिल एसोसिएशन की यह योजना होते हुए भी, चूँकि इसका परिणाम विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता और उद्योग की अव्यवस्था होगी, आयोग ने यह सिफारिश की कि काम के घन्टों के सम्बन्ध में जो समझौता हुआ है जिसके अनुसार सप्ताह के अन्दर कार्य के घन्टे सीमित कर दिये गये हैं और मशीनों को अंशतः चालू करना बन्द कर दिया गया है उसे आगे लागू नहीं रखना चाहिये। इस समझौते के अनुसार अकुशल मिलें भी चलती रही हैं और कुशल मिलों को अपना उत्पादन व्यय कम करने में बाधा पहुँची है। इससे पाकिस्तान तथा अन्य विदेशी मिलों को लाभ पहुँचा है। आयोग की यह सिफारिश सर्वथा युक्तिसंगत है और इससे आशा की जाती है कि कुशल मिलें अधिक अच्छा कार्य कर सकेंगी। आयोग ने सिफारिश की है कि भारत को कच्चे जूट की पूर्ति के लिये निरपेक्ष के बजाय सापेक्षिक आत्मनिर्भरता का लक्ष्य सामने रखना चाहिये। हमें पाकिस्तान से उस प्रकार का जूट आयात करना चाहिये जिसका उत्पादन देश में पर्याप्त मात्रा में नहीं हो सकता और अन्य प्रकार के जूट को स्वयं उत्पादित करना चाहिये। जूट की विस्तृत खेती के बजाय गहन खेती तथा किस्म के सुधार पर अधिक जोर देना चाहिये।

आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि नियमित बाजारों में नियमों का लागू करना, सहकारी समितियों की व्यवस्था करना, तथा अन्य सिफारिशों को कार्यान्वित करना दीर्घकालीन दृष्टि कोण से उत्पादकों के लिए अधिक लाभकारी सिद्ध

होगा। मूल्य नियन्त्रण के उपायों के प्रयोग को अस्वीकार करते हुए भी निर्यात बढ़ाने के लिए तथा घरेलू माँग बढ़ाने के लिये आयोग ने मूल्य स्थिर रखने का प्रयत्न करने की सलाह दी।

योजना के अन्तर्गत—जूट उद्योग के सम्बन्ध में समस्या उत्पादन शक्ति बढ़ाने की नहीं है क्योंकि बाजार की माँग की तुलना में तो भारतीय जूट मिलों के साधन आवश्यकता से कहीं अधिक हैं। वास्तविक समस्या तो कच्चे माल की पूर्ति बढ़ाने और उद्योग को उत्पादन में अपनी वर्तमान शक्ति के अनुकूल वृद्धि करने की है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इसीलिये औद्योगिक प्रसाधनों की वृद्धि के बजाय उत्पादन में वृद्धि करने की सिफारिश की गई थी।

जूट उद्योग की (rated) प्रत्यंकित उत्पादन शक्ति १२ लाख टन थी परन्तु कच्चे माल के अभाव के कारण इसका पूर्ण उपयोग नहीं हो सका है। प्रथम योजना में जूट के उत्पादन को ५१ लाख गाँठों तक और जूट के बने माल का सम्पूर्ण प्रत्यङ्कित शक्ति भर अर्थात् १२ लाख टन तक बढ़ाने का प्रबन्ध किया गया था, जिसमें से १० लाख टन विदेशों को भेज दिया जायगा। परन्तु ये लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके।

द्वितीय योजना में भी जूट मिलों की प्रत्यंकित शक्ति बढ़ाने की सिफारिश नहीं की गई है। केवल आसाम में १½ करोड़ रुपयों के व्यय से एक मिल खोलने का प्रस्ताव है। प्रयत्न यह होगा कि जूट के बने माल की १६५५-५६ की १,०४,००० टन की उत्पत्ति को बढ़ाकर १६६०-६१ में १,१००,००० कर दिया जाय। जूट का उत्पादन ४० लाख गाँठों से जो कि १६५५-५६ में था बढ़ा कर १६६०-६१ में ५० लाख गाँठ कर दिया जाय। इस प्रकार भारतीय मिलों को आयात किये हुये जूट पर भविष्य में कुछ काल तक निर्भर रहना ही पड़ेगा।

चीनी उद्योग

निराकम्य (Tariff) संरक्षण तथा सरकारी नियोजन के फलस्वरूप भारत में चीनी की मिलों की संख्या १६३१-३२ में ३२ से बढ़कर १६५५-५६ में १६० हो गई। इनमें से १३६ तो १६५४-५५ में उत्पादन कार्य कर रही थीं और उन्होंने १६ लाख टन से कुछ ही कम चीनी का उत्पादन किया। १६५५-५६ में १३७ मिलें उत्पादन कार्य कर रही थीं और उन्होंने १७ लाख टन चीनी का उत्पादन किया। १६४८ में सरकार ने चीनी उत्पादन शक्ति में वृद्धि करने का निश्चय किया और नवीन मिलों की स्थापना को स्वीकृत दी। ५५ नई फैक्टरियों, जिनमें ३८ सहकारी इकाइयाँ भी सम्मिलित हैं, की स्थापना तथा वर्तमान ६६ मिलों को उत्पादनशक्ति के विस्तार के लिये अनुज्ञा पत्र (लाइसेन्स) दे दिये गये हैं।

लाइसेन्स दी हुई उत्पादन इकाइयों में चार ने १९५५-५६ में उत्पादन प्रारम्भ किया तथा पाँच ने १९५६-५७ में। १९५७ के अन्त में प्रत्यंकित उत्पादन शक्ति २,०१०,००० टन थी। १९५७-५८ में नौ और इकाइयों ने भी उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है। इसके परिणाम स्वरूप फैक्ट्री निर्मित चीनी की उत्पत्ति १९५६-५७ के २०½ लाख टन से बढ़कर १९५७-५८ में २१½ लाख टन होने की सम्भावना है।

चीनी उद्योग के विकास की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) चीनी उद्योग विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार में केन्द्रित है परन्तु देश के अन्य भाग जैसे बम्बई, मद्रास, मैसूर और हैदराबाद आदि भी चीनी उद्योग के लिए उपयुक्त हैं क्योंकि यहाँ गन्ने का प्रति एकड़ उत्पादन अधिक है और गन्ना पेरने का कार्य भी वहाँ अपेक्षाकृत अधिक समय तक किया जा सकता है। (२) प्रचलित कारखानों ने कभी भी अपनी पूर्ण शक्ति से उत्पादन नहीं किया। इनमें से कुछ तो बिल्कुल बन्द रहे जिसके फलस्वरूप उत्पादन सदा वास्तविक उत्पादन शक्ति से कम रहा। (३) चीनी उद्योग में बहुत से ऐसे कारखाने हैं जो अनुकूलतम शक्ति से नीचे हैं। एक औसत कारखाने को अपनी पूर्ण उत्पादन शक्ति का लाभ उठाने के लिये प्रतिदिन ८०० टन गन्ना पेरना चाहिये परन्तु अनुमान लगाया गया है कि लगभग ८० कारखाने इस स्तर से नीचे हैं। इससे भारत में चीनी का उत्पादन व्यय अधिक होता है और आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त कारखानों का लाभ भी कम हो जाता है।

उत्पादन की प्रवृत्तियाँ—भारत में चीनी के उत्पादन में काफी उतार-चढ़ाव आता रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि चीनी का उत्पादन गन्ने की पूर्ति की मात्रा, गन्ना पेरने की अवधि और गन्ने से प्राप्त चीनी के प्रतिशत पर निर्भर करता है। चीनी का उत्पादन, १९४८-४९ में १०'०९ लाख टन था जो गिरकर १९४९-५० में ९'७६ लाख टन हो गया क्योंकि (अ) १९४७-४८ में मिलों के लिये गन्ने का भाव २ रुपये प्रतिमन से घटाकर १९४८-४९ में उत्तर प्रदेश में १ रुपया १० आना प्रति मन और बिहार में १ रुपया १३ आना प्रतिमन कर दिया गया। गन्ने का मूल्य घटाने का उद्देश्य चीनी का भाव ३५ रुपया ७ आना प्रतिमन से घटाकर २८ रुपया ८ आना प्रतिमन करना था। गन्ने के भाव में इस कमी से १९४९-५० में कारखानों के लिये गन्ने की पूर्ति में कमी हो गई और परिणाम स्वरूप उत्पादन भी गिर गया; (ब) गन्ने से प्राप्त चीनी की प्रतिशत मात्रा १९४८-४९ में ९'९७ से गिरकर १९४९-५० में ९'८९ हो गई और गन्ना पेरने की औसत अवधि भी १०१ दिन से घटकर ९१ दिन तक आगई। इस कारण चीनी के उत्पादन में कमी हुई जबकि कारखानों की संख्या १३४ से बढ़कर १३९ होगई थी।

परन्तु क्रमशः स्थिति बदली और उत्पादन बढ़कर १९५०-५१ में ११·०१ लाख टन और १९५१-५२ में १४·८३ लाख टन हो गया। १९५०-५१ और १९५१-५२ में चीनी का अधिक उत्पादन होने के तीन मुख्य कारण हैं, (१) मिलों को खुले बाजार में चीनी बेचने की छूट दे दी गई। इसके अनुसार कारखानों को १९४८-४९ या १९४९-५० में से जिस वर्ष का उत्पादन कम हो उसके १०७ प्रतिशत से अधिक उत्पादित चीनी को खुले बाजार में उस समय के भाव के अनुसार विक्रय करने की अनुमति दे दी गई। इसके पूर्व कारखानों को अपना सम्पूर्ण उत्पादन नियन्त्रित भाव पर बेचना पड़ता था जिससे उन्हें अधिक लाभ नहीं हो पाता था। इस कारण उत्पादन वृद्धि की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं रही। खुले बाजार में अतिरिक्त चीनी का विक्रय करने की छूट देने के फलस्वरूप कारखाने अधिक उत्पादन का लाभ उठा सकते थे इसलिए स्वाभाविक ही उत्पादन में वृद्धि हुई, (२) चीनी के मूल्य में थोड़ी सी वृद्धि की गई परन्तु गन्ने का भाव १९४८-४९ के स्तर पर ही रहा। कारखाने से बाहर चीनी का नियन्त्रित भाव २८ रुपया ८ आना स्थिर रखा गया परन्तु पहले यह डी० २४ नम्बर की चीनी का भाव था और अब ई० २७ नम्बर की चीनी इस भाव से विक्रय होने लगी। चूँकि ई० २७ नम्बर की चीनी डी० २४ नम्बर की चीनी से घटिया प्रकार की है इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि कारखानों ने गत वर्षों की अपेक्षा चीनी का अधिक मूल्य वसूल किया। उत्तर प्रदेश में १९५०-५१ में गन्ने का भाव २ आ० प्रतिमन बढ़ाकर १ रुपया १२ आना प्रतिमन निश्चित किया गया। कारखाने के बाहर ई० २७ नम्बर की चीनी का भाव बढ़ाकर २९ रुपया १२ आ० प्रतिमन कर दिया गया परन्तु इसका मिल मालिकों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि एक मन चीनी का उत्पादन करने में १० मन गन्ना लगता है और इस आधार पर उत्पादन व्यय १ रुपया ४ आना प्रतिमन बढ़ा और मूल्य भी इतना ही बढ़ा; (३) गन्ना पेरने की अवधि में भी वृद्धि की गई। १९४९-५० में गन्ना पेरने की अवधि ६१ दिन थी जो १९५०-५१ में बढ़कर १०१ और १९५१-५२ में १३३ दिन हो गई। यद्यपि यह सत्य है कि गन्ने से प्राप्त चीनी की प्रतिशत मात्रा १०·०३ से घटकर ९·५७ हो गई परन्तु कारखानों को अधिक समय तक चालू रखने के कारण चीनी के उत्पादन में वृद्धि हुई।

चीनी की उत्पत्ति १९५२-५३ में गिरकर १३·१४ लाख टन और १९५३-५४ में १०·०१ लाख टन हो गई। इसके कारण निम्न हैं, (१) उत्पादन करने वाली फैक्ट्रियों की संख्या जो कि १९५१-५२ में १३९ थी १९५२-५३ और १९५३-५४ में घटकर १३४ हो गई और कार्य करने के दिनों की औसत संख्या १३३ से

घटकर क्रमशः ११३ और ८६ हो गईं; (२) १९५२-५३ में कारखानों में पिछला बचा हुआ माल अधिक मात्रा में था और अनेकों मिलें समय से कार्यारम्भ भी न कर सकीं जिसके फलस्वरूप जितना उत्पादन करने की उनमें शक्ति थी उतना भी उत्पादन न हो सका; (३) बहुत सी मिलों में यंत्रादि घिसे पिटे और प्राचीन ढंग के थे जिनके कारण उत्पादन शक्ति का पूर्ण प्रयोग होना सम्भव नहीं था; और (४) अवैध रूप से शराब खींचने के कार्य में लाने के लिए बढ़ी हुई गुड़ की मांग को पूर्ण करने के लिये कुछ गन्ने का प्रयोग गुड़ बनाने में कर लिया गया। १९५२-५३ की फसल के लिए गन्ने का मूल्य घटाकर १ रु० ५ आना प्रति मन और चीनी का नियंत्रित मूल्य २७ रु० प्रतिमन कर दिया गया। गन्ने का प्रतिमन मूल्य इतना कम हो जाने से कारखानों को पर्याप्त मात्रा में गन्ना ही न मिल सका। १९५३-५४, १९५४-५५ और १९५५-५६ की फसलों के लिये भारत की सरकार ने गन्ने का मूल्य १ रु० ७ आ० प्रतिमन कर दिया। इस समय चीनी के मूल्य पर कोई नियंत्रण नहीं है, केवल यह प्रतिबन्ध है कि फसल की उत्पत्ति का २५% 'सुरक्षित माल' समझा जाय जिसमें से सरकार चीनी पिछले नियंत्रित मूल्य पर अर्थात् २७ रु० प्रतिमन पर बेचती है। कृषकों के दृष्टिकोण से गन्ने का १ रु० ७ आना प्रति मन मूल्य अपर्याप्त है और इसी कारण फैक्ट्रियों को पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल मिलने में कठिनाई पड़ती है।

१९५६-५७ में चीनी की उत्पत्ति २०½ लाख टन थी। १९५७-५८ में इससे बढ़कर २१½ लाख टन होने की सम्भावना है। इसका कारण वर्तमान फैक्ट्रियों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि तथा नई फैक्ट्रियों की स्थापना है।

उत्पादन क्षमता—चीनी उद्योग की मुख्य समस्या उत्पादन व्यय की अधिकता है। उत्पादन व्यय अधिक होने से उपभोक्ता पर अनावश्यक भार पड़ता है और अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय चीनी का मूल्य अधिक होने के कारण निर्यात की मात्रा भी नहीं बढ़ पाती। भारतीय चीनी का उत्पादन व्यय अधिक होने के अनेक कारण हैं। इसको कम करके चीनी का मूल्य घटाने के लिये काफी प्रयत्न करने की आवश्यकता है। चीनी-उद्योग के सम्बन्ध में प्रथम कठिनाई यह है कि कृषकों के हितों की रक्षा के लिये सरकार गन्ने का मूल्य अधिक निश्चित करती है और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें उद्योग पर अनेक कर लगाती हैं। गन्ने का अधिक मूल्य, अधिक मजदूरी और अधिक कर का फल यह होता है कि चीनी का उत्पादन व्यय कम होने की अपेक्षा बढ़ता जाता है। चीनी के मूल्य को घटाने के लिये यह आवश्यक होगा कि गन्ने के मूल्य को घटाया जाय। चीनी उद्योग की जाँच करने वाले प्रशुल्क मण्डल ने सुझाव दिया था कि

१९४९-५० में गन्ने के मूल्य में ३ आना प्रतिमन कमी की जाय, १९५०-५१ में भी इतनी कमी और की जाय जिससे भाव १ रुपया ४ आना प्रतिमन तक आ जाय। यदि सुझाव को लागू किया जाता तो इससे प्रतिमन चीनी में गन्ने का मूल्य ३ रुपया १२ आना कम हो जाता। यदि प्रशुल्क मण्डल के सुझाव के अनुसार माल तैयार करने की मद में भी २ रुपया ८ आने की कमी कर दी जाती तो इससे १९५०-५१ में चीनी का भाव २२ रुपया ४ आना प्रतिमन हो जाता। यह खेद की बात है कि सरकार ने प्रशुल्क मण्डल के सुझावों के अनुसार कार्य नहीं किया और गन्ने का भाव घटाने के बजाय बढ़ा दिया। इसके परिणाम स्वरूप चीनी के मूल्य में और वृद्धि हो गई। १९५२-५३ में गन्ने का मूल्य उत्तर प्रदेश और बिहार में घटाकर १ रुपया ५ आना प्रतिमन कर दिया गया परन्तु इसके पश्चात् भारत सरकार द्वारा फिर से बढ़ाकर १ रुपया ७ आना प्रतिमन कर दिया गया।

गन्ने की उत्पत्ति—गन्ने के मूल्य की समस्या सन्तोषजनक ढङ्ग से तभी सुलझाई जा सकती है जबकि प्रति एकड़ गन्ने की उत्पत्ति में वृद्धि की जाय। भारत में प्रति एकड़ गन्ने की उत्पत्ति संसार भर में सब से कम है और निरन्तर कम होती जा रही है। क्यूबा में प्रति एकड़ उत्पत्ति १७·१२ टन, मारिशस में १९·६३ टन, आस्ट्रेलिया में २१·३४ टन, प्युरटोरीको में २४·१६ टन, जावा में ५६ टन, और हवाई में ६२·०५ टन है जब कि भारत में केवल १४ टन है। गन्ने के प्रत्यादान की प्रतिशत क्यूबा में १३·२५, मारिशस में १२·०८, आस्ट्रेलिया में १४·३३, प्युरटोरीको में १२·२३, जावा में ११·४६ और हवाई में १०·४६ है और भारत में १०% है। कृषक को तो भूमि से अपनी साधारण आय चाहिये और यदि गन्ने का मूल्य घटा दिया जाय और यदि गन्ने से प्राप्त प्रति एकड़ आय बढ़ जाय तो कृषक के लिये चिन्ता की कोई बात न होगी।

वर्तमान समय में चीनी तैयार करने के लिये कुछ कारखाने सल्फीटेशन प्रोसेस और कुछ कारबोनेशन प्रोसेस का प्रयोग करते हैं। दोनों ही प्रकार के विधायन में गन्धक का उपयोग होता है जिससे चीनी के कारखानों का व्यय बढ़ता है क्योंकि गन्धक का भारत बहुत अधिक मूल्य पर आयात करता है। कारबोनेशन प्रोसेस में ०·०२%से०·०३५%तक गन्धक लगता है और सल्फीटेशन प्रोसेस में इसकी मात्रा ०·०५%से ०·०८%तक है। इसलिये इन दोनों में से कारबोनेशन प्रोसेस का प्रयोग करना आवश्यक है क्योंकि इससे उत्पादन व्यय घटेगा। इण्डियन इन्स्टीट्यूट आव शुगर टैकनालाजी के संचालक श्री जे० एम० साहा ने बिना गन्धक का प्रयोग किये चीनी बनाने की नई प्रक्रिया खोज निकाली है। इस नई

प्रक्रिया से अधिक मात्रा में चीनी उत्पन्न होती है और चीनी का प्रकार भी अपेक्षाकृत अच्छा है। पटना साइन्स कालेज के श्री डी० एन० घोष ने एक नई रीति निकाली है जिससे बिना किसी रसायनिक या ताप की सहायता के बिजली के द्वारा गन्ने का रस साफ किया जा सकता है। इन दोनों प्रणालियों का अभी तक व्यवसायिक पैमाने पर प्रयोग नहीं किया गया है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इनसे चीनी बनाने के व्यय में कमी अवश्य होगी। चीनी उद्योग में अच्छी मशीनों के लगाने से भी उत्पादन व्यय में कमी की जा सकती है।

स्थिति—उत्पादन व्यय अधिक होने का एक कारण कारखानों का अनुपयुक्त स्थानों पर स्थित होना भी है। यद्यपि वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश और बिहार में अधिकतर कारखाने स्थित हैं परन्तु यदि कारखाने बम्बई या दक्षिण भारत में होते तो अधिक उपयुक्त होता। बम्बई तथा दक्षिण के अन्य क्षेत्रों में गन्ने का प्रति एकड़ उत्पादन अधिक है और वहाँ गन्ने की पिराई भी अधिक समय तक होती है। यदि उत्तर भारत की अपेक्षा उद्योग दक्षिण में ही विकसित होता तो चीनी का उत्पादन व्यय अवश्य कम होता। परन्तु अब यह है कि चीनी-उद्योग अधिकतर उत्तर प्रदेश और बिहार में केन्द्रित हो गया है। १९५१ के उद्योग (विकास एवम् नियमन) कानून के अंतर्गत नियुक्त लाइसेंसिंग समिति ने कुछ कारखानों को एक साथ नये स्थानों में ले जाने की सिफारिश की थी परन्तु यह समस्या का उपयुक्त हल सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि (१) यदि यह योजना लागू की जाय तो एक कारखाने को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाने में १० से १५ लाख रुपया व्यय हो जायगा और यातायात की व्यवस्था में व्यय होगा। इसके साथ ही कारखाने को हटाने की अवधि में उत्पादन बन्द रहेगा; (२) जिन क्षेत्रों से कारखाने हटाये जायँगे उनकी आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायगी और उनका अन्य क्षेत्रों से सम्बन्ध टूट जायगा। इसलिये उद्योग की स्थिति में सुधार करने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि नवीन और उपयुक्त स्थानों में धीरे-धीरे नवीन कारखाने स्थापित किये जायँ और अनुपयुक्त स्थानों में स्थित कारखाने जब पुराने पड़ जायँ और पुनर्निर्माण की आवश्यकता हो तब उनका पुनर्निर्माण न करने दिया जाय।

निर्यात—अतीत में चीनी के लिये भारत विदेशों पर निर्भर था। १९२९-३० में भारत ने लगभग ९३ लाख टन चीनी का आयात किया। परन्तु हाल में चीनी के उत्पादन में वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप अब आयात केवल नाम मात्र को होता है। यह बहुत संभव है कि भविष्य में भारत चीनी का आयात करने की अपेक्षा निर्यात करने लगेगा। हवायन अंतर्राष्ट्रीय चीनी सम्मेलन के कथनानुसार "बहुत

समय तक भारत को चीनी का निर्यात करने की अनुमति नहीं दी गई, यहाँ तक कि १९३९-४० में जब देश में चीनी का उत्पादन आवश्यकता से कहीं अधिक हुआ था, अतिरिक्त चीनी का भारत से निर्यात नहीं किया जा सका। कुछ समय से यद्यपि भारत चीनी का निर्यात कर सकता है परन्तु निर्यात की मात्रा पर नियंत्रण है। कुछ पड़ोस के देशों को भारत केवल कुछ हजार टन चीनी प्रतिवर्ष भेज सकता है।"

चीनी का निर्यात बढ़ाने में सबसे बड़ी कठिनाई भारतीय चीनी का अपेक्षाकृत अधिक मूल्य है। भारत में कारखाने के बाहर चीनी का भाव (ex-factory price) २७ रुपया प्रति मन है जब कि अन्य देशों में २१ से २३ रुपया प्रति मन है। इसलिए जब तक सरकार या तो चीनी के निर्यात के लिये आर्थिक सहायता नहीं देती या विदेशों को कम मूल्य पर निर्यात करने और घाटा पूर्ति के लिये देश में अधिक मूल्य पर बेचने की अनुमति नहीं देती तब तक चीनी का निर्यात बढ़ा सकना असंभव है। परन्तु वर्तमान स्थिति में उक्त दोनों साधन अव्यवहारिक हैं। इन कारणों से चीनी का निर्यात बहुत कम होता है और जब तक चीनी का उत्पादन व्यय नहीं घटाया जाता तब तक भविष्य में भी निर्यात में वृद्धि की कोई आशा नहीं दिखाई देती।

योजना के अन्तर्गत—प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के आरम्भ में चीनी के वार्षिक उत्पादन में वृद्धि का कोई भी प्रबन्ध नहीं किया क्योंकि यह आशा की जाती थी कि १५·५ लाख टन की उत्पादन शक्ति का अनुमान और १९५५-५६ तक १५ लाख टन का वास्तविक उत्पादन उपयुक्त होगा। परन्तु १९५४-५५ में ही चीनी का उत्पादन १६ लाख टन के लगभग हो गया, अर्थात् योजना के लक्ष्य से १ लाख टन अधिक हो गया। इसलिए प्रथम पञ्चवर्षीय योजना का लक्ष्य १८ लाख टन कर दिया गया। इस ध्येय से सरकार ने ३७ नई मिलों को और ४० पुरानी मिलों के विस्तार के लिये लाइसेन्स प्रदान किये। इससे ५½ लाख टन तक की उत्पादन शक्ति बढ़ने और वास्तविक उत्पादन ३½ लाख टन बढ़ने की आशा है।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में यह प्रस्ताव किया गया है कि उत्पादन शक्ति १७·४ लाख टन से जितने का १९५५-५६ में अनुमान किया गया है, १९६०-६१ तक २५ लाख टन कर दी जाय और चीनी का उत्पादन १९५५-५६ के १७ लाख टन से बढ़ाकर १९६०-६१ तक २२½ लाख टन कर दिया जाय। उत्पादन की इस वृद्धि में से सहकारी चीनी के कारखाने ३½ लाख टन उत्पादित करेंगे। द्वितीय योजना में उत्पादन की बढ़ी हुई मात्रा का लक्ष्य उपयुक्त है। इण्डियन

शुगर मिल्स एसोसिएशन ने अपने स्मारकपत्र में जो उसने सरकार को भेजा था यह लिखा था कि वर्तमान चीनी के कारखाने पहिले से लाइसेन्स प्राप्त कारखानों को सम्मिलित करते हुये १९६०-६१ तक २७ लाख टन तक चीनी का उत्पादन करने में समर्थ हैं जबकि योजना का लक्ष्य केवल २२½ लाख टन ही उत्पादन करने का है। यदि भविष्य की कठिनाइयों जैसे वर्षा का न होना, बाढ़ का आना इत्यादि को विचाराधीन रख लिया जाय तब १९६०-६१ तक वर्तमान कारखाने पहिले से लाइसेन्स प्राप्त कारखानों को मिलाकर प्रति वर्ष २५ लाख टन चीनी का उत्पादन कर सकेंगे जो कि लक्ष्य से २½ लाख टन अधिक होगा। इस बात को सोचते हुये सरकार के लिए यह आवश्यक है कि नई फैक्ट्रियों को लाइसेन्स देने में सावधानी करें नहीं तो भारतीय चीनी उद्योग में उत्पादन शक्ति का आधिक्य हो जायगा और सम्भवतः उत्पादन भी आवश्यकता से अधिक होगा।

कोयला उद्योग

भारत में कोयले के उत्पादन में विशेष प्रगति हुई है। १९३० का २४० लाख टन का उत्पादन १९५७ में बढ़कर ४३५ लाख टन हो गया। सन् १९५० तक कोयले का उत्पादन लगभग ३०० लाख टन तक बढ़ पाया था पर १९५० में सर्व प्रथम उत्पादन बढ़कर ३२३·३ लाख टन हो गया था। आगामी वर्षों में उत्पादन उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। १९५१ में ३४६·६५ लाख टन, १९५२ में ३६३·३४ लाख टन, १९५५ में ३८० लाख टन तथा १९५७ में ४३५ लाख टन हुआ था। उत्पादन में यह वृद्धि वर्तमान खानों की अधिक घनी खुदाई करने तथा कोयले की माँग में वृद्धि होने के कारण नई खानों की खुदाई का कार्य आरंभ करने के कारण हुई है।

उत्पादन क्षमता—यद्यपि भारत में कोयले के कुल उत्पादन में वृद्धि हुई है परन्तु कोयले की खानों के उद्योग की उत्पादन क्षमता बहुत कम है। बहुत सी खानें इतनी छोटी हैं जिन्हें आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। खानों के यन्त्रीकरण में भी विशेष प्रगति नहीं की गई है। कोयला उद्योग में जितने श्रमिक कार्य करते हैं उनकी संख्या आवश्यकता से अधिक है। साथ ही अन्य देशों के विपरीत भारतीय खदान-श्रमिक की कार्य क्षमता कम है और प्रति श्रमिक उत्पादन भी कम होता है। उद्योग में कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या १९४१-५१ के मध्य ५८% बढ़ गई है परन्तु कोयले के उत्पादन में केवल ३२% की ही वृद्धि हो पाई है इससे श्रमिकों की उत्पादकता में ह्रास प्रगट होता है। यह प्राविधिक (टैक्निकल) पिछड़ापन और कार्यक्षमता में कमी, कोयले के उद्योग की स्पर्धा शक्ति और लाभ को नीचे स्तर पर रखने के लिये उत्तरदायी है।

ज्योलोजिकल, माइनिंग और मैटालर्जीकल सोसाइटी की २८ वीं वार्षिक बैठक में यह बताया गया कि भारत में प्रति श्रमिक आठ घंटे की एक शिफ्ट में २.७ टन कोयले का उत्पादन होता है जब कि ब्रिटेन में ६.२६ टन, जर्मनी में ८.६६ टन और अमरीका में २१.६८ टन कोयले का उत्पादन होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उत्पादन व्यय कम करने के लिए और उद्योग की वित्तीय स्थिति दृढ़ बनाने के लिए भारतीय कोयला उद्योग का अभिनवीकरण करने की आवश्यकता है। कोयला उद्योग का यन्त्रीकरण करने में दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—(१) इस प्रक्रिया में बहुत अधिक धन की आवश्यकता होती है और (२) श्रमिक इस प्रक्रिया का विरोध करते हैं क्योंकि इस योजना को लागू करने से अनेक श्रमिक बेरोजगार हो जायँगे। उद्योग की उत्पादन-क्षमता में सुधार करने के लिए इन दोनों कठिनाइयों को दूर करना आवश्यक है।

परिरक्षण (Conservation)—वर्तमान समय में धातुशोधन के कार्य में आने वाले उत्तम श्रेणी के कोयले की काफी क्षति हो रही है। इस कोयले का कुल जितना उत्पादन होता है उसका ४० प्रतिशत भाग रेलवे के कार्य में आता है, २१ प्रतिशत के लगभग लोहे और इस्पात उद्योग में और १३ प्रतिशत का निर्यात और जहाजों में प्रयोग होता है। इस्पात उद्योग में इस प्रकार के कोयले की बहुत आवश्यकता होती है इसलिये इस उद्योग के उपयोग के लिये इसका संरक्षण करना पड़ेगा। मेटालर्जीकल कोल कमेटी (१६४६) अपनी जांच पड़ताल के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँची कि प्रत्येक वर्ष पूर्व की कुल खपत में से (उद्योग को बिना कुछ हानि पहुँचाये) आगामी ५ वर्षों में धीरे धीरे १० प्रतिशत की कमी की जा सकती है और इस प्रकार धातुशोधन के कार्य में आने वाले उत्तम श्रेणी के कोयले का उत्पादन घटाया जा सकता है। इस समिति ने सुझाव दिया है कि (अ) किसी भी परिस्थिति में इस प्रकार के कोयले की खानें न खोली जायँ। यदि पुनः प्रचलित करने में अधिक धन न लगे तो उत्तम श्रेणी के कोयले की कुछ खानों को बन्द किया जा सकता है, (ब) कोयले के चट्टे लगाने, मिलाने और धोने को कानूनी रूप से अनिवार्य कर देना चाहिए, और (स) खराब कोयला छोड़कर अच्छा कोयला निकालने की रीति को बन्द कर देना चाहिए। योजना आयोग ने सुझाव दिया है उत्तम श्रेणी के कोयले का संरक्षण किया जाय और कोयले तथा कोयला समिति से सम्बन्धित सभी विषयों पर परस्पर उचित संबन्ध स्थापित करने वाली नीति अपनाई जाय। सरकार ने धातु शोधन के कार्य में आनेवाले कोयले के उत्पादन की अधिकतम मात्रा निर्धारित कर दी है। १६५३ उत्पादन की अधिकतम मात्रा १५१.८ लाख टन, १६५४-५५ में १४३.८ लाख टन, १६५६

में १५४·१ लाख टन तथा १६५७ में १६० लाख टन कर दी गई।

सरकार की इस नीति की दो आधारों पर आलोचना की गई है। यह कहा गया है कि (अ) उत्तम प्रकार के कोयले के उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगाना समस्या का उचित हल नहीं है। संरक्षण करने का अर्थ है रोकी जा सकने वाली क्षति होने की सारी संभावनाएँ समाप्त करना, उत्पादन में अधिक उपयुक्त साधनों तथा उपायों का प्रयोग करना और कोयले के व्यय में बचत करना इत्यादि। इसके साथ ही सरकार की नीति को व्यापक होना भी आवश्यक है, (ब) कोयले के चट्टे लगाने, मिलाने और धोने में और संरक्षण की नीति को लागू करने में अतिरिक्त व्यय करना पड़ता है जिसका उत्पादन व्यय पर प्रभाव पड़ता है। सरकार न तो उद्योग को आवश्यक वित्त की सहायता देती है और न अतिरिक्त व्यय का धन वसूल करने के लिये कोयले के मूल्य में वृद्धि करने देती है। उद्योग पर उक्त प्रतिबन्ध लगाना सरकार की न्यायसंगत कार्यवाही नहीं कही जा सकती। इस अभाव की पूर्ति किये बिना सरकार की कोयला संरक्षण नीति से उद्योग को और अधिक हानि होने की संभावना है।

परिवहन—कोयला उद्योग की एक सबसे बड़ी कठिनाई परिवहन के साधनों का अभाव है। कोयले को अन्यत्र भेजने के लिए पर्याप्त संख्या में गाड़ियाँ या मालगाड़ी के डिब्बे नहीं मिलते हैं। गाड़ियाँ मिलने में बहुत देर होती है जिससे खानों के समीप कोयले के ढेर लग जाते हैं। इससे खानों के कार्य में बहुत कठिनाई होती है। बंगाल और बिहार के कोयले की खानों के क्षेत्र में (जो देश के ८०% कोयले के उत्पादन के लिये उत्तर दायी है) प्रतिदिन लादी जाने वाली मालगाड़ियों के डिब्बे की औसत संख्या १६५७ में ३६६७ थी, जब कि १६५६ तथा १६५२ में यह संख्या क्रमशः ३४०५ तथा ३१६३ थी। इससे उन्नति की प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है परन्तु खेद है कि कोयले की खानों को उपलब्ध माल गाड़ियों की संख्या न तो आवश्यकता के अनुकूल ही रही है और न रेल विभाग की शक्ति के ही अनुकूल।

कोयले के लिये मालगाड़ियों के डिब्बों की पूर्ति में वृद्धि आवश्यक है ताकि उद्योग द्वारा कोयला शीघ्रता से और कम मूल्य पर बेचा जा सके। मालगाड़ी के डिब्बों की पूर्ति में वृद्धि के लिये रेलवे के प्रसाधनों में वृद्धि आवश्यक होगी। इसमें निश्चय ही समय लगेगा। परन्तु कुछ अन्य भी उपाय हैं जिनसे कोयले की खानों के लिये मालगाड़ी के डिब्बों की पूर्ति में वृद्धि की जा सकती है। वर्तमान मालगाड़ी के डब्बों के आवेदन की प्रणाली बड़ी ही जटिल है जिससे देर भी लगती है और खानों पर अत्यधिक कोयला भी एकत्रित हो जाता है। दूसरी

समस्या ढोने की दर की है। भारत सरकार ने कोयले के भाड़े की दर में ३० प्रतिशत वृद्धि कर दी है। भाड़े की वृद्धि कोयला उद्योग के सम्बन्ध में नियुक्त की गई वर्किंग पार्टी के सुझाव के अनुसार की गई है। इस वृद्धि से कोयले के परिवहन व्यय में वृद्धि हो गई और इस प्रकार कोयले का प्रयोग करने वाले उद्योगों का उत्पादन व्यय भी बढ़ गया। भारतीय उद्योगों का विकास करने के लिए कोयले का परिवहन व्यय कम करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

कोयले के निर्यात में कमी की समस्या भारत सरकार ने १९५४ में नियुक्त एक कमेटी के सम्मुख रक्खी थी जिसने यह रिपोर्ट दी कि भारत के कोयले के मुख्य बाजार पड़ोसी देशों में ही हैं। इस लिये बरमा, लंका, पाकिस्तान, दक्षिणी पूर्वी एशिया के कुछ देशों को ही भारत को अपना स्वाभाविक बाजार समझना चाहिये। १९५१-५२ में जो यूरुप को अधिक निर्यात हुआ था वह यूरुप में कोयले के अभाव, दक्षिणी अफ्रीका में यातायात की कठिनाईयों, आस्ट्रेलिया में नियंत्रित उत्पादन और कोरिया के युद्ध जनित कारणों से था। १९५३ में ये १९५१-५२ की अपवादी स्थिति समाप्त हो गई और जो नवीन बाजार भारत को प्राप्त हो गये थे वे सामान्य स्थिति होने पर फिर समाप्त हो गये। कोयले का निर्यात बढ़ाने के विचार से कमेटी ने निम्न सिफारिशें कीं: (१) कोयले का सरकारी क्रय विक्रय बन्द होना चाहिये, (२) कोयले की विभिन्न प्रकारों पर जो नियंत्रण लगा हुआ है उसे कम करना चाहिये; (३) कोल ग्रेडिंग बोर्ड को वे ही ग्रेड बनाने चाहिये जो कन्ट्रोल आर्डर में दे दिये हैं, और (४) कलकत्ते के बन्दरगाह पर अधिक सुविधाओं के देने के उपाय करने चाहिये।

योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पंच वर्षीय योजना में कोयला उद्योग को प्रमुख स्थान दिया गया है। धीरे धीरे इसे सरकारी क्षेत्र में ले आया जायगा। कोयले का उत्पादन ३६७.७ लाख टन से जो कि १९५४ में था बढ़ाकर १९६०-६१ में ५९७.७ लाख टन कर दिया जायगा।

१९४८ के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में यह कहा गया था कि प्रत्येक कोयले की नवीन खान सरकारी क्षेत्र में ही आरम्भ होगी, ऐसी स्थिति के अतिरिक्त जहाँ कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सरकार व्यक्तिगत व्यवसायियों का सहयोग आवश्यक समझती है। आरम्भ में इस नीति के व्यवहार में कुछ शिथिलता दिखाई गई परन्तु अब यह निश्चय कर लिया गया है कि भविष्य में कोयले के उद्योग के नवीन उपक्रमों को सरकारी क्षेत्र में ही रखने का प्रयत्न किया जायगा और बढ़ी हुई माँग को पूर्ण करने के लिए अतिरिक्त कोयले का उत्पादन द्वितीय योजना काल में अधिकतम स्तर तक सरकारी क्षेत्र में ही किया जायगा।

लोहा और इस्पात उद्योग

भारतीय लोहे और इस्पात उद्योग के क्षेत्र में तीन मुख्य उत्पादक हैं, टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (इसमें स्टील कारपोरेशन आफ़ बंगाल भी सम्मिलित है) और मैसूर आयरन स्टील वर्क्स। इन कारखानों में कच्चे लोहे का इस्पात बनाया जाता है और इस्पात से आवश्यक वस्तुयें तैयार की जाती हैं। इनके अतिरिक्त लगभग ६४ छोटे कारखाने हैं जो व्यर्थ लोहे से और लोहे के छड़ों से जो उत्पादकों द्वारा प्राप्त होते हैं या आयात होते हैं, इस्पात तैयार करते हैं।

भारतीय इस्पात उद्योग एशिया में सबसे बड़ा है और संसार के सर्वोत्तम इस्पात उद्योगों में से एक है। १९२४ में संरक्षण मिलने के पश्चात् इसने महत्वपूर्ण प्रगति की है। उद्योग की उत्पादन क्षमता में इतनी वृद्धि हुई कि १९४१ में संरक्षण की कुछ आवश्यकता नहीं रही। इस्पात का उत्पादन १९४७ में ८९ लाख टन था जो बढ़कर १९५२-१९५५ तथा १९५७ में क्रमशः ११ लाख टन, १२ लाख टन और १३ लाख टन हो गया। १९५८ में उत्पादन की मात्रा ४५ लाख टन अनुमानित की गई है। १९५३ में इस्पात और ढले हुए लोहे का उत्पादन १९५२ की अपेक्षा कम हो गया। इसका कारण किसी सीमा तक तो श्रमिकों के झगड़े थे और किसी सीमा तक यन्त्रों के अभिनवीकरण के कारण उत्पन्न वह अव्यवस्था थी जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिए कारखानों को बन्द रखना आवश्यक हो गया था। इसके अनन्तर उत्पादन में वृद्धि हुई और भविष्य में इसके और अधिक बढ़ने की संभावना है। भारत के इस्पात और लोहे के उद्योग की मुख्य समस्याएँ (अ) इस्पात के उत्पादन में वृद्धि करना, (ब) ढले हुए लोहे के उत्पादन को फाउन्ड्रीयों के लिये बढ़ाना है।

लोहे और इस्पात उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल भारत में ही प्राप्त है। जितना कच्चा माल वर्तमान समय में प्राप्त है उतने से ही उद्योग के लिए इस्पात बढ़ा लेना सम्भव है।

इस्पात का मूल्य—देशी इस्पात का मूल्य आयात किये हुये इस्पात से बहुत कम है। मूल्यों में समानता लाना बहुत आवश्यक है। यह मूल्य के नियंत्रण द्वारा ही (युद्धकाल से आज तक) सम्भव हो सका है। १ अक्टूबर १९३९ से ३० जून १९४४ तक युद्ध के लिये क्रय किये जाने वाले इस्पात के मूल्य पर नियन्त्रण था। परन्तु इस्पात के व्यवसायिक मूल्य पर कोई नियन्त्रण नहीं था। इस्पात के व्यवसायिक मूल्य पर परिनियमित रूप से नियंत्रण १ जुलाई १९४४ से आरम्भ हुआ। इस सम्बन्ध में सरकार जिस प्रणाली का अनुसरण करती है उसके

अनुसार प्रत्यारक्षण मूल्य (retention price) नियत कर दिया जाता है जिस पर मुख्य-मुख्य उत्पादक इस्पात विक्रय करते हैं, और उपभोक्ताओं के लिये मूल्य की एक अन्य ऊँची दर नियत होती है जिस पर वे क्रय करते हैं। दोनों मूल्यों के अन्तर से प्राप्त धन समानता स्थापित करने वाले कोष (equalisation method) मे जमा कर दिया जाता है जिसमें से इस्पात के आयात में सहायता प्रदान की जाती है और इस्पात उत्पादकों के अभिनवीकरण तथा विकास के कार्यक्रमों में आर्थिक सहायता दी जाती है। एक जुलाई १६४४ और ३१ मार्च १६४६ के मध्य इस्पात के दो प्रत्यारक्षण मूल्य निर्धारित किये गये थे। एक युद्ध के लिये क्रय किये जाने वाले इस्पात के लिये और दूसरा व्यवसायिक प्रयोग के लिये, परन्तु १ अप्रैल १६४६ से केवल एक ही प्रत्यारक्षण मूल्य निर्धारित है। परिस्थिति के परिवर्तन के साथ प्रत्यारक्षण मूल्य और विक्रय मूल्य बदलते रहते हैं।

प्रशुल्क मण्डल की सिफारिशों के अनुसार सरकार ने यह बात स्वीकार कर ली है कि १६५५-५६ से १६५६-६० तक की अवधि के लिये ३६३ रु० प्रति टन के प्रत्यारक्षण मूल्य की एक ही दर टाटा कम्पनी और इन्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के लिये नियत की जानी चाहिये। इस पुनर्निश्चित मूल्य के लागू करने के लिये सरकार का प्रस्ताव फरवरी १६५६ में पास हुआ। इसी समय १६५४-५५ के लिये पुनंपरिक्षित प्रत्यारक्षण मूल्य ३४३ रु० प्रति टन का टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के लिए और ३८८ रु० प्रति टन का इन्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के लिए नियत किया गया। इस बात को सब ने स्वीकार कर लिया कि १६५४-५५ का समायोजित प्रत्यारक्षण मूल्य और ३६३ रु० प्रति टन के समान प्रत्यारक्षण मूल्य का अन्तर प्रत्येक कम्पनी अपने विकास कोष में दे देगी।

भूतकाल मे इस्पात का मूल्य बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, जमशेदपुर और बरनपुर में ५०० रुपये प्रति टन था, और अन्य स्थानों पर उपभोक्ताओं को उसके साथ परिवहन व्यय मिला कर देना पडता था। इसका अर्थ यह था कि (१) उत्तर प्रदेश, पंजाब और उत्पादन केन्द्रों तथा बन्दरगाहो से दूर स्थित नगरों के उपभोक्ताओं को अधिक मूल्य देना पड़ता था; और (२) बन्दरगाहों के निकट उद्योग केन्द्रित होते जा रहे थे क्योकि उन्हे वहाँ इस्पात सस्ता मिलता था। सरकार की जून १६५६ की नई नीति के अनुसार इस्पात का एक ही मूल्य (५२५रु० प्रति टन) जिसमे रेल का किराया सम्मिलित होगा रेल के सभी प्रमुख स्टेशनों पर लागू होगा। इस प्रकार ऊपर बताये हुए पाँचों स्थानो पर उपभोक्ताओ को २५ रु० प्रति टन अतिरिक्त मूल्य देना पड़ेगा और उन उपभोक्ताओ को जो अमृतसर और कानपुर ऐसे स्थानों में हैं लगभग ३५ रु० प्रतिटन कम देना पड़ेगा। पहले मूल्य

में समानता लाने के लिये सिद्धान्त का प्रयोग केवल इस्पात के सम्बन्ध में ही लागू किया गया था। अब यह सिद्धान्त ढाले हुए लोहे के सम्बन्ध में भी लागू किया जायगा। इस नई नीति के कारण इस्पात और लोहे के मूल्य में भारत के उत्तरी भाग में रहने वाले व्यक्तियों के लिये कमी हो जायगी और दुर्लभ वस्तुयें प्रत्येक को युक्ति संगत मूल्य पर प्राप्त हो सकेंगी।

इस्पात के मूल्य पर सरकारी नियन्त्रण उपभोक्ताओं के लिये लाभकारी सिद्ध हुआ है क्योंकि बिना इस नियन्त्रण के उन्हें ये वस्तुयें अधिक मूल्य पर प्राप्त होती। परन्तु कम प्रत्यारक्षण मूल्य के नियत किये जाने से उत्पादकों को हानि हुई है। यदि उत्पादकों को ऊँचा मूल्य मिला होता तो वे अवश्य उद्योग के विस्तार करने में तथा अभिनवीकरण मे व्यय किया जाता। अब उन्हें इस कार्य के लिये सरकार से ऋण लेना पड़ा है और सरकार ने मूल्य समीकरण कोष (equalisation fund) से यह ऋण दिया है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सरकार ने टाटा कम्पनी और स्टील कारपोरेशन आफ बंगाल को तथा अन्य इस्पात के उत्पादकों को वह धन ऋण के रूप में दिया है जो कि न्यायतः उन्हीं का था। यदि इस्पात कम्पनियों को ऐसे अवसर पर जब कि इस्पात का मूल्य बढा हुआ है अधिक मूल्य का लाभ न उठाने दिया जायगा तो आर्थिक मन्दी के समय जब मूल्य उत्पादन व्यय से कम होता है वे हानि का सामना कैसे करेंगे।

भविष्य की माँग—लोहा और इस्पात मेजर पेनेल ने १६४६ में अनुमान लगाया कि भारत में २० लाख टन इस्पात की खपत है, जब कि युद्ध के पूर्व केवल दस लाख टन की खपत थी। परन्तु १६४७ मे परामर्शदात्री नियोजन परिषद ने अनुमान लगाया कि देश में सामान्य स्थिति में १५ लाख टन इस्पात की खपत है। कृषि तथा औद्योगिक विकास पर विचार करते हुये योजना आयोग ने अनुमान लगाया कि १६५२ में कुल ३२ लाख टन की आवश्यकता होगी और १६५७ तक २८ लाख टन की आवश्यकता हो जायगी। लोहा और इस्पात पेनल ने अनुमान लगाया है कि भारत को फाउन्ड्रियों के लिये प्रतिवर्ष ३ लाख टन ढले हुये लोहे की आवश्यकता होगी। वाणिज्य मन्त्रालय के छोटे और बड़े इंजीनिरिंग उद्योग के जाँच करने वाले पेनेल ने १६५१ में बताया कि भारत को ४ लाख से ४·२ लाख टन तक ढले हुये लोहे की आवश्यकता थी। द्वितीय पचवर्षीय योजना का अनुमान है कि १६६०-६१ में इस्पात की माँग लगभग ४५ लाख टन की और फाउन्ड्रियों के लिये ढले लोहे की माँग लगभग ७·५ लाख टन की होगी। मुख्य उत्पादकगण ढला लोहा अपने प्रयोग के लिये तथा फाउन्ड्रियो के लिये ही

उत्पादित करते हैं। इसलिये फाउन्ड्रियों के लिये ढले लोहे की पूर्ति में वृद्धि करने के लिये प्रमुख उत्पादकों को अपने उत्पादन में वृद्धि करनी पड़ेगी।

योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने भारत मे इस्पात के उत्पादन के विकास पर विशेष महत्व दिया है। उद्योगीकरण की वर्तमान बढ़ी हुई प्रगति को बनाये रखने के लिये और भारत में यन्त्रों के निर्माण करने वाले उद्योग की स्थापना करने के लिये यह आवश्यक होगा कि इस्पात के उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जाय। द्वितीय योजना में १९६०-६१ तक ४३ लाख टन इस्पात के उत्पादन का प्रबन्ध किया गया है। इसमें से वर्तमान तीन प्रमुख उत्पादक अपने विस्तार के कार्य क्रम को पूर्ण कर लेने के पश्चात् लगभग २३ लाख टन की पूर्ति कर सकेंगे। सरकारी क्षेत्र में तीन नये स्थापित प्रमुख उत्पादक लगभग २० लाख टन का उत्पादन १९६०-६१ तक कर सकेंगे यद्यपि उनके उत्पादन की चरम सीमा कहीं अधिक होगी।

लोहे और इस्पात के उत्पादन को प्रधानता देने के निर्णय के अनुकूल द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत तीन इस्पात के कारखानों की स्थापना का निश्चय है जिनमें से प्रत्येक की उत्पादन शक्ति १० लाख टन होगी, और इन तीन में से एक को ३·५ लाख टन फाउन्ड्रियों के प्रयोग में आने वाला ढला हुआ लोहा तैयार करने की सुविधायें प्राप्त होंगी। रूरकेला में खोले गये कारखाने में १९५६-६१ में १२८ करोड़ रुपये के विनियोग का अनुमान है। यह आशा की जाती है कि ७.२ लाख टन इस्पात की चपटे आकार की वस्तुओं का उत्पादन करेगा। दूसरा कारखाना, जो कि मध्य-प्रदेश में भिलाई स्थान पर स्थापित किया गया है, उस पर लगभग ११० करोड़ रुपया व्यय किये जाने का अनुमान है। उससे हम आशा करते हैं कि ७·७ लाख टन विक्रय योग्य इस्पात तथा वजनी और मध्य श्रेणी की वस्तुओं का उत्पादन हो सकेगा जिसमें १.४ लाख टन पत्रक का भी रि-रोलिङ्ग उद्योग के लिये उत्पादन सम्मिलित होगा। तीसरा कारखाना दुर्गापूर मे, जो कि पश्चिमी बंगाल में स्थिति है, खोला गया है जिसमें लगभग ११५ करोड़ रुपये के व्यय होने की आशा है। यह कारखाना ऐसे प्रसाधनों से युक्त होगा कि वह हल्की और मध्य श्रेणी की इस्पात तथा पत्रक की वस्तुओं का निर्माण ६.६ लाख टन तक प्रतिवर्ष कर सकेगा।

सरकारी क्षेत्र के समान ही व्यक्तिगत क्षेत्र में भी इस्पात और लोहे का स्थान औद्योगिक योजना में एक बहुत बड़ी महत्ता रखता है। इस उद्योग पर व्यक्तिगत क्षेत्र में लगभग ११५ करोड़ रुपये के विनियोग का विचार किया गया हैं। प्रथम योजना के अन्तर्गत व्यक्तिगत क्षेत्र में लोहे और इस्पात उद्योगो के

विस्तार सम्बन्धी विनियोग तथा जो कुछ व्यय द्वितीय योजना के अन्तर्गत किया गया है उस सब का फल १९५८ के मध्य से मिलना प्रारम्भ होगा जबकि टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की संयुक्त उत्पादन शक्ति वर्तमान १२.५ लाख टन के स्थान पर २३ लाख टन के लगभग हो जायगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने इस्पात और लोहे के उत्पादन के बढ़ाने पर उचित ही ध्यान दिया है। इस्पात अधिक मात्रा में औद्योगीकरण का आधार है और इस्पात के उत्पादन की वृद्धि औद्योगिक उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। लोहे का उत्पादन बढ़ाने में सरकारी क्षेत्र पर बहुत अधिक विश्वास है। २८ मई, १९५५ को केन्द्रीय सरकार ने लोहे और इस्पात के लिये एक मंत्रालय की नियुक्ति की जिस पर लोहे और इस्पात के उत्पादन सम्बन्धी सरकारी कार्यों का तथा सरकारी फाउन्ड्रीयों की देखभाल का भार रक्खा गया। कुछ लोगों के मत में यह अधिक अच्छा होता यदि इस्पात के उत्पादन मे वृद्धि करने का भार मुख्य रूप से वर्तमान उत्पादकों के ऊपर ही छोड़ दिया गया होता क्योंकि उन्हें इस बात का आवश्यक अनुभव था और सम्भवतः वे अधिक शीघ्रता से और कम लागत पर उत्पादन की वृद्धि करने मे सफल भी हुये होते।

सीमेन्ट उद्योग

सीमेन्ट के उत्पादन में भारत ने उल्लेखनीय प्रगति की है। १९४८ में केवल १५ लाख टन का उत्पादन था जो १९५७ में बढ़ कर ५६ लाख टन हो गया। १९५२ में भारत में केवल २३ फैक्ट्रियाँ थीं, जिनकी उत्पादन शक्ति ३७·९ लाख टन थी। १९५७ में २९ फैक्ट्रियाँ थी जिनकी स्थापित सामर्थ्य ६६·३ लाख टन थीं। भारतीय सीमेन्ट उद्योग की वास्तविक उत्पादन शक्ति मे नई फैक्ट्रियों की स्थापना तथा पूर्व की फैक्ट्रियों के विस्तार के कारण वृद्धि हुई है। सीमेन्ट उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है; (१) भूतकाल मे उत्पादन की मात्रा उनकी वास्तविक उत्पादन शक्ति से बहुत कम थी और १९५० मे जब कि वास्तविक उत्पादन शक्ति ३१·२ लाख टन थी उस समय उत्पादन केवल २६·१ लाख टन था। परन्तु इधर हाल मे इस दोष का किसी सीमा तक निराकरण कर दिया गया है; (२) बहुत फैक्ट्रियाँ अनुकूलतम उत्पादन शक्ति से बहुत नीचे स्तर पर हैं, नवीन फैक्ट्रियाँ उपयुक्त आकार की हैं और श्रेष्ठतम यन्त्रों का प्रयोग कर रही हैं। (३) सीमेन्ट उद्योग को आवश्यक संख्या में मालगाड़ी के डिब्बे नहीं प्राप्त होते जिनसे कच्चा माल लाया जा सके और तैयार सीमेन्ट उपभोग केन्द्रों को शीघ्रता पूर्वक भेजा जा सके, और (४) सीमेन्ट का नियंत्रित मूल्य सब फैक्ट्रियों के

दृष्टिकोण से न्यायोचित नहीं रहा है, क्योंकि अन्य फैक्ट्रियों से तन्तनायें जो अधिक व्यवस्थित थीं कुछ फैक्ट्रियों का उत्पादन व्यय अधिक रहा है ।

इधर हाल में स्थिति में घोर परिवर्तन हुआ है। सीमेन्ट दुर्लभ ही नहीं वरन् बहुत मंहगा भी हो गया है। इस बात को विचाराधीन करते हुये सरकार ने सीमेन्ट का क्रय विक्रय अपने हाथों में ले लिया है और उसके लिये एक विक्रय मूल्य १ जुलाई १९५६ से लागू कर दिया है। सब सीमेन्ट के उत्पादकों को अब अपना सीमेन्ट स्टेट ट्रेडिङ्ग कारपोरेशन आफ इन्डिया (प्राईवेट लि०) के हाथ फैक्ट्री के बाहर उपभोग केन्द्रों तक पहुँचाने में लगे रेलवे के किराये के आधार पर नियत मूल्य पर बेचना होगा। यह कारपोरेशन सीमेन्ट १०२ रु० ८ आने प्रति टन के मूल्य पर बेचता है। मई १९५७ में सीमेन्ट पर लगा उत्पादन कर ५ रु० प्रति टन से बढ़ाकर २० रु० प्रति टन कर दिया गया। सीमेन्ट का मूल्य भी इतना ही बढ़ गया।

देश के विभाजन के फलस्वरूप कुछ सीमेन्ट की फैक्ट्रियाँ पाकिस्तान में चली गईं। यही कारण था कि १९४७ में उत्पादन घट कर १५ लाख टन हो गया जब कि १९४५ में २२ लाख टन था। परन्तु देश ने बहुत शीघ्र ही विभाजन के प्रभावों से मुक्ति पा ली और उत्पादन में वृद्धि आरम्भ हो गई जो आज तक निरन्तर चल रही है। युद्धोत्तर काल में सीमेन्ट उद्योग की विकास सम्बन्धी उल्लेखनीय विशेषताएँ यह हैं; (१) १९३९ में सीमेन्ट उद्योग प्रायः मध्य प्रदेश और मध्य भारत में ही केन्द्रित था। परन्तु एसोशियेटेड सीमेन्ट कम्पनी द्वारा युक्तिकरण की योजना के लागू किये जाने के फलस्वरूप कुछ फैक्ट्रियों को नये स्थानों पर स्थापित किया गया। युद्धोत्तर काल में इस उद्योग का विकास अधिक सन्तुलित ढंग पर हुआ और नवीन स्थानों पर कारखाने स्थापित हुये। इसका परिणाम यह हुआ कि सीमेन्ट के कारखाने सम्पूर्ण देश में फैले हैं। इससे देश के विभिन्न भागों में प्राप्त होने वाले कच्चे माल का भी उचित प्रयोग सम्भव हो गया है। साथ ही यातायात में बहुत सा व्यर्थ व्यय जो उद्योग के किसी एक स्थान पर केन्द्रित होने के कारण करना पड़ता वह भी बच गया। (२) भूत काल में सिमेन्ट उद्योग व्यक्तिगत उपक्रम था, परन्तु अब सरकार ने भी इस उपक्रम में भाग लेना आरम्भ कर दिया। मैसूर राज्य की फैक्ट्री के अतिरिक्त, जिसकी उत्पादन शक्ति ३९ हजार टन से बढ़ा कर ९० हजार टन कर दी जायगी, उत्तर प्रदेश की राजकीय फैक्ट्री चिपरी में स्थापित की है जिसकी उत्पादन शक्ति २½ लाख की है। (३) भूतकाल में अधिकाँश कारखाने ८००० टन ही के अनार्थिक से भी कम उत्पादन वाले थे। परन्तु हाल में जो कारखाने स्थापित किये गये हैं वे आर्थिक

दृष्टि से उपयुक्त हैं और प्रायः सभी कम मात्रा में उत्पादन करने वाले कारखानों ने अपनी उत्पादन शक्ति में वृद्धि की है।

सीमेन्ट की आन्तरिक माँग उसकी पूर्ति से अधिक होगई। देश में उत्पादन की वृद्धि के अलावा १९५६ के प्रारंभ में यह निश्चय किया गया कि उस वर्ष विदेशों से ७ लाख टन सीमेन्ट का आयात किया जाय। राज्य-व्यापार निगम (State Trading Corporation) ने इस मात्रा के आयात के लिये दृढ़ व्यवस्था कर रखी थी किन्तु बीच में स्वेज का सकट उपस्थित हो जाने पर १९५६ मे केवल १०८,००० टन सीमेन्ट ही आ सका। १९५७ में ३२१,००० टन सीमेन्ट और आया। १९५८ में आयात और कम होगा। इसका कारण विदेशी विनियम का सकट तथा देश मे उत्पादन का तीव्रता से बढ़ना है।

योजना के अन्तर्गत—प्रथम योजना में यह प्रस्ताव किया गया था कि सिमेंट के कारखानों की सख्या १९५०-५१ में २१ से बढ़ाकर १९५५-५६ में २७ कर दी जाय। साथ ही इनकी ३३ लाख टन की उत्पादन शक्ति तथा २७ लाख टन उत्पादन बढ़ाकर १९५५-५६ में क्रमशः ५३ लाख टन और ४८ लाख टन कर दिया जाय। मध्य प्रदेश, मध्यभारत और ट्रावनकोर कोचीन मे सिमेंट के कारखानों को अनुगणित शक्ति में वृद्धि का कोई नियोजन नहीं किया गया। उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और बम्बई मे नवीन कारखाने खोले जाने वाले थे। बिहार, राजस्थान और मद्रास के कारखानों की शक्ति मे वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक था जो पूर्व के कारखानों में अतिरिक्त नवीन मशीनों के प्रयोग से ही सम्भव था। इस कार्य के करने मे प्रधान कठिनाई धन के अभाव की थी। कारखानों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करने और उन्हें १½ लाख टन प्रति वर्ष उत्पादन करने योग्य बनाने के लिए बहुत अधिक मात्रा मे धन की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश की सिमेंट फैक्ट्री की स्थापना में, जो कि मिर्जापुर जिले में चुर्क में है, ४½ करोड़ रुपये की लागत लगी थी। उसकी उत्पादन शक्ति २·५२ लाख टन प्रतिवर्ष की है। यद्यपि उत्तर प्रदेश की फैक्ट्री का कुल व्यय सरकारी कर्मचारियों की अनुभवहीनता के कारण बहुत अधिक हो गया है, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भारत की वह सर्वोत्तम फैक्ट्रियों में से एक है।

प्रथम योजना में अनुगणित उत्पादन शक्ति तथा वास्तविक उत्पादन के लक्ष्य पूर्ण नहीं हो पाये थे, परन्तु काफी हद तक सफलता अवश्य मिली थी। १९५५-५६ में सीमेंट की उत्पादन शक्ति और उत्पादन क्रमशः ४७·४ लाख टन और ४४ लाख टन थी जबकि प्रथम योजना मे क्रमशः ५३ लाख टन और ४८ लाख टन का लक्ष्य था। देश के औद्योगीकरण में उन्नति हो जाने पर सीमेंट

की माँग में वृद्धि होगी। इसलिये द्वितीय योजना ने १९६०-६१ तक उत्पादन शक्ति को १६० लाख टन तक (जिसमें से ५ लाख टन सरकारी क्षेत्र में बढ़ेगा) और वास्तविक उत्पादन को १३० लाख टन बढ़ाने का लक्ष्य बनाया है। अब तक भारत सरकार द्वारा ५४ स्कीम जिनमें २५ नई हैं तथा २९ वर्तमान उत्पादन इकाइयों के विस्तार से सम्बन्धित हैं, मंजूर की गई हैं। यह स्कीम प्रगति के विभिन्न स्वरों पर हैं। इनमें से १५ स्कीम (४ नई तथा ११ विस्तार सम्बन्धी) जिनकी कुल उत्पादन शक्ति १८ लाख टन है १९५८ के अन्त तक पूरी हो जाँयगी। १९५९ के अन्त तक ११ और स्कीम पूरी हो जाँयगी तथा आशा की जाती है कि इस समय तक कुल उत्पादन शक्ति १०४ लाख टन हो जायगा। शेष स्कीम १९६०-६१ तक पूरी होंगी।

कागज उद्योग

वर्तमान समय मे भारत में कागज की १९ मिलें हैं जिनकी स्थापित उत्पादन शक्ति २५०,००० टन है। कागज उद्योग को १९२५ से १९४७ तक संरक्षण दिया गया था। इस उद्योग ने निःसन्देह उल्लेखनीय प्रगति की। १९५२ में भारत में केवल ६ मिलें थीं जिनकी उत्पादन-शक्ति २७ हजार टन थी। १९५६ में २१ मिलें थी तथा उनकी उत्पादन शक्ति २११,६०० टन थी। १९५७ में मिलों की संख्या घटकर १९ होगई क्योंकि उत्पादन की दो इकाइयाँ जो बन्द सी ही थीं सूची में से हटा दी गई। किन्तु विस्तार की योजनाओं के पूरी हो जाने के कारण उद्योग की स्थापित उत्पादन शक्ति बढ़कर २½ लाख टन हो गई है। कागज़ उद्योग की तीन श्रेणियाँ हैं (१) कागज और पट्ठा, (२) अखबारी कागज की सूखी दफ्ती तथा अन्य प्रकार की दफ्तियाँ। कागज तथा पट्ठे के उत्पादन मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। सूखी दफ्तियों तथा अन्य प्रकार की दफ्तियों के उत्पादन मे विशेष प्रगति हुई है। परन्तु देश में अखबारी कागज का बहुत अभाव है। भविष्य में कागज़ उद्योग का विकास करते समय अखबारी कागज़ के उत्पादन में वृद्धि करने की समस्या पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। युद्ध के उत्तर काल में (अ) यह उद्योग नवीन स्थानों पर भी आरम्भ हो गया है और अधिकाँश प्रदेशों में आज कागज़ बनाने वाली मिल हैं, (ब) अब अनेक प्रकार के कागज तथा दफ्तियों का उत्पादन होने लगा है यहाँ तक की डूप्ले और ट्रिप्ले दफ्तियों तथा क्राफ्ट लपेटने के कागज के उत्पादन में तो विशेष प्रगति हुई है।

कागज उद्योग की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उत्पादन शक्ति की बहुत अधिक प्रतिशत मात्रा का उत्पादन हुआ है। १९४८, १९४९ और १९५० में क्रमशः ९७,००० टन, १०३,२०० टन और १०८,९१२ टन का उत्पादन

हुआ था जो कि उत्पादन शक्ति का लगभग ८६%, ६४% और ८३% होता है। १६५७ में २१०,१२५ टन का उत्पादन हुआ जो कि उत्पादन शक्ति का ८३% था। यह सब होते हुये भी कागज उद्योग को श्रमिकों के झगड़े तथा पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल के न्यायोचित मूल्य पर न मिल सकने की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है और निम्न स्तर के कोयले का जिसके लिये इन्जनों के बायलर अनुपयुक्त हैं, प्रयोग करना पड़ता है। बाँस और घास के मैदानों के न्यायोचित मूल्य पर दीर्घकालीन पट्टों पर न उठाये जाने के कारण हानि उठानी पड़ी है। इसके अतिरिक्त जब से रेल विभाग ने अपनी अधिमान्य पद्धति (Preferential System) को माल के यातायात सुविधा के सम्बन्ध में परिवर्तित कर दिया है कागज़ उद्योग को जो प्रधानता मिलनी थी उसका अन्त हो गया है और अन्य विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के साथ उसे भी यातायात सुविधा पाने में प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इन कठिनाइयों के कारण ही कागज़ उद्योग की उत्पादन लागत तथा उत्पादन मात्रा कम हो गई है।

कच्चा माल—कागज और पट्टा अथवा दफ्ती उद्योग अपने कच्चे माल के लिये बाँस और सबई घास का उपयोग करता है। इसके अतिरिक्त कुछ कारखाने चिथड़े, रद्दी कागज, चीनी की सीठी इत्यादि का उपयोग करते हैं। भारत में ऐसे कच्चे माल का कुछ अभाव नहीं, परन्तु उद्योग के उपयोग के लिये इनकी पूर्ति का संगठन करने की आवश्यकता है। कागज उद्योग में अनेक रसायनों जैसे चूना, कास्टिक सोडा, सोडा ऐश, क्लोरीन, गंधक आदि का भी उपयोग किया जाता है। गंधक को छोड़ कर अन्य सब रसायनिक भारत में ही मिल जाते हैं। कुछ सीमा तक कास्टिक सोडा और सोडा ऐश का विदेशों से आयात करना पड़ता है। मध्य प्रदेश के कागज के कारखाने सबाई की लकड़ी का प्रयोग करते हैं। परन्तु इसके साथ ही चीड, देवदार, और एक प्रकार के सरो के वृक्ष की कोमल लकड़ी का भी उपयोग किया जा सकता है जिसकी भारत में बहुतायत है। यदि मुलायम लकड़ी के वनों का विकास किया जाय, लकड़ी को कारखानों तक पहुँचाने के लिये यातायात की उचित व्यवस्था की जाय और एक कारख़ाना अख़बारी कागज और कैमिकल पल्प बनाने के लिये स्थापित किया जाय तो अख़बारी कागज उद्योग के लिये आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति को बढ़ा सकना सम्भव है। कच्चे माल की पूर्ति के सम्बन्ध में योजना आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे; (१) कागज उद्योग के काम आने वाले पेडों के वनों की सुरक्षा की जाय और इनका उपयोग कर सकने के लिये उद्योग को दीर्घकालीन पट्टे के अधिकार दिये जाँय; (२) बाँस और सबई घास के सारे देश में एक तर्क संगत आधार पर मूल्य

निर्धारित किये जाँय जिससे उद्योग को कच्चा माल निरंतर प्राप्त हो सके। राज्य सरकारों के हितों की रक्षा करने के लिये कच्चा माल एक निश्चित मूल्य पर उद्योगों को दिया जाय और इसके साथ ही उनके तैयार माल की विक्रय मूल्य से सम्बन्धित प्रव्याजि (premium) की कोई मात्रा लाभांश में से उनसे वसूली जाय; (३) यातायात की सुविधा के लिये जंगलों में सड़कें बनाई जाँय; और (४) कपड़ों की कतरन, पटसन और जूट तथा रद्दी कागज का निर्यात बिल्कुल बन्द कर दिया जाय।

यह खेद की बात है कि वन विकास के संबन्ध में राज्य सरकारों की कोई सुसंबद्ध नीति नहीं है और कागज की मिलों को जगल पट्टे पर देने मे बहुत अधिक मूल्य वसूल करती हैं। रेल परिवहन के भाड़े की दर भी अधिक है। भारत सरकार पुराने अखबारों की रद्दी के आयात पर भारी आयात कर वसूल करती है और अपनी रद्दी का स्टाक बिना किसी बात का ध्यान किये ठेकेदारों को बेच देती है, जो उसे पैकिंग इत्यादि के लिए बाजार में बेच देते हैं। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की नीति में परिवर्तन करने से उद्योगों को कचा माल पर्याप्त मात्रा मे दिया जा सकता है।

योजना के अन्तर्गत—विभिन्न कागज की मिलों के प्रसार कार्यक्रम को लागू करने से यह आशा की जाती है कि प्रथम योजना काल में उद्योग की उत्पादन शक्ति २११,००० टन कागज और दफ्तियाँ और ३०,००० टन अखबारी कागज की हो जायगी और १९५५-५६ तक २००,०००टन कागज और दफ्तियाँ और २७,००० टन अखबारी कागज का वास्तविक रूप से उत्पादन हो जायगा। भूसे इत्यादि से बनने वाली दफ्तियों के उत्पादन संबन्ध में अनुमानतः १९५५-५६ तक उद्योग की वार्षिक उत्पादन शक्ति ५८,५०० टन हो जायगी और वास्तविक उत्पादन ५२,००० टन होगा।

कागज और कागज की दफ्तियों के उद्योग के संबन्ध में प्रथम योजना के लक्ष्य लगभग पूरे हो गये। अखबारी कागज का उत्पादन करने वाली सर्वप्रथम मिल ने १९५५ में कार्य आरंभ किया। यद्यपि इसका उत्पादन अभी बहुत कम है पर आशा की जाती है कि जब यह मिल शक्ति भर उत्पादन करेगी तब ३०,००० टन अखबारी कागज का उत्पादन सम्भव हो सकगा। द्वितीय योजना मे यह प्रस्ताव किया गया है कि १९६०-६१ तक स्थापित उत्पादन शक्ति तथा कागज और कागज की दफ्तियों का वास्तविक उत्पादन बढ़ा कर क्रमशः ४·५ लाख टन और ३·५ लाख टन कर दिया जाय और अखबारी कागज के स्थापित उत्पादन शक्ति तथा वास्तविक उत्पादन बढ़ाकर ६०,००० टन तक कर दिया जाय। द्वितीय योजना के

उत्पादन लक्ष्य को पूर्ण कर सकने के लिये यह आवश्यक होगा कि (१) कागज उद्योग के कार्य को सरलता से चलाने के लिये देश का आर्थिक वातावरण अनुकूल बनाया जाय, (२) कच्चे माल तथा तैयार माल के यातायात के लिये मालगाड़ी के डिब्बों की पूर्ति बढ़ाई जाय, और (३) कच्चे माल की पूर्ति बढ़ाई जाय। भारत में चीनी उद्योग के पूर्ण रूप से विकसित अवस्था में होने के कारण गन्ने की सीठी का कागज बनाने के लिए प्रयोग बड़े लाभ के साथ किया जा सकता है। १६५५ के अन्त में जर्मनी के विशेषज्ञों का एक दल भारत में इस विषय का परीक्षण करने तथा रिपोर्ट देने के लिये आया था। पश्चिमी जर्मनी की एक फर्म से सीठी पर आधारित १०० टन प्रतिदिन का उत्पादन करने वाली उत्पादन इकाई की स्थापना पर बातचीत चल रही है।

अन्य उद्योगों की भाँति कागज उद्योग के उत्पादन के प्रकार तथा उत्पादन व्यय कम करने के लिये उपाय करना अत्यन्त आवश्यक है। योजना आयोग ने यह अभिस्ताव किया है कि कागज उद्योग को अपने उत्पादन की प्रविधि को आधुनिक बनाना चाहिये जिससे वह निम्न लक्ष्यों को प्राप्त कर सके; (१) ईंधन तथा कच्चे माल के प्रयोग में कमी करके कागज की उत्पादन लागत में कमी, और (२) विभिन्न प्रकार के कागजों, विशेषकर रैपिंग और क्राफ्ट कागज, की प्रकार में उन्नति। यदि यह सुधार सम्भव हो सके तो कागज उद्योग में स्थायित्व आ जायगा।

अध्याय २०

छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले तथा कुटीर उद्योग

भारत की औद्योगिक व्यवस्था में छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले और कुटीर उद्योगों का स्थान सदा से ही महत्वपूर्ण रहा है। शिल्पकारों की एक बहुत बड़ी संख्या सदैव इन उद्योगों पर ही अपनी जीविका के लिये निर्भर रही है। परन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले तथा कुटीर उद्योगों को भारत में बेकारी की कठिन समस्या को हल करने के साधन के रूप में रख कर इनकी ओर अधिक ध्यान आकर्षित किया है। इसके पूर्व कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत इन उद्योगों के विकास कार्यक्रम पर विचार करें यह आवश्यक होगा कि इन उद्योगों की कठिनाइयों का परीक्षण किया जाय।

उद्योगों को प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है: (१) बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले अथवा बड़े उद्योग, (२) छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले अथवा छोटे उद्योग, (३) कुटीर उद्योग। इन उद्योगों को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। एक मत के अनुसार कुटीर उद्योग वे उद्योग हैं जो शिल्पियों द्वारा स्वयं अपने आप ही अथवा किसी कारखानेदार के निर्देशन में घर पर ही किये जाते हैं। यदि कार्य छोटे कारखाने में किया जाता है और उसका निर्देशन उद्योगपति द्वारा किया जाता है तो उसे इक छोटा उद्योग कह सकते हैं चाहे शक्ति संचालित मशीनों का प्रयोग न भी किया जाय। एक अन्य मत के अनुसार घरेलू उद्योग वह है "जो अंशतः अथवा पूर्णतः परिवार के ही सदस्यों की सहायता से चलाया जाता है चाहे वे सम्पूर्ण दिन कार्य करें या थोड़ी देर ही नित्य कार्य करें"। श्री चिन्तामणि देशमुख के मतानुसार "घरेलू उद्योग" प्रायः हम उन सब उत्पादन के उपक्रमों को कहते हैं जो बड़े-बड़े व्यवस्थित कारखानों के अतिरिक्त हैं। जो व्यक्ति इन उपक्रमों में लगे हुये हैं मुख्यतः अपने ही प्रयत्न और कौशल पर निर्भर रहते हैं, सीधे-सादे औजारों का प्रयोग करते हैं और अपने घर पर ही कार्य करते हैं। विशिष्ट आवश्यकताओं के कारण इस प्रकार के कुछ उद्योग हाल में आरम्भ हुये हैं। ये उद्योग प्रधानतः परम्परागत हैं और वर्तमान उत्पादन प्रविधि से स्पर्धा करते हुये अपनी रक्षा में प्रयत्नशील हैं। छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले उद्योग "घरेलू तथा ग्राम्य उद्योगों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनको संचालित करने वाले उद्योगपति होते हैं जो पारिश्रमिक पर रक्खे हुये श्रमिकों से कार्य लेते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं को विचाराधीन रखते हुये हम यह कह सकते हैं कि घरेलू उद्योग की निम्न विशेषतायें हैं, (१) ऐसे उद्योगों को घर पर ही बिना श्रमिकों की सहायता के स्वयं चलाया जाता है, (२) इनमें परम्परागत ढंग का ही अनुसरण किया जाता है, और (३) इनका स्वतंत्र तथा पूर्ण समय का कार्य होना आवश्यक नहीं हैं; ये कृषि तथा किसी अन्य व्यवसाय के सहायक हो सकते हैं। छोटे उद्योग अथवा थोड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों की मुख्य विशेषता यह है कि ये कार्य करने वालों के घर में नहीं चलाये जा सकते और कार्यकर्त्ता के आवश्यक स्रोत नितान्त सीमित होते हैं। थोड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों के कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या १० से ५० तक सीमित है। हमारे देश में उपर्युक्त दोनों वर्गों में आनेवाले अनेक उद्योग हैं जैसे कर्घा, ऊन, रेशम, गुड़, राब, तेल पेरने, ताले बनाने के कार्य इत्यादि। इन उद्योगों में काम में सहायता देने वाले परिवार के सदस्यों और समय पर इनमें कार्य करने वाले उन व्यक्तियों की संख्या को छोड़कर जो कृषि आदि अन्य मुख्य व्यवसाय में संलग्न है, लगभग २० लाख व्यक्ति कार्य करते हैं। इन दोनों प्रकार के उद्योगों का ग्रामों और नगरों दोनों में ही पूर्ण अथवा आंशिक समय के लिये अनुसरण किया जाता है। हैण्डी क्रैफ्ट का उद्योग जैसे बेल-बूटे काढ़ने का कार्य, पीतल का कार्य, रेशम बनाने का कार्य इत्यादि पूर्ण समय के कार्य हैं और इन कार्यों में संलग्न व्यक्तियों ने उत्कृष्ट क्षमता भी प्राप्त कर ली है।

लाभ—(१) घरेलू उद्योग और छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों का सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि वे बहुत बड़ी संख्या में कार्य का अवसर प्रदान करते हैं। कितने व्यक्ति कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों में कार्य करते हैं और वे कितना कितना उत्पादन करते हैं इस सम्बन्ध में ठीक ठीक आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। राष्ट्रीय आय समिति ने यह अनुमान लगाया था कि १६५०-५१ में छोटे उद्योगों का उत्पादन ६१० करोड़ रुपये का हुआ था और लगभग ११५ लाख व्यक्ति उनमें कार्य करते थे जबकि फैक्ट्रियों में लगभग ३० लाख व्यक्ति कार्य करते थे और उनके कुल उत्पादन का मूल्य लगभग ५५० करोड़ रुपया था। इन छोटे उद्योगों में कुटीर उद्योग भी सम्मिलित थे पर वे छोटे छोटे कारखाने जो फैक्ट्री एक्ट के अंतर्गत आते थे। इनमें सम्मिलित नहीं किये गये थे। समिति ने उन्हें फैक्ट्रियों मे सम्मिलित किया था। यदि हम इन छोटे छोटे कारखानों को भी घरेलू और छोटी मात्रा मे उत्पादन करने वाले उद्योगों में सम्मिलित कर लें और हाल में जितने लोग इनमें कार्य कर रहे हैं उनकी बढ़ी हुई संख्या को भी वचाराधीन रख लें तो कुल कार्य करने वालों की संख्या लगभग २०० लाख और

कुल वार्षिक उत्पादन का मूल्य लगभग १२०० करोड़ रुपये के हो जायेगा। पर यह सब गणना अनुमान मात्र है इसलिये विश्वस्त नहीं कही जा सकती। इन आँकड़ों से घरेलू और छोटे उद्योगों के विस्तार और भावी सम्भावना का ही कुछ अनुमान ही मिल सकता है।

(२) कुटीर उद्योग की यह विशेषता है कि इसमें मूल्यवान् मशीनें नहीं लगाई जाती हैं, इसके लिये किसी बड़ी इमारत इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती है इसलिये इसको चलाने में अधिक पूँजी नहीं लगानी पड़ती। भारत में पूँजी का अभाव है और हमें कुछ ऐसे उद्योगों की आवश्यकता है जिनमें पूँजी कम लगे और श्रमिक अधिक।

(३) इसके विपरीत बड़े पैमाने के उद्योग में वैज्ञानिक और टेकनिकल ज्ञान की विशेष आवश्यकता होती है। परन्तु वर्तमान समय में (टेकनिशियन) प्राविधिज्ञों का भारत में अभाव है। कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों में यही लाभ है कि इनमें अधिक प्राविधिक (टेकनिकल) ज्ञान और प्राविधिज्ञों की आवश्यकता नहीं होती है।

(४) छोटे पैमाने के और कुटार उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों की तरह किसी विशेष स्थान पर केन्द्रित नहीं हैं बल्कि सम्पूर्ण देश में विस्तृत हैं। इनमें इमारत, सफाई, स्वास्थ्य इत्यादि की समस्या नहीं होती है, जिनका बड़े पैमाने के उद्योगों को सामना करना पड़ता है। इसके साथ ही युद्ध के समय इनके विनाश का भय भी कम रहता है। बड़े पैमाने के और छोटे पैमाने के उद्योगों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय और इनके लाभ-हानियों का विवेचन करते समय हमें उक्त सामाजिक व्यय का भी विचार करना चाहिये।

(५) बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा छोटे पैमाने और कुटीर उद्योगों में रोजगार में अस्थिरता बहुत कम होती है। हमारे देश के ग्रामीण व्यक्तियों का मुख्य उद्यम कृषि करना है और वे सहायक व्यवसाय के रूप में रस्सी बनाने, गुड़ बनाने, कपड़ा बुनने इत्यादि कार्यों को करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि इन सहायक उद्योगों में मंदी आ जाय तो श्रमिक अथवा कारीगर को उतनी अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ेगा जितना किसी औद्योगिक श्रमिक को मंदी के कारण नौकरी छूट जाने पर करना पड़ता है।

कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों से बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा कुछ अधिक लाभ होते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न प्रकार के उद्योगों को कौन सा स्थान देना चाहिए। वित्त आयोग (१९४९-५०) के अनुसार इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर विचार करना आवश्यक है;

(१) उद्योग के प्रकार,

(२) उद्योग में टैकनिकल व्यवस्था,

(३) उद्योग के संगठन के लिए आवश्यक श्रम और पूँजी,

(४) आर्थिक दृष्टि से उत्पादन का किस सीमा तक उचित इकाइयों में विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है केवल व्यक्तिगत व्यय को ही नहीं वरन्, सामाजिक व्यय को भी विचाराधीन रखते हुए।

जहाँ तक उद्योग के प्रकार का प्रश्न है उसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है; *(१) ऐसे उद्योग जिनमें बड़ी मात्रा में उत्पादन करने से कुछ निश्चित लाभ है और जिनको छोटे पैमाने पर नहीं चलाया जा सकता है*, जैसे लोहा और इस्पात उद्योग, सीमेंट, भारी रसायनिक और खदान उद्योग इत्यादि। इन उद्योगों को कुटीर में अथवा छोटे पैमाने पर नहीं चलाया जा सकता है इसलिए इस क्षेत्र में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता है; (२) ऐसे उद्योग जिनका छोटे पैमाने पर उत्पादन करके कुछ निश्चित लाभ उठाया जा सकता है, जैसे ताला मोमबत्ती, बटन, चप्पल, खाद्यान्न इत्यादि उद्योग। इनमें से कुछ में छोटे पैमाने पर उत्पादन करने में उत्पादन व्यय कम होता है। खाद्यान्न के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब वस्तुएँ हाथ से तैयार की जाती हैं तो उनमें पौष्टिक तत्व अधिक रहते हैं; (३) ऐसे उद्योग जिन्हें बड़े और छोटे पैमानों पर चलाया जा सकता है। इन उद्योगों के सम्बन्ध में चुनाव का प्रश्न उठता है।

टेकनिकल व्यवस्था के आधार पर उद्योग को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) ऐसे उद्योग जिनमे बड़े पैमाने के उद्योगों और कुटीर तथा छोटी मात्रा के उद्योगों में कोई प्रतियोगिता नहीं हैं, जैसे मधु मक्खी पालन, गुड़ बनाना तथा अन्य दस्तकारी के कार्य इत्यादि। (२) ऐसे उद्योग जिनमें छोटी मात्रा के और कुटीर उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों के सहायक हैं; इनमे उन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनकी बड़े पैमाने के उद्योगों को अपनी उत्पादन प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिये आवश्यकता होती है। बड़े पैमाने के उद्योग अनेक छोटी-छोटी वस्तुओं का उत्पादन स्वयं न कर छोटे उद्योगों के उत्पादन में सहायता देते हैं या उत्पादन की लम्बी प्रक्रिया में कुछ अंशों का उत्पादन छोटे उद्योगों में किया जाता है, और *(३) ऐसे उद्योग जिनमें बड़े पैमाने के और छोटे पैमाने के उद्योगों में प्रतियोगिता होती है, जैसे, करघों में बुना कपड़ा*, खाण्डसारी चीनी, चमड़े का सामान इत्यादि। प्रथम वर्ग के अंतर्गत आने वाले उद्योगों के सम्बन्ध में कोई समस्या नहीं है परन्तु दूसरे वर्ग के अन्तर्गत छोटे तथा बड़े पैमाने के उद्योगों में परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके इनकी किसी भी

समस्या को सुगमता पूर्वक सुलझाया जा सकता है। तीसरे वर्ग के उद्योगों के सम्बन्ध में वास्तविक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

कठिनाइयाँ

कच्चे माल, उत्पादन की प्रविधि, वित्त, विक्रय, कर इत्यादि के सम्बन्ध में कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन उद्योगों को प्रायः उन वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिनका बड़े उद्योगों में उत्पादन किया जाता है। कर्घा उद्योग पूर्णतया सूती मिल द्वारा उत्पादित सूत पर निर्भर करता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सूत मिलने में बहुत कठिनाई हुई, क्योंकि जितने सूत का उत्पादन किया जाता था उसका अधिकाँश मिलों की ही आवश्यकता पूर्ति में लग जाता था। उस समय अधिकतर मिलों में कताई और बुनाई साथ-साथ होती थी। केवल कताई करने वाली मिलों को संख्या बहुत कम है। कर्घा उद्योग को अधिक सूत उपलब्ध कराने के लिए सूत की कताई करने वाली कुछ और मिलों की स्थापना की गई हैं और इनमें उत्पादित सूत का कुछ प्रतिशत कर्घा उद्योग के लिए सुरक्षित रखा जाता है। दलालों के कारण कुटीर उद्योग को आवश्यक कच्चे माल का अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। इस कठिनाई को सहकारी समितियों की स्थापना करके दूर किया जा सकता है।

प्रविधि और प्रणाली—इन उद्योगों में जिस ढंग से और जिन साधनों से उत्पादन किया जाता है वह प्राचीन हो चुके हैं और वर्तमान में उनकी उपयोगिता बहुत घट गई है। खोज कार्य करने और कारीगरों के शिक्षण की उपयुक्त व्यवस्था न होने से उत्पादन के प्रकार में बहुत क्षति हुई हैं। श्रमिकों को उचित शिक्षा देने और उत्पादन के प्रकार में सुधार करने के लिए बहुत थोड़ी ऐसी संस्थाएँ हैं जो अच्छा कार्य कर रही हैं, जैसे अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ, अखिल भारतीय कताई संघ, खादी प्रतिष्ठान और हाल ही में स्थापित खादी और ग्राम उद्योग विकास बोर्ड।

अन्तर्राष्ट्रीय योजना टीम ने, जिसको फोर्ड फाउन्डेशन ने नियुक्त किया था, जिसने छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले तथा कुटीर उद्योगों का अध्ययन करने के लिये तथा उनके पुनरुत्थान के सुझाव देने के लिये भारत का दौरा किया, १९५४ में अपनी रिपोर्ट दी जिसमें उसने यह सिफारिश की कि चार शिल्प कला ज्ञान सम्बन्धी संस्थायें स्थापित की जानी चाहिये जिनकी भौगोलिक स्थिति ऐसी होनी चाहिये कि वे सम्पूर्ण भारत की सेवा कर सकें। भारत सरकार ने यह

सिफारिश स्वीकार करली है। पर खोज का कार्य करेंगी और अपनी खोज के परिणामों को तथा नई उत्पादन विधियों, नये औजारों, और नई प्रविधियों की सूचना उत्पादकों तक पहुँचायेंगी।

कार्य करने वालों को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है जो कि उचित शिक्षा प्रचार तथा प्रत्येक दस्तकारी के लिये स्थानीय परिषद के स्थापित करने से सम्भव हो सकता है।

वित्त व्यवस्था—छोटे उद्योगों और उद्योगपतियों की बड़ी कठिनाइयों में वित्त की कठिनाई प्रमुख है। मशीन और आवश्यक औजार क्रय करने के लिए उसे दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही कच्चा माल क्रय करने के लिए और पारिश्रमिक इत्यादि चुकाने के लिए अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकता होती है। छोटे उत्पादकों में अधिकतर निर्धन हैं और ऋण के लिए आवश्यक प्रतिभूति नहीं दे पाते। साथ ही ऐसे उत्पादकों की आवश्यकताएँ भी कम होती हैं, इन्हें अधिक धन की आवश्यकता नहीं होती है इसलिए बड़े उद्योगों को वित्तीय सहायता देने वाले व्यवसायी बैंक इनको ऋण इत्यादि देने में कुछ लाभ नहीं समझते। बहुत कम ऐसी संस्थाएँ हैं जिनसे इन उत्पादकों को वित्त की सहायता मिल सकती है। इन्हें अधिकतर ग्रामीण साहुकारों और कारखानादारों पर निर्भर करना पड़ता है। कारखानेदार इस शर्त पर ऋण देते हैं कि उत्पादित माल उनको बेचा जायगा। उत्पादित माल का मूल्य ऋण देते समय निश्चित कर लिया जाता है। इससे उत्पादक को अपने माल का उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

अन्तर्राष्ट्रीय योजना टीम ने यह सिफारिश की कि (१) व्यापारिक बैंकों को अपनी शाखाओं को अधिक ऋण देने की अनुमति देकर इन्हें दिये जाने वाले ऋण की मात्रा बढ़ा देना चाहिये; (२) सहकारी बैंकों को इन उद्योगों की वित्त सहायता करने की ओर और अधिक ध्यान देना चाहिये; (३) प्रत्येक प्रदेश में एक राज्यीय वित्त निगम स्थापित किया जाना चाहिये जिसके कोष को इन छोटे उद्योगों की ही सहायता के लिये सुरक्षित कर देना चाहिये; और (४) वास्तविक सम्पत्ति की प्रतिभूति पर ऋण देने की प्रणाली प्रचलित की जानी चाहिये।

व्यक्तिगत क्षेत्र की वित्त सहायता के लिये शौफ कमेटी ने भी रिजर्व बैंक को जून १९५४ में दी हुई अपनी रिपोर्ट में उन छोटे उद्योगों के विषय में विचार किया है जिनकी सम्पत्ति १० हजार रुपये और ५ लाख रुपये के अन्दर है। कमेटी ने कृषि के सहायक उद्योगों को अपनी परीक्षण परिधि के अन्दर सम्मिलित नहीं

किया। चालू पूँजी के सम्बन्ध में कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि इन उद्योगों से सरकार द्वारा क्रय किए गये माल के मूल्य का भुगतान करने में देर नहीं होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा लिखे हुये इकरारनामों की रजिस्ट्री की फीस भी कम कर देनी चाहिये ताकि उनको बैंकों से ऋण लेने में अधिक सुविधा मिले। दीर्घ कालीन पूँजी की आवश्यकताओं के लिये यह सिफारिश की कि प्रादेशिक सरकारों को इन उद्योगों को 'स्टेट एड टु इण्डस्ट्रीज एक्ट' के अन्तर्गत अधिकाधिक सहायता देनी चाहिये। इसलिये इन उद्योगों को अधिक ऋण देने की सुविधा प्रदान करने के लिये यह आवश्यक होगा कि प्रादेशिक बजट में इस पर व्यय करने के लिये अधिक धन का अनुदान किया जाय और ऋण देने की प्रणाली को अधिक सरल बनाया जाय। कमेटी ने यह सुझाव दिया है कि 'प्रादेशिक वित्त कारपोरेशन' को छोटे उद्योगों को ऋण देना चाहिये। इसके साथ ही उसने यह सिफारिश की कि छोटे उद्योगों की सहायतार्थ एक विशिष्ट विकास निगम की भी स्थापना होनी चाहिये जिसकी प्रारम्भिक शेयर पूँजी ५ करोड़ रुपया हो जो कि भारत के रिजर्व बैंक, व्यवसायिक बैंकों, बीमा कम्पनियों, तथा व्यक्तिगत लोगों द्वारा प्राप्त होनी चाहिये।

बाजार—द्वितीय युद्ध के समय और युद्ध के पश्चात् कुछ वर्षों तक बहुत से उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के विक्रय की कोई समस्या नहीं थी क्योंकि माँग पूर्ति से अधिक थी परन्तु फिर भी दलाली के कारण और उत्पादित माल घटिया होने के कारण उत्पादक को अपने परिश्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता था। इधर कुछ वर्षों से इन उद्योगों की विक्रय समस्या गंभीर होती जा रही है। काश्मीर का शाल और बनारस की सिल्क जैसे मूल्यवान सामानों का उपभोग नहीं हो पा रहा है क्योंकि राजाओं तथा जमींदारों की अब पहले जैसी स्थिति नहीं रही। राजाओं की गद्दी और जमींदारी का उन्मूलन हो चुका है। जनता की क्रयशक्ति में कमी होने के कारण माँग घट गई है। समस्या यह है कि बाजार में उत्पादित माल की माँग बढ़ाई जाय और उचित मूल्य वसूला जाय। माँग में वृद्धि तभी की जा सकती है जब या तो निर्यात किया जाय या बड़े उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के बदले इनका उपभोग किया जाय। कुटीर उद्योगों में उत्पादित माल का उपभोग कनाडा, अमरीका, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और मध्य पूर्वी देशों में बढ़ाया जा सकता है। यह देश पूर्व से ही माल क्रय करते रहे हैं और दस्तकारी की वस्तुओं, कलापूर्ण कपड़ों, लाख तथा खेल के सामान इत्यादि के विषय में पूछताछ करते रहे हैं परन्तु इन देशों को बड़ी मात्रा में एक साथ और नमूने के

अनुरूप माल की आवश्यकता है। उत्पादित माल का बड़ी मात्रा में और ठीक नमूने के अनुरूप निर्यात करने के लिए विक्रय समितियों का विकास करने की आवश्यकता है।

राज्य सरकारें छोटे पैमाने के और कुटीर उद्योगों पर कर कम लगाने की नीति अपनाती हैं। उदाहरणस्वरूप खण्डसारी चीनी पर कारखानों द्वारा उत्पादित चीनी की अपेक्षा कम उत्पादन कर देना पड़ता है। इस समस्या का एक दूसरा पक्ष भी है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह सुझाव दिया गया है कि छोटे पैमाने के और कुटीर उद्योगो का विकास करने के लिए बड़े पैमाने के उद्योगों पर कर लगाया जाय। कर्धा उद्योग का विकास करने के लिए ६३ करोड़ रुपया एकत्र करने के लिए सूती मिलों में तीन पाई प्रति गज के हिसाब से यह कर लगा भी दिया गया है। बड़े पैमाने के उद्योगों पर पूर्व ही से बहुत कर लगे हुए हैं यदि यह नया कर और लगा दिया गया तो इससे उद्योग के विकास में बाधाएं उत्पन्न हो जायँगी। सभी प्रकार के बड़े, छोटे और कुटीर उद्योगो के विकास का उद्देश्य इस प्रकार की कर-नीति से पूर्ण नहीं हो सकता है।

छोटे और कुटीर उद्योगों के सामने विद्युत और यातायात के अभाव की भी समस्या है। इनकी स्थिति सुधारने के लिए सस्ती विद्युत और सस्ते यातायात की सुविधा देना आवश्यक है।

कार्वे कमेटी रिपोर्ट—योजना आयोग ने कार्वे कमेटी, अथवा ग्राम्य उद्योग और छोटे उद्योग कमेटी, की नियुक्ति जून १६५५ में इन उद्योगों की समस्याओं का परीक्षण करने और एक ऐसी योजना प्रस्तुत करने के लिए की जिससे (१) द्वितीय योजना काल में उपभोग की वस्तुओं की बढ़ी हुई माँग का अधिकांश इन्हीं उद्योगों से पूर्ण किया जा सके; (२) उनसे उत्तरोत्तर कार्य करने के अधिक अवसर प्राप्त हो सकें और (३) उत्पादन और विनिमय की व्यवस्था सहकारिता के आधार पर व्यवस्थित हो सके।

कमेटी को यह स्पष्ट हो गया था कि ग्राम्य तथा छोटे उद्योगों की उपेक्षा बहुत दिनों से होती आ रही है। प्रथम योजना में जो उनके प्रति ध्यान दिया गया था वह पर्याप्त न था। प्रथम योजना के परिणामस्वरूप इन उद्योगों के विकास के लिये छः विशिष्ट बोर्डों की स्थापना है। इन बोर्डों ने १६५१-५२ में १४'३२ लाख रुपया व्यय किया था जो कि १६५४-५५ में बढ़कर ६'७३ करोड़ रुपया हो गया और १६५५-५६ में १५'४२ करोड़ रुपया; परन्तु यह भी अपर्याप्त सिद्ध हुआ। कमिटी ने २६० करोड़ रुपये के विनियोग की सलाह दी अर्थात् द्वितीय योजना काल में प्रति वर्ष ५२ करोड़ रुपया व्यय किया जाय।

कार्वे कमेटी ने उन छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले और कुटीर उद्योगों के विकास की सिफारिश की थी जो नित्यकार्य में आने वालो वस्तुओं का उत्पादन करते थे जैसे सूती कपड़े, ऊनी कपड़े; हाथ के कुटे चावल, वनस्पति तेल, गुड़ और खण्डसारी, चमड़े के जूते और दियासलाई इत्यादि। साथ ही रेशम के कीड़े पालना, रेशम बुनना, हथकर्घा उद्योगों की नारियल की जटा का कातना और बुनना, आदि उद्योगों की ओर कमेटी ने अपना ध्यान दिया। कमेटी द्वारा द्वितीय योजना के अन्तर्गत प्रस्तावित कुल २६० करोड़ रुपए के व्यय से आशा की जाती है कि अधिक समय के लिये, थोड़े समय के लिये, पूर्ण समय के लिये और वर्ष के विशेष महीनो के लिये यह उद्योग ५० लाख व्यक्तियों को कार्य करने का अवसर प्रदान करेंगे। कपड़े के उद्योगों को कमेटी ने सब से अधिक महत्ता दी है। इनमें विकेन्द्रित सूत कातने और बिनने का काम भी सम्मिलित है। इस उद्योग पर लगभग कुल व्यय का ८४% अर्थात् ११२ करोड़ रुपया व्यय किया जायगा। आशा की जाती है कि यह उद्योग लगभग ३० लाख व्यक्तियों को कार्य प्रदान कर सकेगा।

कमेटी ने तीन मुख्य ध्येय अपने समक्ष रक्खे थे। (१) द्वितीय योजना काल में यथासम्भव औद्योगिक बेरोज़गारी में वृद्धि न होने देना जो कि प्रायः परम्परागत ग्राम्य उद्योगों में हुआ करती है; (२) अधिक से अधिक संख्या में लोगों को योजना काल में ग्राम्य और छोटे उद्योगों द्वारा कार्य करने का अवसर प्रदान करना; और (३) विकेन्द्रित समाज की स्थापना के लिये एक आधार प्रदान करना तथा वृद्धि-मान गति से आर्थिक विकास करने की सुविधा देना। कमेटी ने समृद्धि का जो काल्पनिक चित्र अपने मन में रक्खा था उसको प्राप्त कर लेने के विचार से निम्न सुझाव दिये हैं—

(१) प्रादेशिक सरकारों को सहकारी समितियों को धन तथा प्रत्याभूति द्वारा सहायता देनी चाहिये जिससे वे ग्राम्य और छोटे उद्योगों की अधिक सहायता कर सकें। कमेटी ने रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक आफ इण्डिया को ग्राम्य और छोटे उद्योगों की सहायता देने के अनेक ढंगों का सुझाव दिया। उसने यह भी सिफा-रिश की कि जब तक इन उद्योगों के लिये एक नई संपूरित संस्थागत ऋण की व्यवस्था न हो जाय तब तक अखिल भारतीय बोर्डों, प्रादेशिक वित्तीय निगमों तथा राजकीय विभागों को आवश्यक सहायता देते रहना चाहिये।

(२) प्रादेशिक सरकारों द्वारा दिये हुये अनुदानों का ग्राम्य और छोटे उद्योगों की सहायता करने के स्थान पर कमेटी ने यह अधिक अच्छा समझा कि सरकार द्वारा सहकारिता के आधार पर उत्पादित कुछ वस्तुओं का निम्नतम

मूल्य निश्चित कर दिया जाय जिस पर वे बेची जाँय । मूल्य से कम पर बेचने में जो घाटा हो उसे राज्य को पूरा करना चाहिये ।

(३) ग्राम्य और छोटे उद्योगों को विस्तार का अवसर प्रदान करने के विचार से कमेटी ने यह विचित्र सुझाव दिया कि फैक्ट्री उद्योगों के अधिकतम उत्पादन की मात्रा नियत कर देनी चाहिये और जितनी भी माँग इसके उपरान्त बढ़े उसे पूर्णतः अथवा अंशतः ग्राम्य उद्योगों से पूर्ण करना चाहिये ।

(४) सभी फैक्ट्री उद्योगों के सम्बन्ध में कमेटी ने एक उपकर आरोपित करने की सिफारिश की जिसका प्रयोग ग्राम्य और छोटे उद्योगों के विकास और उत्पत्ति के लिये किया जाय ।

(५) कमेटी ने सुझाव दिया कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में एक पृथक मंत्री ग्राम्य और छोटे उद्योगों के लिये नियुक्त किया जाना चाहिये । इस मंत्री को सहयोग देने के लिये मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की एक कमेटी होनी चाहिये जिसका काम भारत सरकार की औद्योगिक नीति में सामंजस्य स्थापित करना होगा ।

समालोचना—कार्वे कमेटी की सिफारिशों में निम्न गंभीर दोष हैं ।

(अ) कमेटी ने ग्राम्य और छोटे उद्योगों का आधुनिकीकरण तथा अभिनवीकरण तभी करने की सिफारिश की है जब कि उससे बेकारी न बढ़े परंतु यह असम्भव है ।

(ब) मिल उद्योगों के उत्पादन की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का अर्थ यह है कि ग्राम्य और छोटे उद्योग उपयोग की वस्तुओं की बढ़ी हुई माँग को पूर्ण करने में समर्थ होंगे, जो कि जनसंख्या के बढ़ने तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि के कारण होगी । जिन व्यक्तियों को ग्राम्य और छोटे उद्योगों का ज्ञान है वे यह अच्छी प्रकार जानते हैं कि असम्भव है ।

(स) कार्वे कमेटी का अन्तर्हित विचार यह है कि ग्राम्य और छोटे उद्योगों की मिल उद्योगों की स्पर्धा से रक्षा होनी चाहिये और उनको अपने माल को बेचने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये । परन्तु इस सम्बन्ध में केवल देश के मिल उद्योग का ही विचार नहीं करना है वरन् विदेशी मिलें भी स्पर्धा करेंगी ।

(द) कमेटी की इस सिफारिश के फलस्वरूप कि राज्य सहकारिता के सिद्धान्त पर उत्पादित वस्तुओं के क्रय और विक्रय मूल्य का अन्तर सहन करे और एक नया मन्त्रालय स्थापित करे, भारत में राज्यों का व्यय बढ़ जायगा । केन्द्रीय तथा प्रादेशिक राज्यों के इतने बड़े व्यय तथा आय स्रोतों को देखते हुये इस सुझाव को व्यवहारिक नहीं माना जा सकता ।

योजना के अन्तर्गत—यह बड़े सौभाग्य की बात है कि योजना आयोग

और सरकार ने कार्वे कमेटी की सब सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया विवाद ग्रस्त प्रश्न मिल उद्योगों के उत्पादन की अधिकतम मात्रा नियत करने का था, उस पर अभी निर्णय नहीं किया गया है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उपकर कुछ उद्योगों पर तो लगा ही दिया गया है और अन्य पर लगाये जाने की सम्भावना है। परन्तु अभी तक तो कार्वे कमेटी की शिफारिशें उस सीमा तक स्वीकार नहीं की गई हैं कि भारतीय आर्थिक व्यवस्था को असाध्य हानि पहुँच जाय।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में दस उद्योगों के लिये एक योजना निर्माण की गई थी—ग्राम्य तेल उद्योग, नीम के तेल का साबुन बनाना, धान कूटना, खजूर का गुड़ बनाना, गुड़ और खण्डसारी उद्योग, चमड़े का उद्योग, ऊन के कम्बल बनाना, हाथ से अच्छे प्रकार का कागज बनाना, शहद की मक्खी पालना और कुटीर दियासलाई उद्योग। यह योजना इस विश्वास पर निर्माण की गई थी कि इन उद्योगों के विकास कार्यक्रम पर केन्द्रीय सरकार १५ करोड़ रुपया और प्रादेशिक सरकारें १२ करोड़ रुपया व्यय करेगी। प्रथम योजना काल में जो धनराशि वास्तव में इन उद्योगों पर व्यय की गई है वह ३१·२ करोड़ रुपये है। इसमें से हथकर्घा उद्योग पर ११·१ करोड़ रुपये, खादी पर ८·४ करोड़ रुपये, ग्राम्य उद्योगों पर ४·१ करोड़ रुपये और छोटे उद्योगों पर ५·२ करोड़ रुपये व्यय हुये।

दो बड़े महत्वपूर्ण कार्य प्रथम योजना काल में किये गये। उनमें से एक तो केन्द्रीय सरकार द्वारा ग्राम्य और छोटे उद्योगों के विकास के लिए एक बड़ी मात्रा में धनराशि का अलग निकाल देना था और दूसरा विभिन्न उद्योगों के लिये अखिल भारतीय बोर्डों की स्थापना था। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों द्वारा विशेष ध्यान देने के कारण, तथा अखिल भारतीय बोर्डों की कार्य परिधि के विस्तृत हो जाने के कारण, अनेकों उद्योगों का उत्पादन तथा उनमे कार्य करने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है।

तीसरी महत्वपूर्ण बात सरकार द्वारा स्टोर्स परचेज कमेटी की उन सिफारिशों की स्वीकृति है जो स्टोर्स की कुछ प्रकार की वस्तुओं का केवल ग्राम्य और उद्योगों से ही खरीदा जाना अनिवार्य करते है, और बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों की तुलना में उन वस्तुओं के मूल्य के अन्तर को ग्राम्य उद्योगों को देने के लिये बाध्य करते हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में प्रथम योजना की अपेक्षा छोटे उद्योगों पर अधिक धन मुख्यतः इसलिये व्यय किया जायगा कि उससे भारत में बेकारी की समस्या हल होगी। कार्वे कमेटी की २६० करोड़ रुपया व्यय किये जाने की

सिफारिश के विपरीत द्वितीय योजना ने केवल २०० करोड़ रुपयों के व्यय की व्यवस्था की है। आशा यह की जाती है कि जब प्रादेशिक योजनाओं का पुनर्परीक्षण होगा तो यह धनराशि अवश्य बढ़ जायगी।

२०० करोड़ रुपयों के विनियोग में से केन्द्रीय सरकार २५ करोड़ रुपये व्यय करेगी और प्रादेशिक सरकार १७५ करोड़ रुपया व्यय करेंगी। योजना में ग्राम्य और छोटे उद्योगों के लिये निश्चित किये हुए २०० करोड़ रुपयों के अतिरिक्त ११ करोड़ रुपया कुटीर और मध्यवर्ती उद्योगों के विकास के लिये और औद्योगिक ऋण के लिये, और ७ करोड़ रुपया विभिन्न लोगों के पुनर्वास के कार्यक्रम के अन्तर्गत औद्योगिक तथा व्यवसायिक शिक्षा के लिये निश्चित किया गया है। सामुदायिक विकास क्षेत्रों के बजट में ऐसे उद्योगों के लिये प्रत्येक क्षेत्र में १½ लाख रुपये के व्यय किये जाने की व्यवस्था की गई है। पिछड़ी जातियों की सुख सुविधा के लिये बनाये कार्य-क्रम में भी कुछ चुने हुये उद्योगों से सम्बन्धित व्यवसायिक और औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पहले दो वर्षों में छोटे पैमाने के उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों में कुछ प्रगति हुई है। इन पर ५६ करोड़ रुपया व्यय हो चुका है और आशा की जाती है कि तीसरे वर्ष की समाप्ति तक यह ६१ करोड़ रुपया हो जायगा। इस व्यय का ४० प्रतिशत खादी और ग्रामोद्योगों के लिये, २५% से कुछ अधिक छोटे पैमाने के उद्योग तथा औद्योगिक बस्तियों (Industrial estates) के लिये तथा २०% के लगभग हाथ के कर्घे तथा शक्तिचालित कर्घों के लिये था। पहली दो योजनाओं में की गई व्यवस्था राज्य तथा केन्द्र की अनुमानित व्यय-क्षमता पर आधारित थी। १९५८-५९ एक अन्य कारण भी महत्त्वपूर्ण हो गया। केन्द्र और राज्यों के पास योजनाओं को लागू करने के लिये धनराशि सीमित थी।

६२ औद्योगिक बस्तियों में से, ११ पहले दो वर्षों में पूरी हो गई तथा अन्य १९ के १९५८-५९ तक पूरी होने की आशा है। १९५७-५८ के अन्त तक छोटे उद्योगों का प्राविधिक तथा विक्रय सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करने के लिये, ४ प्रादेशिक लघु उद्योग सेवा संस्थान (Small Industries Services Institutes), १½ बड़े संस्थान, २ उप संस्थान तथा २७ प्रसार-केन्द्र स्थापित किये जा चुके थे। १९५८-५९ के एक और प्रादेशिक लघु उद्योग संस्थान तथा ३३ प्रसार केन्द्र स्थापित किये जायेंगे।

१९५६-५७ में हथकर्घे का उत्पादन १६००० लाख गज था जो १९५५-५६ के उत्पादन से १३०० लाख गज़ अधिक था। १९५७-५८ में अनुमानित उत्पादन

१६५००लाख गज़ था। अब तक की प्रगति लक्ष्य से कहीं कम है। १६५७ के अन्त तक अम्बर सूत से उत्पादित कपड़ा ७० लाख गज था। ऐसा प्रतीत होता है कि १५०० लाख गज का संशोधित लक्ष्य योजना काल के अन्त तक पूरा नहीं होगा। पुरानी ढंग की खादी का उत्पादन ३५० लाख गज के आधार भूत उत्पादन से ५० लाख गज़ प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रहा है। खादी उत्पादन के लिये कई निश्चित लक्ष्य नहीं रखा गया था। शक्तिचालित करघो की स्थापना के सम्बन्ध में प्राप्त लक्ष्य भी अब तक नगण्य हैं।

अध्याय २१

औद्योगिक उत्पादन और नियोजन

प्रथम पंचवर्षीय योजना में राजकीय तथा निजी उद्योग क्षेत्र में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करने की व्यवस्था की गई थी। अंतर केवल इतना था कि राजकीय उद्योग क्षेत्र में उत्पादन मे वृद्धि करने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार ने अपने ऊपर ले लिया था परन्तु निजी उद्योगो के सम्बन्ध में उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित कर दिये गये थे। यह आशा प्रकट की गई थी कि निजी उद्योग योजना की अवधि समाप्त होने तक इन लक्ष्यों तक पहुँच जायेंगे। पुनर्परीक्षित योजना को कार्यान्वित करने के लिये निर्धारित २३५६ करोड़ रुपयों में से १७९ करोड़ रुपया अर्थात् कुल व्यय का ७.६% उद्योगों और खान खोदने पर व्यय करना था जिसमें से बड़े और मध्यम श्रेणी के उद्योगों पर १४८ करोड़ रुपया, खानों के सुधार पर १ करोड़ रुपया और छोटे उद्योगों पर ३० करोड़ रुपया व्यय करना था। इञ्जन बनाने के चितरंजन कारखाने और रेल के लिये इस्पात की कोच बनाने के कारखाने में जो कुछ धनराशि लगाई गई वह रेलवे विकास योजन का एक अंग थी। इस प्रकार आधार भूत उद्योगों और यातायात के लिये निर्धारित ५० करोड़ की धनराशि पृथक करके सम्पूर्ण राजकीय विकास कार्य क्रम में ५ वर्ष के अन्दर ९४ करोड़ रुपया निर्धारित किया गया। राजकीय औद्योगिक क्षेत्र मे जो रुपया लगाया गया उससे लोहे तथा इस्पात के नये कारखाने, इञ्जन बनाने के चितरञ्जन कारखाने, मैसूर में मशीन औजार बनाने के कारखाने, सिन्द्री के रसायनिक खाद के कारखानों और पेनिसिलिन, डी० डी० टी०, यन्त्र, टेलीफोन इत्यादि बनाने के कारखाने की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित किया गया। जितने उद्योगों की सरकार सरलता से व्यवस्था कर सकती थी उन पर अधिकार कर लिया गया और शेष निजी क्षेत्र के लिये छोड़ दिये गये। इस मिश्रित अर्थ व्यवस्था से यह लाभ है कि राजकीय उद्योग क्षेत्र का उस सीमा तक प्रसार किया जा सकता है जितना व्यवहारिकता दृष्टि से सम्भव है और निजी उद्योग को अपने साधनों, कुशलता एवम् अनुभव के द्वारा देश का औद्योगिक विकास करने का अवसर मिलता है।

योजना आयोग ने अनुमान लगाया था कि योजना में उत्पादन के निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के लिये निजी उद्योग क्षेत्र में पाँच वर्ष के अन्दर कुल २३३ करोड़ रुपया लगाना पड़ेगा। यदि इसमें मशीनों को परिवर्तन तथा उद्योग

का आधुनिकीकरण करने के लिये १५० करोड़ और चालू पूँजी के लिये ३२४ करोड़ की धनराशि सम्मिलित कर दी जाय तो पाँच वर्ष में निजी उद्योग क्षेत्र में कुल ७०७ करोड़ रुपया लगाया जायगा। भारतीय उद्योगपतियों ने इस योजना की आलोचना की। उनका कहना था कि (अ) उद्योग के आधुनिकीकरण के लिये १५० करोड़ रुपया अपर्याप्त है क्योंकि अधिकांश उद्योगों की मशीनें प्रायः व्यर्थ हो गई हैं। योजना में निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिये आवश्यक मशीनों का प्रबन्ध करने में इससे कहीं अधिक रुपयों की आवश्यकता होगी; (ब) सरकार ने केवल आवश्यक धन की मात्रा बता दी है, परन्तु उसकी प्राप्ति की व्यवस्था नहीं की है। उद्योगों के पास ऐसे साधन नहीं हैं जिनसे यह कार्य किये जा सकें; भारतीय पूँजी बाज़ार की ऐसी स्थिति नहीं है कि इतना धन प्राप्त किया जा सके और विदेशी पूँजी भी प्रायः उपलब्ध नहीं है। इन सब बातों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि निजी उद्योगों का योजना में निर्धारित उत्पादन के लक्ष्यों को पूरा कर सकना सम्भव नहीं है।

योजना में उद्योगों को जिस क्रम से प्राथमिकता दी गई थी उससे स्पष्ट है कि आधारभूत एवम् प्रमुख उद्योगों के साथ ही ऐसे उद्योगों को अधिक महत्व दिया गया जिनका अपेक्षाकृत बहुत कम विकास हुआ था। यदि राजकीय तथा निजी उद्योग क्षेत्रों को एक साथ मिला कर देखा जाय तो यह ज्ञात होगा कि कुल व्यय का २६ प्रतिशत धातु शोधन उद्योगों के लिये, २० प्रतिशत पेट्रोल शोधशालाओं के लिये, १६ प्रतिशत इंजीनियरिंग उद्योगों के लिये, ८ प्रतिशत सूती उद्योगों के लिये, ५ प्रतिशत सीमेंट और लगभग ४ प्रतिशत कागज, पट्ठे तथा अखबारी कागज उद्योग के लिये निर्धारित किया गया था। इसका अर्थ यह था कि जिन उद्योगों का अभी विकास नहीं हो पाया था उन पर अधिक व्यय किया जाय। वर्तमान उद्योगों को छोड़ा नहीं गया था बल्कि उनके लिये कम धनराशि निर्धारित की गई थी। ऐसा उचित भी था। देश के सभी उपलब्ध साधनों का अच्छे से अच्छा उपयोग करने के उद्देश्य से ही यह व्यवथा की गई थी। औद्योगिक विकास कार्यक्रम के लिये योजना में निम्नलिखित प्राथमिकता-क्रम दिया गया है।

(१) जूट और प्लाइवुड जैसे उत्पादक वस्तु उद्योग और सूती कपड़े, चीनी, साबुन, बनस्पति, रंग और वार्निश जैसे उपभोग की वस्तुओं के उद्योगों की वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूर्ण उपयोग किया जाय।

(२) लोहे तथा इस्पात, एल्यूमीनियम, सीमेंट, रसायनिक खाद, भारी

रसायनिक, मशीनों के औजार इत्यादि उद्योगों की वर्तमान उत्पादन शक्ति को बढ़ाया जाय।

(३) जिस उद्योग को आरंभ करने के लिए कुछ पूँजी लगा दी गई है उसे पूरा किया जाय।

(४) देश के औद्योगिक ढाँचे को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए अपने साधनों को ध्यान में रखते हुए नये कारखाने स्थापित किये जायँ जैसे जिप्सम से गन्धक का उत्पादन किया जाय।

प्रथम योजना में उद्योगों के तीन वर्ग किये गये थे। (१) जूट ऑटोमाँबाइलस्, मशीन व औजार कपड़े की मशीन तथा चूड़ी के उद्योगों के सम्बन्ध में जिनकी उत्पादन शक्ति पर्याप्त थी, इस बात पर महत्व दिया गया कि वे अपना उत्पादन बढ़ाकर अपनी अनुमानित शक्ति के स्तर पर ले आवें जो बदली नहीं जायगी; ढले हुये लोहे, इस्पात, चीनी, सीमेंट, कागज और कागज के पट्टे, दियासलाई तथा कुछ रसायनिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग जिनके सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया था कि उनकी अनुमानित शक्ति बढ़ाई तो जायगी पर १०० प्रतिशत से कम। इनके अन्तर्गत सीमेंट, सलफ्यूरिक ऐसिड, ढला हुआ लोहा, तैयार इस्पात, कागज और कागज के पट्टे, दियासलाई, स्टोरेज बैटरी और बिजली के पंखे बनाने वाले उद्योग भी सम्मिलित कर लिये गये थे; (२) बिजली से चलने वाले पम्पों, डिज़िल इजनों, सीने की मशीन, बाइसिकिलों इत्यादि उद्योगों का जिनकी वास्तविक उत्पादन शक्ति माँग के अनुपात में कम है काफ़ी प्रसार करने की योजना बनाई गई थी। इसी श्रेणी में अन्य उद्योग भी आते हैं जैसे काटन लिन्टर्स, केमिकल पल्प, कुछ दवाइयाँ इत्यादि जिनका भारत में उत्पादन नहीं किया जाता था परन्तु अब इनके उत्पादन की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार पंचवर्षीय योजना में देश के औद्योगिक विकास की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया गया था।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक और खनिज पदार्थों के विकास को प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। वास्तव में द्वितीय योजना औद्योगिक विकास पर केन्द्रित है। द्वितीय योजना में ४८०० करोड़ रुपयों के व्यय में से ८९० करोड़ या १८·५% उद्योगों पर व्यय किया जायगा जब कि प्रथम योजना के कुल २,३५६ करोड़ रुपयों के व्यय में से उद्योग पर १७६ करोड़ रुपये या ७·६% व्यय किया जाना था। द्वितीय योजना प्रथम की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और इसमें व्यय भी बहुत अधिक किया जा रहा है। उद्योगों को अधिक महत्व देने का कारण देश

के आर्थिक विकास को अधिक संतुलित करना, राष्ट्रीय आय में वृद्धि और बेकारी आदि को कम करना है। द्वितीय योजना के अन्तर्गत कार्यक्रम में प्राथमिकता निम्न प्रकार दी गई है।

(१) लोहे और इस्पात तथा भारी रसायनिक उद्योगों का निर्माण करना जिसमें नाइट्रोजन युक्त खाद और इन्जीनियरिंग तथा मशीनों के निर्माण सम्बन्धी उद्योग सम्मिलित है।

(२) विकास सम्बन्धी वस्तुओं तथा उत्पादन में कार्य आने वाली वस्तुओं, जैसे अलमोनियम, सीमेंट, रसायनिक पल्प, रंग, फास्फेट युक्त खाद और अत्यन्त आवश्यक दवाईयाँ आदि की उत्पादन शक्ति में विस्तार करना।

(३) महत्वशाली राष्ट्रीय उद्योग, जो स्थापित हो चुके हैं, जैसे जूट और सूती कपड़े बनाने तथा चीनी उद्योग आदि, उनके प्रसाधनों की वृद्धि और उनका अभिनवीकरण।

(४) उन उद्योगों की उत्पादन शक्ति में जिनकी उत्पादन शक्ति और वास्त-विक उत्पादन में अन्तर है वृद्धि करना।

(५) साधारण उत्पादन के कार्यक्रमों तथा उद्योगों के विकेन्द्रित अंश के उत्पादन लक्ष्य के अनुसार उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना।

औद्योगिक विकास के कार्य क्रम के दृष्टिकोण से द्वितीय योजना को अनेकों विशेषतायें हैं :—

(१) इसमें राजकीय क्षेत्र को व्यक्तिगत क्षेत्र से अधिक महत्ता दी गई है। द्वितीय योजना की नवीनता इस बात में है कि राजकीय क्षेत्र में औद्योगिक और खनिज उद्योगों के विकास के कार्यक्रमों को प्रधानता दी गई है। भारत में कृषि, विद्युत शक्ति, यातायात, तथा सामाजिक सेवाओं के विकास के सम्बन्ध में राज-कीय उपक्रमों पर निर्भरता आर्थिक योजना की विशेषता है। परन्तु अभी तक तो राजकीय क्षेत्र के अन्तर्गत किये गये विनियोग में उद्योगों और खनिज सम्बन्धी योजनाओं को कोई विशेष स्थान नहीं प्राप्त हुआ था। प्रथम योजना में राजकीय क्षेत्र में बड़े उद्योगों की स्थापना के लिये केवल ६४ करोड़ रुपयों के विनियोग का प्रबन्ध किया गया था, जबकि व्यक्तिगत क्षेत्र में २३३ करोड रुपयों के विनियोग का अनुमान किया गया था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत राजकीय क्षेत्र में बड़े उद्योगों और खनिज के विकास के लिये (वैज्ञानिक अन्वेषण कार्य पर व्यय सम्मिलित करते हुये) ६६० करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई है जब कि व्यक्तिगत

क्षेत्र में उद्योगों और खानों पर व्यय किये जाने के लिये केवल ५७५ करोड़ रुपयों का ही प्रबन्ध है। व्यक्तिगत क्षेत्र को यद्यपि देश के औद्योगिक विकास में एक बहुत बड़ा भाग लेना है फिर भी यह प्रत्यक्ष है कि राजकीय क्षेत्र की योजनाओं पर व्यक्तिगत क्षेत्र की योजनाओं से अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया है।

(२) योजना की दूसरी विशेषता यह है कि मुख्य और आधार उद्योगों का विकास उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों की अपेक्षा अधिक किया जायगा। प्रतिष्ठापित उत्पादन शक्ति के आयोजित विकास तथा प्रस्तावित उत्पादन सम्बन्धी १९६०-६१ के आँकड़े यह प्रकट करते हैं कि लोहे और इस्पात, इन्जीनियरिंग तथा रसायनिक उद्योगों के अधिकतम प्रसार का आयोजन किया गया है। भारत में प्रथम बार मशीन निर्माण उद्योग के विकास का आयोजन किया गया है। सूत तथा जूट बिनने की मशीनों के तथा सीमेंट और चीनी बनाने की मशीनों के और छोटे छोटे औजारों के उत्पादन के उद्योग तो भारत में पहिले से ही स्थित हैं, पर उनका बहुत अधिक विस्तार कर दिया जायगा। कागज तथा छपाई उद्योग के उत्पादन का मूल्य १९६०-६१ तक क्रमशः ४ करोड़ रुपये तथा २ करोड़ रुपये तक हो जायगा। वर्तमान समय में तो इन वस्तुओं का उत्पादन नगण्य ही है।

बड़े उद्योगों और खनिज उद्योग पर जो ६९० करोड़ रुपया व्यय किया जाने वाला है वह लगभग पूर्ण रूप से मूल उद्योगों के विकास के लिये है, जैसे लोहा इस्पात, कोयला, खाद, इन्जीनियरिंग तथा बड़े बड़े बिजली के प्रसाधन इत्यादि। योजना में तीन इस्पात संयन्त्रों की स्थापना रूरकेला, भिलाई, और दुर्गापुर में होगी जिनमें से प्रत्येक की उत्पादन शक्ति १० लाख टन इस्पात पिण्डो की होगी। इसके अतिरिक्त इनमें से एक संयन्त्र तो ३५०,००० टन ढला हुआ लोहा बिक्री के लिये उत्पादित करेगा। राजकीय क्षेत्र के अन्तर्गत सब योजनाओं से आशा की जाती है कि कुल इस्पात की उत्पादित मात्रा लगभग २० लाख टन द्वितीय योजना के अन्त तक हो जायगी।

इन्जीनियरिंग के बड़े बड़े उद्योगों की स्थापना के कार्यक्रम में चित्तरन्जन लोकोमोटिव फैक्ट्री में एक बड़ी इस्पात फाउन्ड्री की स्थापना भी सम्मिलित है। इस बात का प्रबन्ध किया जा रहा है कि बड़े बड़े बिजली के प्रसाधनों का निर्माण राजकीय क्षेत्र में हो। इसलिये चित्तरन्जन लोकोमोटिव फैक्ट्री का विस्तार होना परमावश्यक है ताकि वर्तमान समय के १२५ इन्जिनो के वार्षिक उत्पादन के स्थान पर ३०० इन्जनों का प्रतिवर्ष उत्पादन हो जाय। दि इन्टीगरल कोच फैक्ट्री जिसने उत्पादन कार्य १९५५ में आरम्भ किया लगभग ३५० कोच प्रतिवर्ष १९५९

तक उत्पादित कर सकेगी। एक नई मीटर गेज कोच फैक्ट्री की स्थापना का भी प्रबन्ध कर दिया गया है।

(३) द्वितीय-योजना में ग्राम्य और छोटे उद्योगों को प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और यह प्रस्ताव किया गया है कि उन पर प्रथम योजना के ३० करोड़ रुपये के व्यय के स्थान पर अब २०० करोड़ रुपया व्यय किया जाय। ग्राम्य और छोटे उद्योगों को इतना महत्व देने का मुख्य कारण यह है कि देश की आर्थिक व्यवस्था के विकेन्द्रित भाग में कार्य करने के अधिक अवसर प्रदान कर सकेंगे।

समालोचना—द्वितीय योजना प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक विचार पूर्ण है। इस योजना में यह उचित ही है कि कृषि की तुलना में औद्योगिक विकास पर अधिक महत्व दिया गया है। इससे देश का संतुलित विकास सम्भव हो सकेगा और जो देश की आर्थिक व्यवस्था में अभाव रह गए थे वे पूर्ण हो जायेंगे। यह भी बहुत उपयुक्त है कि बड़े मूल और मशीनों के निर्माण के उद्योगों के प्रति विशेष ध्यान दिया है। इन्हीं के आधार पर भारत का भावी औद्योगिक विकास सम्भव हो सकेगा। यह सब होते हुए भी द्वितीय योजना में अनेकों गम्भीर दोष रह गये हैं।

(१) राजकीय क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार कर दिया गया है। यदि सरकार के पास धन के स्रोत, औद्योगिक ज्ञान, उद्योगों के आरम्भ करने की क्षमता आदि होती तब तो इसमें कोई हानि की सम्भावना न होती, परन्तु सरकार के पास तो ये पर्याप्त मात्रा में नहीं है। इसके अतिरिक्त अनेकों उद्योग जो राजकीय क्षेत्र के अन्दर सम्मिलित कर लिये गये हैं उनमें राजकीय क्षेत्र से जितना साहस प्राप्त हो सकता है उसकी अपेक्षा अधिक जोखिम उठाने और साहस की आवश्यकता है। अन्त में यह भी कहा जाता है कि राजकीय क्षेत्र को आवश्यकता से अधिक विस्तृत कर देने से व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये सुगमता पूर्वक कार्य करते रहने के लिये जितने साहस की आवश्यकता है उससे बहुत कम का अवसर छोड़ा गया है। इसमें स्पष्ट रूप से यह भय लक्षित होता है कि राजकीय क्षेत्र अपने निर्धारित लक्ष्य को पूर्ण न कर सकेगा।

(२) यद्यपि व्यक्तिगत क्षेत्र पर कुछ वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा के उत्पादन करने का उत्तरदायित्व डाल दिया गया है, परन्तु इसके लिये न तो पर्याप्त मात्रा में वित्त की उपलब्धि का कोई प्रबन्ध किया गया है और न ऐसी सुविधायें ही प्रदान की गई हैं जैसे अवक्षयण के लिये वृद्धि अथवा करों से छूट आदि, जो कि व्यक्तिगत क्षेत्र के सरलता से कार्य करते रहने के लिये आवश्यक

है। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) जिसकी १६५४ में स्थापना की गई थी व्यक्तिगत क्षेत्र में उद्योगों के विकास में बहुत सहायता पूर्ण कार्य कर रहा है। द्वितीय योजना में भी यह संस्था व्यक्तिगत क्षेत्र में सहायता का कार्य करती रहेगी। यह सब होते हुये भी यह निश्चत रूप से कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत क्षेत्र को वित्त संकट उठाना पड़ रहा है, जिससे औद्योगिक विकास में बाधा पड़ रही है।

(३) भारत के औद्योगिक संगठन में महत्वपूर्ण स्थान रखने के कारण यह सर्वथा उपयुक्त है कि ग्राम्य और छोटे उद्योगों के विकास का प्रयत्न किया जाय, परन्तु यह *कदापि न्यायसंगत नहीं है कि बड़े उद्योगों पर उपकर आरोपित किया* जाय अथवा उनके उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, जिससे कि ग्राम्य और छोटे उद्योगों की रक्षा हो सके। इससे कार्यारम्भ का साहस नष्ट हो जाता है और कोई प्रभावशाली सहायता भी ग्राम्य अथवा छोटे उद्योगों को नहीं मिलती। इन उद्योगों की समस्या को उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के गुणों की उन्नति करके, तथा उनके मूल्य को घटा कर करना चाहिये न कि बड़े उद्योगों पर प्रतिबन्ध द्वारा।

द्वितीय योजना के औद्योगिक विकास कार्यक्रम में उपर्युक्त दोषों के होते हुये भी यह आशा की जाती है कि इससे औद्योगिक विकास की गति में अवश्य वृद्धि होगी, तथा औद्योगिक विकास संगठन के अभावों को पूर्ण करके यह योजना संतुलन स्थापित करेगी और संसार में भारत का औद्योगिक स्तर ऊँचा उठायेगी।

योजना की प्रगति—"१६५७-५८ तक पहली योजना में प्रारम्भ की गई अनेक औद्योगिक योजनाएँ पूर्ण हो गईं। इन योजनाओं में अलवये का डी० डी० टी० का कारखाना, दिल्ली के डी० डी० टी० कारखाने का विस्तार, हिन्दुस्तान एन्टीबायोटिक्स (कारखाने) का विस्तार, मैसूर में सरकारी पोर्सलीन फैक्ट्री की पोर्सलीन इन्सुलेटर्स स्कीम, मैसूर आइरन एण्ड स्टील वर्कस का spun-pipe का कारखाना, बिहार की सुपर फास्फेट फैक्ट्री तथा N E P A कारखाने में संतुलन उपस्कर की व्यवस्था आदि सम्मिलित थे। इन योजनाओं के पूर्ण होने के परिणामस्वरूप डी० डी० टी० निर्माण करने की शक्ति में २१०० टन की, पैन्सिलीन के सम्बन्ध में १६२ लाख मीगा इकाइयों की तथा सुपर फास्फेट की उत्पादन *शक्ति में २२,००० टन की वृद्धि हो गई। N E P A ने प्रतिवर्ष ३०,००० टन* अखबारी कागज़ का उत्पादन करने की अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लिया। २५०० टन इन्सुलेटर्स के निर्माण की शक्ति अथवा सामर्थ्य की भी स्थापना हुई। द्वितीय योजना में इन स्कीमों पर ३ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था थी।"

रमें भारत में निजी उद्योग की वर्तमान स्थिति और उसके संगठन तथा आकार-
जाँच पर कुछ ध्यान नहीं दिया गया है। इसके विपरीत निजी-उद्योग क्षेत्र में
— ऐसी बातें लागू की गई हैं जिनकी उपयोगिता पर सन्देह प्रगट किया जा
—ता है, जो देश के औद्योगिक विकास में सहायक होने की अपेक्षा बाधक हो
ते हैं।

औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव— १९४८

६ अप्रैल १९४८ का औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव— १९४८
घोषित औद्योगिक नीति में 'मिश्रित' अर्थ व्यवस्था के सिद्धान्त को स्वीकार
आ गया है। परन्तु राष्ट्रीयकरण का विषय इसमें विशेष रूप से सम्मिलित
। गया है। वास्तव मे 'मिश्रित अर्थ व्यवस्था' के सिद्धान्त मे ही 'राष्ट्रीयकरण'
विचार निहित है। परन्तु सरकार ने अपनी घोषणा में इसकी चर्चा करके इसे
क स्पष्ट कर दिया। इस घोषणा मे उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभाजित
। गया था। (१) प्रथम श्रेणी के उद्योगों में हथियारों और गोला-बारूद का
दन, अणु-शक्ति का उत्पादन और नियंत्रण और रेलवे परिवहन का प्रबन्ध
स्वामित्व सम्मिलित किये गये थे। इन उद्योगों पर राज्य को पूर्ण एकाधिकार
— गया। इस व्यवस्था से विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि ये उद्योग
८० से ही राज्य के अधिकार में और इस बात की बहुत कम सम्भावना है कि
में निजी उद्योग इनमें से किसी एक को भी अपनाने के लिये तैयार होगा।
— मे द्वितीय और तृतीय श्रेणी के उद्योगो पर ही इस औद्योगिक नीति का
—निर्भर करता है। (२) द्वितीय श्रेणी के उद्योगों मे कोयला, लोहा, इस्पात,
न-निर्माण जलयान-निर्माण, टेलीफोन, तार तथा बेतार के तार के यंत्रों का
ण और पेट्रोल इत्यादि खनिज तेल सम्मिलित किये गये हैं। इन उद्योगों के
न्ध में यह कहा गया था कि इस श्रेणी के नवीन कारखानों को स्थापित करने
पूर्ण उत्तरदायित्व केवल राज्य पर होगा और जो वर्तमान समय में चालू
ाने हैं उनकी दस वर्ष मे पुनः जाँच की जायगी और यदि आवश्यक हुआ
इनका राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा। इस व्यवस्था का निजी उद्योग पर बुरा
व पड़ा। इससे उनका भविष्य अनिश्चित हो गया। उद्योग मे सुधार करने
लये जो कुछ रुपया लगाया जायगा उसका लाभ उठा सकने के लिये १० वर्ष
समय बहुत कम है। और चूँकि नये कारखाने स्थापित करने का पूर्ण भार
ने स्वीकार कर लिया, इससे इस श्रेणी के उद्योगों में निजी उद्योग के
तकों की रुचि कम हो गई इस क्षेत्र में उनका सम्पूर्ण उत्साह समाप्त हो गया।
गाम स्वरूप औद्योगिक उत्पादन घट गया, पूँजी निर्माण की प्रक्रिया
पड़ गई और औद्योगिक क्षेत्र मे कुछ सीमा तक मन्दी आ गई। यदि

राज्य नवीन कारखाने स्थापित कर उत्पादन कार्य आरम्भ कर देता तो इससे विशेष हानि की सभावना नहीं थी। परन्तु भारत सरकार और राज्य सरकारों के पास इस कार्य के लिये आवश्यक धन, साहस और कुशल कर्मचारियों का अभाव है। फल स्वरूप देश की औद्योगिक स्थिति प्रगति करने की अपेक्षा अवनत होती गई। (३) शेष उद्योगों को तीसरी श्रेणी में रखा गया। यद्यपि इस श्रेणी के उद्योगों को निजी उद्योग क्षेत्र के लिये छोड़ दिया गया परन्तु यह भी कहा गया कि राज्य इस क्षेत्र में भी क्रमश: भाग लेगा। परन्तु साधनों के अभाव के कारण राज्य इस क्षेत्र मे सक्रिय नहीं हो सका।

नवीन औद्योगिक नीति—३० अप्रैल १९५६ को घोषित नवीन औद्योगिक नीति १९४८ के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव की रूपरेखा से मिलती जुलती है, और उद्योगों को राज्य द्वारा उनमें भाग लेने के आधार पर ३ वर्गों में विभाजित करती है। प्रथम वर्ग में १७ उद्योगों की गणना की गई है *जिनमें कोयला, लोहा और इस्पात, खनिज-तेल, सामान्य और विद्युत इन्जीनियरिंग के कुछ अश और परिवहन सम्बन्धी* कुछ ऐसे उद्योग आते हैं जिनके भावी विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य के ऊपर है। द्वितीय वर्ग में लगभग एक दर्जन उद्योग सम्मिलित किये गये हैं, जैसे मशीन के यन्त्र, अलमुनियम, खाद, सड़क और समुद्री परिवहन इत्यादि जिनमें व्यक्तिगत और राजकीय उपक्रम साथ-साथ चलेंगे परन्तु यह क्रमशः राजकीय अधिकार में आ जायेंगे, इस लिये इन में नवीन उपक्रमो के स्थापित करने में राज्य अग्रगणी होगा। शेष उद्योग जैसे सूती कपड़े, सीमेंट, चीनी इत्यादि तीसरे वर्ग में रक्खे गये हैं। इनका भावी विकास सामान्यतः व्यक्तिगत क्षेत्र से उपलब्ध कार्यारम्भ साहस पर निर्भर करेगा। राज्य को यह भी अधिकार होगा कि इस वर्ग के उद्योगों को भी आरम्भ कर सके।

उद्योगों के इस त्रिवर्गीय विभाजन में कोई दोष नहीं है। १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अनुसार संतोष प्रद ढंग से कार्य हुआ है। परन्तु नवीन औद्योगिक नीति के त्रिवर्गीय विभाजन में कुछ दोष आ गये हैं।

(१) राजकीय क्षेत्र के विस्तार मे बहुत अधिक वृद्धि कर दी गई है और व्यक्तिगत क्षेत्र को अत्यधिक संकुचित कर दिया गया है। इससे हानि यह होगी कि औद्योगिक ज्ञान वाले कर्मचारियों, संगठन करने की क्षमता, पूँजी तथा अनुभव के अभाव में राज्य उन उद्योगो का प्रबन्ध न पूर्णत: और न अधिकाँश ही कर सकेगा जिन्हें उसने अपने लिये सुरक्षित कर रक्खा है। व्यक्तिगत उपक्रम इस कठिनाई को सुधार सकने में असमर्थ होगा क्योंकि नवीन नीति के अनुसार उन्हें यह कर सकने का कोई अधिकार ही न होगा और यदि सरकार उन्हें आमन्त्रित

भी करेगी तो उनमें इतना आत्म विश्वास न होगा कि वे ऐसा कर सकें। इस नीति के निर्माता इस कठिनाई से अनभिज्ञ नहीं थे। जो व्यक्ति व्यक्तिगत उपक्रमों की कार्य प्रणाली और १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के प्रभाव से परिचित हैं वे समझ सकते हैं कि इस प्रयोगात्मक परिस्थिति में व्यक्तिगत उपक्रम सम्मुख आने का साहस न कर सकेगें। प्रथम दोनों वर्गों में सम्मिलित व्यक्तिगत उद्योगों को सरलता से कार्य करते रहने के लिये आवश्यक वातावरण का अभाव है। यदि गत पाँच वर्षों के अनुभव का भरोसा करें तो यह आशा करना कि यदि राजकीय उपक्रम वाञ्छित लक्ष्य को पूरा न कर सके तो उनका स्थान व्यक्तिगत उपक्रम ले लेंगे, युक्ति संगत नहीं है। यदि प्रथम वर्गों में गिने गये कुछ उद्योगों को तीसरे वर्ग में स्थानान्तरित कर दिया जाता, जिसमें कार्यारम्भ का भार व्यक्तिगत उपक्रमों पर है, तो निश्चित रूप से यह सम्भव होता कि वे किसी न किसी प्रकार औद्योगिक ज्ञान, पूँजी तथा अनुभव के अभाव को पूर्ण कर सकते जैसा कि गत २०० वर्षों से देखने में आया है। यह कोई तर्क नहीं है कि औद्योगिक क्षमता, पूंजी, अनुभव आदि का सर्वथा अभाव है, और इस लिये राजकीय उपक्रम अथवा व्यक्तिगत उपक्रम द्वारा इस समस्या को सुलझाने में कोई अन्तर नहीं पड़ता बहुत बड़ा अन्तर तो यह है कि व्यक्तिगत उपक्रमों के पास उत्साह औद्योगिक क्षमता और कार्य करने की शक्ति है और राजकीय उपक्रमों के पास इनका अभाव है। नवीन औद्योगिक नीति के कारण विकास की गति बढ़ने के स्थान पर अवरुद्ध हो जायगी।

(२) १९४८ की औद्योगिक नीति में वर्तमान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिये १० वर्ष की अवधि निश्चित की गई थी, और तीसरे वर्ग के उद्योगों के लिये यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया था राज्य उन्हीं उद्योगों को हस्तगत करेगा जिनकी प्रगति संतोषप्रद नहीं रही है। इससे व्यक्तिगत उपक्रमों को कुछ आशा बन्धी। परन्तु अब राज्य को अत्यधिक अधिकार देकर व्यर्थ में व्यक्तिगत उपक्रमों की सुरक्षा की भावना का अपहरण कर लिया गया है। यह राज्य के विचार अथवा अविचार से कार्य करने का प्रश्न नहीं है वरन् यह तो व्यक्तिगत उपक्रम में *विश्वास और संदेह की भावना उत्पन्न करती है तो उससे इस संतोषप्रद परिणाम* की आशा नहीं कर सकते।

(३) व्यक्तिगत उपक्रम को बहुत ही संकुचित क्षेत्र प्रदान किया गया है जिसके कारण वे सरलता से कार्य नहीं कर सकते। भारत की औद्योगिक नीति में जिस प्रकार राजकीय क्षेत्र का निश्चित स्थान है वैसे ही व्यक्तिगत क्षेत्र का भी है। व्यक्तिगत क्षेत्र के विस्तार को कम करने के किसी भी प्रयत्न का स्वाभाविक

परिणाम भारत के औद्योगिक विकास को कम करना है। वर्तमान समय में प्रचलित आय और सम्पत्ति के अन्तर को कम करने, व्यक्तिगत एकाधिकार को रोकने और आर्थिक शक्ति को थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित होने से बचाने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये यह तर्क असंगत है। इस बात को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि भारत में राज्य को जो अधिकार आज प्राप्त हैं उनके द्वारा उद्योगों के व्यक्तिगत क्षेत्र में रहने पर भी वह एकाधिकार तथा आर्थिक शक्ति का केन्द्रित होना न रोक सके। जहाँ तक आय के अन्तर का सम्बन्ध है वह तो आर्थिक तथा अन्य उपायों से पहिले ही काम किया जा चुका है। फिर यह कैसे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उद्योगों को राजकीय क्षेत्र में रखने से आर्थिक शक्ति केन्द्रित न होगी। अन्य देशों के अनुभव के अनुसार इसका परिणाम अधिक हानिकारक होगा। दूसरा कारण जिसके *आधार पर बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उपक्रमों का विस्तार व्यक्तिगत क्षेत्र* में संकुचित किया गया है वह कुटीर, ग्राम्य और छोटे उद्योगों की बड़े उद्योगों के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाकर और भिन्न करारोप द्वारा अथवा प्रत्यक्ष अनुदानों द्वारा सहायता करना है। भारत में ग्राम्य और छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देने में कोई दोष नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि इनका भारत की औद्योगिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु बड़े उद्योगों को हानि पहुँचाकर छोटे उद्योगों की प्रगति करना सर्वथा अविचारपूर्ण है। भारत की राष्ट्रीय आय और औद्योगिक विकास में वृद्धि बड़े उद्योगों से ही सम्भव है। द्वितीय योजना का ध्येय प्रति व्यक्ति वार्षिक आय बढ़ाना और बेकारी घटाना है। यदि बड़े उद्योगों का काल्पनिक आदर्शों के लिये उत्सर्ग कर दिया गया तो वह ध्येय कभी पूर्ण *नहीं हो सकेगा। व्यक्तिगत क्षेत्र के विस्तार को सकुचित कर देने का परिणाम* यह होगा कि व्यक्तिगत उपक्रम उचित रीति से कार्य न कर सकेंगे।

नवीन औद्योगिक नीति में वे गुण तो नहीं है जो कि १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे थे, परन्तु उसके सब दोष उसमे वर्तमान हैं। १९४८ की नीति नकारात्मक थी और उसमें व्यक्तिगत उपक्रमो पर लगाये गये प्रतिबन्ध का ही केवल वर्णन था। राज्य से उन्हें क्या सहायता प्राप्त होगी इसके प्रति कोई संकेत नहीं था। यही दोष नवीन औद्योगिक नीति में जनता को महान प्रतीत होने वाले निरर्थक आदर्शों के सम्मिश्रण के रूप में है। व्यक्तिगत उपक्रम की अत्यधिक कर, आयकर के नियमों के अनुकूल उनके लिये पर्याप्त मात्रा में अवक्षयण वृत्ति का प्रबन्ध, और सरकार की श्रम और मूल्य नीति के कारण सदैव बढ़ते हुये उत्पादन व्यय से रक्षा आवश्यक है। राज्य को इस दृष्टिकोण से

व्यक्तिगत उपक्रमों को निश्चित सहायता प्रदान करनी चाहिये जिससे वे सफलतापूर्वक अपना कार्य कर सकें। सहायता का क्या रूप होगा और वह किस विधि से दी जायगी आदि बातें सरकार की औद्योगिक नीति का एक आवश्यक अंग बन जानी चाहिये जिससे कि वे सम्भव हो सकें।

१६५१ का उद्योग कानून—११५१ का उद्योग (विकास और नियमन) कानून प्रथम अनुसूची में दिये गये उन ३७ उद्योगों पर लागू होगा जिनमें १ लाख से अधिक पूँजी लगाई गई है। यह व्यवस्था की गई है कि इन सभी औद्योगिक संस्थानों को अनिवार्य रूप से अपनी रजिस्ट्री करानी पड़ेगी। कोई नवीन कारखाना स्थापित करने के लिये अथवा वर्तमान कारखानों का प्रसार करने के लिये केन्द्रीय सरकार से लाइसेन्स प्राप्त करना पड़ेगा।

कानून के अनुसार सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी अनुसूचित उद्योग की जाँच करा सकती है और आवश्यक निर्देश जारी कर सकती है। इन निर्देशों का पालन न करने पर केन्द्रीय सरकार सम्पूर्ण उद्योग को या उसके किसी भाग को एक निश्चित काल के लिए किसी व्यक्ति, बोर्ड या विकास-परिषद् के हाथ में सौंप सकती है। परन्तु यह अवधि ५ वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। यह व्यवस्थाएँ अस्पष्ट और विस्तृत हैं। यह खेद का विषय है कि संसद ने जिस द्वितीय प्रवर-समिति को यह विधेयक विचारार्थ सौंपा उसने प्रथम प्रवर-समिति की रिपोर्ट में दी गई उन शर्तों को रद्द कर दिया जिनके आधार पर राज्य हस्तक्षेप कर सकता था। प्रथम प्रवर समिति ने सिफारिश की थी कि यदि उद्योग के प्रबन्ध में अधिक अव्यवस्था फैली हो, वस्तुओं के भाव में अनुचित उतार-चढ़ाव हो, वस्तुओं का अभाव हो, श्रमिकों में अशांति एवम् असन्तोष हो और यदि सम्बन्धित उद्योग के कार्य में आने वाले कच्चे माल का अभाव और उसकी शीघ्र समाप्ति को रोकना राष्ट्र हित में हो तभी राज्य को अपने नियंत्रण और हस्तक्षेप के अधिकारों का प्रयोग करना चाहिए। इन शर्तों से निजी उद्योग सन्तुष्ट था और यदि विधेयक इसी रूप में स्वीकार कर लिया जाता तो औद्योगिक विकास को हानि न उठानी पड़ती परन्तु द्वितीय प्रवर-समिति द्वारा इन निश्चित शर्तों को रिपोर्ट में से निकाल देने के कारण फिर वही अनिश्चितता फैल गई जो सरकार की भूतपूर्व औद्योगिक नीति से फैली थी।

इस कानून में केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद और विकास-परिषदें स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् में उद्योगपतियों, कर्मचारियों और अनुसूचित उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि होंगे। इनके साथ ही कुछ ऐसे व्यक्ति भी इस परिषद् में सम्मिलित किए

जा सकेंगे जिन्हें केन्द्रीय सरकार उचित समझेगी। अध्यक्ष को छोड़ कर परिषद् की सदस्य संख्या ३० से अधिक नहीं होगी[1]। केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् अनुसूचित उद्योगों के विकास और नियमन के सम्बन्ध में सरकार को सुझाव देगी।

किसी भी अनुसूचित उद्योग अथवा उद्योगों के समूह के लिए विकास-परिषदें स्थापित की जा सकती हैं। विकास परिषद् में उद्योगपतियों, कर्मचारियों और उन उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि होंगे। इसमें ऐसे व्यक्ति भी सदस्य बनाये जा सकेंगे जिन्हें सम्बन्धित उद्योग अथवा उद्योगों के बारे में विशेष टेकनिकल ज्ञान हो। विकास-परिषद् का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक बनाया गया है। मुख्यतः विकास परिषदें उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करेंगी, उत्पादन-कार्य में सामंजस्य स्थापित करने के लिए सुझाव देंगी और समय समय पर उद्योग अथवा उद्योगों की प्रगति की समीक्षा करेंगी; इसके साथ ही क्षति रोकने के लिए कुशलता के मान निर्धारित करेंगी, अधिकतम उत्पादन करने, उत्पादन व्यय करने और उत्पादित वस्तु की प्रकार में सुधार करने के लिए सुझाव देंगी। विकास परिषदें उत्पादित वस्तु की प्रकार का एक निश्चित स्तर निश्चित करेंगी और विक्रय की व्यवस्था करेंगी और ऐसे उपाय सुझावेंगी जिनसे श्रमिकों की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हो। जैसा पहले कहा जा चुका है सरकार उद्योग की पूर्ण व्यवस्था अथवा उसका कुछ भाग अधिक से अधिक ५ वर्ष के लिए इन विकास परिषदों के हाथ सौंप सकती है।

विकास-परिषदों से यह आशा की जाती है कि वह निजी उद्योग के लिए एक परिचारिका का कार्य करेंगी। १९५३ में ऐसी दो विकास परिषदें स्थापित की गईं। बाद में अन्य विकास परिषदें स्थापित की गईं। १९५७ के अन्त में १२ विकास परिषदें निम्न उद्योगों के लिये काम कर रहीं थीं।

(१) भारी विद्युत् उद्योग,

(२) हलका विद्युत् उद्योग

(३) Internal Combustion Engines तथा शक्तिचालित पम्प

---

१. ८ मई १९५२ को कानून लागू होने के साथ ही केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् स्थापित की गई, वाणिज्य तथा उद्योग-मन्त्री इसके अध्यक्ष हैं। १९५४ में इसका पुनर्संगठन किया गया और इसके सदस्यों की संख्या २९ कर दी गई जिनमें से १४ उद्योगपतियों के प्रतिनिधि (अनुसूचित उद्योग के), ५ कर्मचारी, ५ उपभोक्ता, और ५ अन्य व्यक्ति जिनमें प्रारम्भिक उत्पादक सम्मिलित हैं। इससे यह परिषद् पूर्ण रूपेण प्रतिनिधि परिषद् बन गई है।

(४) साइकिल
(५) अम्ल (acid) और उर्वरक
(६) क्षार (alkali) तथा सम्बन्धित उद्योग
(७) दवाइयाँ
(८) ऊनी कपड़ा
(९) कलापूर्ण रेशमी कपड़ा
(१०) चीनी (शकर)
(११) अलौह धातुयें और मिश्रित धातुयें; तथा
(१२) मशीन-औजार

इन परिषदों का कार्य अपने-अपने उद्योगों की समस्याओं पर विचार करना। इनका ध्येय है उद्योगों को अपनी पूर्ण शक्ति भर उत्पादन कर सकने की सुविधायें प्रदान करना, उनकी (रेटेड) अंकित शक्ति को आवश्यक स्तर तक बढ़ाना, और उत्पादन व्यय को कम करना है।

विकास परिषदों की संस्था हम लोगों ने ब्रिटेन से अनुसरण की है जहाँ पर इनकी स्थापना अनेकों उद्योगों के विकास के सम्बन्ध में की गई थी। वहाँ ये परिषद असफल सिद्ध हुये पर हम लोग अब भी इनको अपनाए हुए हैं। व्यक्तिगत उपक्रमों के सफलता पूर्वक कार्य करने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें नित्य प्रति के कार्यों मे प्रबन्ध कर्ता से पर्याप्त मात्रा में स्वतंत्रता प्राप्त हो। उपक्रमों को कार्यारम्भ करने का साहस और उत्साह होना चाहिये। यही एक आधार है जिस पर व्यक्तिगत उपक्रम से हम सफलता की आशा कर सकते हैं। प्रबन्ध करने में स्वतन्त्रता की मात्रा में कमी करने के भय, इन परिषदों की कार्यप्रणाली की अनिश्चितता तथा किसी उपक्रम के आवश्यकता पड़ने पर सरकारी प्रबन्ध में ले लिये जाने की अनिश्चित शर्तें (जैसे विकास परिषद के निर्देशों का किसी उपक्रम द्वारा उलंघन) ये उपक्रमी वर्ग के मन में संदेह की भावना भर दी है। इसके अतिरिक्त परिषद् एक ही प्रकार की संस्थायें तो है नहीं जो अपने अपने उद्योगों में से विकसित हुई हों, इसलिये वे मनोवांछित विकास नहीं कर सकती। यह भी सम्भव है कि विकास परिषद का हस्ताक्षेप सरकारी नियन्त्रणों से ग्रस्त उपक्रमों के विनाश का अन्तिम कारण सिद्ध हो।

१९५३ का उद्योग (विकास और नियमन) संशोधन कानून—भारत-सरकार को १९५१ के उद्योग (विकास और नियमन) कानून को लागू करने के एक वर्ष पश्चात् ही संशोधन कानून का आधार लेना पड़ा। इस बात से यह स्पष्ट होता है कि भारत की औद्योगिक नीति कितनी अनिश्चित है। ऐसी स्थिति

किसी प्रकार भी लाभकर नहीं कही जा सकती है। संशोधन कानून का विश्लेषण करने से ज्ञात होगा कि उसकी व्यवस्थाएँ पूर्व की अपेक्षा अधिक दोषपूर्ण हैं। संशोधन कानून के अनुसार किसी भी उद्योग पर सरकार परामर्शदात्री परिषद् से पूछे बिना अधिकार कर सकती है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि सरकार निर्देश दे और उद्योग को स्पष्टीकरण का अवसर दे। सरकार के इन नवीन अधिकारों को प्राप्त करने से व्यापारों में उद्योगों के सम्बन्ध में और अनिश्चितता फैली है और इससे देश की औद्योगिक प्रगति अवरुद्ध हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं।

अब यह कानून ४२ उद्योगों पर लागू है, जिनमें असली रेशम, नकली रेशम, रंग बनाने की वस्तुयें, साबुन, प्लाईवुड, फेरोमेगेनीज आदि ६ नवीन उद्योग भी सम्मिलित हैं। संशोधन द्वारा सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वे यदि चाहें तो ५ वर्ष के पश्चात् भी (जो अवधि एक्ट में दी हुई थी) किसी उपक्रम का प्रबन्ध अपने हाथों में रख सकती हैं। इसके लिये यह आवश्यक होगा कि नियंत्रण की अवधि बढ़ाने की एक विज्ञप्ति पार्लियामेंट के समक्ष उपस्थित कर दी जाय। सरकारी उपक्रमों को नई वस्तुओं के उत्पादन के लिये लाइसेन्स लेने से छूट दे दी गई है, यद्यपि एक्ट में दी हुई प्रथम तालिका में अनुसूचित उपक्रमों को लाइसेन्स लेना अनिवार्य है। सरकार को यह अधिकार है कि वह जिन उद्योगों को अपने अधिकार में ले उनके संगठन की शर्तों और नियमावली के विपरीत भी यदि चाहे तो कार्य कर सकती है। इस अधिकार से हिस्सेदारों के सामान्य अधिकारों को आघात पहुँचता है।

इन संशोधनों से उद्योग (विकास और नियमन) कानून बहुत कड़ा कानून बन गया है। अब केवल यह आशा की जाती है कि कानून को लागू करने वाले अधिकारी सन्तुलित दृष्टिकोण से कार्यवाही करेंगे और भारत के औद्योगिक ढाँचे को सदैव के लिए नष्ट हो जाने से बचाएँगे।

राष्ट्रीयकरण की नीति—राष्ट्रीयकरण की नीति अप्रत्यक्ष रूप से भारत सरकार की औद्योगिक नीति का एक अंग है। इसका संकेत उद्योग (विकास और नियमन) कानून की उस व्यवस्था से मिलता है जिसके अनुसार सरकार कुछ स्थितियों में निजी उद्योगों पर अपना अधिकार कर सकती है।

राष्ट्रीयकरण का अर्थ है कि उत्पादन के साधनों पर जनता का अधिकार हो। राज्य या तो अपने उद्योग स्थापित कर सकता है या चालू निजी उद्योगों को अपने अधिकार में ले सकता है। राष्ट्रीयकरण का देश की सामाजिक, राजनैतिक,

आर्थिक स्थितियों से निकट सम्बन्ध है। राष्ट्रीयकरण किस प्रकार किया जाय यह उस देश के आर्थिक विकास पर निर्भर करता है।

सिद्धान्त रूप में राष्ट्रीयकरण की नीति का कई आधारों से समर्थन किया जा सकता है। प्रायः यह कहा जाता है कि निजी उद्योग देश के सभी उपलब्ध साधनों का न तो पूर्ण उपयोग करना चाहता है और न वह ऐसा कर सकने में समर्थ ही है, इसलिए बिना राजकीय उद्योगों में तीव्रता से प्रगतिशील औद्योगीकरण नहीं किया जा सकता। निजी उद्योगों द्वारा उद्योग के आधुनिकीकरण और युक्तिकरण (Rationalisation) को ओर ध्यान न देने की प्रवृत्ति की आलोचना करके भी राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया जाता है। यह कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण हो जाने से श्रमिक-मालिक के सम्बन्धों में सुधार होगा और श्रमिकों के दूने उत्साह से कार्य करने के कारण उत्पादन भी बढ़ेगा। राष्ट्रीयकरण के समर्थकों का यह भी विश्वास है कि उद्योगों पर सरकार का अधिकार हो जाने से बेरोजगारी की समस्या भी हल हो जायगी।

परन्तु यह तर्क सन्तोषजनक नहीं है। राष्ट्रीय करण की किसी भी योजना को लागू करने से पूर्व यह आवश्यक है कि राज्य के पास पर्याप्त पूँजी हो और उसे प्रशासन तथा सभी कुशल प्राविधिक सेवाएँ प्राप्त हों। राष्ट्रीय करण के पश्चात् श्रमिक और उद्योग के प्रबन्धकों के सम्बन्धों में और तनातनी होने की सम्भावना है क्योंकि वर्तमान में इन दोनों के बीच राज्य संतुलन स्थापित करता है और जब कभी इनके बीच झगड़े उत्पन्न होते हैं राज्य उनमें हस्तक्षेप करता है। परन्तु यदि राज्य ही उद्योग का अधिकारी हो तो इस प्रकार के झगड़ों में राज्य स्वयं एक पक्ष हो जायगा और इस कारण मध्यस्थता नहीं कर सकेगा। राष्ट्रीयकरण हो जाने से औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार होने का सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि जनतन्त्र में श्रमिक यह समझता है कि राज्य की वास्तविक शक्ति उसी के हाथ में है। इसलिए उसका राज्य से कोई झगड़ा नहीं होगा। परन्तु यह केवल सिद्धान्त की बात है। यह विश्वास कर लेने का कोई कारण नहीं है कि केवल राष्ट्रीयकरण हो जाने से ही श्रमिकों का स्वभाव बदल जायगा और वह अधिक कुशलता से अधिक परिश्रम कर उत्पादन बढ़ा देंगे। उत्पादन तभी बढ़ सकता है और बेरोजगारी को तभी कम किया जा सकता है जब राज्य चालू उद्योगों को अपने अधिकार में करने की अपेक्षा नये उद्योगों को आरम्भ करे।

राष्ट्रीयकरण की अपनी उपयोगिता होनी चाहिए। उसकी अपनी विशेषताएँ होनी चाहिए। केवल निजी उद्योगों में दोष होने के कारण ही राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाना उचित नहीं है। राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध अनेक तर्क दिये जा

सकते हैं। उदाहरणस्वरूप यह कहा जाता है कि उद्योगों पर राज्य का अधिकार हो जाने से प्रबन्ध की कुशलता में अभाव आ जाता है क्योंकि राजकीय अधिकारी उतने सतर्क और उत्साही नही होते हैं जितना निजी उद्योगपतियों से आशा की जाती है। राष्ट्रीयकरण किये गये उद्योगों मे प्रबन्धकों को सरकार कर्मचारी होने के कारण उद्योग से निजी लाभ उठाने की संभावना ही नहीं होती, इसलिए उन्हें न तो व्यवसाय बढ़ाने की इच्छा होती है और न इस ओर कोई आकर्षण होता है। जिन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है उनका विकास करने के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त करने में अधिक कर लगाने की आवश्यकता पड सकती है और यह सभव है कि आर्थिक दृष्टि से अविकसित देश की जनता 'कर' के इस अतिरिक्त भार का वहन करने में असमर्थ रहे।

भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें कुछ उद्योगों की अधिकारिणी हैं और उन्हें चलाती हैं जिनमें रेलवे, डाक-तार, प्रतिरक्षा सम्बन्धी कारखाने, टेली-फोन कम्पनियाँ और कुछ बिजली की कम्पनिया सम्मिलित हैं। गत कुछ वर्षों से *औद्योगिक क्षेत्र में राज्य का प्रवेश बढ़ता गया है।* *प्रीफैब्रीकेटेड हाउसिंग फैक्टरी* १९४९ में स्थापित की गई और अगस्त १९५० से इसका उत्पादन कार्य आरम्भ हुआ; चितरन्जन लोकोमोटिव फैक्ट्री ने १९५० से कार्य आरम्भ किया, सिन्द्री खाद के कारखाने ने अक्टूबर १९५१ से उत्पादन आरम्भ किया। यह सभी राज-कीय उद्योग हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दुस्तान विमान निर्माण उद्योग, प्रिसीजन इन्स्ट्रूमेंट फैक्टरी, नेशनल न्यूजप्रिन्ट और पेपर मिल्स लिमिटेड भी राजकीय उद्योग हैं। राज्य ने कुछ वर्तमान उद्योगो को भी अपने अधिकार में कर लिया है। १९५३ के विमान निगम कानून के अन्तर्गत सरकार ने विमान उद्योग पर अधिकार कर लिया है।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर लेने से ही उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती। राष्ट्रीयकरण होने से कम उत्पादन व्यय पर अधिक और अच्छा उत्पादन होना चाहिए। परन्तु भारत सरकार की राष्ट्रीकरण की नीति से यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हुआ है। इसके विपरीत इन उद्योगों मे जनता के धन की अपार क्षति हुई है और उत्पादन में अनुचित देरी हुई है। इस सम्बन्ध में सिन्द्री खाद कारखाने का उदाहरण दिया जा सकता है। पहले यह अनुमान लगाया गया था कि १०.५३ करोड़ रुपये मे कारखाना स्थापित हो जायगा परन्तु अन्त मे इस पर २३ करोड़ रुपया व्यय किया गया और स्थापित होने के सात वर्ष पश्चात् इसमें उत्पादन कार्य आरम्भ हो सका प्रीफैब्रीकेटेड हाउसिंग फैक्टरी द्वारा उत्पादित माल देश

के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुआ इसलिए उत्पादन आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् ही विक्रय के लिए मकानों का निर्माण बन्द कर दिया गया।

उक्त तथ्यों से जिनकी संख्या कम नहीं है, यह सिद्ध हो जाता है कि राज्य सन्तोषजनक रीति से उद्योगों को चला सकने में असमर्थ है। इसका कारण यह है कि राज्य को इस सम्बन्ध में अनेक संगठन-सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और विभिन्न समस्याओं को कुशलता पूर्वक हल करने के लिए उपयुक्त प्रशासन का अभाव है। योजना आयोग के कहने पर श्री ए० डी० गोरवाला ने राजकीय उद्योगों की कार्य-स्थिति की जाँच की और जुलाई १९५१ में इस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट पेश की। श्री गोरवाला ने सुझाव दिया कि राजकीय उद्योगों को चलाने के लिए ६ सदस्यों की एक समिति नियुक्त की जाय जो इस सम्बन्ध में नीति निर्धारित करेगी। इसका एक अध्यक्ष होगा। यदि सरकार ने श्री गोरवाला की सिफारिशों को लागू किया होता तो उद्योगों का कार्य कुशलता पूर्वक आगे बढ़ाया जा सकता था।

संगठन सम्बन्धी इन सुधारों के अतिरिक्त यह आवश्यक है कि सरकार इस बात का आश्वासन दे कि उसके पास जो कुछ सीमित पूँजी है उससे चालू निजी उद्योगों को अपने अधिकार में कर मुआवजा देने की अपेक्षा नये कारखाने खोले जायँगे। वास्तव में आवश्यकता तो इस बात की है कि सरकार आधारभूत उद्योगों तथा ऐसे उद्योगों को चालू करे जिनको अनेक कारणों से निजी उद्योगपति आरम्भ नहीं कर सकते हैं। यदि सरकार यह नीति अपनाये तो इससे उद्योगपतियों में भविष्य के प्रति आशा जगेगी और राजकीय तथा निजी उद्योगों के बीच स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा जिससे हमारे देश की आर्थिक प्रगति अधिक तीव्रता से हो सकती है।

अध्याय २३

मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली

कोई भी व्यक्ति, फर्म या कम्पनी जिसे कम्पनी के साथ किए गए समझौते के अनुसार कम्पनी के सम्पूर्ण कार्यों को व्यवस्था करने का अधिकार प्राप्त है मैनेजिंग एजेन्ट कहलाता है। वह कम्पनी के संचालकों के नियन्त्रण में तथा *निर्देशों के अनुसार या समझौते में दी गई अन्य व्यवस्था के अनुसार कार्य करता* है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मैनेजिंग एजेन्ट से अभिप्राय उस व्यक्ति, फर्म या कपनी से है जिसके हाथ में लगभग सम्पूर्ण कम्पनी का प्रबन्ध हो और जिसको प्रबन्ध करने का यह अधिकार या तो कंपनी से किये गये समझौते के अनुसार मिला हो या कंपनी के नियमों के अन्तर्गत निहित समझौते की शर्तों के अनुसार मिला हो। साधारणतया प्रशासन के दृष्टिकोण से प्रबन्धक या मैनेजर ही संचालकों के नियन्त्रण में और उनकी देख-रेख में कार्य करता है परन्तु मेनेजिंग एजेन्ट की स्थिति इससे कुछ भिन्न है। मैनेजिंग एजेन्ट संचालकों के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष नियंत्रण में नहीं रहता है। सचालक समझौते की शर्तों की सीमा के अन्दर ही मैनेजिंग एजेन्ट पर नियन्त्रण रख सकते हैं या उसे निर्देश दे सकते हैं या यह सम्बन्ध तत्सम्बन्धी कानून के अनुसार निश्चित हो जाता है। इस प्रकार मैनेजिंग एजेन्ट की मुख्य विशेषताएँ यह हैं कि (१) वह कम्पनी का एजेन्ट होता है और कम्पनी के नियन्त्रण में कार्य करता है, (२) वह कम्पनी के प्रायः सभी कार्यों की व्यवस्था करनेवाला एजेन्ट होता है और (३) कम्पनी और उसके बीच मे समझौता होने से ही एजेन्सी स्थापित हो जाती है। व्यवहारिक दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि मैनेजिंग एजेन्ट ही कम्पनी का वास्तविक स्वामी होता है। कम्पनी के संचालक मण्डल का उस पर कुछ विशेष नियन्त्रण नहीं होता।

उत्पत्ति और विकास—हमारे देश में दो प्रकार के मैनेजिंग एजेन्ट हैं—भारतीय और योरपीय। इन दोनों की उत्पत्ति में भेद है। भारत में उद्योगों की स्थापना का श्रेय अंग्रेजो को है और उन्होंने ही यह प्रणाली खोज निकाली। मैनेजिंग एजेन्सी की प्रणाली की उत्पत्ति वास्तव में भारत में *ब्रिटिश उद्योगों की* स्थापना का परिणाम है। पुरानी ब्रिटिश मैनेजिंग एजन्सियों के अथक प्रयत्नों से ही इस प्रणाली का क्रमशः विकास हुआ। जब ब्रिटेन तथा भारत के मध्य व्यापार

करने का उत्तरदायित्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निजी व्यापारियों और सौदागरों के हाथ में चला गया था तब पुरानी मैनेजिंग एजेन्सियों ने प्रथम बार यह अनुभव किया कि भारत का आर्थिक विकास करने के लिये बहुत व्यापक क्षेत्र खुला पड़ा है। भारत मे यूरोपीय मैनेजिंग प्रणाली की उत्पत्ति का कारण यह था कि यहाँ प्रमुख यूरोपीय व्यापारियों की संख्या बहुत कम थी और उनमें से ऐसे संचालक अथवा प्रबन्ध संचालकों को चुन सकना अत्यन्त कठिन था जो व्यापार की निरन्तर देख-रेख करने के लिये अधिक समय तक भारत मे रह सकें।

भारतीय मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली उत्पत्ति पूँजी के संगठित बाजार के अभाव के कारण हुई। हमारे देश में लोग पूँजी लगाने से संकुचाते हैं, यहाँ रुपया लगाकर व्यवसाय करने की भावना बहुत कम पाई जाती है। यहाँ उद्योगों की स्थापना में सहायता देने के लिये औद्योगिक बैंक नहीं हैं। रुपया लगानेवाली और अन्य प्रकार से प्रोत्साहन देने वाली संस्थायें बहुत कम हैं। इस अभाव की पूर्ति के लिये मैनेजिंग एजेन्सी का जन्म हुआ। मैनेजिंग एजेन्ट व्यवसाय आरम्भ करते हैं, उसमें रुपया लगाते हैं, उसका प्रबन्ध करते हैं और अन्य रुपया लगाने वालों में विश्वास उत्पन्न करते हैं। औद्योगीकरण के आरम्भ काल में जब न कोई उद्योग चालू करने की प्रवृत्ति थी और न पूँजी ही अधिक मात्रा में उपलब्ध की जा सकती थी उस समय मैनेजिंग एजेन्टों ने इन दोनों अभावों की पूर्ति की। आज भारत में सुसंगठित और दृढ़ स्थिति वाले सूती कपड़े, जूट तथा इस्पात इत्यादि उद्योग चल रहे हैं। इनकी वर्तमान स्थिति तक पहुँचने का श्रेय अनेक पुरानी मैनेजिंग एजेन्सियों को है जिन्होंने बड़े उत्साह और लगन के साथ इन उद्योगों की देख रेख की। इस समय भारत की अधिकांश कम्पनियों का प्रबन्ध उन्हीं के द्वारा होता है।

मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली विस्तार का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सका है। एक स्रोत के अनुसार भारत में कम्पनियों की संख्या २८,५०० से अधिक है, और सब प्रकार के उद्योगों में विनियोग की कुल मात्रा प्रारम्भिक लागत के आधार पर १६०० या १७०० करोड़ रुपया अनुमान की जाती है। यदि वर्तमान मूल्य स्तर के आधार पर परिसम्पत्ति का अनुमान लगाया जाय तो निस्सन्देह कहीं अधिक होगी। भारत में कम्पनियों के उत्पादन में सहायक कुल परिसम्पत्ति का ८०% उन कम्पनियों की परिसम्पत्ति है जो मैनेजिंग एजेन्सियों के प्रबन्ध में हैं। यह भी अनुमान किया जाता है कि ६० प्रतिशत मैनेजिंग एजेन्सियाँ सीमित दायित्व वाली कम्पनियाँ हैं। एक अन्य स्रोत के अनुसार ३१ मार्च १६५५ में ३,६०० फर्म अथवा कम्पनियाँ थीं जो लगभग ४६०० कम्पनियों की मैनेजिंग एजेन्ट थीं।

इनमें से २५०० मैनेजिंग एजेन्सियाँ स्वत्वाधिकारी और साझेदारी फर्म थी और लगभग १२०० व्यक्तिगत और २०० जनता की कम्पनियाँ थीं। मैनेजिंग एजेन्सी फर्म प्रधानतः पच्छिमी बंगाल, बम्बई, और मद्रास में केन्द्रित हैं। उपर्युक्त स्रोत के अनुसार पच्छिमी बंगाल, बम्बई और मद्रास प्रदेशों में क्रमशः १५००, ८०० और ४५० मैनेजिंग एजेन्सियाँ काम कर रही हैं। अन्य प्रदेश, जिनमें १०० से अधिक मैनेजिंग एजेन्सियाँ हैं, वे उत्तर प्रदेश, देहली, मध्य प्रदेश और पजाब हैं। उपर्युक्त सातों प्रदेशों में कुल मिलाकर देश की ८०% से अधिक मैनेजिंग एजेन्सियाँ कार्य कर रही हैं।

संगठन—कोई भी व्यक्ति, साझेदारी फर्म या निजी लिमिटेड कम्पनी मैनेजिंग एजेन्ट हो सकते हैं। इधर कुछ वर्षों से साझेदरी फर्म को निजी लिमिटेड कम्पनी में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति हो रही है। इस समय भारत की प्रमुख एजेन्सियाँ बिड़ला ब्रदर्स लिमिटेड, टाटा इन्डस्ट्रीज लिमिटेड, साहू जैन लिमिटेड, डालमिया जैन लिमिटेड; जयपुरिया ब्रदर्स लिमिटेड, इत्यादि हैं। यह सभी निजी कम्पनियाँ हैं। मैनेजिंग एजेन्सी फर्म बनाने के लिये सर्व प्रथम सीमित उत्तरदायित्व वाली कम्पनी स्थापित कर ली जाती है। इस कम्पनी के शेयरों का अधिकाँश उन्हीं व्यक्तियों के हाथ होता है जो कम्पनी चालू करते हैं। अन्य बाहरी व्यक्तियों को सीमित शेयर दिये जाते हैं। साधारणतः अन्य व्यक्तियों को शेयर, की कुल पूँजी के २५ प्रतिशत शेयर दिये जाते हैं, बहुत सी कम्पनियों में तो प्रायः सभी शेयर एक ही परिवार के पास होते हैं। टाटा सन्स एंड कम्पनी, नवरोजी वाडिया एण्ड सन्स, इत्यादि कम्पनियाँ इसी प्रकार आरम्भ की गई। परन्तु संगठन सारे देश में समान नहीं है।

साधारण रूप से मैनेजिंग एजेन्सियों के कई प्रकार हैं जैसे बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ता की एजेन्सियाँ विभिन्न प्रकार की हैं। यह एजेन्सियाँ अपने विकसित रूप में, अपने संगठन की रूप रेखा में एक दूसरे से भिन्न हैं। अहमदाबाद में मैनेजिंग एजेन्ट एक व्यक्ति होता है, बम्बई में साझेदार या निजी कम्पनी और कलकत्ता में अंग्रेजी प्रकार की लिमिटेड सार्वजनिक कम्पनी। समय की प्रगति के साथ इन एजेन्सियों का यह भेद समाप्त होता जा रहा है और वर्तमान में सभी स्थानों में सभी प्रकार की एजेन्सियाँ दिखाई देती हैं।

मैनेजिंग एजेन्ट प्रायः धनवान व्यक्ति होते हैं और उनके बहुत अच्छे व्यापारिक सम्बध होते हैं। बड़े एजेन्ट जिनके आधीन अनेक कम्पनियाँ होती हैं अपना कार्य विभागों में विभक्त कर देते हैं। जब एरबुथनाट एन्ड कम्पनी का व्यवसाय समाप्त किया गया उस समय उसके सात विभाग थे, जैसे बैंकिंग, जनरल

एजेन्सी, आयात और निर्यात, खाल और चमड़ा, नील, कपास और इमारती लकड़ी, जनरल शिपिंग और भू-सम्पत्ति और पश्चिमी तट एजेन्सी विभाग। कुछ मैनेजिंग एजेन्सियों जैसे बिड़ला एजेन्सी के अन्तर्गत एक से अधिक मैनेजिंग एजेन्सी कम्पनियाँ होती हैं जो भिन्न प्रकार के उद्योगों का व्यवसाय देखती हैं। इसलिए प्रत्येक एन्जेसी अपने-अपने कार्य में विशेषज्ञ कही जा सकती है।

मैनेजिंग एन्जेसी का कार्य

साधारण रूप से भारत के मैनेजिंग एजेन्ट तीन महत्वपूर्ण कार्य करते हैं—(१) वह नए उद्योगों के लिए पथ प्रदर्शक का कार्य करते हैं। साथ ही उनकी स्थापना में विशेष योगदान देते हैं, (२) उद्योगो को स्थायी और चालू पूँजी के रूप में आर्थिक सहायता देते हैं, और (३) उद्योगों की दिन प्रति दिन की व्यवस्था करते हैं।

पथप्रदर्शक और प्रवर्त्तक के रूप में—इङ्गलैण्ड और अमरीका में ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं जो नए उद्योगों के स्थापना की प्रेरणा देती हैं। प्रवर्तक के रूप में यह संस्थाएँ उद्योगों के सम्बन्ध में खोज कार्य करती रहती हैं और भविष्य में विकास कर सकने वाले उद्योग की स्थापना में महत्त्वपूर्ण सहयोग देती हैं। जब कोई नवीन उद्योग या व्यवसाय चालू किया जाता है तो रुपया लगाने वाले को सदा यह चिन्ता लगी रहती है कि कहीं उद्योग असफल न हो जाय और उसकी पूँजी डूब न जाय। पाश्चात्य देशों में ऐसी संस्थाएँ हैं जो ठीक समय पर शेयरों की बिक्री करती हैं और ऐसी संस्थायें हैं जो भविष्य में उपयुक्त अवसर पर विक्रय करने के लिए इन शेयरों को क्रय कर लेती हैं। परन्तु भारत में ऐसी संस्थाएँ बहुत कम हैं और इनके अभाव की पूर्ति मैनेजिंग एजेन्ट करते हैं। भारत में जिन व्यक्तियों ने सर्वप्रथम उद्योगों की स्थापना की उनके पास साधनों का अभाव नहीं था और किसी योजना को व्यवहारिक रूप देने के पूर्व वे विशेषज्ञों द्वारा उनकी सारी संभावनाओं की परीक्षा करा लेते थे। यह उन्हीं के साहस और उल्लास का फल है कि भारत में सूती कपड़े, लोहे और इस्पात, जूट, सिमेंट इत्यादि के उद्योग चल रहे हैं। वित्त आयोग (१६४६-५०) का मत है कि सूती कपड़ा, जूट, लोहा और इस्पात तथा सिमेंट उद्योगों की स्थापना का श्रेय मैनेजिंग एजेन्सियों को ही है। इन्हीं एजेन्सियों के पथ प्रदर्शन से यह संभव हो सका। इधर कुछ वर्षों में इन एजेन्सियों ने इंजीनियरिंग, केमिकल और मोटर उद्योगों की स्थापना की है। हिन्दुस्तान मोटर्स लिमिटेड, टैक्सटायल मशीनरी कारपोरेशन लिमिटेड इत्यादि इस प्रकार के उद्योगों के उदाहरण हैं।

गत कुछ वर्षों से भारतीय मैनेजिंग एजेन्ट उद्योग में रुपया कम लगा रहे हैं। इसका कारण यह नहीं है कि उनकी इस दिशा में पथप्रदर्शन की तथा नए उद्योगों की स्थापना में सहयोग देने की भावना शिथिल पड़ गई है। इसका कारण सरकार की औद्योगिक नीति है। इस नीति से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। सरकारी नियंत्रणों, श्रम सम्बन्धी कानूनों और समझौता बोर्डों तथा पंच न्यायालयों के न्याय से उत्पादन व्यय में तो वृद्धि होती जाती है परन्तु उत्पादित माल के मूल्य में वृद्धि नहीं की जाती।

वित्त व्यवस्था—मैनेजिंग एजेन्ट उद्योग के लिए केवल स्थायी पूँजी की ही व्यवस्था नहीं करते वरन् इसके साथ ही पुनर्संगठन, आधुनिकीकरण और कारखाने का प्रसार करने के लिए दीर्घकालीन पूँजी की और चालू पूँजी तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अल्पकालीन वित्त व्यवस्था भी करते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट ऋण के रूप में शेयर के रूप में, और ऋणपत्र क्रय कर उद्योगों की पूँजी की आवश्यकता पूरी करते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट अपने सगे-संबन्धियों तथा मित्रों को कम्पनी के शेयर क्रय करने की प्रेरणा देते हैं, और इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। यह ऋण देने की गारन्टी देते हैं और इस प्रकार जनता का रुपया प्राप्त करते हैं। राष्ट्रीय योजना समिति ने निम्नलिखित व्यौरा निर्माण किया है जिसको देखने से यह प्रकट होता है कि मैनेजिंग एजेन्टों ने इस सम्बन्ध में कितना कार्य किया है।

	बम्बई की ६४ मिलें		अहमदाबाद की ५६ मिलें	
	रुपया (लाखों में)	कुल धन का प्रतिशत	रुपया (लाखों में)	कुल धन का प्रतिशत
(१) मैनेजिंग एजेन्टों द्वारा दिया गया ऋण	५३२	२१	२६४	२४
(२) बैंकों द्वारा दिया गया ऋण	२२६	६	४२	४
(३) जनता का जमाधन	२७३	११	४२६	३६
(४) शेयरों की कुल पूँजी	१,२१४	४६	३४०	३२
(५) ऋण पत्र का धन	२३८	१०	८	१

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि आर्थिक सहायक के रूप में मैनेजिंग एजेन्टों का कितना महत्वपूर्ण स्थान है। उद्योगों को अपनी आवश्यकता का लगभग एक चौथाई अंश सीधे इनसे मिलता है। अहमदाबाद और बम्बई में जनता के जमा-

धन से जो क्रमशः ३६ प्रतिशत और ११ प्रतिशत सहायता मिली उसका श्रेय भी मैनेजिंग एजेंटों की प्रसिद्धि को ही है। हमारे देश में बैंक तब तक ऋण नहीं देते हैं जब तक दो जमानती न बनें। मैनेजिंग एजेन्ट ऐसे अवसरों पर दूसरी जमानत स्वयं लेते हैं। जहाँ तक यूरोपियन मैनेजिंग एजेन्टों का प्रश्न है उनके कार्य में शिथिलता का अनुभव किया जा रहा है। वित्त आवश्यकता की पूर्ति करने और इसकी गारन्टी देने की ओर उनका उत्साह घटता दिखाई दे रहा है। मैनेजिंग एजेन्टों के आर्थिक सहायक के रूप में चाहे कितनी ही शिथिलता हो रुपया लगाने वाला, टाटा, बिड़ला तथा अन्य प्रसिद्ध मैनेजिंग एजेंटों के नाम से तुरन्त आकृष्ट होता है। कम्पनी कानून समिति की रिपोर्ट में कहा गया है कि मैनेजिंग एजेन्ट का निजी उद्योगों के लिए अब भी महत्वपूर्ण साधन हैं। मंदी के समय जब किसी अन्य साधन से रुपया मिलना सम्भव नहीं रहता है मैनेजिंग एजेन्ट यथा समय पूँजी की व्यवस्था कर देते हैं। कुछ मैनेजिंग एजेन्टों में आत्म सम्मान की इतनी अधिक भावना है कि उन्होंने अपने द्वारा आरम्भ किए हुए व्यवसाय को नष्ट होने से रक्षा करने के लिए अपनी समस्त सम्पत्ति तक दांव पर लगा दी। परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं और यह देखा गया है कि मैनेजिंग एजेन्टों ने अपनेआधीन उद्योगों की विशेष देख-भाल न कर प्रायः उन्हें उनके भाग्य पर ही छोड़ दिया।

प्रबन्ध—मैनेजिंग एजेन्ट केवल उद्योग का सफल आरम्भ ही नहीं चाहते वरन् उद्योग की सम्पूर्ण व्यवस्था को उचित रीति से कार्यान्वित करना चाहते हैं। वह चाहते हैं कि उद्योग ठीक प्रकार से चले। इसका उन्हें तब तक विश्वास नहीं हो सकता है जब तक उनका उस पर नियंत्रण न हो। इसका प्रायः यह परिणाम हुआ कि मैनेजिंग एजेन्ट उद्योग पर नियंत्रण रखने के साथ ही उसके अधिकारी भी बन बैठे। परन्तु यह बात सर्वत्र लागू नहीं होती हैं। अनेक कम्पनियों में मैनेजिंग एजेन्टों का नियंत्रण तो पूर्ण है, परन्तु शेयर बहुत कम हैं।

प्रत्येक प्रमुख मैनेजिंग एजेन्सी के केन्द्रीय कार्यालय में उद्योगों के आधार पर भिन्न भिन्न विभाग होते हैं; साथ ही प्रत्येक उद्योग के विभिन्न विभागों के लिए केन्द्रीय कार्यालय में उप-विभाग होते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट अपने आधीन कम्पनियों या कारखानों द्वारा उत्पादित माल को क्रय और विक्रय करते हैं। प्रायः यह अनेक वस्तुओं का आयात करते हैं और निर्यात भी करते हैं। इस प्रकार यह बड़े पैमाने पर क्रय-विक्रय करने का लाभ उठाते हैं। यह लाभांश सदैव कम्पनियों को नहीं दिया जाता है, एजेन्ट इसे स्वयं ले लेते हैं। इस पर भी कम्पनी को अपने माल का इन मैनेजिङ्ग एजेन्टों के द्वारा क्रय-विक्रय कराने में बचत ही होती है इसके

लिए उन्हें एक भिन्न संस्था स्थापित नहीं करनी पड़ती। इसके साथ ही जब मैनेजिंग एजेन्ट एक उद्योग के एक से अधिक कारखानों पर नियन्त्रण रखता है तब इनमें प्रतियोगिता का जोर कम पड़ जाता है और क्षति नहीं हो पाती। एक छोटी कम्पनी प्रथम श्रेणी के विशेषताओं की सहायता लेने में असमर्थ होती हैं परन्तु यह मैनेजिंग एजेन्ट अनेक कम्पनियों के प्रबन्ध कर्त्ता होने के कारण प्रथम श्रेणी के अभियन्ताओं और प्रविधिज्ञों को नियुक्त करते हैं जो भिन्न कम्पनियों की देख भाल कर सकते हैं। इस में जो कुछ व्यय होता है वह इन कम्पनियों में विभाजित कर दिया जाता है।

प्रणाली की त्रुटियाँ

मैनेजिंग एजन्टों ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये हैं, परन्तु इधर कुछ वर्षों से इस प्रणाली में कुछ दोष प्रकट होने लगे हैं। राष्ट्रीय योजना आयोग की औद्योगिक वित्त व्यवस्था सम्बन्धी उपसमिति की राय है कि यह प्रणाली बिल्कुल व्यर्थ हो चुकी है। परन्तु यह दोषारोपण अन्यायपूर्ण और असंतुलित है। भारत के औद्योगिक और आर्थिक विकास मे दोषों के होते हुये भी मैनेजिग एजेन्सियों का बहुत बड़ा हाथ रहा। जो कुछ भी हो, जब तक इसका स्थानापन्न न मिल जाय हम इस प्रणाली के बिना कार्य चला नहीं सकते।

कम्पनी को लाभ होने पर लाभ का कुछ प्रतिशत मैनेजिग एजेन्ट को वेतन के रूप मे दिया जाता है। परन्तु लाभ न होने पर कार्यालय का कार्य चलाने के लिये कुछ धन दिया जाता है। इसके साथ ही एजेन्ट कमीशन के रूप में भी कम्पनी से कुछ और धन वसूलता है। १६३६ के भारतीय कम्पनी कानून की धारा ८७ (सी) के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई थी कि कम्पनी को वर्ष भर में जो वास्तविक लाभ होगा उसका निश्चित प्रतिशत एजेन्ट को वेतन के रूप में दिया जायगा और उचित लाभ न होने पर कुछ न कुछ धन दिया जायगा। १६३६ से पूर्व मैनेजिंग एजेन्ट माल की बिक्री के आधार पर अपना वेतन लेते थे। यह ढंग कम्पनियों के प्रति न्यायसंगत नहीं था। १६३६ के कानून से स्थिति मे काफी सुधार हुआ है परन्तु क्योंकि धारा ८७ (सी) उन कम्पनियो पर लागू नहीं होती है जो १५ जनवरी १६३७ से पूर्व ही रजिस्टर्ड हो चुकी थी, इसलिये कुछ मैनेजिग एजेन्ट अपना वेतन अब भी उसी पुराने आधार पर ले रहे हैं। हुकुमचन्द मिल्स लिमिटेड, एलेक्ट्रिक वर्क्स कम्पनी लिमिटेड, एलेक्ट्रिक ग्लास इन्डस्ट्रीज लिमिटेड के मैनेजिंग एजेन्ट बिक्री और लाभ दोनों के आधार पर वेतन पाते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट के वेतन के रूप मे एक से अधिक आधार पर धन वसूलने के शेष को रोकने के लिये कम्पनी कानून समिति (१६५२) ने सुझाव दिया

कि मैनेजिंग एजेन्ट को कम्पनी के वार्षिक लाभ का १२½ प्रतिशत से अधिक अंश न दिया जाय।

तालिका नं० २

लाभ तथा मैनेजिंग एजन्टों का वेतन (करोड़ रुपयों में)

	१९४६	१९५१
मैनेजिंग एजन्टों का वेतन	७.३१	१०.१४
कर	२७.८८	२५.२६
वितरित लाभ	१५.५२	२०.६२
रोका हुआ लाभ	१०.७८	१७.९३
योग	६१.४८	७३.९४

१९५५ के करारोप जाँच आयोग को यह ज्ञात हुआ था कि मैनेजिंग एजेन्टों को १९४६ और १९५१ में शेयर होल्डरों के लाभ का आधा प्राप्त हुआ था, जैसा कि उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है।

मैनेजिग एजन्टों की औसत आय लाभ के प्रतिशत अनुपात में १९४६ में १२% थी और १९५१ में बढ़कर १४% हो गई। यद्यपि १९५१ में औसत १३·७% (अर्थात् १४% के लगभग) था, पर विभिन्न उद्योगों के सम्बन्ध में प्रतिशत की मात्रा भी विभिन्न थी। जहाजरानी, जूट के बने माल, बिजली, कोयला, सूती कपड़े, चीनी, सीमेंट, लोहा और इस्पात आदि उद्योगों में आय का प्रतिशत क्रमशः २१·४, २०·३, १८·१, १९·७ १९·४, १५·८, ०·३ तथा ७·३ था।

पर्याप्त लाभ न होने पर मैनेजिंग एजेन्टों को कम से कम कुछ धन दिया जाता है। प्रायः समझौते के समय यह धनराशि निश्चित कर दी जाती है। कम्पनी कानून समिति ने सुझाव दिया है कि कभी-कभी यह धन अत्यधिक हो जाता है इसलिये ५० हजार रुपये से अधिक नहीं होना चाहिये।

लाभाँश के कुछ निश्चित प्रतिशत के रूप में और कुछ परिस्थितियों में दिये जाने वाले न्यूनतम धन के अतिरिक्त मैनेजिंग एजेन्टों को कार्यालय का भत्ता भी मिलता है। कार्यालय के भत्ते में कार्यालय का विस्तार और उसका किराया, टैक्स, बिजली, पंखे, क्लर्कों का दफ्तर, पत्र इत्यादि प्रेषित करने का व्यय, जाँच तथा रुपये-पैसे की व्यवस्था करने वाला विभाग, सीनियर एकाउन्टेन्ट और सेक्रेट्रिएट के कर्मचारियों की सहायता, डाक-व्यय, कागज, पेन्सिल, और चपरासी इत्यादि पर किया जाने वाला सभी व्यय सम्मिलित है। अर्थात् मैनेजिंग एजेन्ट

कम्पनी की ओर से कार्यालय में जो कुछ व्यय करता है कार्यालय के भत्ते के रूप मे उसको वसूल कर लेता है। परन्तु साधारणतया मैनेजिंग एजेन्ट व्यय से कहीं अधिक धन वसूलते हैं और उसको अपनी अतिरिक्त आय के रूप में उपभोग करते हैं। कम्पनी कानून समिति (१९५२) ने सुझाव दिया है कि मैनेजिंग एजेन्टों को कार्यालय का भत्ता न दिया जाय वरन् इसके स्थान पर जो कुछ वास्तव में व्यय किया गया हो उतनी धनराशि दी जाय। इस सुझाव की इस आधार पर आलोचना की गई है कि इस व्यवस्था से कार्य-भार बढ़ जायगा और हिसाब-किताब रखने में कठिनाई होगी। परन्तु यह कठिनाई एक दोष को समाप्त करने के लिए सहन की जा सकती है।

मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली में और भी दोष हैं। मैनेजिंग एजेन्ट गैर कानूनी कार्यों के लिए ऋण लेते हैं, व्यापार के उद्देश्य से नहीं वरन् मित्रों को देने के लिए ऋण लिया जाता है, अन्य कारखानों में लगाकर रुपया फँस जाता है और वित्त-स्थिति शिथिल हो जाती है। जिन कारखानों या कम्पनियों की वित्त स्थिति दृढ़ है उनकी सम्पत्ति को रेहन रख दिया जाता है, कम्पनी को रुपयों की आवश्यकता न रहते हुए भी मैनेजिंग एजेन्ट की आवश्यकता पूर्ति के लिये या उनकी कोई योजना कार्यान्वित करने के लिए ऋणपत्र प्रचलित किये जाते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिये कम्पनी कानून-समिति ने कुछ सुझाव दिये हैं :— (१) मैनेजिंग एजेन्टों द्वारा लिखे गये ऋण की न तो कम्पनी गारन्टी दे और न स्वयं उन्हें ऋण दे, (२) एजेन्ट के पास कम्पनी का चालू खाता २० हजार से अधिक का नहीं होना चाहिये और (३) कम्पनी के रुपये को अन्यत्र किसी कारखाने इत्यादि में लगाने पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिये। परन्तु इनमें से कुछ प्रतिबन्ध ऐसे हैं जिनके लागू हो जाने से मैनेजिंग एजेन्ट को कार्य करने की स्वतंत्रता कम हो जायगी और कोई नया कार्य करने या किसी कठिनाई को हल करने के लिए मैनेजिंग एजेन्ट पूर्व की सी तीव्र गति से कार्य नहीं कर पायेगा। उसमें कुछ उदासीनता आने लगेगी।

बम्बई के शेयर होल्डर एसोसियेशन ने इस ओर संकेत किया है कि अनेक बार मैनेजिंग एजेन्सी के अधिकारों को बिना खरीदार की वित्त स्थिति और प्रसिद्धि का पता लगाये और शेयर होल्डरों तथा अन्य कर्मचारियों के हितों पर बिना विचार किये दूसरों को बेच दिया गया। विगत वर्षों में कम्पनी के स्वामियों और मैनेजिंग एजेन्सी के नियन्त्रण में निकट सम्पर्क रहने के कारण सदैव उद्देश्य की एकता बनी रही और एक दूसरे के हितों का हनन प्रायः न हो सका परन्तु अब मैनेजिंग एजेन्ट और उनके अधीन कम्पनी के पृथक व्यक्तियों का निकट सम्बन्ध

प्रायः समाप्त हो चुका है। ऐसे भी अवसर आए हैं जब मैनेजिंग एजेन्सी के अधिकार संकट में पड़ गए। इससे स्थिति इतनी बिगड़ी कि १९५१ में सरकार को भारतीय कम्पनी कानून की धारा ८७ (बी) में संशोधन करने के लिये एक अध्यादेश की घोषणा करनी पड़ी। सरकार ने इस अध्यादेश के द्वारा यह व्यवस्था की कि मैनेजिंग एजेन्ट यदि अपने अधिकार किसी को सौंपता है तो यह कार्यवाही तब तक वैध नहीं मानी जायगी जब तक कम्पनी इस परिवर्तन को अपनी साधारण सभा में स्वीकार न कर ले और केन्द्रीय सरकार अपनी स्वीकृति न दे।

इन्डियन कम्पनीज़ एक्ट, १९५६—१९५६ का भारतीय कम्पनी एक्ट मैनेजिंग एजेन्टों पर कड़े प्रतिबन्ध लागू करता है। यह एक्ट १९३६ के एक्ट की अपेक्षा अधिक विशद तथा पूर्ण है। एक्ट में यह दिया हुआ है कि केन्द्रीय सरकार सरकारी गजेट में अधिसूचना द्वारा विशेष व्यवसायों तथा उद्योगों में संलग्न सब कम्पनियों के सम्बन्ध में यह घोषणा कर सकती है कि किसी निश्चित तिथि के तीन वर्ष पश्चात् से अथवा १५ अगस्त १९६० से जो भी बाद में पड़े, वे मैनेजिंग एजेन्टों के प्रबन्ध में नहीं रहेंगे। दूसरे अंश में यह व्यक्त किया गया है कि इस एक्ट के लागू होने के पश्चात कोई भी मैनेजिंग एजेन्सी कम्पनी किसी अन्य मैनेजिंग एजेन्ट के प्रबन्ध में न रहेगी। अन्य कम्पनियों के सम्बन्ध में मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति सर्वप्रथम कम्पनी द्वारा सर्वसाधारण की सभा में और तत्पश्चात् केन्द्रिय सरकार द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है। ऐसे अवसरों पर सरकार अपनी स्वीकृति तभी देने को तैयार होगी जब कि उसे यह विश्वास हो जायगा कि (१) मैनेजिंग एजेन्ट की नियुक्ति से जनता से हित की हानि की सम्भावना नहीं है और (२) जिस मैनेजिंग एजेन्ट की नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति की जानेवाली है, वह सर्वथा उपयुक्त है तथा मैनेजिंग एजेन्सी संविदा की शर्तें न्यायपुक्त तथा तर्कसंगत है। इन दो अंशों से सरकार को बहुत अधिक अधिकार प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त मैनेजिंग एजेन्टों के कार्य करने की अवधि, वेतन, अधिकार इत्यादि पर अनेकों प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। एक्ट में निम्न बातें दी हुई हैं :—

(१) कोई भी नवीन मैनेजिंग एजेन्सी का संविदा १५ वर्ष से अधिक के लिये नहीं किया जा सकता और किसी मैनेजिंग एजेन्ट की पुनर्नियुक्ति २० वर्ष से अधिक के लिये नहीं की जा सकती;

(२) अगस्त १९६० के पश्चात् कोई भी व्यक्ति एक समय में दस कम्पनियों से अधिक का कर्मचारी नहीं बन सकता। जो मैनेजिंग एजेन्ट वर्तमान समय में हैं उनकी कार्यविधि का १५ अगस्त १९६० को अन्त हो जायगा, यदि उनकी

पुनर्नियुक्ति इस तिथि के पूर्व के प्रचलित नियमों के अनुसार नहीं कर दी जाती;

(३) यदि कोई एजेन्ट दिवालिया है अथवा उसे कम से कम ६ माह का कारावास का दण्ड मिला है तो उसे स्वतः अपना पद त्याग देना होगा। यदि कोई एजेन्ट धोखा देता है अथवा विश्वासघात करता है या कर्तव्य से गिर जाता है और कुप्रबन्ध करता है तो उस कम्पनी अपने तत्संबन्धी प्रस्ताव द्वारा पद से हटा सकती है।

(४) मैनेजिंग एजेन्ट द्वारा कार्यालय के स्थानान्तरित करने के संबन्ध में कंपनी और सरकार दोनों की स्वीकृति परमावश्यक है। बिना उसके यह सम्भव नहीं हो सकता।

जहाँ तक एजेन्टों के वेतन का प्रश्न है एक्ट में यह बताया गया है कि किसी भी मैनेजिंग एजेन्ट को सामान्यतः कम्पनी के वास्तविक लाभ के १०% से अधिक वेतन के रूप में नहीं दिया जायगा पर अतिरिक्त आय के लिये कम्पनी को एक विशिष्ट प्रस्ताव द्वारा अनुमति प्रदान करना तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा इस आधार पर स्वीकृति प्राप्त करना कि यह जनता के हित में है आवश्यक होगा।

यह एक्ट मैनेजिंग एजेन्टों के अधिकारों पर भी प्रतिबन्ध लगाता है। मैनेजिंग एजेन्ट अपने अधिकारों का प्रयोग कम्पनी के निर्देशकों की समिति के निरीक्षण, नियन्त्रण और निर्देशन में ही कर सकता है जो कि कम्पनी के नियमों तथा समझौते की शर्तों के अन्तर्गत होगी। अन्य क्षेत्रों में भी प्रतिबन्ध लगाये गये हैं जैसे (१) मैनेजिंग एजेन्सियों के प्रबन्ध में कम्पनियों द्वारा ऐजेन्टों को ऋण देना; (२) एक ही मैनेजिंग एजेन्सी के प्रबन्ध में एक से अधिक कम्पनियों का आपस में एक दूसरे को ऋण देना; (३) एक कम्पनी द्वारा उसी वर्ग की अन्य कम्पनी के शेयरों को क्रय करना; (४) मैनेजिंग एजेन्टों द्वारा उनके प्रबन्ध के अन्तर्गत कम्पनियों के व्यवसाय से स्पर्धा करने वाले व्यवसायों से कार्य करना। इन नियमों की उपेक्षा करने पर कठोर दण्ड की भी व्यवस्था की गई है। अन्त में निर्देशकों की नियुक्ति सम्बन्धी मैनेजिंग एजेन्टों के अधिकारों में भी अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। अब एजेन्ट ऐसी व्यवसायिक इकाइयों में जहाँ पाँच से अधिक निर्देशक होते हैं दो से अधिक नहीं और जिनमें केवल पाँच तक निर्देशक होते है उनमें केवल एक निर्देशक की नियुक्ति कर सकता है।

मैनेजिंग एजेन्सी का भविष्य

अतीत में इस प्रणाली में अनेक दोष रहे हैं और भ्रष्टाचार के लिए पर्याप्त क्षेत्र रहा है। राष्ट्रीय योजना आयोग ने सुझाव दिया है कि सर्वप्रथम इस प्रणाली

का उन्मूलन कर देना चाहिए जिससे औद्योगिक वित्त व्यवस्था के नाम पर इस प्रणाली के समर्थक अपने असंगत तर्क प्रस्तुत न कर सकें। परन्तु बम्बई के मिल मालिक संघ ने इस ओर सही संकेत किया है कि मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली की आवश्यकता इसलिये अनुभव की जाती है कि देश में बैंकों की वर्तमान स्थिति को देखते हुए व्यवसाय चालू करने के लिए शेयरों की पूंजी मिल सकना कठिन है और किसी उद्योग को चलाने के लिए आवश्यक वित्त की पूर्ति नहीं की जा सकती है। इसकी पूर्ति के लिए किसी व्यक्ति या संस्था को सहायता की आवश्यकता होती है जो मैनेजिंग एजेन्ट से उपलब्ध की जा सकती है। कम्पनी कानून समिति का यह सुझाव उचित है कि देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति में मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली पर निर्भर करने से लाभ ही होगा। वास्तव में सम्पूर्ण प्रणाली ही को भग करने की माँग करने की अपेक्षा इस बात की आवश्यकता है कि उपयुक्त कानून बनाकर प्रणाली के दोषों को दूर किया जा जाय। कम्पनी एक्ट के मैनेजिंग प्रणाली पर सम्पूर्ण प्रभाव की अभी से कल्पना कर लेना कठिन है। इसमें संदेह नहीं कि इससे कुछ महान दोष प्रणाली में अवश्य मिट जायेंगे पर इससे मैनेजिंग एजेन्टा द्वारा नवीन कम्पनियों के आरम्भ में भी संकुचन आयेगा क्योंकि (१) मैनेजिंग एजेन्सी संविदा की अवधि घटा दी गई है; (२) मैनेजिंग एजेन्टों के वेतन में कमी कर दी गई है, और (३) विस्तृत प्रतिबन्धों को लगाने से एक विरोधी मनोवैज्ञानिक वातावरण उत्पन्न कर दिया गया है। परन्तु डा० एन० दास के मतानुसार भविष्य अधकारमय नहीं है। उनका कहना है कि कोषाध्यक्ष और मन्त्री के सम्बन्ध में जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं वे वर्तमान मैनेजिंग एजेन्सियों को इस बात का अवसर प्रदान करते हैं कि वे अपने को अधिक उपयोगी कार्य सचालक के रूप में परिणित कर सकते हैं। यह ठीक है कि कोषाध्यक्ष और मन्त्री को वास्तविक लाभ का केवल ७½% ही आय के रूप में प्राप्त हो सकेगा; उन्हें कम्पनी द्वारा निर्मित माल के विक्रय करने का अधिकार न होगा; और न उन्हें मशीनों, स्टोर का सामान, और कच्चा माल, आदि क्रय करने अथवा उनका व्यापार करने का अधिकार ही होगा। परन्तु ये सब प्रतिबन्ध वर्तमान सुविधाओं में साधारण कमी मात्र ही है और इसका कोई औद्योगिक उपक्रमों पर अहितकर प्रभाव न पड़ेगा। भारत के उपक्रमिकों ने भूतकाल से ऐसी सहनशीलता दिखलाई है कि उनके मित्र और उनके कठोरतम समालोचकों को भी आश्चर्य हुआ है। इसके कोई कारण नहीं कि वे इस नवीन बाधा का जो उनके सम्मुख खड़ी कर दी गई है सफलतापूर्वक सामना न कर सकें।

सम्बन्ध में यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि कार्पोरेशन राज्य का हो या हिस्सेदारों का हो। राज्य कार्पोरेशन के लाभ अधिक सुदृढ़ता और किसी प्रकार के भेदभाव का अभाव है परन्तु चूँकि इस प्रकार का कार्पोरेशन स्थापित करने के लिए भारत सरकार के पास आवश्यक साधन नहीं हैं इसलिए यह उचित समझा गया कि कार्पोरेशन हिस्सेदारों की संस्था बने। राजकीय कार्पोरेशन तब उपयुक्त होता जब बैंकों और उद्योगों इत्यादि का भी राष्ट्रीयकरण हो जाता। परन्तु यह सब निजी उद्योगपतियों के हाथ में हैं इसलिए हिस्सेदारों का कार्पोरेशन ही अधिक उपयुक्त है। कार्पोरेशन को सुदृढ़ बनाने के लिए यह निश्चय किया गया कि इस कार्पोरेशन के हिस्सेदार केवल सरकार, रिज़र्व बैंक और कुछ विशेष संस्थाएँ बनें।

कार्पोरेशन के शेयरों की पूँजी १० करोड़ रुपये है जो ५,००० रुपये के शेयरों में विभक्त है। आरम्भ में ५ करोड़ रुपये के पूर्ण भुगतान किये जाने वाले शेयर प्रचलित किये गये जो सब क्रय कर लिए गये। इनमें से भारत सरकार और रिजर्व बैंक को एक करोड़ रुपये के शेयर दिए गए हैं, अनुसूचित बैंकों को १½ करोड़ रुपये और बीमा कम्पनी तथा विनियोग ट्रस्टों को १½ करोड़ और सहकारी बैंकों को ५० लाख रुपयों के शेयर दिये गये। भारत सरकार ने पूँजी को चुकाने की गारन्टी दी है और हिस्सेदारों को न्यूनतम वार्षिक लाभांश (जिस पर कर नहीं लगेगा) भी दिया जायगा जिसकी दर वर्तमान में २½ प्रतिशत है।

कार्पोरेशन का सचालन १२ संचालकों का मण्डल करता है जिसमें तीन संचालकों को केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती है, दो संचालकों को रिज़र्व बैंक नियुक्त करता है, ६ संचालकों को अन्य हिस्सेदार निर्वाचित करते हैं जिनमे से दो का निर्वाचन अनुसूचित बैंक करते हैं, दो सचालकों को सहकारी बैंक और दो को बीमा कम्पनी चुनती हैं और प्रबन्ध संचालक केन्द्रीय बैंक नियुक्त करता है।

कार्य—कार्पोरेशन को निम्नलिखित कार्य करने का अधिकार दिया गया है :—

(१) यदि कोई औद्योगिक संस्था ऐसी शर्तों पर जिन पर दोनों पक्ष सहमत हों जनता से ऋण सग्रहीत करे और यह ऋण २५ वर्ष के अन्दर ही वापस किया जाने वाला हो तो कार्पोरेशन उसकी गारन्टी दे सकता है।

(२) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा प्रचलित किये गए स्टाक, शेयर, बौण्ड और ऋण-पत्रों को कार्पोरेशन स्वयं क्रय कर उनके विक्रय की व्यवस्था कर सकता है परन्तु यह आवश्यक है कि इस प्रकार के स्टाक, शेयर इत्यादि सात वर्ष के अन्दर बिक जायँ।

(३) कार्पोरेशन ऋण दे सकता है और किसी उद्योग के ऋणपत्र क्रय कर सकता है परन्तु ऋण वापस करने की अवधि २५ वर्ष से अधिक न हो।

कार्पोरेशन किसी कम्पनी के स्टाक अथवा शेयर नहीं क्रय कर सकता। इस प्रतिबन्ध का उद्देश्य कार्पोरेशन की अनुचित क्रय से रक्षा करना है। कुछ अन्य देशों में इस प्रकार के कार्पोरेशन यह कार्य करते हैं परन्तु भारत सरकार ने प्राचीन रीति के अनुसार कार्य करना पसन्द किया है, इसलिए यह कार्पोरेशन ऐसा कार्य नहीं कर सकता है जो प्राचीन रीति के प्रतिकूल हो। जनता का धन संग्रह करने के सम्बन्ध मे कुछ शर्तें लगा दी गई हैं और अंतिम सीमा १० करोड़ रुपया कर दी गई है।

कार्पोरेशन ऐसी सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियों को और सहकारी समितियो को मध्यकालिक और दीर्घकालिक ऋण देता है जो उत्पादन कार्य करती हैं, खदान कार्य करती हैं और बिजली उत्पन्न कर उसका वितरण करती हैं। १९५२ में एक संशोधन के अनुसार कार्पोरेशन से वित्तीय सहायता पा सकने वाले अन्य उद्योगों में जलयानों को भी सम्मिलित कर दिया है। परन्तु साझेदारी और निजी लिमिटेड कम्पनियों को इसमे सम्मिलित नहीं किया गया है। कानून के अनुसार कार्पोरेशन किसी एक कारखाने को अपनी परिदत्त पूँजी का १० प्रतिशत या ५० लाख रुपयों (जो भी कम हो) की सहायता दे सकता है। १९५२ में एक संशोधन के अनुसार अब एक करोड़ की सहायता दी जा सकती है और सरकार की गारन्टी पर इस धन में और वृद्धि की जा सकती है। संशोधन करने का कारण यह था कि कुछ उद्योगों के लिए ५० लाख को सहायता अपर्याप्त थी। साथ ही ऐसी स्थिति मे जब कि विश्व बैंक से ऋण लिया गया हो तो कार्पोरेशन को एक करोड़ रुपये से अधिक की सहायता देनी पड़ सकती है।

कार्पोरेशन अपने विशेषज्ञ कर्मचारियों की सहायता से आवेदन पत्रों की जाँच करता है और ऋण स्वीकृत करते समय निम्नलिखित बातो पर ध्यान देता है :—(१) उद्योग का राष्ट्रीय महत्त्व, (२) व्यवस्थापकों की योग्यता, (३) योजना की व्यवहारिकता और कुल व्यय, (४) उत्पादन का प्रकार, (५) जमानत, (६) कच्चे माल और टेकनिकल कर्मचारियों की व्यवस्था, और (७) उत्पादन की देश को आवश्यकता।

साधन—कार्पोरेशन बाजार से बौण्ड और ऋणपत्र द्वारा रुपया एकत्रित कर सकता है जिसकी मात्रा कार्पोरेशन द्वारा दी गई गारन्टी और बीमा के अन्तर्गत देय को सम्मिलित करके उसकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित कोष के दस गुने से अधिक नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार जब कार्पोरेशन की कुल शेयरों की

पूँजी १० करोड़ रु० हो जायगी और सुरक्षित कोष में भी १० करोड़ रुपया संग्रह हो जायगा तो अपने पूर्ण विकसित रूप में कार्पोरेशन बाजार से २०० करोड़ रुपया एकत्रित कर सकता है।

१९५२ के संशोधन के अनुसार कार्पोरेशन १८ मास के लिये रिजर्व बैंक से ३ करोड़ रुपया ऋण ले सकता है। इसके साथ ही कार्पोरेशन पुनर्निर्माण और विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से रुपया ऋण से ले सकता है। इतना होते हुये भी कार्पोरेशन के साधन सीमित ही हैं।

औद्योगिक वित्त कार्पोरेशन (संशोधन) अधिनियम १९५७ :— उद्योगीकरण की गति बढ़ जाने से कार्पोरेशन उत्तरदायित्व और अधिक हो गया है। अतएव १९५७ में अधिनियम को संशोधित कर निम्न बातों की व्यवस्था की गई।

(१) कार्पोरेशन परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष के पाँच गुने के बजाय दस गुने तक ऋण ले सकता है।

(ii) कार्पोरेशन अब केवल जनता से ही नहीं वरन् राज्य सरकारों तथा स्थानीय अधिकारियों से भी निक्षेप (deposits) स्वीकार कर सकती है।

(iii) यदि आयात करने वाले निर्माताओं के साथ विलम्बित भुगतान की व्यवस्था कर सकें तो कार्पोरेशन इन विलम्बित भुगतानों की गारन्टी दे सकता है।

(iv) कार्पोरेशन से अब और अधिक प्रकार के औद्योगिक संस्थान सहायता प्राप्त कर सकेंगे। इस हेतु संशोधन की धारा २ (सी) में 'वस्तुओं के विधायन' की ऐसी व्याख्या की गई है कि और अधिक औद्योगिक संस्थान कार्पोरेशन से ऋण की सहायता प्राप्त कर सकें। राज्यीय वित्त कार्पोरेशन अधिनियम १९५१ में जो संशोधन १९५५ में किया गया था उसी आधार पर उपर्युक्त धारा में भी संशोधन किया गया है। साथ ही धारा २३ की उपधारा (२) में इस प्रकार संशोधन किया गया है कि वे औद्योगिक संस्थान भी ऋण की सहायता पा सकें जो राष्ट्र के दृष्टिकोण से प्रोत्साहित करने योग्य हैं। शर्त यह है कि इनको दी जाने वाली सहायता के मूलधन और ब्याज अदायगी की गारन्टी केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, एक अनुसूचित बैंक अथवा राज्यीय सहकारी बैंक दे।

आलोचना—कार्पोरेशन की आलोचना में अनेक बातें कही गई हैं। (१) कार्पोरेशन का कार्य रूढ़िवादी ढंग से चलाया गया, इससे विशेष सहायता

न मिल सकी। कार्पोरेशन के अधिकारियों ने बताया है कि इन आवेदन पत्रों को अस्वीकृत करने का कारण यह था कि इनमें उचित योजना नहीं दी गई थी। योजना निर्माण से पूर्व टेकनीशियनों, इञ्जीनियरों तथा अन्य अनुभवी व्यक्तियों से परामर्श नहीं किया गया था। मशीनों तथा कच्चे माल को प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा गया था और यही अनिश्चित स्थिति उत्पादित माल के विक्रय के सम्बन्ध में थी। परन्तु कार्पोरेशन इन बातों को अपनी कार्यवाई न्याय संगत सिद्ध करने के लिये तर्क के उपयोग मे नहीं ला सकता है। क्योंकि यदि आवेदन पत्र ठीक प्रकार से नहीं दिये गये थे तो यह कार्पोरेशन का कर्तव्य था कि वह आवेदन पत्र ठीक प्रकार से प्रस्तुत कराता। वास्तविक कठिनाई यह है कि कार्पोरेशन को इस सम्बन्ध में कुछ चिन्ता नहीं है और वह अपनी प्राचीन रीति से कार्य करता रहा। यह बात उल्लेखनीय है कि कार्पोरेशन अपनी आलोचना से कुछ सतर्क हुआ और प्रार्थी की भूलों के होते हुये भी अस्वीकृत आवेदन पत्रों की संख्या घटने लगी।

(२) आलोचकों का कहना है कि कार्पोरेशन ने सहायता में बहुत कम धनराशि दी। जून १९५७ तक ६ वर्षों में कार्पोरेशन ने ५५·१२ करोड़ रुपये का ऋण मंजूर किया जिसमे से २६·५१ करोड़ रु० का वितरण हुआ। कार्पोरेशन के अधिकारियों का मत है कि इसका कारण उपयुक्त आवेदन पत्रों का अभाव है। इसके विपरीत यह कहा गया है कि उपयुक्त आवेदन पत्र न आने का कारण अधिकारियों का असहयोग, उनका नौकरशाही व्यवहार और आवेदन पत्रों पर निर्णय देने में अनुचित विलम्ब है। कार्पोरेशन ने अब तक कम्पनियों को ही ऋण दिये। इसने कानून के अनुसार न किसी शेयर की गारन्टी ली है और न ऋणपत्र खरीदे ही हैं।

यह कहना अनुचित है कि वर्तमान समय में पूँजी बाजार की स्थिति ऐसी नहीं है कि कार्पोरेशन बीमा का कार्य करे। कार्पोरेशन के अध्यक्ष लाला श्री राम ने चौथी सामान्य बैठक में बताया कि औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन का उद्देश्य पूँजी बाजार के पूरक के रूप में कार्य करना है, न कि पूँजी बाजार को बिल्कुल हटाकर स्वयं उसका स्थान ले लेना। इससे स्पष्ट है कि कार्पोरेशन के उद्देश्य को उचित प्रकार से नहीं समझा गया है और उसके कार्यों के सम्बन्ध में भी दृष्टिकोण उचित नहीं हैं। यदि भारत में पूँजी बाजार विकसित होता तो औद्योगिक संस्थाएँ आवश्यकता पड़ने पर पूँजी एकत्रित कर सकती थीं और तब कार्पोरेशन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु चूँकि पूँजी बाजार विकसित नहीं है इसलिए कार्पोरेशन की आवश्यकता पड़ी।

(३) कार्पोरेशन ने जो कुछ ऋण दिया उस पर बहुत अधिक ब्याज लिया है। फरवरी १६५२ तक कार्पोरेशन की ब्याज दर ५½ प्रतिशत रही। यदि ब्याज और मूलधन की किश्त तिथि को चुकाने पर तो ½ प्रतिशत की छूट दी जाती थी। तदन्तर ब्याज की दर ७ प्रतिशत कर दी गई और छूट केवल ½ प्रतिशत ही रही। औद्योगिक कारखानों को दीर्घकालिक ऋण की आवश्यकता होती है, और कारखाना चालू होने से पहले काफी समय तक उन्हें उस रुपये से आय नहीं होती है। इस दृष्टि से ६½ प्रतिशत ब्याज की दर वास्तव में बहुत अधिक है और यही कारण है कि औद्योगिक संस्थाएँ कार्पोरेशन के पास ऋण के लिए आवेदन पत्र नहीं भेजती हैं। कार्पोरेशन के अधिकारियों का कहना है कि औद्योगिक संस्थाओं द्वारा ऋण लेने से पूर्व काफी समय तक कार्पोरेशन को उस धन पर स्वयं ऊँची दर से ब्याज देना पड़ता है इसलिए ब्याज की दर कम नहीं की जा सकती है। परन्तु कार्पोरेशन की व्यवस्था को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए ब्याज की दर कम करने के लिए अवश्य कुछ करना चाहिये।

(४) यह कहा गया है कि कार्पोरेशन ने अब तक सहायता उन्हीं राज्यों को दी है जो पहले से ही विकसित हैं, और उन्हीं उद्योगों को दी है जो समृद्धिशाली हैं। जून १६५७ के अन्त तक ६ वर्षों की अवधि में ५५.१२ करोड़ रु० की धनराशि में से १६.३१ करोड़ रु० खाद्य-उद्योगों को ८.४४ करोड़ रु० वस्त्र उद्योगों को, ७.५१ करोड़ रु० आधारभूत औद्योगिक रसायन उद्योग को, ४.२२ करोड़ रु० कागज उद्योग को, तथा ३.७७ करोड़ रु० सीमेन्ट उद्योग को दिया गया।

यह कार्पोरेशन के लिये गर्व की बात है कि जून १६५७ के अन्त तक मंजूर की गई ५५.१२ करोड़ रु० की धनराशि में से ३३.८० करोड़ रु० अर्थात् ६१% उन संस्थाओं को दिया गया जिन्होंने १५ अगस्त १६४७ के बाद उत्पादन प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त जून १६५७ के अन्त होने वाले वर्ष में राज्यानुसार ऋण की मंजूरी में भी बहुत परिवर्तन हुआ। उदाहरण के लिये आँध्र, केरल, पंजाब, और उत्तर प्रदेश जैसे कम विकसित राज्यों को मंजूर किये गये ऋण की मात्रा अधिक थी।

एक अन्य सन्तोषजनक बात यह थी कि १६५६-५७ में यद्यपि कार्पोरेशन के पास आने वाले आवेदन पत्रों की संख्या कम था किन्तु ऋण वितरित करने की गति अधिक थी। १६५६ ५७ में ६.७८ करोड़ रु० का ऋण दिया गया जब कि १६५५-५६ में २.२० करोड़ रु० का ऋण दिया गया था। इसके निम्न कारण थे।

(i) कार्पोरेशन के दफ्तर में प्रशासन सम्बन्धी सुधार पूर्ण हो गये थे।
(ii) और अधिक कानून-अधिकारियों की नियुक्ति हुई।
(iii) पर्याप्त सम्पत्ति के आधार पर (दस्तावेजों के पूर्ण होने तक) अन्तरीय ऋण मंजूर करने की विधि को सरल बना दिया।

जाँच की रिपोर्ट—कार्पोरेशन के कार्यों की प्रतीक्षा के लिये औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन जाँच कमेटी की नियुक्ति दिसम्बर १९५२ में श्रीमती सुचेता कृपलानी की अध्यक्षता में हुई। इस कमेटी ने ७ मई १९५३ को अपनी रिपोर्ट दी। कमेटी ने कार्पोरेशन को उसके विरुद्ध लगाये हुये पक्षपात के अभियोग से मुक्त कर दिया। पर यह टीका कि चेयरमैन तथा अन्य निर्देशक जिन आवेदकों के प्रति विशेष कृपालु होते हैं उनके साथ कार्पोरेशन का व्यवहार अधिक उदार होता है और उनका कार्य भी शीघ्र कर दिया जाता है। इस प्रकार कार्पोरेशन की प्रवृत्ति उन उपक्रमों के प्रति, जिनका कार्य सुचारु रूप से चल रहा है तथा जिनसे किसी लब्धप्रतिष्ठ उद्योगपति का सम्बन्ध है, पक्षपात करने की रही है। कमेटी के सुझावों को तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है। प्रशासन और संगठन सम्बन्धी, कार्य प्रणाली सम्बन्धी तथा नीति सम्बन्धी। कमेटी के मुख्य सुझाव निम्न थे :—

प्रशासन सम्बन्धी—(१) कार्पोरेशन का संगठन परिवर्तित करके एक स्थायी वैतनिक चेयरमैन नियुक्त किया जाना चाहिये जिसकी सहायता के लिये एक जनरल मैनेजर होना चाहिये। वर्तमान संगठन जिनमें अवैतनिक चेयरमैन है तथा पूरे समय के लिए एक वैतनिक मैनेजिंग डायरेक्टर है, उपयुक्त नहीं है; (२) मैनेजिंग डायरेक्टर और सहायक मैनेजिंग डायरेक्टर के अधिकारों को विचार पूर्ण ढंग से निश्चित कर देना चाहिये और यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी के हाथ में अनावश्यक ढंग से अधिकार केन्द्रित न हो जाँय; (३) कार्पोरेशन के बोर्ड में उद्योगपतियों का आधिक्य नहीं होना चाहिये; सरकार को बोर्ड में अपने मनोनीत सदस्यों का नाम भेजते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि उनमें एक अर्थशास्त्री, एक संगठन में कुशल व्यक्ति और एक चारटर्ड एकाउन्टेन्ट अवश्य हो; और (४) प्रत्येक शाखा कार्यालय में उस प्रान्त विशेष के सलाहकारों का एक पैनल अवश्य हो जिनमें से कुछ को प्रत्येक ऋण के लिये दिये हुये आवेदनों पर विचार करने के लिये निर्वाचित किया जा सके तथा कार्पोरेशन बोर्ड यथा अवसर बम्बई, कलकत्ता, मद्रास इत्यादि स्थानों पर अपनी बैठक किया करे।

कार्य प्रणाली सम्बन्धी—(१) यदि कार्पोरेशन के किसी अध्यक्ष का सम्बन्ध किसी ऐसे उपक्रम से है जिसने ऋण के लिये आवेदन दिया है तो उसे

अपना सम्बन्ध तुरन्त व्यक्त कर देना चाहिये। ऐसे उपक्रम जिनमें औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन का कोई डायरेक्टर मैनेजिंग डाइरेक्टर है अथवा डायरेक्टर, साझीदार या शेयर होल्डर उसकी मैनेजिंग एजेन्सी में है तो वह ऋण प्राप्त करने का अधिकारी नहीं समझा जायगा। ऐसे उपक्रम जिसमे कार्पोरेशन का डायरेक्टर एक साधारण डायरेक्टर अथवा शेयर होल्डर है, उसे ऋण पाने के लिये यह आवश्यक होगा कि डायरेक्टरों के बोर्ड की बैठक में जिसमें वोट देने के अधिकारी $\frac{3}{4}$ सदस्य उपस्थित हों उसे (अपने ऋण के आवेदन पर) सर्व सम्मति से स्वीकृत मिले। यदि कार्पोरेशन का कोई डायरेक्टर किसी ऋण सम्बन्धी आवेदन से सम्बन्ध रखता है तो उसे बोर्ड की कार्यकारिणी समिति की बैठक में जब कि वह ऋण का आवेदन विचाराधीन हो उपस्थित न होना चाहिये; (२) कार्पोरेशन को अपनी वार्षिक विवरण पत्रिका को अधिक विशद बनाना चाहिये तथा अपनी पंच वर्षीय रिपोर्ट में ऋण प्राप्त व्यक्तियों का नाम देना चाहिये, तथा उनके कार्य और सफलता का वर्णन करना चाहिये और सम्पूर्ण उद्योग के विकास की प्रकृति आदि पर भी प्रकाश डालना चाहिये; (३) कम से कम ५०% तक ऋण देने की सीमा नियत करना चाहिये; (४) ऋण को स्वीकृति देने तथा रुपया देने में देर कम करनी चाहिये, विशेष कर जो समय स्वामित्व सम्बन्धी कानूनी कागजों की जाँच में लगता है उसे कम करना चाहिये; और (५) जब कोई उपक्रम औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन द्वारा ले लिया जाय तब सामान्यतः उसका प्रबन्ध विभाग अथवा मैनेजिंग एजेन्सी को सौंपने के बजाय मनोनीत डायरेक्टरों के बोर्ड को सौंप देना चाहिये।

नीति सम्बन्धी—(१) कार्पोरेशन को औद्योगिक विकास सम्बन्ध में जो प्रधानता योजना आयोग द्वारा दी गई है, और ४२ उद्योगों के सम्बन्ध में जो विकास का कार्यक्रम बनाया गया है उसी के अनुकूल कार्य करना चाहिए। सामान्यतः उन उद्योगों को जो अपने विकास की उच्चतम स्थिति पर पहुँच गया है कोई ऋण न देना चाहिये; (२) जिन सिद्धान्तों के आधार पर कारपोरेशन को कार्य करना चाहिये उनके सम्बन्ध में सरकार को निर्देश देने चाहिये। सरकार को उन क्षेत्रों के सम्बन्ध में जिन्हें पिछड़ा हुआ समझना चाहिये निश्चित निर्देश देना चाहिये ताकि कारपोरेशन उन्हें प्रधानता दे सके; (३) कार्पोरेशन को यह निर्देश देना चाहिये कि वह ५० लाख रुपये से अधिक ऋण के आवेदनों को आगामी तीन वर्ष तक केन्द्रीय सरकार के मन्त्रिमण्डल में स्वीकृति के लिये भेजे; (४) वित्तीय कार्पोरेशन के नित्य-प्रति के कार्य में केन्द्रीय संसद के सदस्यों का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप औद्योगिक यथा सम्भव न होना चाहिये, परन्तु विधान सभा को

कार्पोरेशन तथा नियमों के आधार पर स्थापित ऐसी अन्य कार्पोरेशनों के कार्यों को अधिक नियमित रूप से परीक्षण करने की सुविधा प्रदान करने के लिये एक पब्लिक कार्पोरेशन कमेटी के नियुक्ति पर विचार करना चाहिये; और (५) सरकार को यह सोचना चाहिये कि कार्पोरेशनों को अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण देने की नीति के सम्बन्ध में क्यों न निर्देश दिये जाँय।

सरकार ने कमेटी के कुछ महत्वशाली अभिस्तावों को छोड़ कर लगभग सभी को स्वीकार कर लिया है। १९४८ के औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन एक्ट की धारा ६ की उपधारा (३) के अनुसार प्राप्त अधिकार के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार कार्पोरेशन को निम्न निर्देश दिये हैं :—

(१) कारपोरेशन बोर्ड को समय पर बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि केन्द्रीय स्थानों पर, अपने प्रधान केन्द्र दिल्ली के अतिरिक्त, सभाएँ करना चाहिये।

(२) कार्पोरेशन के डायरेक्टरों को ऋण के लिये प्राप्त आवेदकों से अपना सम्बन्ध (जिसमें ऋण मांगने वाली कम्पनी का हिस्सेदार होना, अथवा उसकी मैनेजिंग एजेन्सी के हिस्सेदार होना सम्मिलित होगा) अवश्य व्यक्त कर देना चाहिये और जिस समय उनके ऋण के आवेदन पर विचार होने लगे वे सभा में सम्मिलित न हो। एक रजिस्टर जैसा कि इन्डियन कम्पनीज एक्ट की धारा ९१ ए (३) में बताया गया है वैसा ही कार्पोरेशन को भी रखना चाहिये।

(३) कार्पोरेशन का वार्षिक विवरण अधिक विशद होना चाहिये और अधिक से अधिक सूचनायें उसमें दी जानी चाहिये। इस विवरण में उद्योगों के विकास का वर्णन और विशेष कर उन क्षेत्रों का वर्णन जिनमें ऋण दिया गया है होना चाहिये। जिन उपक्रमों को रुपया उधार दिया गया है उनका नाम भी इसमें छपना चाहिये।

(४) ऋण की स्वीकृति देते समय ५०% की न्यूनतम सीमा का ध्येय बनाना चाहिये और ऋण लेने वाले उपक्रम की आय अर्जित करने की क्षमता का विशेष रूप से अनुमान लगा लेना चाहिये। डायरेक्टरों और आवेदकों के एजेन्टों के वित्त सम्बन्ध का विचार किया जाना चाहिये और जहाँ पर ये वित्त सम्बन्ध, कार्पोरेशन द्वारा सुरक्षा के कारण समझे जाँय, वहाँ डायरेक्टरों और मैनेजिंग एजेन्टों को ऋण लेने वाले उपक्रमों के अपने निजी शेयरों को बिना कार्पोरेशन के अनुमति के बेच डालने की स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिये।

(५) जिन विशेष आवेदकों को कार्पोरेशन ५० लाख रुपये से अधिक का ऋण देने का निर्णय करे उसकी रिपोर्ट पूर्ण विवरण सहित सरकार को भेजी जानी चाहिये। उन सब ऋण लेने वाले उपक्रमों की भी रिपोर्ट सरकार को भेजी

जानी चाहिये जिनमें कार्पोरेशन का कोई डायरेक्टर ऋण लेने वाले उपक्रम की मैनेजिंग एजेन्सी में डायरेक्टर, साझीदार या मैनेजिंग डायरेक्टर अथवा हिस्सेदार हो। उन कम्पनियों को ऋण प्रदान करने की रिपोर्ट जिनमें कार्पोरेशन का डायरेक्टर एक साधारण डायरेक्टर अथवा हिस्सेदार है, उस स्थिति में भेजना चाहिये जबकि ऋण की स्वीकृति ऐसी मीटिंग में दी गई हो जिसमें आधे से कम डायरेक्टर उपस्थित रहे हों, अथवा ऋण की स्वीकृति सर्व सम्मति से न प्राप्त हुई हो।

सरकार ने कमेटी की यह सिफारिश स्वीकार नहीं की कि जब औद्योगिक वित्त कार्पोरेशन का कोई डायरेक्टर ऋण के उपक्रमों मैनेजिंग डायरेक्टर या साझीदार इत्यादि तो उन्हें ऋण पाने का अधिकारी न समझा जाय। इससे औद्योगिक उपक्रम अनावश्यक कठिनाई में पड़ जायेंगे, तथा जब तक कि कार्पोरेशन की समस्त रूपरेखा और पूँजी का संगठन पूर्ण रूप से न बदल दिया जाय ऐसी शर्त लगाना अव्यवहारिक होगा। सरकार ने अनुत्पादक कार्यों तथा विशेष क्षेत्रों को ऋण प्रदान करने की नीति सम्बन्धी कार्पोरेशनों को दिये जाने वाले निर्देशों के सम्बन्ध में की हुई सिफारिश को भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि औद्योगिक वित्तीय कारपोरेशन औद्योगिक वित्त सम्बन्धी एक नवीन प्रयोग है और अनुभव से धीरे धीरे इसके सिद्धान्त विकसित होंगे तथा उसकी कार्य प्रणाली निश्चित होगी। इसके अतिरिक्त क्योंकि दो बड़े सरकारी कर्मचारी कारपोरेशन के बोर्ड में डायरेक्टर के पद पर कार्य कर रहे हैं सरकार के लिये ऐसे निर्देशों को देने की कोई आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती। १९५२ में कानून द्वारा कार्पोरेशन का अधिकार बढ़ा कर ५० लाख रुपये से भी अधिक ऋण देने का कर दिया गया था, क्योंकि इतना ऋण लेने वालों की संख्या भी बहुत कम रही है, इसीलिए सरकार को वर्तमान स्थिति परिवर्तित करके कार्पोरेशन के लिये ऐसे ऋण के प्रदान के सम्बन्ध में सरकार की स्वीकृति लेना अनिवार्य कर देने का कोई न्यायोचित कारण समझ में नहीं आता। ५० लाख रुपये से अधिक के ऋण की सरकार को सूचना देने की बात तो अनिवार्य कर ही दी गई है। इस लिये सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची कि वर्तमान परिस्थिति में पार्लियामेंट की पब्लिक कार्पोरेशन कमेटी को इस कार्पोरेशन और अन्य कानून द्वारा बनाये हुए कार्पोरेशनों की कार्यवाहियों की देख रेख करने के लिये नियुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। जाँच कमेटी की रिपोर्ट, तथा सरकार द्वारा उसकी सिफारिशों के अनुकूल किये गये कार्यों से यह आशा की जाती है कि कार्पोरेशन के कार्य में तथा कार्य करने के ढंग में बहुत कुछ परिवर्तन आ जायगा।

प्रान्तीय अथवा राज्य वित्तीय कारपोरेशन

२८ सितम्बर १९५१ में राज्य वित्त कार्पोरेशन कानून पास हुआ। यह कानून काश्मीर और जम्मू राज्यों को छोड़कर समस्त भारत पर लागू होगा और इसके अनुसार प्रान्तीय सरकारें कार्पोरेशन स्थापित कर सकती हैं। भारतीय औद्योगिक वित्त कार्पोरेशन सीमित दायित्व वाली कम्पनियों को सहायता देता है। मध्यम और छोटे उद्योगों को भी सहायता देना वाञ्छनीय समझा गया है क्योंकि ये केन्द्रीय कार्पोरेशन के अन्तर्गत नहीं आते इसलिये प्रान्तीय वित्तीय कारपोरेशनों का ध्येय ऐसे ही उद्योगों को सहायता प्रदान करना होगा। इन राज्य वित्तीय कार्पोरेशनों की स्थापना लगभग उसी रूप में होगी जिसमें भारतीय औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन की स्थापना हुई है। बहुत थोड़े से ही परिवर्तन होंगे। राज्य वित्तीय कारपोरेशन के सम्बन्ध में ऋण २० वर्ष के ही लिये दिया जायगा न कि २५ वर्ष के लिये जैसा कि भारतीय औद्योगिक वित्तीय कारपोरेशन के सम्बन्ध में हैं। राज्य वित्तीय कार्पोरेशन की शेयर पूँजी ५० लाख रुपये से लगाकर ५ करोड़ रुपये तक होती है। शेयर पूँजी का तीन चौथाई प्रान्तीय राज्यों, रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों, बीमा कम्पनियों, विनियोग ट्रस्टों तथा अन्य वित्त संस्थाओं द्वारा और १।४ अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रदान की जानी चाहिये। इस प्रकार राज्य वित्तीय कार्पोरेशनों को व्यक्तिगत विनियोग करने वालों का भी सहयोग प्राप्त है। इन कार्पोरेशनों के सम्बन्ध में जनता द्वारा जमा की हुई धनराशि कार्पोरेशन की प्राप्त पूँजी की मात्रा से अधिक नहीं हो सकती। राज्य वित्तीय कार्पोरेशन किसी एक उपक्रम को अधिकतम वित्त सहायता १० लाख रुपयों तक की दे सकता है।

राज्य वित्तीय कार्पोरेशन (संशोधन) अधिनियम १९५६—राज्य वित्तीय कार्पोरेशन अधिनियम में संशोधन अधिनियम द्वारा अनेक परिवर्तन किये गये जो १ अक्टूबर १९५६ से लागू हुये। संशोधन अधिनियम में निम्न बातों की व्यवस्था है।

(i) दो या अधिक राज्यों के लिये संयुक्त वित्तीय कारपोरेशन की स्थापना अथवा अन्य राज्यों तक कारपोरेशन के अंश का विस्तार करना।

(ii) केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार अथवा औद्योगिक वित्त निगम द्वारा दिये गये ऋण, या मंजूर किये गये अग्रिम या अर्पित ऋणपत्रों के सम्बन्ध में इनके एजेन्ट के रूप में किसी औद्योगिक संस्था से व्यवहार करना।

(iii) राज्य सरकार, अनुसूचित बैंक अथवा राज्यीय सहकारी बैंक की गारन्टी पर उद्योगों को आर्थिक अनुग्रह प्रदान करना।

(iv) कारपोरेशन द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों के बल पर अल्पकालीन ऋण लेना।

(v) रिजर्व बैंक द्वारा कारपोरेशनों का निरीक्षण, राज्य पुनर्संगठन अधिनियम १९५६ जो १ नवम्बर १९५६ से लागू किया गया कि धारा १०२ (२) और (६) के अन्तर्गत किये गये विलयन के फलस्वरूप राज्य वित्तीय निगमों की संख्या दो से घट गई। बम्बई और सौराष्ट्र के कार्पोरेशन मिलाकर बम्बई राज्य वित्तीय कारपोरेशन बना दिया गया। आन्ध्र और हैदराबाद राज्य के कार्पोरेशन मिलाकर आन्ध्रप्रदेश राज्य वित्तीय कारपोरेशन बना दिया गया। दिसम्बर १९५७ में निम्न राज्यों में से प्रत्येक में एक राज्य वित्तीय कार्पोरेशन था। मद्रास पंजाब, बम्बई, केरल, पश्चिमी बंगाल, आसाम, उड़ीसा, राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार और आन्ध्र प्रदेश।

१९५७-५८ के अन्त में १२ राज्य-वित्तीय कार्पोरेशन की कुल सम्पत्ति १८'०४ करोड़ रु० थी जिसमें से ९'३५ करोड़ रु० ऋण और अग्रिम थे। अतः १२ कारपोरेशन का परिदत्त पूँजी १३'१० करोड़ रु० थी तथा सुरक्षित कोष कुल ५ लाख रु० था। १९५६-५७ में मजूर किये गये तथा दिये गये ऋण की मात्रा क्रमशः ४'४३ करोड़ रु० तथा २'८६ करोड़ रु० थी जबकि १९५५-५६ में यह राशि क्रमशः ४'०५ करोड़ रु० तथा १'८७ करोड़ रु० थी। कार्पोरेशन द्वारा दी जाने वाली सहायता का विस्तार धीरे-धीरे हुआ है, फिर भी जितनी सहायता कार्पोरेशन पूर्ण विकसित होने पर दे सकेगा उससे अभी बहुत कम सहायता देता है।

आरम्भ में कार्पोरेशन को बहुत सी कठिनाइयों का सामना आवेदकों के अज्ञान, विशेषज्ञों के अभाव तथा अधिक करों के कारण करना पड़ा है। इन सब समस्याओं पर राज्य वित्तीय कार्पोरेशन की प्रथम और द्वितीय सभा में जो अगस्त १९५४ में और नवम्बर १९५५ में बम्बई में हुई थी विचार विनिमय किया गया था। प्रथम सभा का उद्घाटन करते समय रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री बी० रामा राव ने विभिन्न राज्यों में मध्यवर्ती और छोटे उद्योगों के विकास के लिये ऐसे कार्पोरेशनों की महत्ता पर बहुत जोर दिया। यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्था में अनुसरण की जाने वाली नीति की रूप रेखा पर सब एकमत हों, अच्छी परिपाटियों की नींव पड़े, और उपयुक्त व्यवसायिक कार्य विधियाँ निश्चित हों, ताकि ये कार्पोरेशन अपने क्षेत्र के लिये अधिकतम लाभकारी सिद्ध हों। हर बात में एकरूपता लाने के बजाय ध्येय में तथा कार्य विधि में समानता लाने और प्रौद्योगिक कर्मचारियों तथा कार्य क्षेत्र आदि में समानता

लाने का आदर्श होना चाहिये। कार्पोरेशनों को जो गंभीर कठिनाइयाँ उठानी पड़ रही हैं, उनमें से एक तो प्रौद्योगिक कर्मचारियों के अभाव की है जो ऋण के लिये आवेदन करने वाले उपक्रमिकों की योजनाओं की उपयुक्तता का परीक्षण कर सकें। कार्पोरेशन ६-७ प्रतिशत का जो ब्याज वसूल कर रहे हैं वह बहुत अधिक है। प्रारम्भिक अवस्था में इन कार्पोरेशनों का व्यय अवश्य बहुत अधिक है और सभा ने उनको राज्य सरकारों की स्टाम्प ड्यूटी से मुक्त करने की तथा केन्द्रीय सरकार के आय कर से मुक्त करन की सिफारिश भी की थी। सबसे बड़ी कठिनाई इस बात की है कि ऋण के लिये आवेदन करने वाले उपक्रम अपना हिसाब किताब ठीक से लिखने तथा अन्य लेखा औद्योगिक बैंकिंग के मान्य स्तर पर निर्माण करने के प्रति उदासीन लगते हैं। इससे आवेदनों पर कार्यवाही करने में अनावश्यक रूप से विलम्ब होता है। कार्पोरेशनों को व्यक्तिगत सीमित दायित्व वाली कम्पनियों, साझेदारी, संयुक्त परिवार व्यवसाय, तथा एकाकी स्वामित्व वाले उपक्रमों से भी सम्पर्क रखना पड़ता है। ये उपक्रम सामान्यतः ऐसे कानून सम्बन्धी कागजों को जिनसे उस उपक्रम से उनका सम्बन्ध निश्चित होता है सुरक्षित रखने के प्रति उदासीन रहते हैं। बहुधा यह देखा गया है कि संयुक्त परिवार के व्यक्ति बिना किसी बँटवारे सम्बन्धी कानूनी लिखा पढ़ी के पृथक हो जाते हैं और साझेदारों के मध्य हिसाब किताब समझने का कोई साधन नहीं रहता। ऐसे संयुक्त परिवारों और साझेदारियों के आवेदनों की जाँच करने में समय और व्यय बहुत लगता है। ऐसा पता लगा है कि छोटे उद्योगों के बोर्ड की स्थापना के कारण, जो ऐसे उद्योगों को सहायता देने में अधिक उदार हैं, तथा सरकार द्वारा हाथ से धान कूटने तथा घानी द्वारा तेल पेरने के उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिये चावल तथा दाल की मिलों के विस्तार पर लगाये हुये प्रतिबन्धों के कारण, राज्य वित्तीय कार्पोरेशन के कार्य में बाधा पड़ी है। ये सब दोष धीरे-धीरे प्रयत्न करने से दूर हो सकते हैं।

औद्योगिक विकास कार्पोरेशन

१९५४-५५ की दो महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक तो २० अक्टूबर १९५४ को राष्ट्रीय औद्योगिक विकास कार्पोरेशन लिमिटेड की स्थापना और दूसरी १ मार्च १९५५ को भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग कार्पोरेशन लिमिटेड की स्थापना थी। इन दोनों कार्पोरेशनों का ध्येय उद्योगों के लिये पूंजी की पूर्ति में वृद्धि करना है परन्तु इन दोनों संस्थाओं की कार्यविधि और कार्यक्षेत्र भिन्न-भिन्न है।

भारतीय साख और विनियोग कार्पोरेशन लिमिटेड (आई० सी० आई० सी०)

दोनों में बड़ी संस्था है और उसे अधिक बड़ा कार्य भी करना है। इसकी अधिकृत पूंजी २५ करोड़ रुपया है, जिसके १०० रुपया मूल्य वाले साधारण शेयर ५ लाख रुपये के हैं तथा १०० रु० के मूल्य २० लाख शेयर अवर्गीकृत है। इसकी निर्गमित पूंजी ५ करोड़ रुपया है जिसमें से २ करोड़ रुपये की पूंजी भारतीय बैंकों, बीमा कम्पनियों और अन्य सहयोगी कार्पोरेशनों द्वारा, १ करोड़ रुपये की पूंजी ब्रिटिश ईस्टर्न एक्सचेंज बैंक और अन्य कामनवैल्थ तथा ब्रिटिश बीमा कम्पनियों द्वारा, ५० लाख रुपये की पूंजी यू० एस० ए० के कुछ व्यक्तियों और कार्पोरेशनों द्वारा और शेष १½ करोड़ रुपये की पूंजी अन्य व्यक्तियों द्वारा खरीदी गई है। यह इस अर्थ में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है इसके स्थापित होने में विभिन्न देशों के व्यक्तियों ने सहयोग दिया है।

आई० सी० आई० सी० एक व्यक्तिगत संस्था है और इसकी रजिस्ट्री इन्डियन कम्पनीज़ एक्ट के अन्तर्गत जनवरी १९५५ में हुई थी। पर इसे सरकारी सहायता का लाभ प्राप्त है। १९५५ के मार्च में भारत सरकार ने आई० सी० आई० सी० को ब्याज से मुक्त ७½ करोड़ रुपये का ऋण प्रदान किया था जो कि दिये जाने की तिथि के १५ वर्ष के पश्चात् से १५ किश्तों में चुकाया जायगा। पुनर्निर्माण तथा विकास सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने इस कार्पोरेशन को १५ वर्ष के लिये १ करोड़ डालर तक के ऋण की अनुमति दी है जिस पर ४⅝% का ब्याज होगा जिसमे १% का परिनियत कमीशन भी सम्मिलित होगा। आई० सी० आई० सी० भारतीय औद्योगिक उपक्रमों को केवल ऋण ही न देगा वरन् वह उनकी शेयर पूंजी और ऋण पत्रों को भी खरीदेगा। वह उनके ऋण की गारन्टी भी देगा। वह औद्योगिक उपक्रमों को प्रबन्ध, प्रविधि तथा प्रशासन सम्बन्धी परामर्श भी देगा। साराश यह कि जो कुछ भी सम्भव होगा वह सब औद्योगिक उपक्रमों को प्रोत्साहन देने के लिये तथा उपयुक्त योजनाओं के लिये वित्त का प्रबन्ध करने के लिये उपाय करेगा।

तीसरी वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार कारपोरेशन १९५७ के अन्त तक ४१ कार्यों के लिये ११·६५ करोड़ रु० का ऋण देने के लिये सहमति दे चुकी थी। १९५६ में २५ कार्यों के लिये केवल ६·०१ करोड़ रु० देने की सहमति दी गई थी। ११·६५ करोड़ रु० में से ५·४४ करोड़ रु० ऋण के रूप में (जबकि १९५६ के अन्त तक केवल २·६५ करोड़ रु० दिये गये थे) तथा ५·३५ करोड़ रु० शेयरों तथा ऋण-पत्रों के खरीदने के लिये दिये गये थे (१९५६ में यह राशि २·३८ करोड़ रु० थी)। शेयरों की प्रत्यक्ष खरीद अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर रही। १९५७ में यह ८६ लाख रु० तथा १९५६ में ६८ लाख रु० थी। १९५७ में

मंजूर किये ऋणों की राशि में जो तीव्र वृद्धि हुई उसका कारण यह था कि पहली बार विदेशी करेन्सी में पाँच ऋण दिये गये थे जिसकी राशि २·२१ करोड़ रु० थी।

कारपोरेशन से लाभ उठाने वाले उद्योगों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इनमें कागज, रसायन तथा औषधि, इन्जेक्शन का सामान (fue injection equipment), बिजली का सामान, वस्त्र, चीनी, धातु, चूना और सीमेन्ट, तथा शीशे का निर्माण सम्मिलित है। इस विविधता के अतिरिक्त कारपोरेशन की सहायता की एक विशेषता यह भी रही है कि इसके अन्तर्गत नये उपक्रमों के विकास तथा श्रम विकासत क्षेत्रों की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया गया है। १९५७ के अन्त तक आर्थिक सहायता प्राप्त करने वाले ३६ संस्थाओं में से १६ नये उपक्रम थे।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास कार्पोरेशन लिमिटेड (एन० आई० सी०) एक सरकारी संस्था है और इसका ध्येय मुख्यत: उन उद्योगों को वित्त सहायता देना है जो पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आ जाते हैं। २० अक्टूबर १९५४ को इसकी रजिस्ट्री एक व्यक्तिगत सीमित दायित्व वाली कम्पनी के रूप में हुई थी। इसकी अधिकृत पूँजी १ करोड़ रुपया है और परिदत्त पूँजी १० लाख रुपया है जो कि भारत सरकार द्वारा ही प्रदान की गई है। कार्पोरेशन को अपनी पूँजी बढ़ाने का अधिकार प्राप्त है।

एन० आई० डी० सी० ने प्रथम योजना के अन्तर्गत आये हुए उद्योगों को सहायता दी है। द्वितीय योजना काल में इसके कार्य का और अधिक विस्तार होगा और इसके पास लगभग ५५ करोड़ रुपया व्यय करने के लिये होगा। "इस धन राशि का एक अंश (जो लगभग २० या २५ करोड़ रुपया अनुमान किया जाता है) आशा की जाती है सूती कपड़े और जूट के सामान निर्माण करने वाले उद्योगों के अभिनवीकरण में व्यय किया जायगा। शेष ३५ करोड़ के लगभग रुपया नये मूल तथा बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना और विकास के लिये व्यय किया जायगा। जिन उपक्रमों के सम्बन्ध में खोज का कार्य एन० आई० डी० सी० ने अपने ऊपर लिया है वे फाउन्ड्री फोर्ज शाप्स, स्ट्रक्चरल फेब्रीकेशन, रिफ्रेक्ट्रीज, अखबारी कागज, औषधियों तथा रंग बनाने की वस्तुयें, काला कार्बन इत्यादि हैं। इन उपक्रमों के अतिरिक्त यह आशा की जाती है कि एन० आई० डी० सी० इस बात का भी प्रयत्न करेगी कि अलमूनियम उद्योग का एक कार-खाना खोला जाय और भूमि खोदने, खान खोदने, तथा आयस्य और अयस्य-रहित (ferrous and non-ferrous) उद्योगों में बेलन तथा बेलन के कारखाने

के प्रसाधनों के निर्माण का कारखाना खोला जाय। व्यापार तथा उद्योग मंत्रालय द्वारा हाल में एक कमेटी की इसलिये नियुक्ति की गई है कि वह इस बात की सलाह दे कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत नई अलमूनियम प्रद्रावणशाला की स्थापना के लिये सबसे अधिक उपयुक्त स्थान कौन सा है ताकि ३०,००० टन के उत्पादन का ध्येय जिसकी इस उद्योग के सम्बन्ध में सिफारिश की गई है पूर्ण की जा सके। प्रबन्ध किया जा रहा है कि बड़ा-बड़ी फाउन्ड्रियों, फार्ज तथा स्ट्रक्चरल शाप्स के उपक्रमों के सम्बन्ध में रिपोर्ट तैय्यार की जाय। यह आशा की जाती है कि इन उद्योगों के सम्बन्ध में डिजाइनों के निर्माण तथा इनके विकास की सुविधाओं के उपाय किये जायंगे।

"कारपोरेशन द्वारा अपेक्षित वित्त केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुदानों और ऋण के रूप में दिया जाता है। १९५६-५७ में १.४६ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी। १९५७-५८ के बजट अनुमान में ४.५० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। जूट और सूती वस्त्र उद्योग के अभिनवीकरण के हेतु ऋण देने के लिये कार्पोरेशन सरकारी एजेन्सी के रूप में कार्य करती है। अब तक कार्पोरेशन ने ६ सूती मिलों तथा दो जूट मिलों को क्रमशः १.९५ करोड़ रु० तथा ५५ लाख रु० मंजूर किये। कारपोरेशन द्वारा दिये गये ऋण की ब्याज दर ४½ प्रतिशत प्रतिवर्ष है तथा वे १५ वार्षिक किश्तों में चुकाये जाते हैं"।

पुनर्वित्त कार्पोरेशन (Refinance Corporation)

मध्यम आकार के उद्योगों की सहायता के लिये ५ जून १९५८ को इन्डियन कम्पनीज एक्ट १९५६ के अन्तर्गत पुनर्वित्त कार्पोरेशन (प्राइवेट) लि० की रजिस्ट्री हुई।

यह कारपोरेशन बम्बई में होगा। इसके संचालक मण्डल में सात सदस्य होंगे जो इस प्रकार हैं:—रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया का गवर्नर (अध्यक्ष), रिजर्व बैंक का एक डिप्टी गवर्नर, स्टेट बैंक ग्राफ इन्डिया का अध्यक्ष, जीवन बीमा कारपोरेशन का अध्यक्ष तथा भाग लेने वाली बैंकों के तीन प्रतिनिधि।

कारपोरेशन की अधिकृत पूँजी १ लाख रु० के २५०० शेयरों में विभाजित २५ करोड़ रु० होगा। प्रारम्भिक निर्गमित पूँजी १२.५ करोड़ रु० होगी जिसमें से ५ करोड़ रु० रिजर्व बैंक, २.५ करोड़ रु० जीवन बीमा कारपोरेशन, २.३ करोड़ स्टेट बैंक ग्राफ इन्डिया तथा २.७ करोड़ रु० १४ चुनी हुई अनुसूचित बैंकों द्वारा प्रार्पित होगा।

बैंकों में निम्न सम्मिलित हैं। सेन्ट्रल बैंक, पंजाब नेशनल बैंक, इलाहाबाद

बैंक, बैंक आफ इण्डिया, द इन्डियन बैंक, द मरकेन्टाइल बैंक आफ इण्डिया हैदराबाद बैंक, बैंक आफ बड़ौदा, नेशनल बैंक आफ इण्डिया, यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, ल्याड्स बैंक, चार्टर्ड बैंक, द यूनाइटेड बैंक आफ इण्डिया और द् डेना बैंक (Dena Bank)।

ऋण ५० लाख रु० से अधिक के नहीं होंगे और उनकी अवधि तीन वर्ष से कम तथा सात वर्ष से अधिक नहीं होगी।

यह सुविधा कवल उन औद्योगिक संस्थाओं को प्राप्त होगी जिनकी परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष (करार्थ तथा सामान्य अवक्षयण के सुरक्षित कोष को छोड़कर) २½ करोड़ रु० से अधिक न हो। ऋण प्रधानतः द्वितीय तथा अन्य योजनाओं में सम्मिलित उद्योगों का औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिये होंगे। इस उद्देश्य के लिये कार्पोरेशन को अपने साधनों के अतिरिक्त २६ करोड़ रु० के ऋण का भी लाभ मिलेगा जो भारत सरकार यूनाइटेड स्टेट्स की इसी प्रकार की धनराशि में से देगी। यह ऋण ४० वर्ष के लिये होगा और इस पर सम्भवतः सरकार यू० एस० ए० को ४% प्रतिवर्ष का ब्याज देगी।

कार्पोरेशन स्वयं ऋण नहीं देगी। योजना में भाग लेने वाली १५ भारतीय तथा विदेशी बैंकें ऋण दिया करेंगी। कार्पोरेशन को इस उपलब्ध साधन ३८½ करोड़ रु० है (अर्थात् १२½ करोड़ रु० अथवा तथा २६ करोड़ रु० यूनाइटेड स्टेट्स का)। इस धनराशि में से प्रत्येक भाग लेने वाली बैंक का कोटा निश्चित कर दिया जायगा जिसके अन्तर्गत से कारपोरेशन से पुनर्वित्त की सुविधा प्राप्त कर सकेंगे।

अध्याय २५

विदेशी पूँजी

किसी भी देश की पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था की दो विशेषताएँ हैं—अपर्याप्त बचत तथा पूँजी का अभाव और मशीन, टेकनिकल सामान, टेकनिकल कुशलता इत्यादि का आवश्यकता की अपेक्षा अभाव। भारत इन दोनों दोषों से ग्रस्त है और स्थिति पर विजय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि विदेशी पूँजी का आयात किया जाय। विदेशी पूँजी की सहायता से हम देश की बचत का आर्थिक साधनों के विकास में उपयोग कर सकते हैं। यदि हम केवल अपने सीमित साधनों पर ही निर्भर रहें तो यह विकास सम्भव नहीं हो सकता। विदेशी पूँजी से विदेशों से मशीनें, टेकनिकल सामान और टेकनिकल कुशलता इत्यादि का आयात कर सकते हैं। यदि विदेशी पूँजी नहीं हो तो इस कार्य के लिए हम भुगतान सन्तुलन के साधनों का उपयोग कर सकते हैं परन्तु यह साधन भी सीमित हैं और वर्तमान में भारत का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल है। यदि यह अनुकूल भी हो तब भी इससे बहुत कम धन प्राप्त होगा। बिना विदेशी पूँजी की सहायता के सन्तोषजनक आर्थिक प्रगति नहीं हो सकती। भारत को ही नहीं अपितु संसार के अन्य देशों को अपने आर्थिक विकास के आरम्भकाल में विदेशी पूँजी की सहायता लेनी पड़ी है। एशिया और सुदूर पूर्व के आर्थिक सम्मेलन ने स्थिति का अध्ययन करके इस बात पर महत्व दिया है कि पिछड़े हुए देशों की आर्थिक स्थिति का विकास करने और उन्हें समृद्धशाली बनाने के लिए विदेशी पूँजी का आयात अत्यन्त आवश्यक है।

भारत में योजना आयोग ने अनुमान लगाया है कि १९५०-५१ में ९११० करोड़ की राष्ट्रीय आय में से लोगों ने अपनी आय के ४.९ प्रतिशत भाग की बचत की, अर्थात् कुल ४५० करोड़ रुपये प्रति वर्ष बचत हुई और १९५५-५६ में ७९० करोड़ की बचत की जा कि १०८०० करोड़ की राष्ट्रीय आय की ७.३% थी।[1] यह रुपया व्यापार, गृह निर्माण, सम्पत्ति के क्रय, जेवरों इत्यादि में लगाया

---

[1] द्वितीय योजना में यह प्रस्ताव किया गया है कि भारत की राष्ट्रीय बचत और विनियोग की मात्रा में वृद्धि १९६०-६१ तक १,४४० करोड़ रुपया अर्थात् राष्ट्रीय आय का १०.७२% कर दी जाय जो कि आशा की जाती है उस समय तक १३४८० करोड़ रुपये हो जायगी।

गया। इसके साथ ही कुछ नकद रुपये भी बचाये गये। इस कुल बचत में से देश के औद्योगिक विकास के लिये बहुत कम रुपया लगाया गया। लोग अपनी आय में से बहुत कम बचत कर पाते हैं क्योंकि अधिकतर जनता इतनी निर्धन है कि कुछ भी बचत नहीं कर पाती और जो व्यक्ति कुछ बचत करते भी हैं उन्हें वे पूँजी के बाजार में नहीं लगाते। इन परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि हम भारत में विदेशी पूँजी का आश्रय लें।

ब्रिटिश शासन के आधीन—भारत में विदेशी शासनकाल में विदेशी पूँजी लगाई गई। यह पूँजी रेलवे, चाय, जूट, कोयले की खानों, उद्योगों और व्यापार इत्यादि में लगाई गई। ब्रिटिश पूँजी उन उद्योगों पर लगाई गई जिससे देश पर उनका अधिकार दृढ़ रहे या जिसमें उन्हें ऐसा सामान मिल सके जिसको विदेशों में आयात करने की आवश्यकता है या जिससे उन्हें अधिक लाभ होता है। उन्हें देश के औद्योगिक विकास में कोई रुचि नहीं थी और जो कुछ विकास हुआ वह उनकी अपने स्वार्थ के कार्यों के पूर्ण करने में घटनावश हो गया। इसमें कुछ संदेह नहीं कि भारत ने औद्योगिक तथा आर्थिक दृष्टि से जो थोड़ा बहुत विकास किया है वह ब्रिटिश पूँजी के अभाव में असम्भव था। परन्तु यदि ब्रिटिश पूँजीपतियों ने देश का क्रमबद्ध और सुनियोजित आधार पर औद्योगिक और आर्थिक विकास करने के प्रश्न पर ध्यान दिया होता तो भारत का इस क्षेत्र में काफी विकास हो सकता था और उद्योगों पर जो अनावश्यक व्यय हुआ है उसे रोका जा सकता था।

इसी कारण विदेशी पूँजी का तीव्र विरोध हुआ क्योंकि (१) जब अंग्रेजों ने अत्यधिक लाभ कमाया तो भारतीय असहाय से देखते रहे। अंग्रेजों की सरकार ने अनेक रियायतें भी दीं क्योंकि सरकार भारतीयों की अपेक्षा विदेशियों का पक्षपात करती थी। इस भेद भाव से भारतीयों को भारी क्षति उठानी पड़ी जिसका स्वाभाविक ही विरोध किया गया।

(२) विदेशी पूँजी से चलाये गये उद्योगों इत्यादि में अधिकतर विदेशियों को ही नौकरी दी गई जिससे भारतीयों में असन्तोष फैला। अपने ही देश में भारतीय असहाय थे और विदेशी वह सभी सुविधाएँ प्राप्त कर रहे थे जिन पर वास्तव में भारतीयों का ही अधिकार था।

(३) डाक्टर ज्ञान चन्द ने बताया है कि यह सत्य है कि हमारे देश में रेलवे, चाय, कहवा, अबरक, ताँबा, जूट और अन्य अनेक उद्योगों के विकास का श्रेय विदेशी पूँजी को है परन्तु विदेशी पूँजी ही के कारण भारत में औद्योगिक शक्ति का केन्द्रीकरण हुआ जिसके विषय में अधिक ज्ञान नहीं है। इसके ही कारण

उद्योगों के प्रति भेद भाव की नीति के विरुद्ध सुरक्षा के वैधानिक प्रयत्न सम्भव हो सके। भारतीय उद्योग क्षेत्र में टाटा, बिड़ला और हाल में डालमिया और बाल चन्द के आने पर भी ब्रिटिश उद्योगपतियों का ही प्रभुत्व है। एन्डरू यूल, बर्ड, शावालेस, ओक्टेवियस स्टील और कुछ अन्य विदेशी कम्पनियाँ भारत की औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व जमाये हुए हैं; इसके साथ ही वित्त के साधन जूट, कपास, कोयला, चाय, यातायात, बिजली, इंजीनियरिंग और अनेक उद्योगों पर नियन्त्रण रखते हैं। औद्योगिक शक्ति के इस प्रकार केन्द्रित करने की प्रवृत्ति का भारतीय उद्योगपतियों ने भी अनुकरण किया है जिससे देश को काफी क्षति पहुँची है।

(४) १६२३ में प्रशुल्क संरक्षण का विदेशी उद्योग ने पूर्ण लाभ उठाया और भारत में अपने कारखानों की शाखाएँ स्थापित कीं जिनके नाम के आगे (भारत) लिमिटेड जोड़ दिया। वास्तव में यह संरक्षण भारतीय उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए था और जब विदेशी उद्योग ने इसका लाभ उठाया तो इससे असन्तोष फैलना स्वाभाविक ही था।

१६२५ में विदेशी पूँजी समिति ने इस बात की जाँच की और सुझाव दिया कि विदेशी पूँजी का भारत में प्रोत्साहन दिया जाय। परन्तु जब सरकार विदेशी उद्योग को कोई विशेष रियायत दे तो इस बात का ध्यान रखे कि उससे मुख्यतः भारत को ही लाभ पहुँचे। यदि सुविधा किसी विशेष उद्योग को न देकर सभी को सामान्य रूप से दी गई, हो, जैसे प्रशुल्क संरक्षण की सुविधा, तो किसी प्रकार का भेद भाव करना व्यवहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। परन्तु यदि किसी विशेष कारखाने को द्रव्य की सहायता दी जाय तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय व्यापारी के हित को हानि न पहुँचे। इसके साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जब तक भारतियों को तत्सम्बन्धी शिक्षा की उचित व्यवस्था न की जाय तब तक किसी विदेशी कम्पनी को कोई सुविधा न दी जाय। सार्वजनिक कम्पनियों के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया गया है कि उनकी भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत रजिस्ट्री करायी जाय, उनकी पूँजी भारतीय मुद्रा में हो और उनमे भारतीय संचालकों की संख्या सरकार द्वारा निर्धारित संख्या के बराबर हो। किन्तु खनिजों के विकास के लिये सुविधाएँ देने के लिए निश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते। परन्तु भारत सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया और विदेशी पूँजी प्रशुल्क संरक्षण की सम्पूर्ण सुविधाओं का और सरकार द्वारा दी गई अन्य रियायतों का लाभ उठाती रही।

सरकार की नीति—यह सत्य है कि अतीत में विदेशी पूँजी के कारण

भारत में असन्तोष फैला परन्तु अब भारत स्वतन्त्र देश है और इसका कोई कारण नहीं है कि हम विदेशी पूंजी के प्रति अब भी प्राचीन भावना को प्रश्रय दें। विदेशी पूँजी से अब किसी प्रकार का राजनीतिक प्रभुत्व नहीं हो सकता और न जनतंत्रीय शासन कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप ही हो सकता है। इसके साथ ही विदेशी पूँजी को भारतीय उद्योग की अपेक्षा किसी प्रकार की अधिक सुविधा भी नहीं मिल सकती। भारत की प्रथम पंच वर्षीय योजना मे २,३५६ करोड़ रुपया व्यय करने का प्रबन्ध था। इसकी पूर्ति में रुपये का अभाव था जिसमें से कुछ अभाव बिना विदेशी पूँजी प्राप्त किये पूर्ण नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के लिये भी हमें विदेशी पूँजी की आवश्यकता है क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र का काफी अंश अभी निजी उद्योगपतियों के हाथ में है और इस अंश के विकास के लिये पूँजी की आवश्यकता होगी। यही बात द्वितीय योजना में भी है।

इधर कुछ वर्षों से सरकार और भारतीय उद्योगपतियों के सम्पूर्ण प्रयत्नों के पश्चात् भी विदेशी पूँजी पर्याप्त मात्रा मे नहीं आ रही है। इसके निम्नलिखित कारण हैं। (अ) भारत में विनियोग के भविष्य के विषय मे अनिश्चितता का वातावरण है। विदेशी पूँजीपति को इस बात का विश्वास नहीं है कि भविष्य में इसकी पूँजी सुरक्षित रहेगी। पूँजीपति रुपया लगाते समय पूँजी की सुरक्षा और उससे लाभ इन दो बातों का विशेष ध्यान रखता है। परन्तु विदेशी पूँजीपति को भारत के सम्बन्ध मे इन दोनों बातों पर सन्देह है; (ब) भारतीय पूँजी की ही तरह विदेशी पूँजी पर लाभ कम होता है क्योंकि उत्पादन व्यय अधिक है और सरकार ने अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। पूँजी पर लाभ की दर कम होने के कारण विदेशी पूँजी स्वाभाविक रूप से भारत की ओर आकर्षित नहीं होती, (स) अतीत में भारत में अधिकतर ब्रिटिश पूँजीपति विनियोग करते थे परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से ब्रिटेन की वित्त कठिनाइयों के कारण ब्रिटेन का विदेशी विनियोग सब देशों में, भारत को सम्मिलित करते हुये, घटा है। अब ब्रिटिश पूँजीपतियों को हमारे देश में विनियोग करने के लिये अधिक धन कमाना सम्भव नहीं है। अमरीकी पूँजीपति रुपया लगा सकते हैं, परन्तु अभी वह भारत में रुपया लगाने के आदी नहीं हुए हैं। ऐसा प्रतीत हुआ है कि अमेरिकी सरकार विनियोग से पूर्व यह चाहती है कि भारत सरकार अमरीका का अनुसरण करे। भारत सरकार की विदेशी नीति किसी भी राष्ट्र गुट के साथ सम्मिलित होने की नहीं हैं। इसलिये भारत की तटस्थ नीति से अमेरीकी पूँजी के आने मे बाधा उत्पन्न हो गई है।

अप्रैल १९४८ तथा १९५६ में औद्योगिक नीति सम्बन्धी घोषणा में और

पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार ने इस बात को स्वीकार किया है कि भारत में विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। संसद में प्रधान मंत्री ने इस विषय पर प्रकाश डाला था कि सरकार विदेशी पूंजी को सभी उचित सुविधा और प्रोत्साहन देने के लिये प्रस्तुत है। विदेशी पूँजी के महत्व को बताते हुये प्रधान मंत्री ने बताया कि अतीत में विदेशी पूँजी को जिस प्रकार उपयोग में लाया गया है उसी के परिणाम स्वरूप आज इस बात पर महत्व दिया जा रहा है कि राष्ट्रीय हित में विदेशी पूंजी के कार्य क्षेत्र और उसके उपयोग पर नियंत्रण रखा जाय। परन्तु आज स्थिति बिल्कुल भिन्न है। इसलिए विदेशी पूँजी पर नियन्त्रण रखने का उद्देश्य यह होना चाहिये कि उसका भारत के अधिकतम लाभ के लिए उपयोग किया जाय। हमारी राष्ट्रीय बचत इतनी नहीं है कि हम जिस पैमाने पर देश का विकास करना चाहते हैं उसे पूर्ण कर सकें। इसके लिये भारतीय पूँजी के अभाव की पूर्ति करने के लिए भारतीय पूजी के साथ ही विदेशी पूंजी की आवश्यकता इसलिये भी है कि विदेशी पूंजी के साथ ही हम मशीनें, टेकनिकल और औद्योगिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

प्रधान मन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि (अ) सभी भारतीय अथवा विदेशी-उद्योगों को भारत सरकार की औद्योगिक नीति का अनुसरण करना पड़ेगा, (ब) सरकार विदेशी उद्योगों पर इसका कोई प्रतिबन्ध नहीं लगायेगी और न कोई ऐसी शर्तें ही लगायेगी जो अन्य सामान भारतीय उद्योगो पर लागू नहीं हैं, (स) विदेशी कम्पनियाँ उन्हीं नियमों के आधार पर लाभ कमाने के लिए स्वतन्त्र होगी जो अन्य उद्योगों पर लागू हैं, (द) यदि कभी विदेशी उद्योग को सरकार अनिवार्य रूप से अपने अधिकार में लेगी तब उसका उचित मुआवजा दिया जायगा, और (य) सरकार की दृष्टि में लाभ का धन चुकाने की वर्तमान सुविधाओं को लागू रखने में कुछ कठिनाई नहीं है और सरकार विदेशी पूंजी पर न कोई नये प्रतिबन्ध लगाना चाहती है और न लगे प्रतिबन्धों को हटाना चाहती है। परन्तु लाभ का भुगतान विदेशी मुद्रा-विनिमय की स्थिति पर निर्भर करेगा। यदि सरकार किसी विदेशी कारखाने को अनिवार्यतः अपने अधिकार में करेगी तो उसके आय के भुगतान के लिए उचित सुविधा होगी। यह उचित और निष्पक्ष शर्तें हैं और विदेशी पूंजी को भारत में किसी प्रकार के भेद भाव का भय होने का कोई कारण नहीं है।

विनियोग की मात्रा—भारत में गत वर्षों में कुल कितनी पूंजी लगाई गई थी इसके ज्ञान के लिए सही आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। एक अनुमान है कि दो विश्व युद्धों के मध्य भारत में ६० करोड़ पौण्ड विदेशी पूँजी लगी हुई थी। एक

अन्य अनुमान में बताया गया है कि यह पूंजी ८० करोड़ पौण्ड थी। एसोसिएटेड चेम्बर आव कामर्स ने साइमन कमीशन को बताया था कि कुल १०० करोड़ पौण्ड विदेशी पूँजी भारत में लगी हुई है। यह सम्भव है कि द्वितीय युद्ध से पूर्व ब्रिटिश पूँजी की वापसी इत्यादि के पश्चात् भारत में ३० से ४५ करोड़ पौण्ड के मध्य विदेशी पूँजी लगी रही।

इस सम्बन्ध में अधिक विश्वसनीय सूचना भारतीय रिज़र्व बैंक की विदेशी परिसम्पत्ति और ऋण सम्बन्धी रिपोर्ट (१९५७) में दी गई। इस रिपोर्ट में बताया गया है कि १९५५ के अन्त मे भारत की कुल देयता और सम्पत्ति क्रमशः ७६६.३ करोड़ रु० तथा १२५१.८ करोड़ रुपया थी। "इस प्रकार देयताओं के बाद ४८५.५ करोड़ रु० की बचत थी। यह स्थिति पूर्णतः सरकारी क्षेत्र के कारण थी जिसकी देयताओं की तुलना मे ९६०.८ करोड़ रु० की बचत थी (सरकारी क्षेत्र की सम्पत्ति ११७०.७ करोड़ रु० और कुल देयता २०९.९ करोड़ रु० थी) गैर सरकारी क्षेत्र में सम्पत्ति की तुलना में देयता ४७५.३ करोड़ रु० अधिक थी (कुल देयता ५५६.४ करोड़ रु० तथा कुल सम्पत्ति ८१.१ करोड़ रु० था)।"

"पूर्ण देश को ध्यान में रखते हुये स्थिति इस प्रकार थी। यू० के० तथा पाकिस्तान भारत के ऋणी थे (४०८.५ करोड़ रु० तथा २६९.५ करोड़ रु० क्रमशः) जब कि यू० एस० ए० तथा शेष अन्य देशों के प्रति भारत ऋणी था। १९५४-५५ में वर्मा के ४८ करोड़ रु० के ऋण को व अदायगी के कारण भारत वर्मा के प्रति ऋणी हो गया।"

"यद्यपि १९५५ के अन्त में भारत एक साहूकार देश था किन्तु १९५७ के अन्त तक देश की स्टर्लिंग सम्पत्ति घटने तथा यू० एस० ए० अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के प्रति देयता बढ़ने के कारण वह ऋणी देश हो गया।

विदेशी व्यवसाय विनियोग

१९५५ के अन्त में व्यापारिक उपक्रमों की कुल देयता ५२२ करोड़ रु० थी जिसमें से ४८१ करोड़ रु० व्यापारिक विनियोग था। यह विनियोग मुख्यतः शाखाओं में तथा समीकृत मूल्य वाले कागज़ो मे (equity holding) था। विनियोग का अधिकांश प्रत्यक्ष प्रकार का था। विभिन्न व्यापारिक क्रियाओं के मध्य व्यापारिक विनियोग के वितरण में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर है। विदेशी शाखाओं ने अधिकतर पूँजी व्यापार, सार्वजनिक उपयोग के उपक्रम, परिवहन तथा रोपण उद्योगों में लगाई थी। प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों ने अपने विनियोग को मुख्यतः निर्माण क्षेत्र में लगाया है।

इससे ज्ञात होता है कि विदेशी विनियोग में प्रत्यक्ष विनियोग का अंश मुख्यत: विदेशी कम्पनियों में बहुत बड़ा है। व्यक्तिगत क्षेत्र में विदेशी विनियोग के विश्लेषण से जो कि ४८०·६ करोड़ रुपया का था (और जिसकी विशेष विवेचना आगे करने जा रहे हैं) यह ज्ञान होता है कि निर्माण करने वाले उपक्रमों में सबसे अधिक धन (१६३ करोड़ रुपया) लगाया गया था; उसके पश्चात् दूसरा स्थान व्यापार का है जिसमें १०३ करोड़ रुपया लगाया गया था और तीसरा स्थान रोपण का है जिसमें ८७ करोड़ रुपया लगाया गया था। बैंक, परिवहन और खान खोदने के उद्योगों में भी विदेशी पूँजी लगी हुई है। व्यापारों में जो पूँजी लगी हुई है उसका विश्लेषण निम्न है :—

	करोड़ रुपये में
निर्माण	१६३·३
व्यापार	१०२·३
रोपण	८७·२
उपयोगितायें तथा परिवहन	५३·१
वित्त	३६·३
खानें	६·६
विविध	२५·६
	कुल ४८०·६

"साहूकार देशों में ब्रिटेन की स्थिति प्रमुख बनी रही। १९५५ के अन्त में ब्रिटेन के प्रति देयता ४०० करोड़ से अधिक थी तथा कुल विदेशी व्यापारिक देयताओं की ७७% थी। यू० एस० ए० ने ४५ करोड़ की विदेशी पूँजी प्रदान की जिसका अधिकांश पेट्रोलियम में लगाया गया। शेष देशों ने ७४ करोड़ रु० की धनराशि दी जो हमारी विदेशी वित्तीय देयताओं की लगभग आधी है।"

१९४८ और १९५३ के मध्य—रिजर्व बैंक की प्रथम रिपोर्ट ३० जून १९४८ तक के लिये थी। दूसरी रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने विदेशी विनियोग के दिसम्बर १९५३ तक के आंकड़े दिये हैं। उसके अनुसार विदेशी व्यापारिक विनियोग में ३० जून १९४८ से लगा कर ३१ दिसम्बर १९५३ तक वास्तविक वृद्धि १३२ करोड़ रुपये की हुई जिसमें से ११२ करोड़ रुपया (अर्थात् ८५%) प्रत्यक्ष विनियोग था जिसका वितरण निम्न है :

	(करोड़ रुपयों में)
नियन्त्रित भारतीय ज्वाइन्टस्टाक कम्पनियाँ	४२
विदेशी कम्पनियों की शाखायें	७०

"ब्रिटेन और अमेरिका के विनियोग में क्रमशः १३७ करोड़ और १३ करोड़ रुपयों की वृद्धि हुई और पाकिस्तान तथा लङ्का का क्रमशः ७ करोड़ और २ करोड़ रुपया घट गया। विनियोग में वृद्धि का व्यापारों के दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि निर्माण सम्बन्धी क्षेत्र में ६४ करोड़ रुपये, व्यापार में ३० करोड़ रुपये, बागबानी में २० करोड़ रुपये, उपयोगिताओं में १६ करोड़ रुपये और विविध में ६ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई थी। ब्रिटेन और अमरीका का नवीन विनियोग अधिकांश नियन्त्रण युक्त था और यदि कुल विनियोग की वृद्धि से नियन्त्रण युक्त विनियोग का प्रतिशत लगाया जाय तो ब्रिटेन का ८५% और अमेरिका ६१% था। अमेरिका का नवीन विनियोग विशेषकर व्यापारिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा परन्तु ब्रिटेन का विनियोग भिन्न क्षेत्रों में विभक्त है जैसे निर्माण (५६ करोड़ रुपया) बागबानी (२१ करोड़ रुपया), व्यापार (२० करोड़ रुपया), उपयोगितायें (१६ करोड़ रुपये) और वित्त (१४ करोड़ रुपया)। ३० जून १६४८ के पश्चात् रजिस्टर की हुई कम्पनियों में लगाई हुई विदेशी पूँजी की मात्रा तेल परिष्करणियों को छोड़कर जिनमें लगी हुई पूँजी शाखाओं में बढ़े हुये विनियोग में सम्मिलित की जा चुकी है—लगभग ११ करोड़ रुपये के थी, जिसमें से ७ करोड़ रुपयों का नियन्त्रण विदेशों से होता था। ब्रिटेन से प्राप्त पूँजी की मात्रा ६ करोड़ रुपये के लगभग और अमेरिका से प्राप्त लगभग १ करोड़ रुपये के अनुमान किया गया था।

१९५३ और १९५५ के मध्य—यदि वर्तमान सर्वेक्षण की तुलना १६५३ के सर्वेक्षण से की जाय तो पता चलेगा कि इन दो वर्षों में विदेशी विनियोग में ६१ करोड़ रु० की वृद्धि हुई है। ३१ दिसम्बर १६५५ को विदेशी विनियोग की मात्रा ४८१ करोड़ रु० थी। चूँकि इस बीच में मूल्यांकन सम्बन्धी कुछ परिवर्तन हुये हैं इसलिये ६१ करोड़ रुपया पूँजी की वास्तविक गतिशीलता नहीं दिखाते। ऐसे परिवर्तन आय-व्यय लेखा के चल और अचल दोनों ही प्रकार की सम्पत्तियों में हो सकते हैं।"

द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में, ऐसा अनुमान किया जाता है, कि ४३८ करोड़ रुपया की बाह्य सहायता प्राप्य होगी। (३८ करोड़ रु० १९५६-५७ में, १०० करोड़ रु० १९५७-५८ में, तथा ३०० करोड़ रु० १९५८-५९ में)। यदि यह मानलिया जाय कि द्वितीय योजना के शेष दो वर्षों में ६०० करोड़ रु० की बाह्य सहायता उपलब्ध होगी तो संपूर्ण योजना काल में उपलब्ध राशि १०३८ करोड़ रु० होगी जो सरकारी क्षेत्र के लिये अनुमानित ८०० रु० की राशि से २३८ करोड़ रु० अधिक होगी। किन्तु मूल्यों के ऊँचे होने तथा द्वितीय योजना की विदेशी विनिमय की आवश्यकता बढ़ जाने के कारण विदेशी विनिमय की उपलब्धि का उपर्युक्त वृद्धि प्रमुख योजनाओं के लिये भी अपर्याप्त सिद्ध होगी।

अध्याय २६

उद्योगों का स्थान निर्धारण

किसी उद्योग का स्थान निर्धारण अनेक आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा प्राकृतिक कारणों पर निर्भर होता है। यदि उपर्युक्त विभिन्न कारणों से किसी उद्योग की अनेक फैक्ट्रियाँ किसी एक स्थान पर केन्द्रित हो जाती हैं तब वह उद्योग का स्थानीयकरण कहलाता है। इस सम्बन्ध में 'वैबर' का सिद्धान्त कुछ दोषों के होते हुये भी सबसे अधिक विचार पूर्ण है। यह सिद्धान्त आर्थिक कारणों पर भी विचार करता है जैसे टन-मीलों परिवहन व्यय जिसमें माल की मात्रा तथा उसके ले जाये जाने की दूरी का पूर्ण विचार रक्खा जाता है। किसी फैक्ट्री के स्थापित करने के लिये सब से अधिक उपयुक्त स्थान वह है जहाँ पर कच्चे माल तथा निर्मित माल दोनों के ही दृष्टिकोण से टन-मील परिवहन व्यय न्यूनतम हो। वैबर ने कच्चे माल को दो भागों में विभाजित किया है (१) सर्वत्र प्राप्य माल' जैसे ईंट, मिट्टी, बालू, पानी इत्यादि जो सर्वत्र प्राप्त हैं और (२) 'स्थानीय माल' जैसे लौह अभ्रक, बौक्साइट, चीनी, रुई, कोयला आदि जो विशेष स्थानों से ही प्राप्त हैं। स्थानीय माल को फिर वैबर ने शुद्ध तथा क्षीण-भार नामक दो भागों में विभाजित किया है। शुद्ध में ऐसी वस्तुयें जैसे कपड़ा बिनने तथा सूत कातने के लिये रूई, सीमेंट बनाने के लिये बालू और चूना आदि जो अपने सम्पूर्ण भार से निर्मित माल में मिल जाते हैं, सम्मिलित किये जाते हैं। क्षीण-भार (weight-losing) माल में वे वस्तुयें हैं जिनका भार छीज जाता है जैसे गन्ना, कोयला आदि सम्मिलित किये गये हैं। क्योंकि पहले प्रकार की वस्तुयें सर्वत्र प्राप्त होती हैं इसलिये उनका किसी उद्योग के स्थान निर्धारण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता; परन्तु विशेष स्थान में प्राप्त होने वाली वस्तु का प्रभाव उद्योग के स्थान निर्धारण में बहुत अधिक होता है। इनमें भी वे वस्तुयें जिन्हें क्षीण-भार कहा गया है विशेष महत्व की हैं। इन वस्तुओं का भार निर्मित वस्तु के निर्माण में छीज जाता है इसलिये इनका प्रयोग करने वाले उद्योगों की, जहाँ पर ये वस्तुयें प्राप्त हैं, वहाँ केन्द्रित होने की प्रवृत्ति होती है। वैबर ने 'माल का इन्डेक्स' निर्माण किया ताकि उसके आधार पर यह ज्ञात किया जा सके कि कच्चे माल की प्राप्ति का स्थान अथवा निर्मित वस्तु के विक्रय का स्थान दोनों में से कौन किसी उद्योग के केन्द्रित होने में अधिक प्रभावशाली कारण होता है। यह 'इन्डेक्स' स्थान विशेष पर

प्राप्त कच्चे माल के भार को निर्मित वस्तु के भार से विभाजित करने से प्राप्त होता है। यदि 'माल का इन्डेक्स' किसी उद्योग के सम्बन्ध में बड़ा है तो इससे यह समझना चाहिये कि कच्चे-माल की प्राप्ति का स्थान अधिक प्रभावशाली कारण है और उद्योग की स्थापना के लिये वह स्थान अधिक उपयुक्त होगा परन्तु यदि 'माल का इन्डेक्स' छोटा है तो उसमे यह समझना चाहिये कि कच्चेमाल की प्राप्ति कोई विशेष महत्वशाली बात नहीं है और उद्योग को स्थापना अच्छी प्रकार बाजार के निकट की जा सकती है।

परन्तु जैसा इस सिद्धान्त मे बताया गया है उसके अनुसार जहाँ न्यूनतम परिवहन व्यय हो वहाँ सर्वदा उद्योग स्थापित नहीं किये जाते। इसके कई कारण हैं, जैसे (१) उद्योगपतियों को कच्चे माल की प्राप्ति के स्त्रोतों और बाजारों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता कि वे ठीक-ठीक आवश्यक अनुगणन कर सकें। होता यह है कि औसत दर्जे का व्यवसायी वर्तमान उद्योगों की स्थिति का अनुमान लगा लेता है और जहाँ पर उसकी समझ में यह आता है कि वह अधिकतम लाभ उठा सकेगा वहीं अपना कारखना खोल देता है। सामान्यतः वे उद्योग जो किसी स्थान विशेष में केन्द्रित हो गये हैं कुछ ऐसी लाभकारी स्थिति वहाँ उत्पन्न कर देते हैं जिनके कारण नवीन कारखाने वही स्थापित होने लगते हैं जिससे वहाँ और अधिक स्थानीयकरण हो जाता है, (२) उद्योगपतियों के समक्ष स्थान निर्धारण मे सदा आर्थिक ही कारण नहीं रहते। वे सामाजिक सुविधायें तथा जीवन की अन्य सुविधाओं की प्राप्ति का भी विचार करते हैं जो नगरो में सुगमतापूर्वक प्राप्त हैं। इस कारण से भी वे बहुधा बडे-बडे नगरों में या उनके आसपास अपने कारखानो के खोलने का निश्चय करते हैं चाहे ऐसा करने में उन्हें ग्राम मे कारखाना खोलने की अपेक्षा लाभ कुछ कम ही क्यों न प्राप्त हो; और (३) युद्ध-काल मे हवाई हमला से रक्षा का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है इसलिये बहुधा उद्योगो की स्थापना खुले हुये नगरों से दूर तथा नदी के किनारों से दूर देश के आन्तरिक भाग में करना पड़ता है चाहे इसमें आर्थिक हानि ही क्यो न उठानी पडे।

प्रवृत्ति—भारत में उद्योगो का स्थान-निर्धारण त्रुटिपूर्ण है। एक ओर जब कि बम्बई, पश्चिम बंगाल और बिहार में अपेक्षाकृत अधिक औद्योगीकरण हुआ है तो दूसरी ओर अन्य राज्यो मे औद्योगीकरण के प्रायः सभी साधन होते हुए भी विशेष विकास नहीं हो पाया है। इसके साथ ही दूर ग्रामों की अपेक्षा नगर के पड़ोस में ही उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से भारत के बड़े नगरों का अनुचित प्रसार हो गया है।

तालिका १

भारत के औद्योगिक श्रमिकों की कुल संख्या का प्रतिशत

प्रदेश	१९२१*	१९३९*	१९४३*	१९५१
बंगाल और बम्बई	६२·१	५६·२	५७·६	५४·३
बंगाल, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार	८३·१	८५·९	८४·४	८८·४
शेष भारत में	१६·९	१४·१	१५·६	११·६

*अविभाजित भारत के आँकड़े

तालिका १ के अनुसार १९५१ में भारत के कुल औद्योगिक श्रमिकों के ५४·३ प्रतिशत बंगाल और बम्बई के दो राज्यों में कार्य करते थे और ८८·४ प्रतिशत बंगाल, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार के पाँच राज्यों में कार्य करते थे। इसका अर्थ है कि औद्योगिक विकास की दृष्टि से अन्य क्षेत्र पिछड़े हुए हैं जिनमें कुल औद्योगिक श्रमिकों के केवल ११·६ प्रतिशत कार्य करते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बम्बई और बंगाल क्षेत्र में कुल औद्योगिक श्रमिकों की संख्या १९२१ में ६२·१ प्रतिशत थी जो घटकर १९५१ में ५४·३ प्रतिशत हो गई जब कि मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार में इनकी संख्या १९२१ में कुल श्रमिकों के २१ प्रतिशत से बढ़कर १९४३ में २६·८ और १९५१ में ३४·१ प्रशित हो गई। शेष भारत के अन्य क्षेत्रों में कुल औद्योगिक श्रमिकों की संख्या १९२१ में १६·९ प्रतिशत थी जो घटकर १९४३ में १५·६ प्रतिशत और १९५१ में ११·६ प्रतिशत हो गई। इसका यह अर्थ है कि बंगाल और बम्बई तथा देश के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार में उद्योग अधिक केन्द्रित हुये हैं।

तालिका २

भारत के कुछ नगरों की जनसंख्या

(लाखों में)

	१९३१	१९४१	१९५१
कलकत्ता	१३·८९	२१·०९	२५·४९
बम्बई	११·६१	१६·९५	२८·३९
कानपुर	२·४४	४·८७	७·०५
मद्रास	६·४७	७·७७	१४·१६
दिल्ली	३·४७	५·२१	९·१५

तालिका २ के आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि १६२१ से १६५१ के बीच के ३० वर्षों में भारत के बड़े नगरों कलकत्ता और बम्बई की जन-संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। कलकत्ता और बम्बई की जन-संख्या अपने दो गुने से भी अधिक हो गई है जब कि कानपुर की जन-संख्या तीन गुनी हो गई है। इसका एक कारण तो यह है कि अन्य नगरों की भांति गाँव से लोग आकर इनमें बसते गये हैं और साथ ही इन क्षेत्रों में उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से भी जनसंख्या में वृद्धि हुई है।

हानियाँ—नगरों और बड़े कस्बों में उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से अनेक हानियाँ होती हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं:—(१) इससे जन-संख्या स्थान के अनुपात में बहुत अधिक बढ़ जाता है और इससे भीड़ एवम् पिच-पिच हो जाती है। इसका जनता के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, सफाई नहीं रह पाती, रहने के लिए घरों का अभाव हो जाता है और इन क्षेत्रों में अनेक सामाजिक बुराईयों कि वृद्धि और उनका प्रसार होने लगता है। यदि उद्योगों को उचित रूप से विभिन्न उपयुक्त स्थानों में स्थापित किया जाता तो इनमें से बहुत सी बुराईयों से बचा जा सकता था; (२) उद्योग केवल बड़े कस्बों और नगरों में ही केन्द्रित नहीं हुए हैं वरन् कुछ मुख्य प्रकार के उद्योग खास-खास राज्यों में केन्द्रित हुए हैं। चीनी उद्योग अधिकतर उत्तर प्रदेश और बिहार में, सूती उद्योग बम्बई, मध्य-प्रदेश और उत्तर प्रदेश में, लोहा और इस्पात उद्योग बिहार में, जूट बंगाल में और कोयले की खदानों की उद्योग बंगाल और बिहार में केन्द्रित हैं। इसका एक कारण तो यह है कि इन क्षेत्रों में अपने उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चा माल और बिजली मिल जाती है और दूसरा कारण उद्योगपतियों की रुचि भी कहा जा सकता है। इस प्रकार की स्थिति से यह हानि होती है कि यदि इनमें से किसी उद्योग में मंदी आ जाये तो उसका उस क्षेत्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि चीनी के उद्योग में मंदी आ जाय तो इससे उत्तर प्रदेश और बिहार की जनता पर विपत्ति का पहाड़ टूट जायगा और सूती उद्योग में मंदी आने से बम्बई, मध्य प्रदेश और उत्तर-प्रदेश की जनता संकट में पड़ जायगी। यदि उद्योग देश में चारों ओर वितरित हुए होते तो शायद यह स्थिति नहीं होती। यह बिल्कुल संभव है कि एक उद्योग में मंदी आते ही दूसरे उद्योग में भी मंदी नहीं आ जाती है और यदि उद्योगों को उचित रीति से सम्पूर्ण देश में फैला रखा हो तो मंदी आने से उद्योग की क्षति अपेक्षाकृत कम होगी, (३) इन्हीं कुछ चुने हुए क्षेत्रों में उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से अन्य क्षेत्रों की प्रायः उपेक्षा की गई है। यह हो सकता है कि अन्य क्षेत्र इनके समान उत्तम सिद्ध न हो फिर भी उनमें उद्योगों की स्थापना

से कुछ आर्थिक लाभ होने की संभावना है। इन क्षेत्रों की सामाजिक सुविधाओं और उद्योग के लिए आवश्यक प्राकृतिक साधनों का प्रायः बिल्कुल उपयोग नहीं किया गया है। इन क्षेत्रों की जनता अपेक्षाकृत अधिक बेरोजगार है और जीविका की उपयुक्त व्यवस्था न होने से उनके रहन-सहन का स्तर भी निम्न है। यदि इन क्षेत्रों में उद्योगों को चालू किया जाता, जैसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिले, दक्षिण भारत और पंजाब के कुछ स्थान, तो देश में उपलब्ध साधनों का और अच्छा उपयोग किया जा सकता था; (४) हमारे देश में उद्योगों की जैसी व्यवस्था है वह युद्धकाल के लिए उपयुक्त नहीं है। युद्ध के समय बमवर्षा से इसकी भारी क्षति होने की संभावना है। यदि उद्योग कुछ स्थानों पर केन्द्रित होने की अपेक्षा बड़े क्षेत्र में वितरित होता तो इस प्रकार का भय अपेक्षाकृत कम रहता।

आधुनिक प्रवृत्ति—यद्यपि स्थानीकरण की दृष्टि से भारतीय उद्योग में अनेक दोष हैं परन्तु इधर कुछ वर्षों से स्थिति में सुधार होने की संभावना दिखाई देती है। सूती उद्योग के लिए आरंभ में बम्बई नगर और उसका समीपवर्ती क्षेत्र विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जाता था परन्तु धीरे-धीरे मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और अन्य स्थानों में सूती उद्योग के नये कारखाने खोले गये हैं। इससे बम्बई का महत्त्व क्रमशः कम होता गया। यद्यपि बम्बई अब भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है अन्य स्थानों ने भी अपना महत्त्व बढ़ा लिया है। चीनी उद्योग के सम्बन्ध में अब भी उत्तर प्रदेश और बिहार प्रमुख हैं परन्तु मद्रास, बम्बई और भूतपूर्व रियासतों में भी इस उद्योग की ओर आकर्षण बढ़ा है। १९३१-३२ में कुल ३२ चीनी के कारखानों में २६ कारखाने उत्तर प्रदेश और बिहार में थे परन्तु १९५२-५३ में कुल १३४ कारखानों में से इन दोनों राज्यों में केवल ९३ कारखाने थे। १९३१-३२ और १९५२-५३ के बीच मद्रास में चीनी के कारखानों की संख्या २ से बढ़कर १३, बम्बई में १ से बढ़कर १४ और खण्ड 'ख' राज्यों में जहाँ एक भी कारखाना नहीं था १२ हो गई। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि उत्तर प्रदेश और बिहार अब भी महत्वपूर्ण राज्य हैं परन्तु अन्य राज्यों में भी चीनी के कारखाने खुल गये हैं और उनका भी महत्त्व कुछ बढ़ गया है।

जहाँ तक कागज के उद्योग का प्रश्न है इसके कारखानों की स्थापना सर्व-प्रथम बंगाल में हुई जिसका मुख्य कारण कोयले की पूर्ति की सुविधा थी। कारखानों में कागज बनाने के लिए हिमालय के पहाड़ी क्षेत्रों से प्रायः ६०० मील दूर से सबाई घास लाई जाती थी परन्तु चूँकि एक टन कागज बनाने में २३ टन घास और ५ टन कोयले की आवश्यकता होती थी इसलिए कोयले को प्राथमिकता दी गई।

कोयले के क्षेत्र के निकट कारखाना स्थापित करना अधिक उपयुक्त समझा गया। परन्तु धीरे-धीरे बाँस और बिजली का प्रयोग होने लगा। इससे कागज के कारखाने अन्य स्थानों को हटाये गये। सिमेंट उद्योग सर्वप्रथम मध्य-प्रदेश और राजपूताना में स्थापित किया गया परन्तु धीरे-धीरे सिमेंट उद्योग के कारखाने उन क्षेत्रों में स्थापित होने लगे जो या तो सिमेंट का उपभोग करनेवाले क्षेत्र हैं या सिमेंट का उपभोग करनेवाले क्षेत्रों के निकट पड़ते हैं।

उद्योगों की स्थापना में उपर्युक्त वितरण के अनेक कारण हैं जैसे (१) स्वदेशी बाजार का महत्त्व बढ़ना, परिवहन की सुविधाओं में वृद्धि तथा देश के आन्तरिक भागों में द्रव्य बाजार की सुविधाओं की प्राप्ति; (२) उत्पादन प्रविधि में विकास जैसा कि कागज के उत्पादन के सम्बन्ध में हुआ; (३) उत्पादकों का विनाशकारी स्पर्धा नीति का अविचार त्याग तथा उद्योगों की स्थापना में सुधार की प्रवृत्ति जैसा कि सिमेन्ट के उद्योग में दिखाई पड़ा है; (४) देशी रियासतों का जो कि 'ख' राज्य कहलाते हैं उद्योगों को अपनी ओर आकृष्ट करने की नीति का अनुसरण करना जिसके अन्तर्गत सब प्रकार की सुविधायें प्रदान करना जैसे श्रम सम्बन्धी उदार-कानून बनाना, तथा उनकी पूँजी में भाग लेना आदि; और (५) हाल में लागू की हुई उद्योगों को इन्डस्ट्रीज एक्ट के अन्तर्गत लाइसेन्स दिये जाने की सरकार की नीति इत्यादि।

सरकार की नीति—१९५१ के उद्योग (विकास एवम् नियम) कानून के अनुसार भारत सरकार को उद्योग के स्थान-निर्धारण पर पूरा नियंत्रण रखने का अधिकार है। कारखानों को अपनी रजिस्ट्री करनी पड़ती है और अपना उत्पादन या उत्पादन शक्ति में वृद्धि करने से पूर्व आवश्यक अनुमति लेनी पड़ती है। प्रत्येक औद्योगिक इकाई अथवा कारखाने के पास लाइसेन्स होता है। लाइसेन्स देने-वाली समिति लाइसेंस देते समय उद्योग कानून के अंतर्गत कारखानों के आकार-प्रकार और स्थान इत्यादि का निश्चित विवरण देती है। चीनी के कुछ कारखानों को अनुकूल स्थानों पर हटाने के लिए यह समिति पहले ही अनुमति दे चुकी है और सूती मिलों को कपड़े की बुनाई के लिए वहीं नयी शाखा खोलने की अनुमति देना अस्वीकार भी कर चुकी है।

कुछ उद्योगों का लाइसेन्स इसलिये अस्वीकार कर दिया गया है कि जहाँ नया कारखाना खोलने का निश्चय था वहाँ पहले से ही अधिक कारखाने या तो स्थित थे अथवा जो स्थान आवेदन पत्र में कारखाना खोलने का बताया गया था लाइसेन्स देने वाली समिति द्वारा उपयुक्त नहीं समझा गया। लाइसेन्स देने में उन आवेदनों को प्राथमिकता दी जाती है जो किसी नये उपयुक्त स्थान

पर कारखाना खोलने के लिये होती है। उद्योगों के स्थान-निर्धारण की सहकारी नीति का उद्देश्य बड़े कस्बों और नगरों में उद्योगों के अधिक जमाव को घटाना है। सरकार का उद्देश्य है कि जिन राज्यों में पहले ही अपेक्षाकृत अधिक कारखाने खोले जा चुके हैं वहाँ और अधिक कारखानों को स्थापित न होने दिया जाय। इसके विपरीत नये कारखानों को उन क्षेत्रों की ओर आकृष्ट किया जाय जिनका अभी विकास नहीं हुआ है। परन्तु भारतीय उद्योगों के उचित स्थानीयकरण की समस्या केवल लाइसेन्स देने की व्यवस्था से ही हल नहीं की जा सकती है। उद्योगपति पिछड़े हुए और कम विकसित क्षेत्रों में नए कारखाने खोलना नहीं चाहते हैं इसका एक कारण तो उनकी पूर्व धारणा हो सकती है परन्तु वास्तव में बात यह है कि इन क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने के लिए न बिजली की सुविधा मिलती है, न कच्चे माल की और न उपयुक्त श्रम की। इन पिछड़े और विकसित क्षेत्रों की ओर उद्योगों को आकृष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि (१) इन क्षेत्रों का विकास किया जाय जिससे उद्योगपति इनकी ओर आकृष्ट हो सकें और (२) आरम्भ में उद्योगपतियों को कम से कम कुछ सुविधायें दी जायँ, जैसे भूमि रियायती दर पर दी जाय, रेलवे का भाड़ा कम किया जाय, और जहाँ आवश्यक हो नकद द्रव्य से सहायता की जाय। भारत में उद्योगों के स्थान-निर्धारण की समस्या तभी हल की जा सकती है जब सरकार इन सब बातों को ध्यान में रखकर एक उत्तरोत्तर विकासमान नीति अपनाये।

अध्याय २७

युक्तिकरण

युक्तिकरण उद्योग की कार्यक्षमता मे वृद्धि करने और उत्पादन व्यय को घटाने की लम्बी प्रक्रिया है। किसी उद्योग के युक्तिकरण से अभिप्राय यह है कि कारखाने में पुरानी मशीनों के स्थान पर आधुनिक मशीनें लगाई जाएँ, नए टेक्निकल सुधार किए जाएँ, श्रमिकों की संख्या कम करने के लिए श्रम बचाने के उपायों तथा स्वचालित मशीनों का उपयोग किया जाए और उद्योग को व्यर्थ की प्रतियोगिता से बचाने के लिए उसके संगठन में सुधार करके तथा उसकी व्यवस्था को वैज्ञानिक आधार पर संगठित करके उत्पादन कार्य की गति में वृद्धि की जाय। "युक्तिकरण का अर्थ यह है कि कार्य करने की प्राचीन परिपाटी, निश्चित क्रम तथा अनुभविक नियमों और शोधनों के स्थान पर ऐसे ढंग का प्रयोग होने लगे जो कि वर्षों के वैज्ञानिक अध्ययन के परिणाम हैं और जिनका ध्येय साधनों को साध्यों के साथ अधिकतम उपयुक्तता के साथ संयोजित करने का है जिससे कि उत्पत्ति के प्रयत्न की प्रत्येक इकाई का अधिकतम लाभकारी परिणाम हो।"

युक्तिकरण का उद्देश्य उत्पादन-व्यय घटाना, उत्पादित वस्तु की प्रकार में सुधार करना और उत्पादक को हानि उठाने से बचाना है। यदि उद्योग का प्रबन्ध उचित रीति से किया जाय तो युक्तिकरण उपभोक्ता तथा श्रमिकों और उत्पादकों के लिए लाभकारी सिद्ध होगा। परन्तु वास्तव में यह देखा गया है कि युक्तिकरण से प्राप्त लाभ को उत्पादक स्वयं ले लेते हैं और वस्तुओं की प्रकार में सुधार करके तथा मूल्यों में कमी करके उपभोक्ताओं और पारिश्रमिक बढ़ाकर श्रमिकों को लाभ नहीं उठाने देते। श्रमिक युक्तिकरण का विरोध करते हैं, इसकी योजना से उनमे असंतोष फैलता है क्योंकि इसका परिणाम बेरोज़गारी होता है। श्रमिक यह नहीं चाहते कि स्वचालित मशीनों से तथा श्रम बचाने के अन्य प्रयत्नों को अपनाकर और पुरानी मशीनों के स्थान पर नवीन आधुनिक मशीनों का उपयोग कर अनेक श्रमिको को बेरोजगार कर दिया जाए। इसी कारण श्रमिकों ने प्रायः युक्तिकरण का विरोध किया है। श्रमिकों की यह माँग बहुत कुछ न्याय संगत है क्योंकि अतीत में युक्तिकरण का वह पूर्ण लाभ नहीं उठा सके हैं। परन्तु यदि उद्योग के युक्तिकरण से पारिश्रमिक बढ़ता है और उपभोक्ताओं को कम मूल्य

पर वस्तु मिल सकती है तो फिर श्रमिकों द्वारा इस प्रक्रिया के विरोध होने का कोई कारण नहीं रह जाता। बड़े पैमाने के उद्योग केवल युक्तिकरण के द्वारा ही उन्नति कर सकते हैं और तभी श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं की स्थिति सुधर सकती है। यह सत्य है कि युक्तिकरण की योजना लागू करने से आरम्भ में कुछ बेरोजगारी फैलती है परन्तु उत्पादन व्यय और वस्तु का मूल्य कम हो जाने से भविष्य में उपभोक्ताओं की माँग में वृद्धि होगी। इस माग की पूर्ति के लिए उद्योग में और अधिक लोगों को रोज़ी मिलेगी। इससे स्पष्ट है कि युक्तिकरण योजना लागू होने से फैलने वाली बेरोजगारी अल्पकालीन होती है और उद्योग के उन्नति करने के साथ इसे दूर किया जा सकता है। समस्या वास्तव में श्रमिक की आय और रहन-सहन के स्तर की है। यदि युक्तिकरण के साथ पारिश्रमिक में भी वृद्धि होती है तो इससे श्रमिकों की आय में वृद्धि होती है और रहन-सहन के स्तर में भी सुधार होता है। इस रूप में इस प्रक्रिया का उद्योग क्षेत्र में स्वागत करना चाहिए। अंत में यह एक महत्वपूर्ण एवम् विचारणीय प्रश्न है कि यदि भारतीय उद्योग का युक्तिकरण न किया गया तो विश्व बाजार की प्रतियोगिता में यह विदेशों की सुसंगठित उद्योगों की प्रतियोगिता का सामना नहीं कर सकेगा। यदि श्रमिक युक्तिकरण का विरोध करते हैं तो इसका एक ही परिणाम हो सकता है कि अनेक कारखाने नष्ट हो जाएँगे, उनको बन्द करना पड़ेगा और इससे अनेक श्रमिक बेरोज़गार हो जाएँगे। वास्तव में हमारे सम्मुख दो स्थितियाँ हैं कि या तो हम इस बात का समर्थन करें कि युक्तिकरण की योजना लागू कर श्रमिकों को सुनियोजित एवम् नियंत्रित आधार पर नौकरी से पृथक किया जाए और क्रमशः नवीन कार्यों में स्थान दिया जाए या कड़ी प्रतियोगिता का सामना न कर सकने के कारण अनेक कारखाने बन्द करके बड़ी संख्या में श्रमिकों को बेरोज़गार होने दिया जाए। हमारे सम्मुख समस्या रोजगार और बेरोज़गार की नहीं बल्कि एक प्रक्रिया लागू करने से थोड़े श्रमिकों की थोड़े समय के लिए बेरोजगारी और दूसरी प्रक्रिया द्वारा प्रायः सभी श्रमिकों की अधिक समय तक बेरोज़गारी की है। हमें इन दो प्रक्रियाओं में से एक को चुनना है।

भारत में जब तक उत्पादित माल की खपत संभव थी और पूर्ति के अभाव के कारण उपभोक्ताओं को विभिन्न वस्तुओं के लिये अधिक मूल्य देना पड़ता था तब तक युक्तिकरण की समस्या सम्भवतः इतनी महत्वपूर्ण नहीं थी। यदि वस्तुओं का मूल्य अधिक रहता तो मिल मालिकों को युक्तिकरण की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। मिल मालिकों ने प्रति मशीन अधिक व्यक्तियों को कार्य में लगाया और पुरानी तथा व्यर्थ हुई मशीनों से कार्य लेकर भी लाभ उठाया।

परन्तु जब से बाजार में वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि हुई है और उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत नहीं है तब से युक्तिकरण की आवश्यकता में वृद्धि होती जा रही है। मिल मालिक अपनी आवश्यकता से अधिक श्रमिकों को भाग दे सकने में असमर्थ हैं और श्रमिकों के स्थान पर मशीनों का उपयोग अनिवार्य हो गया है। यदि उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत होते तो यह स्थिति उत्पन्न नहीं होती परन्तु उपभोक्ता उसके लिए प्रस्तुत नहीं हैं इसलिए उत्पादित वस्तु का मूल्य कम करने के लिये उत्पादन-व्यय कम करने और अपने लाभ के अंश में वृद्धि करने की दृष्टि से उत्पादक को युक्तिकरण का सहारा लेना पड़ता है।

औद्योगिक विकास समिति की योजना—औद्योगिक विकास समिति ने १६५१ के आरम्भ में युक्तिकरण की समस्या पर विचार किया और इस बात को स्वीकार किया कि उत्पादन व्यय घटाने और भारतीय उद्योग की कार्य क्षमता में वृद्धि करने के लिए युक्तिकरण आवश्यक है। परन्तु समिति ने इसके साथ ही इस बात को भी माना कि श्रमिकों के हितों की रक्षा करना आवश्यक है तथा युक्तिकरण की प्रक्रिया को तीव्र गति से नहीं लागू किया जाना चाहिये। समिति ने निम्नलिखित निर्णय किए :—

(१) युक्तिकरण योजना लागू करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इससे बेरोजगार होने वाले श्रमिकों की संख्या यथासम्भव कम करने के लिए कार्यवाही की जावे। युक्तिकरण के फलस्वरूप होने वाली छटनी और बेरोज़गारी को कम करने के लिए समिति ने यह सुझाव दिये हैं कि (अ) कर्मचारी की मृत्यु, पद-निवृति इत्यादि के कारण रिक्त स्थानों की पूर्ति कुछ समय के लिए स्थगित कर दी जाय, (ब) अन्य विभागों में कार्य करने वाले अतिरिक्त कर्मचारियों को बिना वेतन में कमी किये हुये और बिना गत नौकरी के क्रम को तोड़े हुये कार्य दिया जाये, (स) स्वेच्छा से कार्य छोड़ने वाले कर्मचारियों को उचित मुआवजा दिया जाये और (द) टेकनिकल सुधारों के कारण बेरोज़गार हुये श्रमिकों को खपाने के लिये जहाँ संभव हो कार्य में वृद्धि की जाय।

(२) प्रति इकाई उत्पादन की स्टैन्डर्ड मात्रा निश्चित की जानी चाहिये और श्रमिकों का प्रमाणीकरण होना चाहिये। यदि किसी प्रकार का मतभेद हो तो उसकी जाँच होनी चाहिये और स्टैन्डर्ड दोनों पक्षों के विशेषज्ञों द्वारा निश्चित किया जाना चाहिये।

(३) सम्बन्धित उद्योग की स्थिति और कार्य की मात्रा इत्यादि को और समान उद्योगों के अनुभवों को ध्यान में रखते हुये नई प्रकार की मशीनों को

लगाने से उत्पन्न टेकनिकल परिवर्तनों का कुछ समय तक परीक्षण किया जाना चाहिये।

(४) जिन श्रमिकों की छटनी की जाय उनके पुनर्वास के लिए सरकार को एक योजना बनानी चाहिए। श्रमिकों को ट्रेनिंग देने और ट्रेनिंग की अवधि में जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करने की योजना मालिकों तथा श्रमिकों द्वारा संयुक्त रूप से निर्माण की जानी चाहिए।

(५) वेतन अथवा पारिश्रमिक में वृद्धि करके श्रमिक को भी युक्तिकरण के लाभ में से भाग देना चाहिए।

इस योजना में युक्तिकरण के महत्व पर स्पष्ट रूप से जोर दिया गया है परन्तु उसके दुष्परिणामों जैसे बेरोजगारी, श्रमिकों का शोषण और अधिक कार्य लेकर भी वेतन मे वृद्धि न करने की समस्या को टालने का प्रयत्न किया गया है। मालिकों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधियों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। विभिन्न राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्रो मे उद्योगों के युक्तिकरण की योजनाओं का परीक्षण कर रही हैं। उत्तर प्रदेश में इस समस्या पर त्रिदलीय श्रम सम्मेलनों में विचार किया गया है और सूती तथा चीनी उद्योग के युक्तिकरण का विशेषज्ञों ने वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन किया है।

अपील पंचन्यायालयों के निर्णय—भारत मे श्रम अपील पंचन्यायालय के निर्णयों में दिये गये सिद्धान्तों के आधार पर ही भारतीय उद्योगो में श्रमिकों की छटनी की जाती है। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार यह निश्चय किया जाता है कि किस प्रकार और कितने श्रमिकों की छटनी की जाय। पंचन्यायालय के निर्णयों में कहा गया है कि छटनी करने का पूर्ण उत्तरदायित्व उद्योग के व्यवस्थापकों पर है। यदि उद्योग के व्यवस्थापक युक्तिकरण अथवा बचत करने या अन्य पर्याप्त कारणों के आधार पर यह सिद्ध कर देते हैं कि छटनी की जानी चाहिए तो इसके पश्चात् इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि किसी सीमा तक छटनी की जायगी; इस विषय में इस बात पर भी विचार किया जाना चाहिए कि क्या व्यवस्थापकों द्वारा श्रमिकों की छटनी न्यायसंगत कार्यवाही है; कहीं वह अपने अनुचित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तो छटनी नहीं कर रहे हैं। छटनी करने के परिणाम स्वरूप बचे हुये कार्य करने वालों पर कार्य भार बढ़ाना मिल मालिकों की श्रमिकों के प्रति अनीति और अन्याय तथा स्वार्थ का एक उदाहरण है। छटनी करने की अनुमति केवल तभी दी जाती है जब यह सिद्ध हो जाता है कि व्यवस्थापकों की माँग न्यायसंगत है, उसका उद्देश्य अनुचित स्वार्थ साधन नहीं है और किसी गुप्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए छटनी नहीं की जा रही है।

इसके साथ ही यह भी व्यवस्था की गई है कि छटनी लागू करने में व्यवस्थापकों को दो महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को मानना पड़ेगा—(१) नई भर्ती के श्रमिक की छटनी पहले की जायगी और (२) यदि उद्योग में नई भर्ती हो और यदि छटनी में निकाले गये योग्य श्रमिक प्राप्त हो सकें तो नियुक्ति में उन्हें प्राथमिकता दी जायगी। अपील पंचन्यायालय के निर्णयों में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि कोई कम्पनी केवल लाभांश कम हो जाने के कारण अपने श्रमिकों की छटनी नहीं कर सकती है यदि बाजार में उत्पादित माल की माँग कम है या कच्चे माल के अभाव के कारण व्यापार में अल्पकालीन गतिरोध आ जाय तो ऐसी स्थिति में मालिक को श्रमिकों की छटनी कर उनकी आय छीन लेने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। यदि उद्योग अथवा कम्पनी के स्थायी आदेशों में व्यवस्था हो तो मालिक ऐसी स्थिति में मास में कुछ दिन कारखाने में बैठकी करा सकता है। स्थायी आदेशों के अनुसार बैठकी कराने से ३३ वीं धारा का उल्लंघन नहीं होता है। घाटे पर चलने वाले कारखाने को बन्द कर देने का मालिक को पूरा अधिकार है परन्तु यदि पचन्यायालय के सम्मुख मामला प्रस्तुत होने की अवधि में ऐसी स्थिति आ जाय तो कारखाना बन्द करने के लिए न्यायालय से अनुमति लेनी आवश्यक है।

अपील पंचन्यायालय के निर्णयों के आधार पर विकसित प्रणाली काफी संतोषजनक रही है परन्तु श्रमिकों की शिकायत है कि (अ) मालिक अपनी स्थिति का दुरुपयोग करते हैं और आवश्यकता न रहते हुए भी श्रमिकों की छटनी की जाती है और (ब) इससे काफी बड़ी संख्या में श्रमिक बेरोजगार हो गये हैं। इसके विपरीत मालिकों की शिकायत है कि उन पर अनेक ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये हैं जिससे उत्पादन व्यय को कम नहीं किया जा सका है और आवश्यकता न रहते हुए भी उन्हें अधिक श्रमिकों को कार्य पर लगाये रखना पड़ता है।

सरकारी नीति—भारत सरकार की नीति युक्तिकरण को प्रोत्साहित करने की है (अ) यदि किसी उत्पादन इकाई के मालिक और श्रमिक दोनों परस्पर इस बात को स्वीकार करते हैं अथवा (ब) औद्योगिक विकास समिति की योजना के अनुसार युक्तिकरण आवश्यक है और अपील पंचन्यायालय के निर्णयों के अनुकूल है। इन निर्णयों में यह भी दिया हुआ है कि श्रमिक को अल्पकाल के लिये कार्य से पृथक कर देने के बदले में अथवा छटनी कर देने के बदले में हरजाना देना पड़ेगा। जब तक कोई मिल मालिक आवश्यक हरजाना देता है और दी हुई संपूर्ण बातों को स्वीकार करता है तो युक्तिकरण में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। मार्च १९५४ में लोक सभा के तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि

देशमुख ने केन्द्रीय सरकार के बजट पर वादविवाद का उत्तर देते हुये कहा था कि:—

"*संगीत उद्योगों में २५ लाख से कुछ* थोड़े से अधिक व्यक्ति लगे हुये हैं जिनके सम्बंध में युक्तिकरण का प्रश्न उठाया जाता है। यह तो सर्वविदित है कि उद्योगों में रोजगार के अवसरों की पर्याप्त वृद्धि किये बिना कुशल व्यवस्था की प्रवृत्ति बढ़ने के कारण तथा जन संख्या की वृद्धि के फलस्वरूप श्रमिकों की निरन्तर बढ़ती हुई सख्या को कार्य देना सम्भव न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त ग्राम्य *आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत अत्यधिक संख्या में ऐसे व्यक्ति भी हैं* जिन्हें पूर्ण शक्ति भर कार्य करने का अवसर नहीं प्राप्त है। इस बात से तो सभी सहमत होंगे कि प्रौद्योगिक विकास के प्रति अदूरदर्शिता का परिचय देते हुये कार्य करने के अवसर में वृद्धि करना उचित न होगा। मेरा ऐसे विश्वास है कि युक्तिकरण द्वारा अस्थायी रूप से स्थानान्तरित व्यक्तियों को जो क्षति होती है वह जनता के हित के लिये आर्थिक व्यवस्था के प्रसार की नीति द्वारा पूर्ण हो जाती है। यह इस बात का एक और उदाहरण है जिसमें सामाजिक न्याय की वांछनीयता को आर्थिक महत्ता के आगे झुकना पड़ता है"।

"सभासदों को यह तो ज्ञात होगा ही कि हाल में ऐसे कानून बना दिये गये हैं जिनके अन्तर्गत श्रमिकों को अवकाश प्राप्त करने पर सहायता तथा कार्य करने के काल में यदि अस्थायी रूप से कार्य से पृथक होना पड़े तो भी उसका हरजाना दिया जायगा। सभा सदों को स्मरण होगा कि एक उद्योग विशेष में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि सरकार ने लोक सभा की बैठक का समय न होने के कारण अध्यादेश द्वारा इन कानूनों को प्रचलित कर दिया था। इससे यह स्पष्ट है कि सरकार ऐसे श्रमिकों के हित की रक्षा के लिये जो छटनी के अन्तर्गत आ गये हैं बहुत अधिक महत्व देती हैं। मैंने पहिले भी कहा है कि अस्थायी रूप से अपने कार्य पर से हटाये हुये श्रमिकों की कठिनाइयों को दूर करने के लिये जा कुछ सम्भव हो, किया जाना चाहिये, पर मेरा मत है कि हमें ऐसी नीति का अनुसरण न करना चाहिये जिससे प्रौद्योगिक विकास अवरुद्ध हो जाय और कार्य करने के अवसरों का विकास भी रुक जाय। किसी भी समय हर उद्योग में विभिन्न क्षमता वाले अनेक उपक्रम उत्पादन-कार्य करते रहते है। उनमें से कुछ तो हाल में ही आरम्भ किये हुये होते हैं या आरम्भ होते रहते हैं, कुछ में प्रसरण और कुछ मे संकुचन की प्रवृति लक्षित होती है और कुछ की ऐसी स्थिति होती है कि उनका अन्त होतो रहता है। *इसलिये उद्योग के समुचित विकास और वृद्धि के लिये यह* आवश्यक है कि प्रत्येक उपक्रम द्वारा अपनी परिस्थिति के अनुसार नियुक्त श्रमिकों

की संख्या के सम्बन्ध में कुछ लोच अवश्य रहे। हमें कुल कार्य करने के अवसरों के योग पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह नीति जो अपने आश्वासनों द्वारा छटनी असंभव करती है नये ढंगों से अन्य उपक्रमों द्वारा उत्पादन के विकास और वृद्धि को निश्चय ही रोक देगी और संभवतः उसके द्वारा देश की आर्थिक व्यवस्था को जिसमें श्रमिक अवश्य सम्मिलित हैं उस क्षति की तुलना में जिसे बचाने का प्रयत्न किया जा रहा है कहीं अधिक क्षति पहुँचायेगी"।

भारत के वित्त मन्त्री द्वारा स्थिति का यह ऐतिहासिक वर्णन इस बात को स्पष्ट करता है कि हमें एक या दो उपक्रमों मे छटनी किये जाने से चिन्तित नहीं होना चाहिये, वरन् हमें सम्पूर्ण स्थिति को विस्तृत दृष्टिकोण से देखना चाहिये। यदि हम ऐसा करेंगे तो युक्तिकरण हमारे लिये (१) बढ़ती हुई जन-संख्या के लिये कार्य के अवसर प्रदान करने का, (२) श्रमिकों की आय तथा उनके रहन-सहन के स्तर को बढ़ाने का और (३) उद्योगों की उत्पादन लागत कम करने तथा प्रौद्योगिक विकास निश्चय करने का साधन होगा। परन्तु यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत श्रमिकों की आवश्यक कठिनाइयों से रक्षा की जाय। इस संबन्ध में कार्य से पृथक किये जाने पर हरजाना देने का कानून द्वारा ही प्रबन्ध कर दिया है और उस श्रमिक विशेष के लिये अन्य कोई कार्य ढूंढ लेने का भी प्रयत्न किया जाना चाहिये।

सूती मिल उद्योग—१९२६-२७ में प्रशुल्क मण्डल ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि सूती मिल उद्योग में आवश्यकता से अधिक पूँजी एकत्र हो रही है और उसमें आवश्यकता से अधिक श्रमिक लगे हुए हैं। बोर्ड के कथनानुसार १९१७ और १९२१ के मध्य उद्योग की कुल पूँजी २०·८४ करोड़ से बढ़कर ४०·९८ करोड़ हो गई जो उस समय उद्योग की मशीन इत्यादि संपत्ति को देखते हुए बहुत अधिक थी। बोर्ड इन सब बातों का अध्ययन कर इस परिणाम पर पहुँचा कि भारतीय सूती मिलों में श्रम का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा रहा है। भारत में एक श्रमिक १८० तकुओं में कार्य करता है जब कि जापान का श्रमिक २४० में, इङ्गलैंड का श्रमिक ५४० से ६०० में और अमरीका का श्रमिक ११२० तकुओं में कार्य करता है। भारत में प्रत्येक बुनकर के पास औसतन २ कर्घे हैं जब कि इनकी संख्या जापान में २½, ब्रिटेन में ४ से ६ और अमरीका में ९ हैं। इन दोषों के कारण भारतीय सूती मिलों में उत्पादन व्यय अधिक होता है। प्रशुल्क मंडल की सिफारिशों के आधार पर सूती मिल उद्योग ने बंबई की कुछ मिलों में लागू करने के लिए युक्तिकरण की एक योजना निर्माण की। इस योजना की विशेषता यह थी कि एक व्यक्ति एक के स्थान पर दो कातने की मशीन चलाएगा और

एक बुनकर दो के स्थान पर ३ या ४ कर्घे चलायेगा। परन्तु श्रमिकों ने इस योजना का विरोध किया और इसे लागू नहीं किया जा सका। १६३२ में जाँच करने के पश्चात् प्रशुल्क मण्डल ने पता लगाया कि यदि यह योजना लागू की गई होती तो उत्पादन व्यय मे १७ से २० प्रतिशत तक कमी हो जाती। सूती मिल उद्योग ने उत्पादित वस्तु के प्रमाणीकरण, क्रय और विक्रय, व्यवसाय के पुर्नसंगठन और आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त मशीनों को अलग करने के लिए ७ मैनेजिंग एजेन्सियों को एक में एकत्रित करने की योजना निर्माण की। इन एजेन्सियों के पास ३४ मिलें थीं। इस योजना में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक मिल को पूर्व निर्धारित मूल्य पर ले लिया जायगा, मूल्य साधारण शेयरों में दिया जायगा, न बिके हुये माल का स्टाक बाजार भाव पर क्रय कर लिया जायगा और नाम के लिए कुछ धनराशि नहीं दी जायगी। परन्तु वित्त के अभाव के कारण योजना कार्यान्वित नहीं की जा सकी।

इन योजनाओं के विफल हो जाने पर भी सूती मिल उद्योग ने निरन्तर युक्तिकरण योजना लागू करने का प्रयत्न किया है। बम्बई श्रम समिति द्वारा प्रचलित की गई प्रश्नावली के उत्तर में बम्बई मिल मालिक संघ ने इस बात पर महत्व दिया कि भारतीय उद्योग ने उत्पादन में सभी आधुनिक उपायों को अपनाया है। अनेक सूती मिलों की पूँजी भी घटाई गई और १६२७ और १६४० के बीच सूती मिल उद्योग ने प्रशुल्क मण्डल के सुझाव के अनुसार मोटे और घटिया प्रकार के कपड़े के स्थान पर अच्छे प्रकार के कपड़ों का उत्पादन बढ़ाने की नीति अपनाई। परन्तु इस सुधारों के होते हुये भी सूती कपड़ा उद्योग की उत्पादन क्षमता कम है और उसके युक्तिकरण की आवश्यकता है। सूती मिल उद्योग सम्बन्धी वर्किंग पार्टी ने १६५२ मे यह पता लगाया था कि लगभग १५० वर्तमान सूती मिलें जो कि कुल मिलों की संख्या की लगभग ३३·६% थीं, आर्थिक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त और हीन क्षमता वाली मिलें थीं। ब्लोरूम के वाइन्डिंग विभाग में तथा रंगाई विभाग मे जिन मशीनों का प्रयोग हो रहा है वे अनुपयुक्त थीं। इस प्रकार कर्घों की संख्या के सम्बन्ध में जो प्रत्येक श्रमिक की देखरेख में था वर्किंग पार्टी ने पता लगाया था कि दिल्ली की एक मिल में और मद्रास की दो मिलों मे स्वचालित कर्घे ही लगाये गये हैं और एक एक बिनने वाला श्रमिक ४, ६, ८ और १६ कर्घों पर कार्य करता है। अहमदाबाद की एक मिल में १८ कर्घों पर एक श्रमिक और बम्बई की एक अन्य मिल में ६ कर्घे पर एक श्रमिक कार्य करता है। फिर भी अधिकांश मिलें उत्पादन क्षमता में हीन हैं और पुरानी मशीनों का प्रयोग करती हैं।

वर्किंग पार्टी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि उन मिलों का कार्य जो स्वचालित कर्घों का प्रयोग कर रही है संतोषजनक है। अन्य मिलों में भी स्वचालित कर्घों के आधुनिक और मशीनों के प्रयोग किये जाने तथा उत्पादन का युक्तिकरण करने की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। सितम्बर १६५४ में कानूनगो कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि उद्योगों के सभी विभागों जैसे मिलो, शक्ति संचालित कर्घों, हाथ कर्घों आदि का युक्तिकरण १५ वर्षों के अन्तर्गत हो जाना चाहिये। वर्किंग पार्टी ने युक्तिकरण की अवधि केवल १० वर्ष ही रक्खी थी।

उत्तर प्रदेश में कानपुर की सूती-मिलों को विशेष कठिनाइयों का सामना इसलिये करना पड़ रहा है कि उन्होंने अपनी आवश्यकता से अधिक श्रमिकों को लगा रक्खा है। इससे यहाँ की मिलों का उत्पादन व्यय देश के अन्य भागों की मिलों की अपेक्षा बहुत अधिक है। यदि इनमें युक्तिकरण न किया गया तो इन मिलों के बन्द हो जाने का भय है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि श्रमिक और मालिक दोनों ही ने जून १६५४ में नैनीताल में हुई त्रिदलीय सभा में इस बात को स्वीकार किया था कि कानपुर की सूती मिलों के उत्पादन का युक्तिकरण किया जाना चाहिये। इसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक श्रमिक, जैसा कि बम्बई में हो रहा है, दो कर्घों के स्थान पर चार कर्घों पर कार्य करेगा और कार्य भार की मात्रा में भी सामान्यतः वृद्धि हो जायगी। इससे मिलों का बन्द होना रुक जायगा और श्रमिकों को बरबस बेकार न रहना पड़ेगा। इस योजना के सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन श्रम मंत्री सम्पूर्णानन्दजी ने कहा था कि, "हाल में सेन्ट्रल डिस्प्यूट्स एक्ट में जो सुधार हुआ है उसने मालिकों के लिये अतिरिक्त श्रमिकों की छटनी करना हरजाना देकर अपेक्षाकृत अधिक सरल कर दिया है। अनेकों मिल मालिक इसमें अपना लाभ देखेंगे कि वे छटनी करके हरजाना देकर अपने मिल में स्थायी बचत कर लें। हमारी समस्या उन श्रमिकों की किसी प्रकार रक्षा करने की है जिनके छाँट दिये जाने का भय है। सरकार को युक्तिकरण की ऐसी योजना बनाने के निर्णय पर, जिसके अन्तर्गत ५००० और ६००० के मध्य अनुमानित छाँट दिये जाने वाले श्रमिकों को कार्य करने का अवसर प्राप्त हो सके, इस पृष्ठभूमि के समक्ष विचार करना चाहिये"। कानपुर की अनेक मिलें जो अभी तक बड़ी कठिनाई से दो शिफ्ट में कार्य कर पा रही थीं अब तीन शिफ्ट में कार्य कर सकेंगी जिससे कार्य करने के अधिक अवसर प्राप्त हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त युक्तिकरण की यह योजना कानपुर के सूती कपड़ा उद्योग के श्रमिकों की औसत पारिश्रमिक जिसमें मँहगाई भी सम्मिलित होगी, ८५ रु० से बढ़ाकर ११५ रु० प्रति मास और विशेष क्षमता वाले श्रमिकों के लिये १५० रु० प्रति मास कर सकेगी।

जूट उद्योग—जूट उद्योग भारत का सर्वाधिक सुसंगठित उद्योग है और आरम्भ से ही इस उद्योग ने यह नीति अपनाई है कि मशीनों का प्रयोग रोक कर तथा प्रति सप्ताह कम घन्टे कार्य करवा कर उत्पादन की मात्रा को आवश्यकता अधिक न होने दे ताकि बिना बिका माल स्टाक मे एकत्रित न होने पावे। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व जूट उद्योग के पास औद्योगिक साधन बाजार की कुल सेमाँग से कहीं अधिक थे। यह अनुमान लगाया गया था कि बाजार की कुल माँग को जूट उद्योग अपनी कुल मशीनों में से केवल एक चौथाई का उपयोग करके पूरा कर सकता है। परन्तु वर्तमान स्थिति बिल्कुल भिन्न है। यह आशा की जाती है कि भविष्य में जूट के सामान की माँग में वृद्धि होगी और जूट मिलों में इस समय जितनी मशीनें है उन सब का उपयोग करना पड़ेगा। परन्तु योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना मे जूट उद्योग का और प्रसार करने की कोई व्यवस्था नहीं की है। वार्षिक वास्तविक उत्पादन शक्ति १९५५-५६ मे भी १२ लाख टन ही रहेगी। *१९५०-५१ में भी उत्पादन शक्ति इतनी ही थी। यदि उद्योग* अपनी पूरी शक्ति से उत्पादन करे तो सारा उत्पादित माल घरेलू माँग और निर्यात करने मे खप जायगा।

१९४२ की गर्मियों मे भारत सरकार ने भारतीय जूट मिल मालिक संघ को सुझाव दिया था कि कोयले तथा परिवहन का संरक्षण करने के लिए उद्योग का युक्तिकरण आवश्यक है। सरकार के कथनानुसार रेलवे विभाग जूट उद्योग के कुल वास्तविक उत्पादन को पश्चिमी भागों तक ले जाने की व्यवस्था कर सकने में असमर्थ था। जाँच करने पर पता चला कि जूट की वस्तुओं की कुल मांग, जिनमें देश के अन्दर का उपभोग भी सम्मिलित है, लगभग ५५ हजार टन प्रति मास होगी जब कि कुल ९५ हजार टन माल का उत्पादन किया जा रहा था। इससे स्पष्ट था कि उत्पादन में कमी की जानी चाहिए। भारत सरकार ने सुझाव दिया कि उत्पादन कम करने के लिए केवल उन्हीं मिलों में उत्पादन कराया जाय जिनमें विद्युत संचालित मशीनें हैं। भारतीय जूट मिलों ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया और युक्तिकरण की एक नवीन योजना लागू कर दी जिसके अनुसार व्यय की बचत करने के लिए कोयले के केन्द्रीय स्टाक स्थापित किए गये और कोयले की उपलब्ध मात्रा की पूर्ति को नियन्त्रित किया गया। तदपश्चात् एक 'समूह योजना' लागू की गई जो १ जुलाई १९४४ से ३१ मार्च १९४६ तक *प्रचलित रही। युक्तिकरण की इस योजना से उद्योग कोयले के व्यय में बचत* करने में सफल हुआ और कुछ मिलों को युद्ध की परिस्थितियों से विवश होकर जो *हानि उठानी पड़ी उसका और अधिक समान वितरण किया जा सका।*

वर्तमान समय में अपनी पुरानी और घिसी हुई मशीनों को परिवर्तन करने के लिए और अन्यदेशों के उद्योगों की भाँति उत्पादन के बिल्कुल आधुनिक उपायो का उपयोग करने के लिए जूट उद्योग को युक्तिकरण की योजना लागू करने की अत्यन्त आवश्यकता है। चूँकि भारत के जूट उद्योग को विदेशी उत्पादकों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है इसलिए अन्य देशों द्वारा प्रयुक्त प्राविधिक कुशलताओं का यहाँ भी उपयोग किया जाना चाहिए। भारत की कुछ मिलो ने आधुनिक मशीनों का उपयोग आरम्भ कर दिया है। उत्पादन व्यय कम करने के लिए अन्य उद्योगों को भी ऐसा करने की आवश्यकता है। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने में दो सब से बड़ी कठिनाइयाँ यह हैं कि (१) इनके लिए ४० से ४५ करोड़ रुपये की आवश्यकता है, जो वर्तमान समय से उपलब्ध कर सकना कठिन है और (२) इन योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने से लगभग ४० हजार श्रमिक वेरोजगार हो जायँगे।

कोयला उद्योग—कोयला उद्योग में कोयले की छोटी-छोटी और आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त खानों को सम्मिलित कर एक बड़ी इकाई का रूप देने, विभिन्न उपायो से धातुशोधन के कार्य आनेवाले बढ़िया कोयले का संरक्षण करने और कोयले की खानों में मशीनों का उपयोग करने के लिए युक्तिकरण की योजना लागू करना आवश्यक है।

कोयला उद्योग में मशीनों का उपयोग करने से अभिप्राय यह है कि खान मे कोयला काटने और उसे नियत स्थान तक ले जाने के लिए मशीनो का प्रयोग किया जाय और कोयला निकालकर नियत स्थान तक ले जाने की दोनों क्रियाएँ साथ-साथ हो। भारत में मशीनों का प्रयोग अभी बहुत कम हुआ है। १६४४ में कोयला निकालने की २१० मशीनें थीं जिनसे २१ लाख टन कोयला निकाला जाता था। १६३८ मे इस प्रकार की केवल १८६ और १६३५ में केवल ६५ मशीनें थीं। १६५१ के मध्य तक भारत में ३७४ मशीनो से प्रति मास लगभग ५ लाख ६० हजार टन कोयला (अर्थात् ७० लाख टन कोयला प्रतिवर्ष) निकाला गया जो औसत मासिक उत्पादन का लगभग १९·६ प्रतिशत था। भारतीय कोयला-खान समिति ने १६४६ में सिफारिश की कि भारतीय कोयले की खानों मे मशीनों का उपयोग किया जाना चाहिए क्योंकि मशीनों के उपयोग से ही उत्पादन शीघ्र बढ़ाया जा सकता है जो कि भविष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान में मशीनों के उपयोग के प्रति थोड़ी प्रतिकूलता होने के कारण शायद सस्ते श्रम की उपलब्धि है। जब श्रम महँगा पड़ने लगेगा, पारिश्रमिक बढ़ने लगेगा तो अवश्य ही इस प्रतिकूलता में परिवर्तन होगा और तब मशीन और श्रम के बीच

उपयोगिता की दृष्टि से विचार कर उपयुक्त साधन छाँटने के सम्बन्ध में निर्णय किया जा सकेगा। कोयला उद्योग के सम्बन्ध में १९५० में वर्किङ्ग पार्टी ने सुझाव दिया कि खानों में मशीनों का उपयोग करने से ही सुनियोजित उपाय से शीघ्र उत्पादन बढ़ाया जा सकता है और भविष्य में देश के औद्योगीकरण की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है। सम्पूर्ण व्यवस्था का सन्तुलित विकास करने के लिए खानों में शीघ्र ही मशीनें नहीं लगानी चाहिएँ। इसके लिए एक अवधि निश्चित की जानी चाहिए। यह उचित नहीं है कि एक साथ सभी खानों में मशीनों की सहायता से उत्पादन आरम्भ कर दिया जाए। इसके लिए एक एक खान करके प्रगति करनी होगी। क्रमशः मशीनों का उपयोग बढ़ाने पर भी कोयले की खान के श्रमिकों में बेरोजगारी फैल सकती है। वर्किङ्ग पार्टी इस परिणाम पर पहुँची कि खानों में मशीनों का उपयोग करने में बेरोजगारी के भय से बाधा उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। मशीनों के उपयोग से हानियों की अपेक्षा लाभ कहीं अधिक हैं। इसकी सफलता के लिए वर्किङ्ग पार्टी ने सुझाव दिया है कि (१) छोटी-छोटी कोयले की खानों को कम से कम १० हजार टन प्रति मास उत्पादन करने वाली इकाई के रूप में सगठित कर दिया जाय और (२) कोयले की खानों में लगाई जानेवाली मशीनों का भारत में ही निर्माण किया जाय।

भारत के अधिकांश उद्योगों में कम से कम तीन क्षेत्रों में युक्तिकरण की योजना लागू करना अत्यन्त आवश्यक है (१) कारखानों के स्थानीयकरण में सुधार, जैसे चीनी और कुछ सीमा तक लोहे तथा इस्पात के कारखानों में। १९५१ के उद्योग (विकास एवम् नियमन) कानून के अन्तर्गत स्थापित लाइसेन्सिंग समिति ने पूर्व से ही चीनी के कुछ कारखानों को अधिक अच्छे स्थान पर हटा लेने की अनुमति दे दी है। लोहे और इस्पात उद्योग के सम्बन्ध में आशा की जाती है कि नये लोहे और इस्पात के कारखानें नये स्थानों पर स्थापित किए जायँगे; (२) उत्पादन के उपायों में सुधार, जैसे गन्धक का व्यय कम करने के लिए चीनी उद्योग में, धातुशोधन के काम आने वाले बढ़िया कोयले को बचाने के लिए लोहे तथा इस्पात के उद्योग में और उत्पादित माल का प्रकार सुधारने तथा उत्पादन व्यय घटाने के लिये उत्पादन के ढंग में सुधार करने की आवश्यकता है; (३) कारखानों का आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त ढाँचा निश्चित करने के लिए प्रति मशीन पीछे कार्य करने वाले श्रमिकों की सख्या में कमी करने की आवश्यकता है। भारत के लोहे तथा इस्पात, चीनी, सूती, कपड़ा, जूट तथा अन्य उद्योगों में प्रत्येक मशीन पर आवश्यकता से अधिक श्रमिक नियुक्त किये जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन व्यय अधिक होता है और उद्योग की

प्रतियोगिता शक्ति शिथिल पड़ जाती है। प्रत्येक उद्योग के अधिकांश कारखाने ऐसे हैं कि उनकी उत्पादन शक्ति अनुकूलतम स्तर से नीचे है। उत्पादन क्षमता में कमी का यह भी एक कारण है कि चीनी की अनेक मिलों में प्रतिदिन ८०० टन (जो गन्ना पेरने की अनुकूलतम शक्ति है) से कम गन्ना पेरा जाता है। यदि उत्पादन की शक्ति का पूरा उपयोग किया जाय तो ८०० टन गन्ना पेरा जा सकता है। यही स्थिति अन्य उद्योगों की भी है। कागज के कुछ कारखाने प्रतिवर्ष ८ हजार टन कागज अनुकूलतम उत्पादन करने की क्षमता नहीं रखते हैं, कुछ सिमेंट के कारखानों का वार्षिक उत्पादन १·५ लाख टन की अनुकूलतम उत्पादन शक्ति से कम है। अनेक सूती मिलों की अनुकूलतम उत्पादन शक्ति भी जैसा पहले कहा जा चुका है आवश्यकता से कम है। मिलों की सङ्गठित इकाई में लगभग २५,००० तकुए और ६०० कर्घे चलने चाहिएँ। युक्तिकरण की योजना लागू करके अधिकांश कारखानों को अनुकूलतम उत्पादन शक्ति के स्तर पर लाया जा सकता है और उत्पादन व्यय कम किया जा सकता है।

युक्तिकरण की योजना लागू करने में सबसे बड़ी कठिनाई श्रमिकों का विरोध और बहुत बड़ी मात्रा में वित्त की आवश्यकता है। कुछ ऐसे उत्पादन भी युक्तिकरण की योजना लागू करने में बाधा उत्पन्न करते हैं जो इस योजना के लाभ को नहीं समझते और इसे लागू करने के लिये प्रस्तुत नहीं होते हैं। परन्तु श्रमिकों का सहयोग प्राप्त कर चतुर उत्पादकों और सरकार को भारतीय उद्योग की प्रौद्योगिक कार्यक्षमता में सुधार करने के लिए धीरे-धीरे सुनियोजित आधार पर युक्तिकरण की योजना लागू कर देनी चाहिये।

अध्याय २८

बेरोज़गारी की समस्या

यह आश्चर्यजनक बात है कि आर्थिक दृष्टि से बहुत कम विकसित दे[illegible] में वस्तुओं और विभिन्न प्रकार के सेवा कार्यों के अभाव के साथ बेरोजगारी [illegible] और बहुत बड़ी मात्रा में श्रम-शक्ति अप्रयुक्त पड़ी हो। भारत आर्थिक दृष्टि [illegible] बहुत कम विकास कर सका है परन्तु यहाँ बेरोजगारी भीषण रूप धारण कि[illegible] हुए है। इस कारण भारत की राष्ट्रीय आय बहुत कम है, रहन-सहन का स्त[illegible] बहुत निम्न है और जनता दुखी तथा असन्तुष्ट है। भारत में केवल शिक्षि[illegible] लोगों और उद्योगों तथा कृषि क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों को ही बेरोजगार[illegible] का सामना नहीं करना पड़ रहा है वरन् नागरिक एवम् ग्रामीण क्षेत्र की प्राय[illegible] सम्पूर्ण जनता इसके चंगुल में फँसी हुई है। पाश्चात्य देशों में भी बेरोजगारी [illegible] परन्तु उसका कारण व्यापार में मन्दी आ जाने से कुछ समय के लिए वस्तुओं [illegible] माँग की कमी है। इसके साथ ही वहाँ कुछ ऐसे कारखाने हैं जो वर्ष में कु[illegible] मास चलने के पश्चात् शेष मास बन्द रहते हैं और इन मासों में वहाँ बेरोजगार[illegible] फैल जाती है। प्रायः एक कार्य छोड़ने के पश्चात् तुरन्त दूसरा कार्य नहीं मि[illegible] पाता और इस बीच की अवधि में भी एक प्रकार की अस्थायी बेरोजगारी रहत[illegible] है तथा अन्य प्रकार की अल्पकालीन बेरोजगारी होती है।

भारत में बेरोज़गारी तथा आंशिक रोज़गारी अधिकांश जनता के जीवन का स्थायी अंग बन चुके हैं। इसका कारण यह है कि देश की जन-संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है और देश के आर्थिक साधनों का बहुत कम विका[illegible] किया गया है। गत कुछ वर्षों से इस समस्या ने गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर ल[illegible] है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इसके निम्नलिखित कारण बताए गए हैं :—

(अ) जन-संख्या की तीव्र गति से वृद्धि;

(ब) ग्राम्य उद्योगों का नष्ट हो जाना जिनमें ग्रामों के बहुत से व्यक्ति[illegible] को आंशिक व्यवसाय प्राप्त हो जाता था;

(स) व्यवसाय की दृष्टि से कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पादन क्षेत्रों क[illegible] अपर्याप्त विकास (यद्यपि गत ४० वर्षों में काफी विकास हुआ है फिर भी १९१[illegible] के पश्चात् कृषि क्षेत्र में व्यवसायों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति ३ प्रतिशत रही है)

(द) देश-विभाजन के परिणाम स्वरूप जन-संख्या का बहुत बड़ी संख्या में विस्थापित होना।

आंकड़ों के अभाव में यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता है कि भारत में बेरोजगारी या आंशिक व्यवसाय प्राप्त व्यक्तियों की संख्या कितनी है। कुछ अधिकारियों का अनुमान है कि ग्रामों में जन-संख्या का लगभग ३० प्रतिशत बेरोजगार है और ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है जो आंशिक रूप से रोजगार पाए हुए हैं। अन्य अनुमानों के अनुसार देश की कुल जन-संख्या ग्रामीण एवं नागरिक दोनों क्षेत्रों में बेरोजगार और आंशिक व्यवसाय प्राप्त व्यक्तियों की संख्या ५ या ६ करोड़ के बीच में है। यह बेरोजगारी की बहुत बड़ी संख्या है। पश्चिम के कुछ काफी विकसित देशों में समृद्धि के समय कुल जितने व्यक्तियों को व्यवसाय प्राप्त है उनके एक से तीन प्रतिशत से भी कम व्यक्ति बेरोजगार रहे हैं। परन्तु भारत की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। भारत के समृद्धि काल में व्यवसाय प्राप्त व्यक्तियों के अनुपात में बेरोजगारों की संख्या पाश्चात्य देशों के अधिकतम मन्दी के काल की तुलना में कहीं अधिक है।

"भारतीय समस्या का सम्बन्ध देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की प्रकृति से है। इसलिये इस पर विचार इसी दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये। शिक्षित वर्ग की बेकारी की विशेष महत्ता के प्रदर्शन से, जो कि स्वाभाविक भी है, इस वर्ग के विशेष मुखरित होने और राजनैतिक प्रभाव डालने की क्षमता रखने के कारण हम भ्रान्ति में पड़ सकते हैं। वर्तमान स्थिति में सबसे अधिक हानि उठाने वाले भूमि हीन कृषि तथा गैर-कृषि ग्राम्य श्रमिक, नगर में रहने वाले सामयिक श्रमिक, ग्राम्य तथा नगर के छोटे-छोटे उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिक, तथा फुटकर कार्य करने वाले दस्तकार इत्यादि हैं। इन सब से वे श्रमिक जो आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से हीन हैं सबसे अधिक हानि उठाते हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से पददलित जातियाँ, आदिवासी तथा निकृष्ट दस्तकारी का कार्य करने वाले व्यक्ति हैं"।

पाश्चात्य देशों में बेरोज़गारी एक अस्थायी समस्या के रूप में होती है और सरकार तथा मिल मालिकों द्वारा ठीक समय पर कार्यवाई कर देने से उसके हल हो जाने की आशा रहती है परन्तु पाश्चात्य देशों में प्रयुक्त उपायों द्वारा भारत की समस्या का हल नहीं किया जा सकता। भारत में इस समस्या को दीर्घ कालीन दृष्टिकोण से हल करने के लिए यह आवश्यक होगा कि कृषि की भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाने के साथ ही जनता को सुनियोजित करने और उस पर नियन्त्रण रखने, भूमि की उर्वरता में वृद्धि करने तथा औद्योगिक सम्भावनाओं को विकसित

करने की आवश्यकता है। किसी भी सरकार से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह प्रतिवर्ष १३ प्रतिशत की दर से बढ़ने वाली जन संख्या को व्यवसाय दे सकेगी जब कि व्यवसाय के साधनों में भी इसी गति से वृद्धि नहीं होती। चूँकि प्रवास के द्वारा जन संख्या की समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता है इसलिए सभी को व्यवसाय का न्याय संगत अवसर प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि भूमि पर और औद्योगिक साधनों पर जन संख्या के दबाव को कम करने के लिए जनसंख्या से वृद्धि को रोका जाए। परन्तु इस व्यवस्था को लागू करने में अधिक समय लगेगा और बेरोजगारी की समस्या को इतने समय तक बिना हल किए छोड़ देना सम्भव नहीं है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना ने कुछ नये व्यवसाय के अवसर प्रदान किये थे। परन्तु योजना के तीसरे वर्ष से निरन्तर बेकारी के बढ़ते रहने के कारण आयोग को यह स्पष्ट हो गया कि देश के औद्योगिक और आर्थिक विकास द्वारा इस समस्या के सुलझाने के उपाय को सर्व-प्रधानता देनी आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से प्रथम योजना पर व्यय की जाने वाली धन राशि अक्टूबर १९५३ में १८० करोड़ रुपया बढ़ा दी गई जिससे कि नवीन विशेष योजनाओं के लिए, जो कि व्यवसाय के अवसरों की वृद्धि करेंगी और बढ़ती हुई बेकारी रोकेगी, पर्याप्त वित्त प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास के कार्यक्रम को १९५३-५४ के गत निर्णय के अनुसार अन्त कर देने के स्थान पर पूर्ण योजना काल तक चालू रखने का भी निर्णय किया गया। बेकारी की समस्या को हल करने के पुनर्परीक्षित कार्यक्रम के अन्तर्गत यह प्रस्ताव किया गया कि (१) राज्य-वित्त निगम स्थापित किये जाँय, (२) केन्द्र से राज्यों को देश की दरिद्रता कम करने के लिए नई योजनाओं के चालू करने के लिए वित्तीय सहायता दी जाय, (३) सड़कों के निर्माण के लिए तथा छोटी-छोटी शक्ति उत्पादन की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये अनुदान दिये जाँय और (४) औद्योगिक शिक्षा की सुविधाओं का विस्तार किया जाय। पर जैसा भय था उसके अनुसार यह समस्या सुलझाने का आंशिक प्रयत्न असफल रहा। ग्रामों और नगरों दोनों स्थानों पर ऐसे व्यक्तियों की संख्या जो आंशिक व्यवसाय प्राप्त या बेरोजगार है निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह आशा की जाती है कि इस समस्या को वास्तविक रूप से सुलझाने का प्रयत्न किया जायगा जिसमें देश के औद्योगिक विकास पर अधिक महत्व दिया जायगा और साथ ही साथ जन संख्या की वृद्धि पर कुछ नियंत्रण भी रक्खा जायगा। यही उपाय द्वितीय योजना का मूलाधार है।

यदि भारत के कारखानों द्वारा निर्मित वस्तु के उत्पादन और विक्रय में

वृद्धि हो तो औद्योगिक बेरोजगारी को कम किया जा सकता है । यह तभी सम्भव है जब प्रति इकाई उत्पादन व्यय कम किया जाए। बहुत से उद्योगों में पारिश्रमिक उत्पादन व्यय का एक महत्वपूर्ण अंग है । गत १० वर्षों में भारत के श्रमिकों के पारिश्रमिक में पूर्व स्तर से ३½ से ४½ गुना अधिक वृद्धि हुई है परन्तु इस वृद्धि के साथ ही श्रमिक की कुशलता में वृद्धि नहीं हुई है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कुछ कारखाने बन्द कर देने पड़े जिससे श्रमिकों में बेरोजगारी फैली। यह स्थिति बहुत समय पूर्व ही आ गई होती परन्तु युद्ध के समय वस्तुओं का अभाव हो गया था और वह अभाव युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् भी रहा। वस्तुओं का उत्पादन व्यय अधिक होते हुए और भावों का स्तर अधिक रहते हुए भी अपने समान का विक्रय कर सकने में उद्योग सफल रहे। परन्तु अब उपभोक्ता इस स्थिति का आगे निर्वाह कर सकने में असमर्थ हैं। इसलिए बेरोजगारी को कम करने के लिए या तो भारत के श्रमिकों को कम पारिश्रमिक लेने के लिए प्रस्तुत रहना होगा या उन्हें कार्य अधिक करना पड़ेगा।

इसके साथ ही केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो द्वारा विभिन्न प्रकार के कर लगाने से, विभिन्न सरकारी नियन्त्रणो और निजी उद्योग में अन्य प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देने से भारतीय उद्योगों के उत्पादन व्यय में वृद्धि हो गई है। भारत के औद्योगिक क्षेत्र में लग-भग निजी उद्योगों का ही बोल बाला है। इसलिए अधिक उत्पादन करने के लिए और उद्योगों में व्यवसाय की सभावना में वृद्धि करने के लिए निजी उद्योग क्षेत्र को सभी संभव सुविधाएँ और उसके मार्ग में सरकारी प्रतिबन्धों द्वारा बाधा नहीं डालनी चाहिए। यदि सरकार अपनी कर, श्रम तथा उद्योग सम्बन्धी नीतियों में ऐसा परिवर्तन करे जिससे उत्पादन तथा निर्यात में वृद्धि के लिए उद्योगों को प्रोत्साहन मिल सके तो उद्योग क्षेत्र में बेरोजगारी बहुत अंशों में कम की जा सकती है।

यह सुझाव दिया गया है कि भारतीय उद्योग क्षेत्र में युक्तिकरण की योजनाओं को लागू करने की अनुमति न दी जाय क्योंकि इससे उद्योग क्षेत्र में बेरोजगारी में वृद्धि होती है। यदि यह सुझाव मान लिया गया तो औद्योगिक क्षेत्र में बेरोजगारी घटने की अपेक्षा और अधिक बढ़ेगी। जब बाजार में पूर्ति माँग से कम है तो इस बात का विशेष महत्व नहीं है कि भारतीय उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तु की प्रति इकाई का उत्पादन व्यय कितना है। परन्तु चूँकि अब खरीदार अपनी व्यय शक्ति के अनुकूल क्रय करना चाहता है जिसके कारण बाजार की स्थिति उसी हाथ में है, उद्योगों की परस्पर प्रतियोगिता शक्ति विशेष महत्व की बात हो हो गई है। यदि किसी कारखाने का उत्पादन व्यय भारत या विदेश में अपनी

प्रतिद्वन्दी कारखाने के उत्पादन व्यय से अधिक है तो वह कारखाना अवश्य नष्ट हो जायगा युक्तिकरण उत्पादन व्यय को कम करने का एक उपाय है। यदि युक्तिकरण की योजनाओं को लागू किया जायगा तो इससे कुछ बेरोजगारी अवश्य फैलेगी परन्तु यदि युक्तिकरण योजनाओं को लागू ही न किया गया तो यह सम्भव हो सकता है कि कारखाना सदैव के लिए बन्द कर देना पड़े और पूर्व की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या मे व्यक्तियो को बेरोजगारी का सामना करना पड़े।

कुछ व्यक्तियों का मत है कि भारत सरकार ने जून १९४४ में जो योजना प्रकाशित की थी और जो अब तक वैकल्पिक रही है उसे अनिवार्य कर देना चाहिए। इस योजना के अनुसार बेरोजगार व्यक्ति को अपने बेरोजगारी मास के पूर्वार्द्ध मे पारिश्रमिक की साधारण दर का ७५ प्रतिशत मिलेगा और उत्तरार्ध में ५० प्रतिशत। इस योजना में पहले ही मान लिया गया है कि भारतीय उद्योग इस अतिरिक्त परिश्रमिक के घन भार वहन कर सकने मे समर्थ हैं, परतु वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है। भारतीय उद्योग को जितना लाभ होता था उसकी मात्रा घट गई है और यदि उद्योग पर अधिक भार पड़ा तो वह वहन कर सकने में असमर्थ सिद्ध होगा। भारत के अनेक कारखाने पहले ही बन्द हो चुके हैं। यदि यह योजना अनिवार्य की गई तो कुछ और कारखाने भी बन्द हो जायँगे।

"प्रथम योजना काल के अनुभव से यह आवश्यक हो गया है कि बेकारी की समस्या पर केवल सामूहिक रूप से ही नही वरन् ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रों के दृष्टिकोण से भी विचार करना चाहिये। इस समस्या के विस्तार का, जो कि आगामी कुछ वर्षों में होगा, ठीक-ठीक अनुमान करने के लिये यह आवश्यक है कि देश के विभिन्न भागों के ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रों मे इसकी वास्तविकता को समझ लिया जाय। यह भी आवश्यक है कि शिक्षित वर्ग की बेकारी को अन्य लोगों की बेकारी से अलग कर लिया जाय"।

"प्रथम योजना के आंकड़ों के परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि आधी योजना कार्यान्वित होने पर बेकारी निरन्तर बढ़ती जा रही थी। प्रथम योजना काल में रजिस्टर किये हुये बेरोजगार लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही यह मार्च १९५१ में ३·३७ लाख रु० तथा दिसम्बर १९५३ में बढ़कर ५·२२ लाख हो गई और १९५६ के मार्च मे ७·०५ लाख हो गई। योजना आयोग की सिफारिश के अनुसार नेशनल सैम्पिल सर्वे ने जो प्रारंभिक परीक्षण नगरवासियों में बेरोजगारों का किया था उसके परिणामों के दृष्टिकोण से यदि इन आँकड़ों को

देखा जाय तो इनसे बड़े महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश पड़ता है। इस सर्वे के अनुसार नागरिकों में बेरोजगारों की (१९५४) संख्या २२·४ लाख आँकी गई थी। इस सर्वे ने बेकार लोगों की संख्या और जिनका नाम रजिस्टर किया जा चुका था उनकी संख्या के बीच अनुपातिक सम्बन्ध भी स्थापित करने का प्रयत्न किया है। सर्वे का अनुमान था कि लगभग २५% बेरोजगार व्यक्ति एक्सचेन्ज के दफ्तर में अपना रजिस्टर करवाते हैं। इस आधार पर नगरवासियों में बेरोजगारी की संख्या वर्तमान काल में २८ लाख के लगभग आती है। यह अनुमान सामान्यतः देश के विभिन्न भागों के नगरों में किये गये परीक्षणों की रिपोर्टों के समान है। सामयिक बेकारी, को जो कि विकासमान आर्थिक व्यवस्था में अवश्यम्भावी है, छूट देते हुये हम यह कह सकते हैं कि नगरवासियों में बेकार लोगों की संख्या २५ लाख के लगभग अनुमान की जाती है। इस संख्या में नगर के श्रमिकों की संख्या में नगर के श्रमिकों की संख्या बढ़ाने के लिये नवीन आगन्तुकों को भी जोड़ लेना चाहिये। यह अनुमान किया जाता है कि आगामी ५ वर्षों में लगभग ३८ लाख व्यक्ति इस कारण बेकारों में जोड़ दिये जायंगे।

आगामी ५ वर्षों में श्रमिकों की गणना में वृद्धि आने वाले नवागन्तुकों की संख्या १ करोड़ अनुमान की गई है। इस संख्या में से नागरिक श्रमिकों में नवागन्तुकों की अनुमानित ३८ लाख संख्या घटा कर १९५६-६१ के मध्य ग्राम्य श्रमिकों की गणना में वृद्धि करने वाले नवागन्तुकों की संख्या ६२ लाख के लगभग आवेगी। निम्न तालिका यह बतलाती है कि द्वितीय योजना काल में यदि बेकारी की समस्या को समाप्त करना है तो कितने व्यवसायों के अवसर प्रदान करने पड़ेंगे :—

(१० लाख में संख्यायें)

	नगरों के क्षेत्र में	ग्रामों के क्षेत्र में	योग
श्रमिकों में नवागन्तुकों के लिये	३·८	६·२	१०·०
वर्तमान श्रमिकों में बेरोजगार व्यक्तियों के लिये	२·५	२·८	५·३
योग	६ ३	९·०	१५·३

यदि इस प्रकार रोजगार के अवसरों को पैदा करना सम्भव भी हो सके तो भी आंशिक रोजगार की समस्या को जो बेकारी की समस्या की ही तरह महत्वशाली है सुलझाया नहीं जा सकता।

द्वितीय योजना का ध्यान प्रधानतः बेरोजगारी और आंशिक बेरोजगारी की समस्या पर है। इसलिये द्वितीय योजना में एक ओर बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले संयुक्त पूँजी वाले उपक्रमों के विकास के प्रति और दूसरी ओर ग्राम्य तथा छोटे उद्योगों के विकास के प्रति इस आशा से प्रधानता दी गई है कि ये किसी सीमा तक बेकारी की समस्या को सुलझा सकेंगे। सरकारी क्षेत्र में कुल व्यय लगभग ४८०० करोड़ रुपये का अनुमान किया गया है, जिसमें से केवल ३८०० करोड़ रुपये विनियोग दिखाते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत क्षेत्र में विनियोग की मात्रा २४०० करोड़ रुपये अनुमान की गई है। राज्यों एवं केन्द्रीय मंत्रालयों द्वारा पूरित आंकड़ों तथा व्यक्तिगत क्षेत्र के लिए उत्पादन शक्ति में वृद्धि सम्बन्धी मान्यताओं को विचाराधीन रखते हुए जो ध्येय निश्चित किए गए हैं उनके आधार पर द्वितीय योजना द्वारा प्रदत्त रोजी के अतिरिक्त अवसरों का अनुमान लगाया जा सकता है। निम्न तालिका में इन परिणामों का निष्कर्ष दिया गया है।

(१० लाख की संख्या में)

अनुमानित अतिरिक्त रोजी (वृत्ति) [कृषि को छोड़ कर]		
१. निर्माण	...	२·१०
२. सिंचाई तथा विद्युत योजनाएँ	...	·०५
३. रेलवे	...	·२५
४. अन्य यातायात और संचार	...	·१८
५. उद्योग तथा खनिज	...	·७५
६. कुटीर तथा छोटे उद्योग	...	·४५
७. वन, मछली पकड़ना, राष्ट्रीय विकास योजना, तथा सम्बन्धित अन्य योजनाएँ	...	·४१
८. शिक्षा	...	·३१
९. स्वास्थ्य	...	·१२
१०. अन्य सामाजिक सेवाएँ	...	·१४
११. सरकारी नौकरियाँ	...	·४३
योग (१ से ११ तक)		५·२०
१२. "अन्य" जिनमें वाणिज्य और व्यापार जो कुल का ५२% है सम्मिलित हैं	...	२·७०
कुल योग		७·९०

द्वितीय पंचवर्षीय योजना द्वारा कितने नवीन व्यवसायों को अवसर प्रदान किया जा सकेगा उसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। "आयोग द्वारा परीक्षा करने से यह ज्ञात होता है कि प्रथम योजना काल में जो प्रत्यक्ष व्यवसाय के अवसर सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्र में प्रदान किये गये उनकी संख्या ४५ लाख के लगभग थी। इस अनुमान में वाणिज्य और व्यापार आदि के क्षेत्र के अन्तर्गत अतिरिक्त व्यवसाय सम्मिलित नहीं किये गये हैं। विकास सम्बन्धी प्रयत्न को द्विगुणित करके जो द्वितीय योजना में अतिरिक्त व्यवसाय के अवसरों के प्रदान करने का ध्येय बनाया गया है वह कुछ विशेष अधिक नहीं होगा। इसका कारण यह है कि द्वितीय योजना में विकास सम्बन्धी व्यय प्रथम योजना काल के व्यय से कोई विशेष अधिक नहीं हो पायेगा, क्योंकि सरकारी क्षेत्र में योजना का व्यय १९५५-५६ में ६०० से ६२० करोड़ रुपयों के लगभग निश्चित किया गया है, जब कि विकास योजनाओं पर १९५०-५१ में २२४ करोड़ रुपया ही व्यय किया गया था। प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष में सरकारी क्षेत्र में व्यय की मात्रा १९५०-५१ के व्यय की मात्रा से लगभग ४०० करोड़ रुपये अधिक होने की सम्भावना है। यह भी सम्भव है कि प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष की तुलना में विकास योजनाओं पर व्यय में वृद्धि द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष में लगभग ६०० करोड़ रुपया हो। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजना में विनियोग के ढंग को देखकर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारी उद्योगों और यातायात पर, जो कि अल्पकाल में बहुत कम व्यवसाय के अवसर प्रदान कर सकते हैं, बहुत अधिक धन व्यय किया जाने वाला है।" इसका अर्थ यह है कि परम सौभाग्य होते हुये भी ८० लाख से अधिक व्यक्तियों के लिये (कृषि को छोड़ कर) द्वितीय योजना के उपायों द्वारा व्यवसाय प्रदान करना सम्भव न हो सकेगा जब कि बेकारी की समस्या को पूर्ण रूपेण हल करने के लिये १५२.५ लाख व्यक्तियों के लिये व्यवसाय प्रदान करना आवश्यक है।

मई १९५८ में योजना आयोग द्वारा जारी की गई पुस्तिका 'द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की सम्भावनायें मूल्यांकन' के अनुसार "पहले दो वर्षों में कृषि के बाहर रोजी के २० लाख अवसर प्रदान किये गये। लगभग १० लाख श्रम-शक्ति १९५८-५९ में रोज़ी पा सकेगी। यह स्मरण रखना चाहिये कि योजना में ७९ लाख व्यक्तियों के कृषि के बाहर तथा १६ लाख व्यक्तियों के कृषि के अन्दर रोजी पाने की सम्भावना है। विभिन्न योजनाओं की लागत में वृद्धि हो जाने के फल-स्वरूप कृषि के बाहर सरकारी क्षेत्र में ४८०० करोड़ रु० के व्यय के अनुमान पर लगभग ७० लाख व्यक्तियों को रोजी मिल सकेगी। यदि यह व्यय ४५००

करोड़ ८० हो तो रोज़ी पाने वालों की संख्या ६५ लाख के लगभग होगी। यह अनुमान बिल्कुल सही नहीं है किन्तु इनसे इतना तो पता चलता ही है कि हमारी अर्थ व्यवस्था में श्रम-शक्ति की वार्षिक वृद्धि के अनुरूप विनियोग नहीं हो रहा है।"

रोजगार के दफ्तरों का कार्य

भारत में रोजगार के दफ्तरों का एक जाल सा बिछा हुआ है जो बेरोजगार व्यक्तियों के आवेदनों को स्वीकार करते हैं और उन रिक्त स्थानों के लिये उन्हें भेज देते हैं *जो सरकार तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा विज्ञप्ति किये जाते हैं।* इसमें संदेह नहीं कि रोजगार के दफ्तर बेरोजगारी कम करने में सहायक हैं, क्योंकि वे बेरोजगार व्यक्तियों का सम्बन्ध व्यवसाय प्रदान करने वालों से स्थापित कर देते हैं परन्तु ये रोजगार के दफ्तर ही मनुष्य की अप्रयुक्त शक्ति की समस्या को सुलझाने के सफल उपाय तो नहीं हैं। इनका कार्य क्षेत्र प्रचलित आर्थिक *और सामाजिक स्थिति के अन्तर्गत ही सुविधायें प्रदान करना है।* ये दफ्तर नवीन व्यवसायों को तो उत्पन्न कर नहीं सकते। वे तो केवल बेरोजगार व्यक्तियों को जो कार्य करने की क्षमता रखते हैं और करना चाहते हैं निर्देश मात्र ही दे सकते हैं। वे उन व्यवसायों के लिये जो विज्ञापित हैं और जिनके लिये स्थान रिक्त हैं उपयुक्त व्यक्ति भी नहीं ढूढ़ सकते।

यह सब होते हुए भी बेरोजगार व्यक्तियों को प्राप्त स्थानों के लिये निर्देश देना भी बेरोजगारी की समस्या के सुलझाने में एक बड़ी सहायता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि रोजगार के दफ्तर में नाम रजिस्टर कराये हुए बेरोजगार व्यक्तियों से हमें बेकारी की समस्या का पूर्ण चित्र नहीं प्राप्त होता, पर उससे निःसंदेह बेरोजगारी की बदलती हुई प्रवृत्ति ज्ञात होती है। यह बड़ी चिन्ता का *विषय है कि रोजगार के दफ्तरों में रजिस्टर किये हुये व्यक्तियों की संख्या* १६५६ मे ७,५८,५०३ थी। १६५७ मे यह बढ़कर ६,२२,०६६ हो गई। १६५६ में केवल १,८६,८५५ के जगह दी गई। १६५७ मे यह संख्या बढ़कर १,६२,८३१ हो गई।

रोजगार के दफ्तरों को अधिक प्रभाव शाली बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उनका पुर्नसंगठन किया जाय। इस सम्बन्ध में प्रशिक्षण और व्यवसाय व्यवस्था समिति ने जिसे प्रायः बी० शिवा राव कमेटी कहते हैं भारत सरकार को ८ *अप्रैल १६५४ मे दी हुई रिपोर्ट में निम्न सिफारिशें कीं :—*

(१) रोजगार के दफ्तरों की व्यवस्था को विस्तृत करके उसे राष्ट्रीय सेवा का एक स्थायी व अधिक अधिकार प्राप्त विभाग बना देना चाहिये ;

(२) प्रशासन विकेन्द्रित होना चाहिये। इसका यह अर्थ है कि नीति

चाहे सरकार द्वारा क्यों न निर्धारित की जाएं पर उनका नित्य प्रति का प्रशासन राज्य सरकार द्वारा होना चाहिये;

(३) केन्द्रीय सरकार द्वारा रोजगार के दफ्तरों को जो अनुदान सहायतार्थ दिया जाता है वह चालू रहना चाहिये, पर उसकी मात्रा को क्षेत्रीय प्रधान कार्यालयों तथा राज्यों के रोजगार के दफ्तरों के कुल व्यय के ६०% तक सीमित कर देना चाहिये; और १९५३-५४ के बजट में जो धनराशि निर्धारित की गई हो अथवा १९५२-५३ में जो वास्तविक व्यय किया गया हो, इन दोनों राशियों में से जो राज्य की सरकार के दृष्टिकोण से उसके लिये अधिक लाभकारी हो, उसे अनुदान की अधिकतम मात्रा नियत कर देनी चाहिये;

(४) रोजगार के दफ्तरों के कार्यों का विस्तार किया जाना चाहिये और उनके कार्यों में निम्न कार्यों को भी सम्मिलित करना चाहिये: (क) मालिकों और कार्य करने वाले वर्गों के साथ बहुत अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना चाहिये; उनको चाहिये कि व्यवसाय चाहने वालों के आवेदनों को स्वीकार करें और तब तक उनसे अपना सम्बन्ध रक्खें जब तक कि उस पर नियुक्ति न हो जाय; (ख) नाम रजिस्टर कराये हुये व्यक्तियों का निरीक्षण तथा सहायता करें और उनकी आवश्यक परीक्षा लें; (ग) रजिस्टर कराये हुए व्यक्तियों की फाइलें निर्माण करें, आवश्यकता पड़ने पर बार-बार उनके फ़ाइलों का नये सिरे से निर्माण करें, और योग्य आवेदकों के प्रार्थना पत्रों को कार्य देने वाले व्यक्तियों के पास भेजें और उनकी नियुक्ति का लेखा निर्माण करें और सुरक्षित रक्खें; (घ) व्यवसाय के अवसरों का पता लगावें और व्यक्तियों तक इसकी सूचना पहुँचाने की सुविधायें प्रदान करें ताकि बेरोजगारों को व्यवसाय प्राप्त हो सके और मालिकों को उपयुक्त कार्य करने वाले इन दफ्तरों को चाहिये कि वे व्यवसाय सम्बन्धी आँकड़े प्रकाशित करें और कौन सा कार्य कब तक चलेगा इसके सम्बन्ध में अपना मत भी प्रकाशित करें;

(५) अदक्ष श्रमिकों को न तो रजिस्टर करने की आवश्यकता है और न उनके आवेदनों की। जो व्यक्ति ऐसे श्रमिकों की सेवायें चाहते हैं उनको घोषणा द्वारा या किसी अन्य रूप से सूचित कर देना ही पर्याप्त होगा। इसके पश्चात् जो कार्य करना चाहते हैं उन्हें सीधे मालिकों के पास पहुँच जाना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो प्रतिदिन रोजगार के दफ्तर पर इकट्ठा होते हैं तथा घोषणा द्वारा जिन रिक्त स्थानों की सूचना दी जाती है उनके आँकड़े तैयार करने की आवश्यकता नहीं है; और

(६) सरकारी तथा अर्ध सरकारी संस्थाओं द्वारा नियुक्त किये जाने के

सम्बन्ध में ये दफ्तर जो सिफारिशें करें उनके परिणाम की कुछ दिन तक जाँच करने के पश्चात् व्यक्तिगत क्षेत्र में भी इन दफ्तरों की सिफारिशों पर नियुक्त करना अनिवार्य कर दें।

सरकार ने बी० शिवाराव कमेटी के अभिस्तावों को आंशिक रूप में स्वीकार कर लिया है और रोजगार के दफ्तरों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये निम्न उपायों को द्वितीय योजना में कार्यान्वित करने का निर्णय किया है: (१) रोजगार दिलाने के विभाग को १२५ नये रोजगार के दफ्तरों की स्थापना करके विस्तृत करना ताकि अन्य बहुत से व्यवसाय के केन्द्र इनके अन्तर्गत आ सकें; (२) व्यवसाय की सूचनाओं के एकत्रित करने तथा लोगों तक पहुँचाने की योजना निर्माण करना, (३) चुने हुये व्यवसाय के दफ्तरों में नवयुवक रोजगार सेवा संस्था की स्थापना करना तथा वयस्कों के लिये व्यवसाय की सलाह देना तथा 'करियर पेम्फलेट' आदि उपयुक्त तत्सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित करना; (४) रोजगार सम्बन्धी विश्लेषण तथा खोज के कार्य-क्रम बनाना ताकि विभिन्न व्यवसायों के नाम तथा परिभाषा मान्य स्तर की बनाई जा सकें; और (५) रोजगार के दफ्तरों में व्यवसायिक परीक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम बनाना। इन उपायों से भारत की व्यवसाय दिलाने वाली सेवाओं की कार्य कुशलता अधिक बढ़ जायगी परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि रोजगार के दफ्तर राष्ट्रीय सेवा विभाग के रूप में विकसित हो जाँय और तभी उनके लिये बेरोजगार व्यक्तियों को व्यवसाय ढूढ़ना और दिलाना भी सम्भव हो सकेगा। कमेटी ने प्रशासन को विकेन्द्रित करने की सिफारिश की है क्योंकि ऐसा करने से राज्य सरकारों को भी इस संस्था के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जायगी और बेरोजगार के दफ्तरों का राज्य की सरकार तथा राज्य के अन्तर्गत व्यक्तिगत मालिकों से सम्बन्ध स्थापित करने में भी यह सहायक भी सिद्ध होगी। विकेन्द्रियकरण से प्रान्तीयता के बढ़ने तथा अन्तरप्रान्तीय जनसंख्या के आवागमन में बाधा पड़ने का भय निर्मूल है क्योंकि इन रोजगार के दफ्तरों की नीति तो केन्द्रीय सरकार द्वारा ही निर्धारित होगी। इन संस्थाओं के कार्यों के प्रसार के सम्बन्ध में जो सुझाव दिये गये हैं उनसे मालिकों तथा रोजगार के दफ्तरों के बीच और बेरोजगार व्यक्तियों और रोजगार के दफ्तरों के बीच अच्छा सम्बन्ध भी स्थापित हो सकेगा। अदक्ष श्रमिकों के सम्बन्ध में उनकी रजिस्ट्री न करने की सलाह देने में ऐसा लगता है कि कमेटी इस कार्य के विस्तार तथा सम्भावित अधिक व्यय से विशेष प्रभावित हो गई थी। पर ऐसा करने से इसमें संदेह नहीं कि रोजगार के दफ्तरों की बेरोजगारी की समस्या सुलझाने के सम्बन्ध में उपयोगिता अवश्य कम हो जायगी।

अध्याय २६

औद्योगिक गृह निर्माण

औद्योगिक गृह निर्माण की समस्या श्रमिकों को कम किराये पर उपयुक्त आवास प्रदान करने की है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भी बड़े-बड़े कस्बों और नगरों में, विशेष कर औद्योगिक केन्द्रों में, रहने के लिये घरों का अभाव था। श्रमिक लोग चौल तथा बस्तियों में बड़े अस्वास्थ्य वातावरण में रहते हैं। गत कुछ वर्षों से जन संख्या मे वृद्धि होने, पाकिस्तान से शरणार्थियों के आने तथा व्यक्तिगत लोगो द्वारा कम संख्या में नये घरो के निर्माण के कारण दशा और भी अधिक शोचनीय हो गई है। १६३१, १६४१ और १६५१ की जनगणना के अनुसार जनसख्या मे क्रमशः ११, १४'३ और १३'४ प्रतिशत वृद्धि हुई परन्तु नागरिक क्षेत्रों में यह वृद्धि क्रमशः २१, ३२ और ५४ प्रतिशत हुई। पाकिस्तान से लगभग ८५ लाख शरणार्थियों के आ जाने से नागरिक क्षेत्रों में जनसंख्या का दबाव बढ़ा जिसके प्रभाव से रहने की व्यवस्था और जटिल हो गई। शरणार्थियों ने गाँव की अपेक्षा बड़े कस्बों और नगरों में ही रहना अधिक पसन्द किया। इससे नगरों और कस्बो में रहने के लिए घरों की माँग बढ़ी परन्तु पूर्ति न हो सकने से यह अभाव की खाई चौड़ी होती गई। माँग के अनुसार घरों की पूर्ति न हो सकने का कारण यह है कि इमारत बनाने के सामान का अधिक मूल्य होने के कारण और बाजार में सामान के अभाव के फलस्वरूप नई इमारतें को पर्याप्त मात्रा में नहीं बनाया जा सका। इसके साथ ही मकानों को किराये पर देने और किराये की दरों पर सरकारी प्रतिबन्ध लगाने से भी इस दिशा में प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और इसी कारण बढ़ती जनसंख्या के साथ मकानों की व्यवस्था नहीं की जा सकी।

गृह निर्माण की प्रवृत्ति—वर्तमान मे मुख्य गृह निर्माण एजेन्सियाँ निम्नलिखित हैं :—(१) सरकारी अथवा अन्य एजेन्सियाँ, (२) उद्योगपति, (३) सहकारी समितियाँ, (४) अपने उपयोग के लिए मकान बनाने वाले व्यक्ति, और (५) निजी उद्योग। निजी उद्योग के मालिकों की ओर अपने उपयोग के लिए गृहनिर्माण कराने वाले व्यक्तियों की अब गृहनिर्माण की ओर गति मन्द हो गई है। गत कुछ वर्षों में इस दिशा की ओर सरकारी तथा अन्य मिली-जुली एजेन्सियों, उद्योगपतियों और सहकारी समितियों की गति मे विशेष रूप से वृद्धि हुई है।

प्रथम योजना काल में ७६,६७६ किराये के घरों के निर्माण के कार्यक्रम

को स्वीकृति दी गई थी। इनमें से १६,१६५ बम्बई में, २१,७०६ उत्तर प्रदेश में, ५,६२६ हैदराबाद में, ५,१८१ मध्यप्रदेश में, ३,४४४ मध्यभारत में तथा इससे कम संख्या में अन्य राज्यों में बनवाये जाने वाले थे। जितने किराये के घरों का निर्माण प्रथम पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने के पूर्व किया जा चुका था उनकी संख्या ४०,००० के लगभग थी। जितने किराये के घरों के निर्माण की अनुमति दी गई है उनमें से ६८,२०० अथवा ८५% के लगभग राज्य सरकारों द्वारा, १०,१६१ अथवा १३% श्रमिकों के निजी उद्योग द्वारा और १,११८ या १·६% उद्योगों में काम करने वालों की सहकारी समितियों द्वारा बनवाये जा रहे हैं। जब यह योजना निर्माण की गई थी उस समय सहकारी समितियों और मालिकों के सहयोग की अधिक आशा की थी। योजना के इस पक्ष पर विचार किया जा रहा है और ऐसे उपाय सोचे जा रहे हैं जिनसे कि मालिकों और कारखानों के श्रमिकों की सहकारी समितियों का अधिक सहयोग प्राप्त हो। इनके अतिरिक्त पुनर्वास, रक्षा, रेलवे, लोहा और इस्पात, उत्पादन, सूचना, निर्माण, गृह निर्माण तथा पूर्ति आदि मन्त्रालयों द्वारा भी गृह निर्माण के समुचित कार्यक्रम कार्यान्वित किये जा रहे हैं। राज्य सरकारें और कुछ स्थानीय अधिकारियों के अपने निजी गृह निर्माण के कार्यक्रम भी चालू हैं। यह अनुमान किया जाता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में पुनर्वास मन्त्रालय ने नगरों में ३,२३,००० किराये के घर बनवाये और राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय मन्त्रालयों ने, निर्माण, गृहनिर्माण तथा पूर्ति के मन्त्रालयों को छोड़ कर लगभग २००,००० गृहों का निर्माण करवाया। अन्य गृहनिर्माण की योजनाओं को, जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, सम्मिलित करते हुए सरकारी विभागों ने प्रथम योजना काल में लगभग ७,४२,००० गृहों का निर्माण करवाया। व्यक्तिगत लोगों ने कितने गृहों का निर्माण कराया उसकी संख्या जानना कठिन है। कर जाँच आयोग के इस सम्बन्ध में परीक्षा करने से ज्ञात हुआ कि नगरों में गृहनिर्माण के सम्बन्ध में कुल विनियोग १९५३-५४ में लगभग १२५ करोड़ रुपया था। यदि इसे हम पाँच वर्षों की अवधि का औसत मान लें और एक घर के बनवाने में औसत व्यय १०,००० रु० के लगभग मान लें तो यह ज्ञात होगा कि प्रथम योजना काल में लगभग ६००,००० गृहों का निर्माण व्यक्तिगत क्षेत्र में हुआ। इस प्रकार प्रथम योजना काल में लगभग १३ लाख घर नगरों में बनवाये गये।

प्रथम योजना काल में ग्रामों में भी रहने की स्थिति में सुधार के कुछ उपायों का प्रयोग किया गया है। सामुदायिक विकास योजना क्षेत्रों से ५८,००० ग्राम्य शौचालय, १६०० मील लम्बी नालियाँ और २०,००० कुँये बनवाये गये हैं

और लगभग ३४,००० कुँओं का जीर्णोद्धार किया गया है और राष्ट्रीय विकास क्षेत्रों में ८०,००० ग्राम्य शौचालय, २७०० मील लम्बी नालियाँ, ३०,००० नये कुँये और ५१०० पुराने कुँओं का जीर्णोद्धार किया गया है। राष्ट्रीय विकास तथा सामुदायिक विकास योजनाओं के क्षेत्रों में लगभग २६००० घरों का निर्माण हुआ है और लगभग उतने ही पुराने घरों का जीर्णोद्धार किया गया है। अनेकों राज्यों में ग्रामों में ईंट के भट्ठे स्थापित किये जा रहे हैं। कहीं-कहीं पर सहकारी समितियों की सहायता इस कार्य में ली जा रही है। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में १९५०-५१ में १६ सहकारी ईंट के भट्ठे खोले गये थे; १९५४-५५ तक उनकी संख्या बढ़कर ७५२ हो गई और भट्ठों के आस-पास के ग्रामों में अधिकाधिक नये ढंग के पक्के मकान बनते जा रहे हैं। बहुत से राज्यों में हरिजनों के आवास की स्थिति को, विशेष भूमि क्षेत्रों को उनके लिये नियत करके तथा सहकारी गृहनिर्माण समितियों की स्थापना द्वारा, सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत निर्माण, पूर्ति तथा गृहनिर्माण मन्त्रालय ने ग्राम्य गृहनिर्माण आगार की स्थापना की है जिसका ध्येय इस क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करना और गृहों के नये-नये आकारों, अभिन्यासों, निर्माण के ढगों तथा स्थानीय कच्चे माल के प्रयोग करने के उपायों की खोज करना है।

कठिनाइयाँ—अधिक मकानों के निर्माण के लिए प्रोत्साहित करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं :

(१) ग्राम और नगर में भूमि, इस्पात, ईंट, सिमेंट, लकड़ी की चौखट इत्यादि के मूल्य में बहुत वृद्धि हुई। यह सभी चीजें मकान बनाने के लिए बहुत आवश्यक हैं। इन वस्तुओं के मूल्य अधिक होने पर भी गृह-निर्माण संभव था परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसके लिए पर्याप्त धन नहीं मिल पाता है। दूसरी ओर यदि अधिक व्यय पर मकान बनाया जाय तो उसका किराया भी अधिक होना चाहिए परन्तु गृह निर्माण का कार्य तीव्र गति से करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि श्रमिकों तथा अन्य निर्धन और मध्यम श्रेणी के लोगों को सस्ते किराये पर मकान दिये जा सकें। इसलिए समस्या यह है कि मकान बनाने के सामान का मूल्य घटाया जाय; महँगे सामान के स्थान पर सस्ते मूल्य का कोई दूसरा उपयुक्त सामान लगाया जाय और श्रमिकों इत्यादि के लिए सुखदाई परन्तु कम व्यय में मकान बनाने के लिए मकान के आकार-प्रकार और उसके ढाँचे इत्यादि के सम्बन्ध में खोज कार्य किया जाय। परन्तु यदि गृह निर्माण के व्यय में पर्याप्त कमी भी कर दी जाय तब भी गृह निर्माण योजना को कार्यान्वित करने के

लिए रुपये की आवश्यकता होगी और जब तक पर्याप्त धन, जो कम से कम १०० करोड़ रुपया होगा, प्राप्त नहीं होता तब तक सभी आवश्यकताग्रस्त लोगों के लिए मकानों की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। बाजार में रुपये की तंगी है और जनता के पास पर्याप्त धन नहीं है। इसलिए घर बनाने के इच्छुक लोगों को कम ब्याज पर रुपया देने के लिये कुछ उपाय खोज निकालना अत्यन्त आवश्यक है।

(२) मकानों का किराया बढ़ाने पर राज्य सरकारों ने प्रतिबन्ध लगा दिया है। सरकार तथा अन्य एजेन्सी, उद्योगपति और सहकारी समितियाँ लाभ की चिन्ता किये बिना गृह निर्माण कार्य में वृद्धि कर सकती है। परन्तु किराये पर नियंत्रण लग जाने से और नगरों तथा कस्बों में मकानों का एलौटमैन्ट करने की व्यवस्था से निजी उद्योगों के मालिक नये मकान बनवाने की ओर से लगभग निराश हो चुके हैं। कुछ राज्यों में ऐसी व्यवस्था है कि एक निश्चित तिथि के पश्चात् बने नये मकानों पर यह नियन्त्रण लागू नहीं होते हैं इससे नये मकान बनवाने के कार्य को प्रोत्साहन मिला है।

१९५२ में एशिया और सुदूर पूर्वी आर्थिक सम्मेलन का गृह निर्माण विषयक अधिवेशन दिल्ली में हुआ था। इस सम्मेलन में सुझाव दिये गये थे कि (१) आदर्श योजनाएँ चालू की जॉय जिनमें इस्पात और इमारती लकड़ी के स्थान पर बाँस तथा अन्य लकड़ियों के उपयोग की जाँच की जाय और (२) इसी प्रकार की अन्य योजनाओं द्वारा ईंट इत्यादि बनाने के लिए उपयुक्त चिकनी मिट्टी की भी जाँच की जाय। इस प्रकार की आदर्श योजनाओं के द्वारा हम श्रमिकों तथा अन्य लोगों के लिये सस्ते और सुखदाई मकानों का निर्माण करने के उपाय खोज सकते हैं।

सरकारी योजनाएँ—औद्योगिक शांति प्रस्ताव में सुझाये गये गृह निर्माण कार्य क्रम के आधार पर भारत सरकार ने १९४९ में एक गृह निर्माण योजना तैयार की। इस योजना में यह व्यवस्था की गई कि राज्य सरकारों तथा कर्मचारियों इत्यादि के द्वारा बनाये जाने वाले मकानों में जितना रुपया लगेगा उसका दो तिहाई केन्द्रीय सरकार ब्याज मुक्त ऋण के रूप में देगी, परन्तु इसके लिये मालिकों को भी कुछ शर्तें माननी पड़ेंगी। इस योजना के अनुसार मालिक तथा राज्य सरकारों को एक तिहाई व्यय की स्वयं व्यवस्था करनी पड़ती है। केन्द्रीय सरकार से उन्हें केवल इतना ही लाभ प्राप्त है कि आवश्यक पूँजी का $\frac{2}{3}$ अंश ब्याजयुक्त ऋण के रूप में प्राप्त हो जाता है।

परन्तु इस योजना के असफल हो जाने पर भारत सरकार ने यह अनुभव

किया कि गृह निर्माण कार्य को प्रोत्साहन देने के लिये राज्य सरकारों और कारखाने इत्यादि के मालिकों को इसके लिये नकद आर्थिक सहायता देनी पड़ेगी। इसी विचार से एक योजना निर्माण की गई और उसे प्रायः सभी राज्यों की सरकारों के पास विचारार्थ भेजा गया। इस योजना मे यह प्रस्ताव रखा गया था कि गृह निर्माण कार्य को प्रोत्साहन देने के लिये राज्य सरकारों तथा निजी उद्योगपतियों को भूमि के मूल्य का अधिक से अधिक २० प्रतिशत केंद्रीय सरकार सहायता के रूप में देगी। परन्तु इसके लिए यह शर्तें लगाई गईं कि (१) मकान वास्तव में श्रमिकों को किराये पर दिया जायगा, (२) किरायेदार से घर की कुल लागत का, जिसमें भूमि का मूल्य भी सम्मिलित है, केवल ढाई प्रतिशत ही वसूल किया जायगा परन्तु यह किराया श्रमिक की आय के १० प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिये, (३) घर केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित विशेष आकार प्रकार के बनने चाहिएँ और (४) घर का निरीक्षण करने के लिये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के निरीक्षकों और गृह-निर्माण बोर्ड को सभी आवश्यक सुविधायें दी जानी चाहिएँ। इस योजना का कार्यक्षेत्र सीमित था और राज्य सरकारों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इसलिये भारत सरकार ने १९५२ के अंत में एक अधिक व्यापक योजना तैयार की जिसके अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि केन्द्रीय सरकार गृहनिर्माण कार्य को प्रोत्सान देने के लिये राज्य सरकारों और गृहनिर्माण बोर्ड को कुल व्यय का ५० प्रतिशत तक सहायता के रूप में देगी। इसमें भूमि का मूल्य भी सम्मिलित किया जायगा। शेष ५० प्रतिशत के लिये सरकार ४½ प्रतिशत ब्याज पर ऋण देगी जिसे २५ वर्ष के अन्दर चुकाया जा सकता है। सहकारी समितियों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई कि गृह निर्माण के कुल व्यय का २५ प्रतिशत सरकार सहायता के रूप में देगी और साथ ही कुल निर्माण-व्यय का ३७½ प्रतिशत धन ४½ प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर ऋण देगी जिसे १५ वर्ष के अन्दर चुकाया जा सकता है। उद्योग के मालिकों को सरकार कुल लागत का २५ प्रतिशत आर्थिक सहायता के रूप में और कुल व्यय का ३७½ प्रतिशत तक ४½ प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर से ऋण देगी। यह ऋण १५ वर्ष के अन्दर चुकाना होगा। इन सब के सम्बन्ध में ऋण तथा अनुदान की मात्रा स्टेन्डर्ड लागत के आधार पर अनुगणित मात्रा पर ही सीमित कर दी जायगी। बम्बई और कलकत्ता के सम्बन्ध में १ कमरे वाले कई मंजिले मकानों की स्टेन्डर्ड लागत ४५०० रुपया और अन्य स्थानों में २७०० रुपया आँकी गई है। दो कमरे वाले कई मंजिले मकानों की बम्बई और कलकत्ता में लागत ४५३० रुपया (जो कि अब बढ़ाकर ५६३० रुपया

कर दी गई है) और अन्य स्थानों में ३४६० रुपया आँकी गई है। एक मंजिले मकानों के लिये स्टेन्डर्ड लागत का अनुमान कम धन राशि है।

इस पुनर्परीक्षित योजना की दो मुख्य विशेषतायें हैं: (१) सहकारी समितियों को व्यय की ५०% तक ऋण रूप से सहायता मिल सकेगी जबकि मूल योजना के अन्तर्गत केवल ३७½ ही मिल सकती थी और १५ वर्षों में ऋण के चुकता करने के स्थान पर अब २५ वर्ष का समय भी मिल जायगा; और (२) स्टेन्डर्ड किराया विभिन्न प्रकार के मकानों के लिये बम्बई तथा कलकत्ता में १० रुपये से लगाकर ३० रुपया तक और अन्य नगरों और कस्बों में १० रुपये से लगाकर २६ रुपया तक नियत कर दिया गया है। इससे योजना अधिक पूर्ण बन गई है। यह आशा की जाती है कि गृह निर्माण कार्य को इस योजना के अन्तर्गत अधिक प्रोत्साहन भी मिलेगा।

आर्थिक सहायता प्राप्त गृह निर्माण योजना के अन्तर्गत, जो सितम्बर १९५२ में लागू हुई, १९५७-५८ केन्द्रीय सरकार द्वारा मञ्जूर की गई धनराशि २५·७६ करोड़ रु० थी जिसमें १३·२८ करोड़ रु० ऋण के रूप में तथा १२·५१ करोड़ रु० आर्थिक सहायता के रूप में थे। इसके अन्तर्गत ९१,२५० घर थे। नवम्बर १९५७ तक पूर्ण हुये मकानों की संख्या ६६,७०० थी तथा शेष निर्माण के विभिन्न चरणों में थे।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक तथा अन्य गृह निर्माण योजनाओं के लिये अधिक धन सहायता में देने का निश्चय किया गया है। प्रथम योजना में ३८·५ करोड़ रुपयों की सहायता का प्रबन्ध किया गया था परन्तु द्वितीय योजना में १२० करोड़ रुपयों की सहायता का निम्न तालिका के अनुसार प्रबन्ध किया गया है:—

सहायता प्राप्त औद्योगिक गृह निर्माण	...	४५ करोड़ रुपये
निम्न आय-वर्ग के लिये गृह निर्माण	...	४० ,, ,,
ग्राम गृह निर्माण	...	१० ,, ,,
बस्तियों की सफाई और भंगियों के लिये गृह निर्माण		२० ,, ,,
मध्य वर्ती आय वर्ग के लिये गृह निर्माण	...	३ ,, ,,
रोपणोद्योग के लिये गृह निर्माण	...	२ ,, ,,
योग		१२० ,, ,,

द्वितीय योजना के अन्तर्गत व्यय की योजना अधिक विस्तृत है और अनेकों नये व्यय के शीर्ष उसमें सम्मिलित कर लिये गये हैं जो कि प्रथम योजना में नहीं थे और कार्य का ध्येय निम्न है:—

औद्योगिक गृह निर्माण

		गृहों की संख्या
१.	सहायता प्राप्त औद्योगिक घर	१२८,०००
२.	निम्न आय वर्ग के लिये घर	६८,०००
३.	बस्तियों में रहने वालों के लिये नये घर जिनमें भंगी भी सम्मिलित हैं—	११०,०००
४.	मध्य वर्ती आय वर्ग के लिये घर	५,०००
५.	रोपण उद्योग के श्रमिकों के लिये घर	११,०००
६.	ग्रामीण गृह निर्माण योजना	१,३३,०००
	योग	४,५५,०००

अन्य केन्द्रीय मन्त्रालयों द्वारा, राज्य सरकारों तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा तथा कोयले की खानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिये गृह निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम के कारण व्यक्तिगत लोगों द्वारा बनवाये घरों के अतिरिक्त ७५३,००० गृहों का (जिनकी संख्या ८००,००० के लगभग द्वितीय योजना काल में आँकी गई है) निर्माण होगा। इस प्रकार द्वितीय योजना में कुल १९ लाख घरों के निर्माण का अनुमान है जबकि प्रथम योजना काल में केवल १३ लाख घरों का ही निर्माण हुआ था।

द्वितीय योजना के पहले तीन वर्ष में गृह निर्माण के ऊपर किये जाने वाले कुल व्यय का अनुमान ४० करोड़ है। "आर्थिक सहायता प्राप्त औद्योगिक गृह निर्माण योजना के अन्तर्गत १९५६-५९ इन तीन वर्षों में ४२,६०० इकाइयों के निर्माण की व्यवस्था है। निम्न आय वर्ग के अन्तर्गत २२,००० इकाइयों के निर्माण की तथा भंगियों के गृह निर्माण के अन्तर्गत २२००० इकाइयो के निर्माण की व्यवस्था है। ग्रामीण गृह निर्माण योजना १९५८-५९ में प्रभावपूर्ण ढंग से लागू की जा रही है। चूँकि द्वितीय पचवर्षीय योजना में काट-छाँट हो रही है अतएव गृहनिर्माण के लिये सशोधित राशि १०० करोड़ रु० होगी जो प्रारम्भिक राशि से २० करोड़ रु० कम है। ४५०० करोड़ रु० के कुल व्यय में गृह निर्माण पर किया जाने वाला व्यय ८४ करोड़ रु० है। इसमें ६४ करोड़ रु० राज्यों के लिये है तथा २० करोड़ रु० केन्द्र के लिये है।"

अध्याय ३०

श्रम की कार्यक्षमता

यह लोक प्रसिद्ध है कि भारतीय श्रमिक निपुण नहीं है। उसकी प्रति घंटा उत्पादन शक्ति भी बहुत कम है। यदि पाश्चात्य देशों के उसी प्रकार के श्रमिकों की उत्पादन शक्ति से तुलना की जाय तो पता चलेगा कि भारतीय श्रमिकों का उत्पादन बहुत गिरा हुआ है। जापान, ब्रिटेन और अमरीका के श्रमिक की अपेक्षा उतने ही समय में भारतीय श्रमिक बहुत कम कार्य कर पाता है।

सूती मिल उद्योग संबन्धी प्रशुल्क मण्डल (१९२६-२७) ने बताया कि भारतीय श्रमिक अथवा आपरेटर ने १८० तकुओं पर कार्य किया जब कि इतने ही समय में जापान के श्रमिक ने २४०, इंगलैंड के श्रमिक ने ५०० से ६०० के बीच और अमरीकी श्रमिक ने ११२० तकुओं पर कार्य किया। भारतीय बुनकर औसतन २ कर्घे चलाता है जब कि जापान का बुनकर २½, ब्रिटेन का ४ से ६ तक और अमरीका का ९ कर्घे चला लेता है। इससे भारतीय श्रमिक की सापेक्षिक कार्यक्षमता का आभास मिलता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि गत कुछ वर्षों से कतिपय सूती मिलों में कार्यक्षमता में काफी वृद्धि हुई है। सूती उद्योग सम्बन्धी वर्किङ्ग पार्टी (१९५२) ने जाँच करके पता लगाया कि दिल्ली की एक और मद्रास की दो मिलों में एक बुनकर ४, ६, ८ और १६, अहमदाबाद की एक मिल में १८ और बम्बई की एक मिल में ६ कर्घे चला लेता है। कार्यक्षमता में इस वृद्धि का कारण यह है कि इन मिलों में स्वचालित आधुनिक मशीनें लगी हुई हैं जिससे श्रमिक अधिक काम कर सकता है परन्तु कार्य में इतनी प्रगति होते हुए भी आज तक यह बात सत्य मानी जाती है कि भारतीय श्रमिक ब्रिटेन या जापान के अपने ही प्रकार के श्रमिक से कम निपुण है। कोयला-खदान उद्योग के सम्बन्ध में भारत की जिओलोजीकल, माइनिंग और मेटालर्जीकल सोसाइटी के २८ वें वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष के भाषण में बताया गया कि भारत में एक श्रमिक का उत्पादन २·७ टन है जब कि ब्रिटेन के मजदूर का ६·२६ टन, जर्मनी के श्रमिक का ८·६६ टन और अमरीका के श्रमिक का २१·६८ टन है। भारतीय श्रमिक का प्रतिघण्टा उत्पादन गत कुछ वर्षों में गिरा है। योजना आयोग ने बताया है कि कोयला खदान उद्योग में कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या १९४१ में २, १४, २४४ से बढ़कर १९५१ में ३,४०,००० हो गई है जब कि इसी अवधि में कोयले

का उत्पादन २ करोड़ ५८ लाख ६० हजार टन से बढ़कर ३ करोड़ ४० लाख टन हो गया। इस प्रकार जब श्रमिकों की संख्या में ५८ प्रतिशत वृद्धि की गई तो उत्पादन केवल ३२ प्रतिशत बढ़ा है परन्तु श्रमिक का प्रतिघण्टा उत्पादन १२७ टन से गिरकर लगभग १०० टन हो गया।

यद्यपि सभी उद्योगों के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना प्राप्त नहीं है फिर भी १९५५ में प्रकाशित कतिपय उद्योगों की उत्पादकता और अर्जित आय के परिवर्तनों से निम्न बातें ज्ञात होती हैं :

(i) कोयला उद्योग में १९५१-१९५४ के बीच खोदने तथा लादने वालों की उत्पादकता में ०·०७६ प्रति माह वृद्धि हुई जबकि प्रति सप्ताह नकद आय में ०·२६ की वृद्धि हुई।

(ii) कागज उद्योग में, १९४८-१९५३ के बीच मजदूरों की औसत आय में तो वृद्धि हुई किन्तु इनकी उत्पादकता बढ़ने का कोई चिन्ह नहीं था।

(iii) जूट उद्योग में १९४८-१९५३ के बीच उत्पादकता की वृद्धि २·६ प्रतिवर्ष थी जबकि अर्जित आय की वृद्धि ३·७ थी तथा,

(iv) सूती वस्त्र उद्योग में उत्पादकता की वृद्धि की वार्षिक दर १९४८-१९५३ के बीच २·२८ थी जबकि अर्जित आय की वृद्धि १·१४ थी।"

इसके विपरीत अमरीका और ब्रिटेन के श्रमिक की कार्यक्षमता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। अमरीकी श्रमिक की प्रतिघण्टा उत्पादन क्षमता में १९१० तथा १९४० के बीच ८३ प्रतिशत वृद्धि हुई। विगत १५ वर्षों में इसमें और अधिक वृद्धि हुई है। यह बताया गया है कि यदि उत्पादन क्षमता इसी अनुपात में बढ़ती गई तो ३० वर्ष में दोगुनी हो जायगी। उत्पादन शक्ति की जांच करनेवाली एक आंग्ल-अमरीकी परिषद् ने ब्रिटेन के लोहे और इस्पात के कारखाने के कुछ विभागों की जांच की। परिषद् की रिपोर्ट में बताया गया है कि १९१९ से १९५२ के बीच स्टील फॉडिंग में १५ से २० प्रतिशत की और ड्राप-फौडिंग में १० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अनेक कारणों से भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता निरन्तर घटती जा रही है। यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि कार्यक्षमता में कमी होने के लिये केवल भारतीय श्रमिक ही उत्तरदायी नहीं है। इसका बहुत कुछ कारण खराब मशीनें और दोष पूर्ण औद्योगिक संगठन है। परन्तु इसका परिणाम यह अवश्य हुआ है कि भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति घट गई है और विश्व बाजार में अपने माल की निकासी करने में उसे अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

कारण—श्रमिक की कार्यक्षमता अथवा उसकी निपुणता की परिभाषा करना बहुत कठिन है और यह अनेक बातो पर निर्भर करती है। श्रमिक की कार्यक्षमता की जाँच करने का एक व्यवहारिक ढंग श्रमिक के प्रतिघण्टा उत्पादन की जाँच करना है। एक श्रमिक की एक शिफ्ट के कुल उत्पादन के हिसाब से भी कार्यक्षमता का पता लगाया जा सकता है। एक शिफ्ट में ७½ या ८ घण्टा कार्य होता है। इसके साथ ही श्रमिक के वार्षिक उत्पादन की मात्रा को भी इसका साधन बनाया जा सकता है। श्रमिक की कार्यक्षमता केवल श्रमिक के श्रम पर ही निर्भर नहीं रहती है। कच्चे माल के प्रकार, मशीनों के प्रकार और उनकी स्थिति और सम्पूर्ण औद्योगिक सगठन का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। अकुशलता अथवा निपुण न होने के लिये सारा दोष भारतीय श्रमिक पर ही नहीं मढा जा सकता। कुछ दोष अवश्य श्रमिक का भी है परन्तु जिस प्रणाली के अन्तर्गत वह कार्य करता है उसे इस आरोप से वंचित नहीं किया जा सकता। जब हम भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता और ब्रिटेन, अमरीका या अन्य देशों के श्रमिकों की कार्यक्षमता की तुलना करते हैं तो हमें दोनों देशों के कारखाने में लगी मशीनों और कार्य की स्थिति पर भी विचार करना चाहिए। परन्तु फिर भी इन सभी बातो पर विचार करने के बाद भी यह सही है कि भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता अमरीकी तथा ब्रिटिश श्रमिक की कार्यक्षमता से कम है।

भारतीय श्रमिक के अकुशल होने के अनेक कारण बताये गये हैं: (१) श्रमिक की अस्वस्थता, (२) कुशलता का अभाव, (३) उसका प्रवाजी स्वभाव, (४) जलवायु, (५) श्रमिक का कम वेतन, (६) भारतीय उद्योग द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले कच्चे माल का घटिया प्रकार, (७) टूटी-फूटी और पुरानी मशीनें और बहुत से कारखानों मे दोष पूर्ण अभिन्यास और (८) अकुशल औद्योगिक संगठन।

दुर्बल शरीर तथा बुरा स्वास्थ्य—इसमें कुछ सन्देह नहीं कि भारतीय श्रमिक का स्वास्थ्य ब्रिटिश या अमरीकी श्रमिक की अपेक्षा गिरा हुआ है। प्रश्न भारतीय श्रमिक और ब्रिटिश अथवा अमरीकी श्रमिकों के स्वास्थ्य की तुलना करना नहीं है। वास्तव में प्रश्न यह है कि भारतीय श्रमिक जो काम करता है वह उस काम के लिये उपयुक्त है या नहीं। यदि वह उस काम के लिये उपयुक्त है तो यह कहना उचित नहीं कि ब्रिटिश अथवा अमरीकी श्रमिक की अपेक्षा स्वास्थ्य अधिक खराब होने के कारण भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता अपेक्षाकृत कम है। स्वास्थ्य ठीक न रहने पर ब्रिटिश, अमरीकी प्रायः सभी श्रमिकों का उत्पादन गिर जाता है, उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। इसलिये भारतीय श्रमिक की अकुशलता का कारण उसकी बीमारी या दुर्बलता नहीं हो सकते हैं।

(ii) प्रवासी प्रवृत्ति—भारतीय श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति से भी उसकी अकुशलता नही सिद्ध की जा सकती क्योकि जबतक श्रमिक काम करता है तबतक औद्योगिक केन्द्रो में रहता है और इस बीच वह अपनी सम्पूर्ण योग्यता के अनुकूल कार्य कर सकता है। बीच-बीच में गाँव चले जाने से एक निश्चित लाभ यह होता है कि कारखाने के काम से कुछ दिन का अवकाश ले कर कारखाने के नियमित कार्य से अलग हो जाने के कारण एक नई शक्ति प्राप्त करता है इससे पुनः कारखाने लौटने पर वह पहले की अपेक्षा अधिक कार्य कर सकता है।

(iii) कुशलता का अभाव—इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि कुशलता न होने के कारण ही उसकी कार्यक्षमता कम है, क्योंकि यदि श्रमिक एक विशेष कार्य करता है तो इसका कारण ही यह है कि वह इस कार्य को अन्य कार्यों की अपेक्षा अच्छी प्रकार कर सकता है। कुशलता का अभाव तभी होता है जब कुशल टेकनीशियनों का अभाव हो परन्तु जहाँ कुशल टेकनीशियन काम करते हैं वहाँ उनकी कार्यक्षमता उतनी ही शिक्षा पाये हुए अन्य देशों के टेकनीशियनों से कम नहीं होनी चाहिये। जहाँ तक ऐसे कार्य का सम्बन्ध है जिसको करने में विशेष कुशलता की आवश्यकता नहीं होती है वहाँ कुशलता के अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

(iv) कम मजदूरी—यह कहा जाता है कि पारिश्रमिक कम होने के कारण ही श्रमिक की कार्यक्षमता कम है। इसके समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि कम पारिश्रमिक होने से श्रमिक अपना और अपने परिवारका ठीक से भरण-पोषण नही कर पाता है। इससे उसकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु यह जानना चाहिए कि इन सब बातों का कारण पारिश्रमिक कम होना नहीं है वरन् मूल्य स्तर की तुलना में पारिश्रमिक का अभाव है। यदि श्रमिक का पारिश्रमिक कम हो और जिन वस्तुओं पर वह अपना पारिश्रमिक व्यय करता है उनके मूल्य और भी कम हो तो उसे अपने परिवार का भरण-पोषण करने में कुछ कठिनाई नहीं होगी। वह अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए सभी वस्तुएँ क्रय कर सकता है। वास्तव में मुख्य समस्या यह है कि पारिश्रमिक वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा कम है। इसी कारण श्रमिक अपने परिवार को पेट भर भोजन नहीं दे पाता है और उसकी अन्य आवश्यकताएँ भी पूर्ण नहीं हो पाती। इससे उसकी कार्यक्षमता की क्षति होती है। प्रश्न पर्याप्त भोजन न पाने और जीवन को सुखी बनाने के प्रसाधनों को न पाने का नहीं है। वास्तव में श्रमिक वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा पारिश्रमिक कम होने के कारण परिवार का ठीक तरह से प्रबन्ध भी नहीं कर पाता। इससे उसे सदैव चिन्ता लगी रहती है जिससे अंत में उसकी कार्यक्षमता

पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार एक दुष्चक्र स्थापित हो जाता है; उसकी कार्यक्षमता घट जाती है और उत्पादन कम हो जाता है। पारिश्रमिक होने से कार्यक्षमता नहीं बढ़ पाती है और जब तक कार्यक्षमता मे वृद्धि नहीं होती पारिश्रमिक नहीं बढ़ सकता। यही कारण है कि भारतीय श्रमिक इतने वर्षों के पश्चात् भी आज निर्धन ही बना हुआ है। यदि श्रमिक का पारिश्रमिक बढ़ जाय और इसके फलस्वरूप उसकी कार्यक्षमता में भी वृद्धि हो तो वह भविष्य में और अधिक पारिश्रमिक कमा सकता है। जहाँ तक पारिश्रमिक का सम्बन्ध है, द्वितीय महायुद्ध से श्रमकों की स्थिति में सुधार हुआ है। १९४२ से १९५२ के बीच भारतीय श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि हुई परन्तु दुर्भाग्य से पारिश्रमिक बढ़ने के साथ-साथ वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि हुई और अनेक वस्तुओं की कीमतो में मजदूरी की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हुई। १९४२ और १९५२ के बीच मजदूरों की वास्तविक पारिश्रमिक में बहुत वृद्धि नही हुई। जब तक वास्तविक पारिश्रमिक में वृद्धि नहीं होती अर्थात् अपने द्राव्यिक पारिश्रमिक से वस्तुओं और सेवाओं को अधिक मात्रा में नहीं खरीद पाता श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि नहीं हो सकती और यह दुष्चक्र नही टूट सकता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य देशों की तुलना में भारतीय श्रमिक की मज़दूरी कम है। यद्यपि हाल में द्राव्यिक तथा वास्तविक मजदूरी मे वृद्धि हुई है किन्तु इसके साथ भारतीय श्रम की क्षमता में वैसी वृद्धि नहीं हुई है। श्रम-मंत्रालय के श्रम-कार्यालय द्वारा १९५६ मे फैक्ट्री की अर्जित आय सम्बन्धी प्रकाशित विवरण से निम्न रोचक निष्कर्ष निकलते हैं :—

१—भारत में फैक्ट्री में काम करने वालो की कुल अर्जित आय (रेलवे वर्कशाप सम्मिलित नहीं है) १९४७ में १३७·३ करोड़ रु० थी जो १९५५ और १९५६ में बढ़कर क्रमशः २४५ करोड़ रु० २६६·५ करोड़ रु० हो गई। स्थायी उद्योगों में लगे तथा २०० रु० प्रति माह से कम पाने वाले व्यक्तियों की वार्षिक आय १९४७ में ७३७ रु० थी। १९५५ और १९५६ में बढ़कर यह क्रमशः १,१७४ रु० तथा १२१३ रु० हो गई।

२—१९४७ से १९५६ तक दस वर्षो मे भारतीय उद्योगो में मजदूरों की वार्षिक आय में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। चमड़ा उद्योग मे ४% तथा सीमेन्ट उद्योग में १९३% हुई है। सम्पूर्ण देश को ध्यान में रखते हुये कहा जा सकता है कि प्रति मजदूर वार्षिक आय में ६३% की वृद्धि हुई है।

३—श्रम कार्यालय द्वारा प्रकाशित आँकड़े वास्तविक आय अथवा रहन-सहन के स्तर मे कोई सुधार नहीं प्रकट करते। १९४७ से १९५६ के बीच में

श्रमिक वर्ग से सम्बन्धित मूल्यों में २१% की वृद्धि हुई है तथा सामान्य मूल्य स्तर में ३१% की वृद्धि हुई है जब कि औसत द्राव्यिक मजदूरी में ६३% की वृद्धि हुई है। इससे रहन-सहन के स्तर में होने वाली वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि द्राव्यिक एवम् वास्तविक मजदूरी में वृद्धि हुई है किन्तु भारतीय श्रम की उत्पादकता में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई है।

(v) जलवायु—श्रमिक की कार्यक्षमता में कमी होने का एक महत्वपूर्ण कारण भारत की जलवायु है। वर्ष के अधिकांश भाग में न केवल औद्योगिक श्रमिको को वरन् सभी लोगों को आलस्य और शिथिलता घेरे रहती है। इससे कठिन परिश्रम का काम एक प्रकार से असंभव हो जाता है। ब्रिटिश तथा जापानी श्रमिक की अपेक्षाकृत अधिक कार्यक्षमता का एक कारण उन देशों की जलवायु भी है। भारत में भी विभिन्न क्षेत्रों के श्रमिकों की कार्यक्षमता में जलवायु के अनुरूप अंतर है।

(vi) भारतीय उद्योगों द्वारा घटिया माल का उपयोग—भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता कम होने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि भारतीय उद्योग घटिया प्रकर के कच्चे माल का उपयोग करते हैं, कारखानों में पुरानी और घिसी टूटी मशीनें हैं, मिलों के नियोजन में दोष हैं और औद्योगिक सगठन खराब है। इसका पूर्ण उत्तरदायित्व मिल-मालिको पर है। यदि वह अच्छे प्रकार का कच्चा माल दें और कारखानों मे अच्छी मशीनें लगायें तो भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ेगी और श्रमिक के प्रति घण्टा उत्पादन की मात्रा भी पहले की अपेक्षा अधिक होगी। कारखानों में पुरानी मशीनों के स्थान पर आधुनिक मशीनों को लगा सकना वर्तमान में संभव नहीं हो सका क्योंकि (१) इसके लिए आवश्यक वित्त का अभाव है, (२) मशीनों इत्यादि और टेकनिकल सामान का उपलब्ध हो सकना कठिन है, (३) भारतीय मिल-मालिक आधुनिक मशीनों के लाभ से अपरिचित हैं और (४) कारखानों के युक्तिकरण का श्रमिकों द्वारा विरोध किया जाता है। भारतीय श्रमिक मशीनों के युक्तिकरण का और पुरानी घिसी मशीनों को बदलने का तीव्र विरोध करता है। श्रमिकों का कहना है कि इससे बेरोज़गारी होती है। भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता कम है क्योंकि कारखानों की मशीनें पुरानी और घिसी-पिटी हैं इसलिए जब श्रमिक इन मशीनों को बदलने का विरोध करता है तब वास्तव में वह अपनी कार्यक्षमता में सुधार को रोकता है। युक्तिकरण के अध्याय में बताया गया है कि मशीनो के युक्तिकरण से बेरोज़गारी फैलना आवश्यक नहीं है, यदि बेरोजगारी फैलती है तो सभी लोगों की तरह श्रमिकों को भी प्रगति के लिए यह कष्ट झेलना ही पड़ेगा। यदि मशीनों

में सुधार होने से बेरोजगारी फैलती है और श्रमिकों की कुछ क्षति होती है तो दीर्घ काल में श्रमिक की कार्यक्षमता में वृद्धि होने से और अधिक पारिश्रमिक मिलने से यह हानि लाभ में बदल जाती है।

श्रमिक की कार्यक्षमता की कमी बहुत कुछ उसकी मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। कार्यक्षमता में कमी होने के सभी कारणों में प्रमुख यह है कि भारतीय श्रमिक विलास प्रिय है और उसमें अनुशासन का अभाव होता है। जब तक श्रमिक अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझता और जब तक मिल-मालिक के और अपने हितों को समान नहीं समझता तब तक वह अपनी पूर्ण योग्यता एवम् क्षमता से कार्य नहीं करता है। उत्पादन शक्ति रखते हुए भी अपनी कार्यक्षमता में कमी बनाये रहता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद श्रमिकों की विचार धारा में पहले की अपेक्षा और बुराई आ गई है। श्रमिकों ने कारखानों में 'काम धीरे करने' की नीति अपना ली है जिसका अर्थ यह है कि कार्य करने के लिए निर्धारित समय में श्रमिक उचित परिश्रम करने के स्थान पर कार्य अत्यन्त धीरे-धीरे करके अपना समय नष्ट करता है। श्रमिक द्वारा 'काम धीरे-धीरे करो' नीति अपनाने का एक कारण मालिकों को अपनी माँगें मानने के लिए मजबूर करना है। परन्तु इस उद्देश्य के पूरे होने के स्थान पर इसके विपरीत उत्पादन कम हो गया है और इससे उसकी स्थिति और भी बिगड़ गई है।

भारतीय श्रमिकों में अनुशासन के अभाव को गत कुछ वर्षों में (१) उत्पादन के आधार पर नहीं बल्कि केवल उपस्थिति के आधार पर मँहगाई भत्ता, बोनस इत्यादि देने से बढ़ावा मिला है। मँहगाई भत्ते को श्रमिक के रहन-सहन के व्यय में सम्मिलित कर दिया गया है। श्रमिक चाहे अपना कार्य पूर्ण करे या न करे उसे मँहगाई भत्ता मूल्य के देशनाँकों के अनुकूल अवश्य मिलता है। इस कारण श्रमिक अपने उत्पादन अथवा अपने कार्य की किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं करता है। यदि मँहगाई भत्ते को उत्पादन पर आधारित कर दिया जाता तो श्रमिक ऐसा नहीं करता। साथ ही निर्धारित मात्रा से अधिक उत्पादन करने पर श्रमिक का बोनस और मँहगाई भत्ता बढ़ता और उत्पादन बढ़ता; (२) इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट के पास होने के पहिले तक औद्योगिक झगड़ों पर समझौते और पन्चनिर्णय प्रणाली के अन्तर्गत उद्योग अथवा कारखाने के मालिक को अपने कर्मचारी को निकालने का अधिकार नहीं था, चाहे कर्मचारी अकुशल हो या काम लापरवाही से करता हुआ पाया गया हो। ऐसे मामलों में नौकरी से अलग करने का निर्णय समझौता बोर्ड, श्रम न्यायालय, या औद्योगिक न्यायालय करते

थे। इसके परिणाम स्वरूप कार्यक्षमता को क्षति पहुँची है और श्रमिक के प्रति घन्टे उत्पादन की मात्रा गिरी है।

दोष दूर करने के उपाय—भारत में श्रमिकों की कार्यक्षमता की स्थिति बहुत बिगड़ चुकी है और इसको सुधारने के लिए सरकार को, मिल-मालिकों और श्रमिक नेताओं को बहुत अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता है। यदि इस दिशा में पूरी शक्ति से प्रयत्न नहीं किया गया और केवल आंशिक प्रयत्न किए गये तो समस्या सुलझने की संभावना कम है। भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि (१) मँहगाई भत्ता, बोनस इत्यादि उत्पादन के आधार पर दिए जावें। यह आवश्यक है कि श्रमिक का न्यूनतम पारिश्रमिक और उसके कार्य की मात्रा निश्चित कर दिए जाँय। श्रमिकों के लिये एक न्यूनतम पारिश्रमिक इस शर्त पर निश्चित कर दी जाय कि वह एक निश्चित मात्रा में कार्य करे। इसके उपरान्त पारिश्रमिक में वृद्धि हो सकती है पर वृद्धि का अनुगणन ऐसे सूत्र के आधार पर होगा जिसमें रहन सहन की लागत और श्रमिक की उत्पादकता दोनों ही बातों का विचार सम्मिलित हो। इससे श्रमिकों के हित की रक्षा यदि रहन सहन के व्यय में वृद्धि हो गई तो होगी और साथ ही साथ यदि उनकी उत्पादकता घट जायगी तो मिल मालिकों का भी हित उपेक्षित न हो सकेगा, (२) काम धीरे करो' नीति को औद्योगिक झगड़े के अन्तर्गत समझना चाहिए। यदि श्रमिक 'काम धीरे करो' नीति अपनाएँ तो ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि मिल-मालिक समझौता बोर्ड इत्यादि के द्वारा अपनी शिकायत दूर करा सकें, (३) यदि श्रमिक अच्छी प्रकार कार्य न करें और निर्धारित मात्रा में उत्पादन न करें तो उद्योगपति अथवा मिल-मालिक को उन्हे निकालने का अधिकार दिया जाना चाहिए, (४) आलस्य, उत्तरदायित्व को टालने की भावना और अनुशासन के अभाव को दूर करने के लिए सरकार को और श्रमिक नेताओं आदि को निरन्तर प्रचार कार्य करते रहना चाहिए। यदि उसका ध्यान बारम्बार इस दृश्य की ओर आकर्षित किया जायगा कि उसकी कार्यवाही से वह उद्योग नष्ट हो सकता है जिस पर उसकी समृद्धि निर्भर करती है तो अवश्य ही श्रमिक की स्थिति मे सुधार होगा और उसका दृष्टिकोण बदलेगा। यद्यपि यह कार्य बहुत धीरे-धीरे होगा परन्तु दीर्घकाल मे श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ाने मे इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा, (५) श्रमिक की उत्पादन शक्ति का अध्ययन करने के लिए और उसको प्रोत्साहन देने के ब्रिटिश प्रोडक्टिविटी कौंसिल के समान एक विशेष संगठन भारत में भी स्थापित करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ के उत्पादन शक्ति का अध्ययन करने

वाले दल ने बम्बई सूती मिल उद्योग में जो कार्य किया है उससे भारतीय सूती उद्योग का उत्पादन बढ़ने की संभावना है। इस दल ने सुझाव दिया है कि कारखानों में सभी कार्य आधुनिक रीति से किया जाय और वर्तमान स्थिति का गंभीर अध्ययन करने के बाद उद्योग के संगठन की योजना बनाई जाय। औद्योगिक कार्यक्षमता में वृद्धि करने के लिए आवश्यक सुझाव देने को विभिन्न उद्योगों में तत्सम्बन्धी अध्ययन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

अध्याय ३१

औद्योगिक सम्बंध

औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने, श्रमिकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने और देश को आर्थिक दृष्टि से समृद्धशाली बनाने के लिये औद्योगिक शांति का अत्यन्त महत्व है। यदि हड़तालें होती हैं, मिलों-कारखानों में तालाबन्दी की जाती है और औद्योगिक शांति भंग की जाती है तो उत्पादन घटने लगता है, उत्पादन व्यय में वृद्धि होने लगती है और आय कम हो जाने से श्रमिकों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बाजार में वस्तुओं की पूर्ति नियमित रूप से न होने या उनकी पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा आ जाने से उपभोक्ताओं को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। औद्योगिक क्षेत्र में अशांति होने से सम्पूर्ण देश की शांति भंग हो जाती है और इससे किसी को लाभ नहीं होता। पूँजीवादी व्यवस्था में तालाबंदी का होना आवश्यक नहीं है। यदि उचित ध्यान रखा जाय और व्यवस्था ठीक हो तो इन बाधाओं को पूरी तरह समाप्त न भी किया जा सके तो कम से कम टाला अवश्य जा सकता है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—भारत के औद्योगिक क्षेत्र में शांति बनाये रखना सदैव सम्भव नहीं रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के काल में औद्योगिक झगड़ों की संख्या और इन झगड़ों के कारण नष्ट हुए कार्य के दिनों की संख्या काफी कम रही है। आँकड़ों से प्रकट होता है कि १९४३ में जब कि युद्ध अपनी चरम सीमा पर था हड़ताल एवम् तालाबन्दियों से केवल २३ लाख कार्य के दिन नष्ट हुए। १९४४ में यह संख्या बढ़कर ३४ लाख दिन और १९४५ में ४१ लाख दिन हो गई। यह संख्या फिर भी अपेक्षाकृत कम रही; इसको अत्यधिक नहीं कहा जा सकता है। युद्ध के समय औद्योगिक सम्बन्ध काफी अच्छे रहे क्योंकि (१) श्रमिक ने सरकार को लड़ाई में सहयोग देने का वचन दिया और वह यह नहीं चाहते थे कि उत्पादन में किसी प्रकार की बाधा पड़े और युद्ध का सफल संचालन कर सकने में किसी प्रकार की बाधा पड़े। (२) उस समय वस्तुओं के भाव में तथा रहन-सहन के व्यय में वृद्धि की समस्या उत्पन्न नहीं हुई थी। इसी समस्या से ही बाद में औद्योगिक झगड़े उत्पन्न हुए। १९ अगस्त १९३९ को समाप्त होनेवाले सप्ताह को आधार मानते हुए १९४१-४२ और बाद के चार वर्षों में सामान्य मूल्य के देशनांक क्रमशः १३७'०, १७१'०, २३६'५ २४४'२ और २४४'६ रहे। वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो गई थी परन्तु इसी समय वेतन में भी आंशिक वृद्धि

हो गई थी। इससे मालिक तथा कर्मचारियों के सम्बन्ध विशेष खराब नहीं हुए; (३) युद्ध के समय भारतीय प्रतिरक्षा नियम की धारा ८१-ए लागू थी जिसके अनुसार औद्योगिक झगड़ों का निपटारा करने के लिए सरकार को संकट कालीन अधिकार दिये गये थे। सरकार अशांति के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करने को स्वतंत्र थी।

परन्तु युद्ध के समाप्त होते ही, और विशेषकर स्वतंत्रता प्राप्त होने के पश्चात् औद्योगिक झगड़ों की संख्या बढ़ी और उत्पादन में कमी आ गई। १९४६ और १९४७ में क्रमशः १ करोड़ २७ लाख और १ करोड़ ६८ लाख कार्य के दिन नष्ट हो गये जब कि १९४५ में केवल ४१ लाख कार्य के दिन नष्ट हुए। औद्योगिक झगड़ों में इतना वृद्धि होने का कारण यह था कि (अ) स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् श्रमिक के दिल में नई आशाएँ जगी थीं। श्रमिक अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारना चाहते थे और इसी के परिणाम स्वरूप हड़तालें हुईं। सरकार की श्रम नीति ने भी जिसका उद्देश्य श्रमिकों का पारिश्रमिक बढ़ाना और कार्य की स्थिति में सुधार करना था, इसमें काफी योगदान दिया, (ब) युद्ध काल की अपेक्षा चीजों के भाव में अधिक वृद्धि हुई। १९४५-४६ में थोक बिक्री के भाव का देशनांक २४४.९ था परन्तु १९४६-४७ में बढ़ कर २७५.४ और १९४७-४८ में ३०७ हो गया। वस्तुओं के मूल्यों में तो वृद्धि हुई परन्तु वेतन अथवा पारिश्रमिक में इसी अनुपात में वृद्धि नहीं हुई। इससे श्रमिक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप श्रमिकों ने वेतन अथवा पारिश्रमिक बढ़वाने के लिए हड़तालें कीं; (स) भारतीय प्रतिरक्षा नियम के लागू न रहने से श्रमिकों ने एक छूट का अनुभव किया। अब श्रमिकों की इच्छा भी युद्ध के समय की तरह कठोर परिश्रम करके उत्पादन बढ़ाने की नहीं रही थी।

स्थिति काफी गंभीर रूप धारण करती गई और १९४७ के दिसम्बर में भारत सरकार को औद्योगिक शांति समझौता कराने के लिए हस्तक्षेप करना पड़ा। इससे भारत में औद्योगिक सम्बन्ध सुधारने में काफी सहायता मिली। श्रमिक के आन्दोलन और सरकार के हस्तक्षेप करने से पारिश्रमिक में वृद्धि हुई; मँहगाई भत्ता, बोनस और लाभांश में श्रमिकों के भाग में भी वृद्धि हुई। यह कहा गया कि द्रव्य में श्रमिक का पारिश्रमिक बढ़ने से श्रमिक का वास्तविक पारिश्रमिक नहीं बढ़ा और यदि रुपये की क्रय शक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि श्रमिकों की स्थिति युद्ध से पूर्व के वर्षों की अपेक्षा कहीं अधिक बिगड़ गई। इस तर्क में इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि मूल्य बढ़ जाने से केवल श्रमिक को ही नहीं बल्कि सभी वर्गों की जनता को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

प्रश्न यह नहीं है कि श्रमिक को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा या नहीं; वास्तव में विचारणीय बात यह है कि क्या श्रमिकों को समाज के अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कष्ट सहने पड़े? यद्यपि श्रमिकों के कुछ वर्ग ने अधिक वेतन अथवा पारिश्रमिक की माँग करते हुए आन्दोलन जारी रखा परन्तु जहाँ तक पूरे श्रमिक वर्ग का प्रश्न है वह सन्तुष्ट रहा और हड़तालों की संख्या भी घट गई। मिल मालिकों ने तालाबन्दी घोषित नहीं की क्योंकि पारिश्रमिक में वृद्धि होने के साथ ही उत्पादित माल के मूल्य में भी वृद्धि हुई और बाजार विक्रेता के अनुकूल दृढ़ होने के कारण मिल-मालिकों को अधिक हानि नहीं उठानी पड़ी। इसके साथ ही औद्योगिक झगड़े सम्बन्धी कानून के अन्तर्गत झगड़े सुलझानेवाली संस्था क्रमशः अधिक प्रभावशाली बनाई गई और समझौते तथा अनिवार्य पंचनिर्णय के द्वारा अनेक होने वाले औद्योगिक झगड़ों को जो अवश्य उत्पन्न होते रोक लिया गया। १९५० में कुल नष्ट हुए श्रम-दिनों की संख्या १२८·१ लाख हो गई परन्तु इसका कारण सर्वत्र औद्योगिक सम्बन्धों का बिगड़ना नहीं बल्कि सूती मिल उद्योग की लम्बी हड़ताल थी। कुल नष्ट हुए १२८·१ लाख दिनों में से ९३ लाख दिन अकेले सूती उद्योग में ही नष्ट हुए। औद्योगिक समझौते के पश्चात् से भारत में औद्योगिक शांति अधिक भग नहीं हुई है और उक्त तालिका के अनुसार नष्ट हुये श्रम-दिनों की संख्या घटकर १९५१ में ३८·२ लाख, १९५२ में ३३·४ लाख, १९५३ में ३३·८ लाख और १९५४ में ३७·२ लाख हो गई। १९५६ में ६६.६ लाख श्रम दिन नष्ट हुये। औद्योगिक झगड़ों की संख्या १,२०३ तथा उनसे सम्बन्धित श्रमिकों की संख्या ७१५,१३० थी। १९५७ में ६४ लाख श्रमदिन नष्ट हुये तथा औद्योगिक झगड़ों की संख्या २,०५६ तथा उनसे सम्बन्धित श्रमकों की संख्या १,०१८,६२५ थी। नष्ट हुये ६४ लाख श्रम-दिनों में सूती वस्त्र उद्योग में १५ लाख दिन, कोयला तथा अन्य खदान उद्योगों में लगभग १० लाख, रोपण तथा जूट उद्योग में लगभग ५ लाख श्रम दिन नष्ट हुये।

कानूनी व्यवस्था—एक जनतंत्रवादी देश में जहाँ उद्योग स्वतंत्र है अपनी माँग के अनुसार उचित वेतन अथवा पारिश्रमिक न मिलने पर श्रमिक को अन्य उपाय असफल रहने के पश्चात् अंत में हड़ताल करने का अधिकार है और यदि मालिक श्रमिकों के कार्य से सन्तुष्ट नहीं हो तो उसे भी तालाबन्दी घोषित करने का पूर्ण अधिकार है। यद्यपि जनतंत्री शासन व्यवस्था में यह अधिकार निहित हैं फिर भी बिना सार्वजनिक हित पर विचार किये इन अधिकारों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। हड़ताल होने से या तालाबन्दी घोषित की जाने से उपभोक्ता को भी अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। श्रमिक तथा मिल

मालिकों द्वारा क्रमशः हड़ताल और तालाबन्दी के अपने मूलभूत अधिकारों के प्रयोग के प्रति जनता और सरकार उदासीन नहीं रह सकते। उचित रीति से समझौता वार्त्ता चलाने और एक दूसरे की कठिनाइयों को समझते हुए औद्योगिक झगड़े को सुलझाना सदैव संभव है। औद्योगिक झगड़े सम्बन्धी कानून का उद्देश्य यह है कि झगड़ा होने पर मालिकों तथा कर्मचारियों के बीच समझौता करने के लिए साधन खोजा जाय। इस कानून में विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल भिन्न-भिन्न साधनों की व्यवस्था की गई है और किसी भी औद्योगिक झगड़े में समझौते तथा पंचनिर्णय में जितना समय लगना चाहिए उसकी अवधि भी निश्चित कर दी गयी है। इसमें मामले पर विचार करने की पूर्ण विधि विस्तार से दी गई है। भारत तथा संसार के अनेक देशों में यह देखा गया है कि कार्य की अस्पष्ट रूपरेखा के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता और इससे औद्योगिक मतभेद हो जाता है। श्रम कानून का यह उद्देश्य है कि इस प्रकार के भ्रमों को उत्पन्न होने से रोका जाय और यदि भ्रम उत्पन्न हो गया है तो उसे दूर किया जाय।

१९२९ का भारतीय व्यापारिक विग्रह कानून—इस कानून में सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं तथा अन्य उद्योगों के लिए पृथक व्यवस्था की गई थी। सार्वजनिक उपयोगिता सेवायें जैसे रेलवे डाक तथा तार, बिजली और जल पूर्ति विभाग के कर्मचारियों तथा भंगियों इत्यादि की हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। ये कर्मचारी मालिक को १४ दिन पूर्व नोटिस देने के पश्चात् ही हड़ताल कर सकते थे। अन्य उद्योगों में हड़ताल अथवा तालाबन्दी को घोषित किया जा सकता था परन्तु इन झगड़ों को सुलझाने के लिए एक निश्चित साधन नियुक्त किया गया था। औद्योगिक झगड़ों के सम्बन्ध में तदर्थ जाँच समिति और समझौता परिषद् नियुक्त करने की भी व्यवस्था की गई थी। जाँच समिति में एक या एक से अधिक निष्पक्ष व्यक्ति रखे जायँगे। यह समिति मामले की जाँच करने के पश्चात् अपनी रिपोर्ट नियुक्त करने वाली सरकार के सामने प्रस्तुत करेगी। समझौता परिषद् इस बात का प्रयत्न करेगी कि दोनों पक्ष साथ बैठकर अपने मतभेदों को दूर करके समझौता कर लें। समझौता न हो सकने पर मामले की रिपोर्ट सरकार के पास भेज दी जाती थी। इस कानून में अनिवार्य पंचनिर्णय की व्यवस्था नहीं की गई थी। इसके अनुसार सरकार ने केवल यही प्रयत्न किया कि दोनों पक्ष एक दूसरे के और अधिक निकट आ जाएँ और मामले तथा उस झगड़े के कारणों को जनता को बतावें जिससे समझौता करने के लिए जनता की राय का भी बल प्राप्त हो। जनहित की सुरक्षा के लिए कानून की दृष्टि में वे हड़तालें और तालाबन्दियाँ गैर कानूनी थी (क) जिनका उद्देश्य उद्योग के अन्दर

झगड़े का प्रचार करने के अतिरिक्त कुछ और भी हो या (ख) जिनका उद्देश्य जनता पर अनेक कठिनाइयाँ लादकर सरकार को विशेष कार्यवाही करने को मजबूर करना हो।

यह कानून उपयुक्त सिद्ध नहीं हुआ। औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार करने के लिए यह पर्याप्त नहीं था क्योंकि (१) समझौता अधिकारी अथवा झगड़े का शीघ्र निपटारा करने वाली अन्य संस्थाओं के स्थान पर तदर्थ सार्वजनिक जाँच को अधिक महत्व दिया गया और (२) स्थाई औद्योगिक न्यायालय की स्थापना के लिए कुछ व्यवस्था नहीं की गई।

बम्बई में १९३४, १९३८ और १९४६ में औद्योगिक विग्रह कानून बनाकर उक्त कानून के दोषों को कुछ सीमा तक दूर कर दिया गया। इन कानूनों के अन्तर्गत मालिकों द्वारा श्रमिक संघों को मान्यता दी जाने की व्यवस्था की गई थी। इन कानूनों में झगड़ों को सुलझाने की पूरी विधि और निश्चित अवधि दी गई थी। केवल सार्वजनिक जाँच करने की अपेक्षा समझौते और झगड़ा सुलझाने पर अधिक महत्व दिया गया। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि कार्य की शर्तें अस्पष्ट और अनिश्चित न हो क्योंकि इससे झगड़े उत्पन्न होते हैं। इसके लिए यह व्यवस्था की गई कि समझौते की शर्तें और स्थायी सभायें लिखित और रजिस्टर्ड हों। अन्य प्रभावशाली साधनों के साथ ही स्थायी औद्योगिक न्यायालय का विकास हुआ है। पहले के कानूनों में न्याय का मानना अनिवार्य नहीं था परन्तु हड़ताल अथवा ताले-बन्दी से पूर्व सम्पूर्ण मामले शांतिपूर्ण उपाय से सुलझाने के लिए प्रस्तुत करने आवश्यक थे। परन्तु बम्बई के १९४६ के कानून में पंचनिर्णय के लिए मामला प्रस्तुत करना अनिवार्य कर दिया गया और अपील करने के लिए एक अदालत की व्यवस्था की गई। वास्तव में बम्बई ने इन कानूनों को बनाकर भविष्य में अखिल भारतीय पैमाने पर अधिक उपयुक्त कानून बनाने के लिए मार्ग दर्शाया।

भारतीय प्रतिरक्षा नियम के अन्तर्गत कार्यवाही—पहले कहा जा चुका है कि युद्ध काल में औद्योगिक झगड़ों को हल करने के लिए सरकार ने सङ्कट कालीन अधिकार प्राप्त कर लिये थे। भरतीय प्रतिरक्षा नियम की धारा ८१ (ए) के अन्तर्गत, जो जनवरी १९४२ में लागू की गयी थी, यह व्यवस्था की गई थी कि ब्रिटिश भारत की प्रतिरक्षा के लिए, सार्वजनिक सुरक्षा के लिये, शांति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये युद्ध का कार्य ठीक प्रकार से चलाने के लिये समुदाय के जीवन के लिये आवश्यक सामान की पूर्ति जारी रखने के लिये सामान्य अथवा विशेष आदेश द्वारा केन्द्रीय सरकार तालाबन्दी तथा हड़ताल पर रोक

लगा सकती है और औद्योगिक झगड़ों को समझौते या अदालती कार्यवाही के लिये भेज सकती है और अदालत के निर्णय को लागू कर सकती है। इस कानून में यह भी व्यवस्था की गई थी कि हड़ताल अथवा तालबन्दी की पहले से सूचना दी जाय। समझौते की कार्यवाही की अवधि में हड़ताल अथवा तालेबन्दी पर रोक लगा दी गई थी। क्योंकि सरकार को अदालती निर्णय अनिवार्य रूप से लागू कर देने का अधिकार प्राप्त था इसलिये हम कह सकते हैं कि इस नियम के द्वारा पंचनिर्णय अनिवार्य कर दिया गया था।

१९४७ का औद्योगिक विग्रह कानून—फरवरी १९४७ में केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक विग्रह कानून स्वीकृत किया। इस कानून ने बम्बई के अनुभव का लाभ उठाकर १९२९ के औद्योगिक विग्रह कानून के कुछ दोषों को दूर कर दिया। इस कानून में कार्य समिति, समझौता अधिकारी, समझौता बोर्ड और जाँच-अदालत नियुक्त करने की व्यवस्था है। इनके अतिरिक्त इस कानून में अस्थायी औद्योगिक न्यायालय स्थापित करने को व्यवस्था की गई है जिसमें उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होंगे। इस कानून में परस्पर समझौता करने पर अधिक महत्व दिया गया है। पहले कानून में केवल जाँच कार्य को ही महत्व दिया गया था। कार्य समितियों का कार्य परस्पर बातचीत करके मालिक तथा कर्मचारी के बीच का मतभेद दूर करने और समझौता पदाधिकारियों तथा समझौता बोर्डों का कार्य दोनों पक्षों में समझौता कराना है। परन्तु यदि यह प्रयत्न सफल न हो तो मामले को औद्योगिक न्यायालय में प्रस्तुत करने की व्यवस्था की गई है। सरकार को इन न्यायालयों का न्याय पूर्ण या आंशिक रूप में लागू करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार इस कानून में भी अनिवार्य पंचनिर्णय की व्यवस्था है।

१९५१ में औद्योगिक विग्रह (संशोधन) अध्यादेश जारी करके इस कानून की कुछ कमियों को दूर कर दिया गया। इस अध्यादेश के द्वारा वे औद्योगिक इकाइयाँ भी अदालती कार्यवाही के क्षेत्र में आ गई जिनमें अब तक कोई झगड़ा नहीं हुआ था परन्तु भविष्य में होने की सम्भावना थी। भविष्य में एक ही बात पर अन्य औद्योगिक इकाइयों में झगड़ा न होने देने के लिए यह अध्यादेश आवश्यक समझा गया। १९५० के औद्योगिक विग्रह (श्रम अपील न्यायालय) कानून से श्रम अपील न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था की गई है जिसमें विभिन्न औद्योगिक पंच न्यायालयों, औद्योगिक अदालतों, वेतन परिषदों इत्यादि के फैसले पर की गई अपीलों की सुनवाई होगी। श्रम अपील न्यायालय के किसी अदालत फैसले अथवा निश्चय के विरुद्ध की गई अपीलों पर विचार करने का अधिकार है परन्तु इसकी दो शर्तें हैं: (१) फैसले अथवा निश्चय में कोई विशेष कानूनी पेंच

हो या (२) उसका संबन्ध वेतन, बोनस, छटनी इत्यादि से हो। विभिन्न राज्यों में औद्योगिक न्यायालयों द्वारा परस्पर विरोधी फैसले दिये जाने के कारण जिससे देश मे औद्योगिक सबन्ध अधिक जटिल होते जाते थे श्रम अपील न्यायालय स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके साथ ही अपील करने के लिए कोई व्यवस्था न होने के कारण यह औद्योगिक अदालतें उदार निरंकुश शासक की तरह आचरण करने लगी थीं। इस प्रकार की निरंकुशता और स्वच्छन्दता जनतन्त्री शासन प्रणाली के अनुकूल नहीं है। मूल कानून की ३३ वीं धारा मे यह व्यवस्था की गई थी कि समझौते के लिए किसी भी झगडे के विचाराधीन होने के काल में कोई मालिक समझौता अधिकारी, बोर्ड अथवा पंचन्यायालय की लिखित अनुमति प्राप्त किये बिना न किसो कमचारी को दण्ड दे सकता है और न निकाल सकता है; साथ ही मामला प्रस्तुत होने के ठीक पहले की नौकरी की हालत मे वह किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है। इस धारा की व्यवस्थाओं को धारा ३३ (ए) जोड़कर और बढ़ा दिया गया है। धारा ३३ (ए) में यह व्यवस्था की गई है कि यदि मालिक धारा को भंग करता है तो उससे पीड़ित कर्मचारी विधिवत लिखित रूप में अपनी शिकायत उस पंच अदालत के सामने पेश कर सकता है जिसमें मामला विचाराधीन है। वह पचअदालत उस शिकायत पर उसी रूप में विचार करेगी जैसे वह कानून की व्यवस्था के अनुसार पच अदालत मे पेश किया गया औद्योगिक झगडा हो। इस संशोधन के अनुसार पीड़ित कर्मचारी को मामले के विचाराधीन होने के काल में नौकरी की हालत मे परिवर्तन, छटनी, दण्ड इत्यादि के मामलों को सीधे पंचन्यायालय में विचारार्थ प्रस्तुत कर सकने का अधिकार प्राप्त है। इससे पंचन्यायालय में प्रस्तुत होनेवाले झगड़ों की सख्या भी अधिक बढ़ने से बच जायगी और निर्णय भी शीघ्र हो जायगा।

श्री वी० वी० गिरि का दृष्टिकोण—भारत के श्रम-मंत्री श्री गिरि ने अक्टूबर १६५२ मे नैनीताल में हुए भारतीय श्रम-सम्मेलन के १२ वें अधिवेशन में, फरवरी १६५३ में नई दिल्ली में हुए राज्य श्रम-मंत्री सम्मेलन में और अनेक सार्वजनिक भाषणों में बराबर इस बात पर जोर दिया है कि औद्योगिक झगड़ों को वर्तमान व्यवस्था के अनुसार अनिवार्य पचनिर्णय के द्वारा नहीं बल्कि परस्पर *समझौता करके स्वेच्छिक पंचनिर्णय से हल करना चाहिए। इस योजना के* अन्तर्गत सार्वजनिक उपयोग सेवाओं के संबन्ध में अनिवार्य पचनिर्णय लागू रहेगा परन्तु अन्य सस्थाओं या उद्योगो मे समझौता अथवा स्वेच्छिक पच-निर्णय लागू रहेगा। परन्तु सकटकाल में और केन्द्रीय सरकार से पहले विचार विमर्श कर लेने के बाद राज्य सरकारों को औद्योगिक मामला अनिवार्य पंच-

निर्णय के लिए सौंपने का अधिकार होगा। श्री गिरि का मत था कि श्रम अपील न्यायालय को समाप्त कर दिया जाय क्योंकि झगड़ों को आपस में सुलझा लेने के पश्चात् इस न्यायालय की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। श्री गिरि द्वारा सुझाई गई योजना के अन्तर्गत मालिकों तथा कर्मचारियों के बीच के सभी झगड़ों पर स्वेच्छा से समझौता करना होगा। समझौता वार्त्ता के संबन्ध में झगड़े से संबन्धित कोई भी पक्ष समझौता अधिकारी की सहायता लेने को स्वतंत्र होगा और दूसरे पक्ष को यह स्वीकार करना पड़ेगा। यदि इस प्रकार की समझौता वार्त्ता असफल हो जाती है और दोनों पक्ष मामले को पंचनिर्णय के लिए सौंपने को प्रस्तुत हों तो पंचों का निर्णय दोनों पक्षों को मानना पड़ेगा। यदि पंच परस्पर सहमत नहीं हों तो झगड़े से संबन्धित पार्टियाँ एक निर्णायक छाँट सकती हैं जिसका फैसला दोनों पक्षों को मान्य होगा। यदि दोनों पार्टियों में निर्णायक छाँटने के प्रश्न पर मतभेद हो तो वह दोनों एक राय से मामला पंच अदालत को सौंप सकते हैं। समझौते की इन विभिन्न स्थितियों के लिए अवधि निश्चित होगी। राज्य सरकारें केवल संकट काल में केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेकर गैर सार्वजनिक उपयोग के उद्योगों के मामलों को अनिवार्य पच-निर्णय के लिए सौंप सकती हैं। परन्तु यह अधिकार अन्य उद्योगों पर लागू नहीं होगा। गिरि-योजना के अन्तर्गत श्रमिक समितियाँ, समझौता अधिकारी, समझौता बोर्ड, औद्योगिक न्यायालय और पच अदालत पूर्ववत् रहेंगी परन्तु श्रम अपील-न्यायालय खत्म हो जायगा।

इससे दो मुख्य प्रश्न उठते हैं : (१) क्या अनिवार्य पंचनिर्णय हो या स्वैच्छिक पंचनिर्णय और (२) क्या श्रम अपील न्यायालय रहना चाहिए या नहीं?

अनिवार्य पंचनिर्णय—यह कहा जाता है कि अनिवार्य पंचनिर्णय औद्योगिक क्षेत्र में शान्ति बनाए रखने में सहायक नहीं है। स्थायी तौर पर शान्ति तभी रह सकती है जब परस्पर और स्वैच्छिक समौते किये जायें। यह भी बताया गया है कि अनिवार्य पंचनिर्णय से औद्योगिक झगड़ों को प्रोत्साहन मिला है और भारत में इससे श्रमिक संघ कमजोर हो गए हैं। "श्रमिक संघ की व्यवस्था पर इससे कुठाराघात होता है। श्रमिक संघ के सदस्यों में एकता निजी स्वार्थ का ही परिणाम है। यदि श्रमिकों की समझ में यह आ जाय कि एकता के सूत्र में बँध जाने से ही उनके स्वार्थ की सिद्धि हो सकती है तो उनके संयुक्त होने के लिये अन्य किसी प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रह जाती। अनिवार्य पंचनिर्णय उनको इस बात के लिये कोई कारण नहीं उपस्थित करता कि उनमें इस प्रकार की एकता हो"। अनिवार्य पंचनिर्णय, आर्थिक व्यवस्था को एक ऐसी कठोरता

प्रदान करता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बिकने वाली वस्तुओं के लिये बहुत कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

परन्तु अनिवार्य पंचनिर्णय का समर्थन भी किया गया है। कहा गया है कि आर्थिक दृष्टि से कम विकसित देश मे औद्योगिक झगड़ों के कारण यदि उत्पादन रुक जाता हैं तो इससे राष्ट्र के हितों की हानि होने की संभावना है। उत्पादन में गिरावट रोकने के लिए और परिणामतः राष्ट्रीय आय कम न होने देने के लिए अनिवार्य पंचनिर्णय को लागू किया जाना चाहिए। पंचनिर्णय की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि (१) मालिकों तथा श्रमिकों के कुशल संगठन हों और (२) समझौते की कार्यवाही में उत्तरदायित्व समझने वाले अनुभवी नेताओं को भाग लेने दिया जाय। चूँकि भारत में श्रमिक संगठन अब भी बहुत कमजोर हैं, और समझौते तथा पंचनिर्णय के लिए निष्पक्ष व्यक्तियों का अभाव है इसलिए यह संभव है कि स्वैच्छिक पंचनिर्णय से सन्तोषजनक परिणाम न निकले।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि यद्यपि सार्वजनिक उपयोग के उद्योगों के लिए अनिवार्य पंचनिर्णय आवश्यक है और संकट काल में भी यह लाभदायक साधन सिद्ध हो सकता है परन्तु औद्योगिक झगड़ों को सुलझाने का यह सन्तोषजनक ढंग नहीं है। इससे प्रायः औद्योगिक झगड़े उत्पन्न होते रहते हैं, श्रमिक संगठन कमजोर होते जाते हैं और देश की आर्थिक व्यवस्था कठोर होने लगती है।

परन्तु श्री गिरि का अपील न्यायालय को समाप्त कर देने का सुझाव पूर्णतया सत्य नहीं है। देश के विभिन्न भागों में समान श्रम स्थिति उत्पन्न करने में अपील न्यायालय विशेष सहायक रहा है। वेतन, बोनस, कार्य की स्थिति इत्यादि प्रश्नों पर अपील न्यायालय के फैसलों से औद्योगिक पंच अदालतों को काफी लाभ पहुँचा है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि परस्पर समझौता करके या स्वेच्छिक पंचनिर्णय द्वारा मामला तय करके ऐसी स्थिति आ सकती है कि भविष्य मे अपील न्यायालय की आवश्यकता न रहे परन्तु जब तक औद्योगिक पच-अदालत हैं तब तक देश के विभिन्न भागों में श्रम सम्बन्धी समान स्थिति लाने और विभिन्न उद्योगों मे भी एकरूपता लाने के लिए अपील न्यायालयों को समाप्त न किया जाय।

१९५६ का औद्योगिक विग्रह कानून—एक बिल श्रमिकों के सम्बन्ध विषयक संसद में १९५० में रक्खा गया, पर उस पर कार्यवाही नहीं हो सकी, क्योंकि मिल मालिकों और श्रमिकों के नेताओं ने उसका बहुत विरोध किया।

१९५५ के सितम्बर में पुनर्परीक्षित रूप में एक विधेयक १९४७ के औद्योगिक विग्रह कानून का संशोधन करने के लिये लोक सभा में प्रस्तुत किया गया और १९५६ में औद्योगिक विग्रह (संशोधन तथा विभिन्न शर्तों के साथ) कानून पास किया गया। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस कानून में श्री गिरि के विचारों को बहुत ही सीमित मात्रा में सम्मिलित किया गया है। ऐसा लगता है कि उसमे औद्योगिक झगड़ों में विस्तार होगा और समझौता कठिन होगा। इस कानून के मुख्य प्रविधान, जो कि बम्बई के १९४७ के कानून के अनुरूप हैं, निम्न हैं :—

(१) श्रमिकों की परिभाषा विस्तृत कर दी गई है, और अब औद्योगिक कर्मचारी तथा देख रेख करने वाले पदाधिकारी भी जिनका वेतन ५००) मासिक से अधिक नहीं है श्रमिकों के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिये गये हैं। क्योंकि बहुत से इस प्रकार का कार्य करने वालों को गोपनीय और संगठन सम्बन्धी कार्य दिया गया है और वे श्रमिकों की अपेक्षा मालिकों के ही विशेष अंग हैं, इससे यह भय है कि मालिकों को नई कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

(२) १९५० के औद्योगिक विग्रह (अपील न्यायालय) कानून का प्रत्यानयन कर दिया गया है और श्रमिकों के अपील न्यायालय को समाप्त कर दिया गया है। इस न्यायालय के कारण देश के विभिन्न भाग मे श्रमिकों की स्थिति मे समानता आ गई थी और इसने अनेकों ऐसे लाभदायक सामान्य नियम बना दिये थे जिनके विखन्डन से भविष्य में गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। इससे हम केवल एक ही अच्छाई की आशा कर सकते हैं कि अपील न्यायालय के अभाव में सम्भवतः मालिकों और श्रमिकों को स्थिति की वास्तविकता पर विचार करने की प्रेरणा मिले।

(३) इस कानून के अनुसार तीन प्रकार के मौलिक न्यायालय बनेंगे। (अ) श्रम न्यायालय, (ब) औद्योगिक न्यायालय और (स) राष्ट्रीय न्यायालय। श्रम न्यायालयों को ऐसे औद्योगिक झगड़ों के निर्णय करने का अधिकार है जो मालिकों की ऐसी आज्ञाओं के सम्बन्ध में उत्पन्न हुये हैं जिनका औचित्य तथा नियमानुकूलता संदिग्ध है और जो स्थायी आज्ञाओं के अन्तर्गत हैं तथा कर्मचारियों को निकाले जाने के सम्बन्ध में और हड़ताल अथवा तालाबन्दी के सम्बन्ध में हैं। औद्योगिक न्यायालय ऐसे झगड़ों का निर्णय करेगा जो कि पारिश्रमिक, कार्य के घन्टे, बोनस, युक्तिकरण और छटनी के सम्बन्ध में हैं। राष्ट्रीय न्यायालय ऐसे झगड़ों का निर्णय करेगा जो कि सरकार के मत में ऐसे मामले हैं जिनकी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से महत्ता है, अथवा ऐसे मामले हैं जिनका सम्बन्ध एक से अधिक

राज्यों से है। इन तीन न्यायालयों के निर्णय पर अपील करने का कोई अवसर नहीं है इसलिये इनके कर्मचारियों की नियुक्ति में उनकी योग्यता पर विशेष ध्यान दिया गया है। यहाँ यह बता देना आवश्यक होगा कि राष्ट्रीय न्यायालय अपील न्यायालय का स्थानापन्न नहीं है।

(४) यह कानून स्थायी आज्ञाओं के सम्बन्ध में आपत्तिजनक परिवर्तन करता है। मालिकों को किन्हीं विशेष मामलों में कार्य करने की स्थिति के सम्बन्ध में बिना उन श्रमिकों को, जिनसे इसका सम्बन्ध है, २१ दिन पूर्व अपने विचारों की सूचना दिये परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। यह कानून औद्योगिक रोजगार (स्थायी आज्ञाओं) कानून का संशोधन करता है और प्रमाण पत्र देने वाले विशेष पदाधिकारी को तथा अन्य अधिकारियों को इस बात का अधिकार प्रदान करता है कि वे प्रमाण पत्र देने के पूर्व स्थायी आज्ञाओं की युक्तिसंगतता तथा न्याय पूर्णता पर विचार कर लें। पहिले केवल मालिक को ही स्थायी आज्ञाओं में परिवर्तन करने के लिये आवेदन देने का अधिकार प्राप्त था। यह कानून श्रमिकों को भी मालिकों के ही समान प्रमाण पत्र देने वाले अधिकारी को स्थायी आज्ञाओं में परिवर्तन कराने के लिये आवेदन देने का अधिकार प्रदान करता है।

(५) मालिकों के साथ एक विशेष रियायत की गई है, जिसे हम रियायत के स्थान पर यदि न्याय का प्रदर्शन कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। इसके अन्तर्गत मालिक को किसी कर्मचारी को, जब कि झगड़ा निर्णयार्थ विचाराधीन हो, इस झगड़े से असम्बद्ध किसी दुराचार के लिये निकाल देने अथवा सज़ा देने का अधिकार प्राप्त है। ऐसी स्थिति में मालिक को अभियुक्त श्रमिक को एक मास का पारिश्रमिक देना पड़ेगा और अपनी आज्ञा के लिये अधिकारियों की अनुमति लेनी होगी। इससे कारखानों में अनुशासन ठीक रहने की आशा की जाती है।

इस कानून का सबसे बड़ा दोष यह है कि सरकार को औद्योगिक निर्णयों को परिवर्तित कर देने का अधिकार दे दिया गया है। बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् मालिकों और श्रमिकों के पारस्परिक विरोधी हितों पर समझौता हो पाता है और यदि ऐसे समझौतों को बदल देने का अधिकार सरकार को प्राप्त है तो इससे मामलों के और अधिक उलझ जाने का भय है। कानून में ऐसा प्रबन्ध है कि सरकार को परिवर्तन सम्बन्धी आज्ञाओं को संसद के समक्ष १५ दिन की अवधि तक के लिये रक्खा जाय जिसके भीतर प्रस्ताव द्वारा संसद उसे स्वीकार करे अथवा अस्वीकार कर दे, इससे स्थिति के सुधार की आशा नहीं की जा

सकती। वास्तविक बात तो यह है कि यह जानते हुये कि सरकार को अपने इच्छानुकूल निर्णय बदल देने का अधिकार प्राप्त है झगड़ा जिन पक्षों के बीच है वे अपनी बात पूरी-पूरी व्यक्त न करेंगे और जल्दी समझौता न करेंगे। कानून की अच्छी बात यह है कि अब झगड़े में पड़े हुये दोनों पक्षों को इस बात की स्वतंत्रता है कि वे किसी समझौते के निर्णय पर हस्ताक्षर कर सकते हैं। इस झगड़े को किसी पंच निर्णायक को फैसला करने के लिये सौंप सकते हैं। इस प्रबन्ध के अतिरिक्त यह कानून गिरी द्वारा प्रस्तावित संयुक्त रूप से समझौता करने की योजना को कोई स्थान नहीं देता। यदि गिरी के अभिस्ताव इसमें सम्मिलित कर लिये गये होते तो श्रमिक और मालिक के हितों को बिना कोई हानि पहुँचाये ही पारस्परिक समझौते की सुविधा कुछ अधिक ही सम्भव हुई होती।

औद्योगिक अनुशासन संहिता (Code)—१९५७ मे भारतीय श्रम कान्फ्रेन्स की स्थायी श्रम-समिति ने 'औद्योगिक अनुशासन संहिता' अपनाई जिसे कर्मचारियों तथा नियोक्ताओं के संघों ने भी स्वीकार किया। इससे भारत में औद्योगिक सम्बन्धों के सुधारने की आशा की जाती है। इसके अनुसार कर्मचारी तथा नियोक्ता भविष्य मे होने वाले झगड़ों को पारस्परिक पत्र-व्यवहार, समझौता तथा अपनी इच्छा से बीच-बचाव करवा के हल करने के लिये बाध्य हैं। इसके अन्तर्गत श्रमिक तथा नियोक्ता 'धीरे काम करो' की चाल, तालाबन्दी, बिना नोटिस के हड़ताल, धमकी तथा अनुशासन हीनता के अन्य रूप (जो प्रायः औद्योगिक झगड़ों के कारण होते हैं) को नहीं अपनायेंगे।

मार्के की बात तो यह है कि संहिता मे इन्हें लागू करने तथा इसके परिणाम आंकने की व्यवस्था भी है। १९५८ में केन्द्र में लागू करने तथा आँकने के लिये एक छोटी संस्था का निर्माण किया गया। यह संस्था विभिन्न समूहों से अंशतः या न लागू होने, निर्णय, अधिनियम तथा समझौता आदि के दोषपूर्ण ढंग से या देर से लागू होने के सम्बन्ध मे विवरण एकत्र करेगी। संघ के श्रम मंत्रालय ने राज्य सरकारों से २० फरवरी १९५८ तक तथा भविष्य म प्रतिमाह की दस तारीख तक प्रश्नावलि के उत्तर के रूप में सूचना देने की प्रार्थना की थी। अच्छे औद्योगिक सम्बन्ध बनाये रखने की दिशा में यह एक प्रभावपूर्ण कदम है। अधिनियम पास करने तथा संहिता स्वीकार करना ही काफी नहीं है। भविष्य में इसके अनुसार काम होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके लागू करने तथा लागू न होने के कारणों पर कठोर दृष्टि रखी जाय।

अध्याय ३२

ट्रेड यूनियन

भारत में श्रमिक आन्दोलन बहुत पुराना नहीं है। यद्यपि २० वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में ट्रेड यूनियन थीं परन्तु उनका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित था और वह उन कार्यों को नहीं करती थीं जिनकी एक ट्रेड यूनियन से अपेक्षा की जाती है। भारत में इनका विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ और जो कुछ प्रगति हुई भी है वह अनेक कारणों से सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। श्रमिकों में किसी समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित होने की भावना होने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें इस प्रकार के संगठन की आवश्यकता प्रतीत हो। १८ वीं सदी में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हुई और उसके पश्चात् कुछ देशों में उसकी पुनरावृत्ति हुई। परन्तु भारत ने अब तक इस प्रकार की औद्योगिक क्रान्ति का अनुभव नहीं किया है। यदि औद्योगिक क्रान्ति हुई होती तो उससे श्रमिकों के संगठन की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती और एक श्रमिक संगठन बन जाता। औद्योगिक क्रान्ति से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती जिनकी पूर्ति के लिए श्रमिको का संगठित होना आवश्यक हो जाता। भारत के औद्योगिक विकास से कुछ समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं परन्तु यह समस्याएँ उतनी तीव्र नहीं हैं जितनी औद्योगिक क्रान्ति होने पर होती।

अनेक कारणों से भारत में श्रमिक आन्दोलन का विकास नहीं हो पाया है;

(१) यह पहले कहा जा चुका है कि भारत की अधिकतर श्रमिक जनता निरक्षर है और उसका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। श्रमिक भाग्य पर विश्वास करता है और यह मानता है कि स्वयं प्रयत्न करके वह अपनी स्थिति नहीं सुधार कर सकता है। इस भावना से प्रेरित होने के कारण वह अपना सम्पूर्ण कार्य भगवान के भरोसे छोड़ देता है। यदि श्रमिक शिक्षित होता तो उसे अपनी स्थिति सुधारने की आवश्यकता प्रतीत होती और उसे यह ज्ञात हो जाता कि स्वयं प्रयत्न करके वह अपनी स्थिति को बहुत सीमा तक सुधार सकता है। ऐसा अनुभव कर वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने अन्य श्रमिक साथियो को संगठित कर सकता था। यदि भारतीय श्रमिक भी पाश्चात्य देशों के श्रमिको की तरह भौतिकवादी होता तो वह निरक्षर होते हुए भी संगठित हो सकता था परन्तु भारत मे निरक्षरता और भाग्यवाद के कारण ही आज तक श्रमिक का प्रभावशाली संगठन नहीं हो पाया है।

श्रमिक आन्दोलन सम्बन्धी अनेक कार्यवाहियों के होते हुए भी भारतीय श्रमिक की व्यक्तिगत भावना कम नहीं हो पाई है।

(२) भारत का औद्योगिक श्रमिक केवल कारखानों पर ही निर्भर नहीं है। बीच-बीच में वह गाँव जाता रहता है और फिर काम करने कारखानों में आ जाता है। समान हितों की पूर्ति के लिए संगठित होने में उनके स्थान परिवर्तन की प्रवृत्ति सब से बड़ी बाधक रही है। इधर कुछ वर्षों से स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ है और शुद्ध औद्योगिक श्रमिक के एक वर्ग का उद्भव हो रहा है।

(३) श्रमिकों के पारिश्रमिक में वृद्धि हुई है परन्तु इसके साथ ही रहन-सहन के व्यय में भी वृद्धि हुई है। श्रमिक अतीत की तरह अब भी ट्रेड यूनियन के लिए थोड़ा सा चन्दा देने के लिए प्रस्तुत नहीं होता है। यदि उसे संगठन का लाभ मालूम होता तो ट्रेड यूनियन की सदस्यता के लिए आवश्यक चन्दा देने से वह पीछे नहीं हटता।

(४) भारत के उद्योगपति भी औद्योगिक विकास के आरम्भ काल के अन्य देशों के उद्योगपतियों की तरह ट्रेड यूनियनों का विरोध करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि ट्रेड यूनियन उनकी प्रतिद्वन्द्वी शक्ति है। यदि उद्योगपति कुछ और विचारपूर्ण दृष्टिकोण अपनाते तो इस आन्दोलन की बहुत प्रगति हो गयी होती। इधर कुछ वर्षों से उद्योगपतियों ने औद्योगिक झगड़ों के निपटारे के लिए और उद्योग में शांति बनाये रखने के लिए ट्रेड यूनियनों का महत्त्व समझा है।

(५) वर्तमान में भारतीय श्रमिक संघों पर स्वयं श्रमिकों का नहीं बल्कि बाहरी लोगों का नियंत्रण है। यदि ट्रेड यूनियनों का नेतृत्व स्वयं श्रमिकों के हाथ में होता तो वह श्रमिकों के हित में ट्रेड यूनियनों का संगठन करने का महत्त्व समझ सकते और इससे श्रमिक आन्दोलन तेजी से बढ़ सकता था। परन्तु नेतृत्व स्वयं श्रमिकों के हाथ में नहीं है और बाहरी लोग ट्रेड यूनियनों का उपयोग अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति में करते हैं। उनकी दृष्टि में श्रमिकों की स्थिति में सुधार करना गौण विषय होता है। इसीलिए श्रमिक सोचते हैं कि ट्रेड यूनियनों का संगठन करने से विशेष लाभ नहीं है। भारतीय ट्रेड यूनियन संगठन में यह दोष होने से ट्रेड यूनियनों का कार्यक्षेत्र विकसित नहीं हो पाया है और श्रमिकों में शिक्षा-प्रसार और स्वास्थ्य संबन्धी कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी है। भारतीय ट्रेड यूनियनें अधिकतर संघर्षशील प्रवृत्ति की हैं। यह एक प्रकार से हड़ताल करने की और मालिक या सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करने की एजेन्सी के रूप में कार्य करती हैं। इस नीति के कारण भारतीय ट्रेड यूनियनों का कार्यक्षेत्र बहुत संकीर्ण हो गया है।

१९५५-५६ में (जिस अद्यतन वर्ष के आँकड़े प्राप्त हैं) भारत में ७८४६ श्रमिक संघ थे जिनके सदस्यों की संख्या २२¼ लाख थी। निम्न तालिका से यह स्पष्ट होगा कि १९५२-५३ से रजिस्टर्ड श्रम-संघ तथा उनकी सदस्य संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। संघों के इस विकास के होते हुए भी रजिस्टर किये हुये श्रमिक संघों के कुल सदस्यों की संख्या उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों की कुल संख्या का अंश मात्र ही है।

रजिस्टर्ड श्रम-संघ तथा उनकी सदस्य-संख्या

वर्ष	श्रमसंघ की संख्या		सदस्यों की कुल संख्या
	रजिस्टर्ड	सूचना देने वाले	
१९५०-५१	३७६६	२००२	१७,५६,९७१
१९५१-५२	४६२३	२५५६	१९,९६,३११
१९५२-५३	४९३४	२७१८	२०,९९,००३
१९५३-५४	६०२९	३२९५	२१,१२,६९५
१९५४-५५	६६४८	३११३	२१,७०,४५०
१९५५-५६	७८४६	३९११	२२,२५,३१०

कानूनी व्यवस्था

ट्रेड यूनियन सम्बन्धी कानून बनाने का उद्देश्य ट्रेड यूनियन की व्याख्या करना, उसके कर्तव्यों और उत्तरदायित्व को निश्चित करना और ट्रेड यूनियन सम्बन्धी उचित कार्यवाही के सम्बन्ध में उनकी रक्षा करना है। कानून यह निश्चित करता है कि उद्योगपति ट्रेड यूनियन को मान्यता देंगे और ट्रेड यूनियन सम्बन्धी उचित कार्यवाही करने पर किसी अदालत में उन पर मुकदमा नहीं चलाया जायगा। ऐसा कानून न होने पर उचित कार्यवाही भी अन्य अर्थों में अवैध घोषित की जा सकती है।

१९२६ का भारतीय ट्रेड यूनियन कानून—१९२६ के भारतीय ट्रेड यूनियन कानून में १९२८, १९४२ और १९४७ में संशोधन किया गया। भारतीय ट्रेड यूनियनें इसी कानून द्वारा सचालित होती हैं। १९२६ के कानून के अन्तर्गत ट्रेड यूनियन की यह परिभाषा दी गई है कि कोई भी संगठन चाहे अस्थायी हो या स्थायी यदि श्रमिक और उद्योगपति या मालिक और कर्मचारियों के बीच अथवा कर्मचारियों के बीच पारस्परिक उचित सम्बन्ध बनाये रखने के लिए बनाया गया

हो, या वाणिज्य-व्यापार करने पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने के लिए बनाया गया हो या दो या दो से अधिक संघों का संगठन हो तो उसको भी ट्रेड यूनियन ही कहा जायगा। इस प्रकार *ट्रेड यूनियन की श्रेणी में श्रमिकों और मालिकों दोनों के* संगठन सम्मिलित कर लिये गये हैं। इसमें यह व्यवस्था की गई है कि किसी यूनियन के ७ या उससे अधिक सदस्य कानून के अन्तर्गत नियुक्त रजिस्ट्रार के पास यूनियन की रजिस्ट्री कराने के लिए आवेदन पत्र भेज सकते हैं। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि यूनियनें निर्धारित शर्तें पूरी करती हों। यह भी व्यवस्था की गई है कि रजिस्टर्ड यूनियन के पदाधिकारियों में से आधे वास्तव में उस उद्योग के कर्मचारी हों जिसके श्रमिकों की यह यूनियन हैं। इससे बाहरी व्यक्तियों को ट्रेड यूनियन संगठन में काफी स्थान मिल जाता है। यदि यूनियन के कानून सम्मत उद्देश्य को आगे बढ़ाने के लिए किये गये समझौते के सम्बन्ध में झगड़ा हो तो यह कानून यूनियन के पदाधिकारियों और सदस्यों की फौजदारी के दावे से सुरक्षा करता है। इसके साथ ही यदि मालिक श्रमिकों के झगड़े के बारे में कोई कार्य किया गया है और शिकायत केवल यह है कि इस प्रकार के कार्य से अन्य श्रमिक द्वारा काम छोड़ दिये जाने की सम्भावना है या यह व्यापार में अथवा किन्हीं लोगों की नियुक्ति में हस्तक्षेप करना है तो इस कानून की वजह से यूनियन के *पदाधिकारियों और सदस्यों पर दीवानी मुकदमा भी नहीं चलाया जा सकता है।*

इस कानून द्वारा रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन के कोष पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। इस कोष का केवल उन्हीं कार्यों में उपयोग किया जा सकता है जिनका कानून मे विवरण दिया गया है परन्तु एक पृथक् कोष का निर्माण करने की अनुमति दे कर यूनियन के सदस्यों के नागरिक एवम् राजनीतिक हितों की भी रक्षा की गई है। प्रत्येक ट्रेड यूनियन को प्रतिवर्ष अपना हिसाब छपे फार्मों में भरकर रजिस्ट्रार के सामने प्रस्तुत करना पड़ता है। इसके साथ ही आय-व्यय का आडिट किया हुआ विवरण भी भेजना पड़ता है। यदि मान्यता प्राप्त ट्रेड यूनियन के (१) अधिकतर सदस्य अनियमित हड़ताल मे भाग लें, (२) यूनियन का कार्यकारिणी अनियमित हड़ताल की सलाह दे, उससे सहयोग करे या उसे भड़काए, या (३) यूनियन का अधिकारी गलत वक्तव्य प्रकाशित कराए, तो कानून के अनुसार ये कार्यवाहियाँ अनुचित समझी जायँगी और इसके लिए दण्डस्वरूप यूनियन की मान्यता वापस ले लेने की व्यवस्था की गई है। दूसरी ओर यदि उद्योगपति या मालिक (अ) अपने श्रमिकों के ट्रेड यूनियन संगठित करने के अधिकारों में हस्तक्षेप करे या पारस्परिक सहायता एवम् सुरक्षा के उद्देश्य से की जाने वाली कार्यवाही में गड़बड़ी पैदा करे, (ब) किसी ट्रेड यूनियन के

बनने या उसके प्रशासन में हस्तक्षेप करे, (स) किसी मान्यता प्राप्त ट्रेड यूनियन के अधिकारी को ट्रेड यूनियन का अधिकारी होने के कारण नौकरी से निकाल दे या उसके साथ भेद-भाव की नीति बरते, और श्रमिकों को कानून के अन्तर्गत चलने वाली किसी जाँच इत्यादि कार्यवाही में गवाही देने पर या आरोप लगाने पर निकाल दे, या (द) मान्यता प्राप्त यूनियनों के साथ समझौता वार्ता करने से इन्कार कर दे या कानून में दी गई सुविधाओं को देने से इन्कार कर दे तो उद्योगपति अथवा मालिक की यह कार्यवाही कानून की दृष्टि में अनुचित समझी जायगी। अनुचित कार्यवाही के लिए उस पर एक हजार रुपया जुर्माना करने की व्यवस्था की गई है।

इस कानून से यद्यपि ट्रेड यूनियनों को मान्यता मिली और उनको कानूनी आधार दिया गया फिर भी इससे भारत में ट्रेड यूनियन संगठन का विकास करने का उद्देश्य पूर्ण न हो सका। इसमें अनेक दोष हैं: (१) इस कानून के अनुसार ट्रेड यूनियन केवल मजदूरों के संगठनों तक ही सीमित नहीं है, जैसा कि होना चाहिए था, परन्तु इसमें मालिकों और उद्योगपतियों के संगठन भी शामिल किये गये हैं। इससे अनावश्यक गड़बड़ी पैदा हो जाती है; (२) कानून के अनुसार ट्रेड यूनियन का रजिस्ट्रेशन करना अनिवार्य नहीं है। इस कानून में उन यूनियनों को भारतीय दण्ड विधान के अन्तर्गत फौजदारी के मुकदमे से छूट नहीं दी गई है जिनकी रजिस्ट्री नहीं हुई है, इससे ट्रेड यूनियन संगठन कमजोर पड़ जाता है; और (३) कानून के अन्तर्गत ट्रेड यूनियन के सामान्य कोष और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित कोष में अवैज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। सामान्य कोष से व्यय करने के लिए अत्यन्त संकीर्ण व्यवस्था की गई है।

आचरण-संहिता (code of conduct)—यद्यपि भारत में श्रम संघों की बाहुल्यता है तथा विभिन्न संघों (federations) के सामंजस्य सहित काम करने की कोई आशा नहीं है फिर भी मई, १९५८ में नैनीताल में भारतीय-श्रम-कान्फ्रेन्स में भाग लेने वाले श्रम संगठनों के प्रतिनिधियों द्वारा अपनाये गये आचरण संहिता से आशा का संचार होता है।

इस संहिता के अनुसार "(i) किसी उद्योग अथवा इकाई के कर्मचारी को अपनी इच्छा की यूनियन का सदस्य बनने की स्वतन्त्रता होगी। इस संबंध में कोई दबाव नहीं डाला जायगा। (ii) यूनियन की दोहरी सदस्यता नहीं होगी। प्रतिनिधि-यूनियनों के सम्बन्ध में यह तय किया गया कि उपर्युक्त नियम की और परीक्षा की जाय। (iii) श्रम-संघों के प्रजातंत्रीय ढंग पर कार्य करने को स्वीकार

किया जाय तथा आदर की दृष्टि से देखा जाय। (iv) ट्रेड यूनियन के पदाधिकारियों तथा प्रशासकीय निकायों के चुनाव नियमित तथा प्रजातंत्रीय ढंग पर होने चाहिये। (v) श्रमिकों की अज्ञानता और पिछड़ेपन का कोई संगठन फायदा नहीं उठायेगा। कोई संगठन अनावश्यक माँगे नहीं पेश करेगा। (vi) हर एक संघ जातीयता व प्रान्तीयता से दूर रहेगा। तथा (vii) श्रम संघों के बीच कोई हिंसा, दबाव, धमकी तथा व्यक्तिगत बदनामी आदि नहीं होगी।" यह सब बड़े ही अच्छे प्रस्ताव हैं किन्तु इनकी सफलता इस पर निर्भर करेगी कि ट्रेड-यूनियन उन्हें कहाँ तक अपनाती हैं।

श्रम संघों को मान्यता प्रदान करने के सम्बन्ध में अभी तक कोई केन्द्रीय अधिनियम नहीं है। भारतीय-श्रम-कान्फ्रेन्स ने ट्रेड यूनियन के मान्यता देने के सम्बन्ध में निम्न कसौटियाँ प्रस्तावित की। "(i) जहाँ एक से अधिक यूनियन हो वहाँ मान्यता प्राप्त करने वाली यूनियन रजिस्ट्री के बाद कम से कम एक वर्ष तक काम करती रही हो किन्तु जहाँ एक ही यूनियन हो वहीं यह शर्त लागू नहीं होगी। (ii) संस्थान के कम से कम १५% श्रमिक उसके सदस्य हों। (iii) किसी स्थानीय क्षेत्र में एक यूनियन को किसी उद्योग का प्रतिनिधि यूनियन माना जा सकता है बशर्ते कि क्षेत्र में उद्योग के २५% श्रमिक उसके सदस्य हो। (iv) यूनियन को मान्यता मिलने पर, दो वर्ष तक स्थिति में कोई सुधार नहीं होना चाहिये। (v) जब किसी उद्योग अथवा संस्थान में अनेक यूनियन हों तो सबसे अधिक सदस्य-संख्या वाली यूनियन को मान्यता देनी चाहिये। (vi) किसी क्षेत्र में किसी उद्योग की प्रतिनिधि यूनियन को देश भर के संस्थानों के श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। किन्तु यदि किसी संस्थान के श्रमिकों की यूनियन में उसके ५०% श्रमिक सदस्य है तो उसे केवल स्थानीय हित के मामलों पर कार्यवाही करने का अधिकार होना चाहिये। (vii) प्रतिनिधित्व का रूप निर्णय करने के लिये छानबीन करने के ढंग को और अधिक पर्याप्त कर देना चाहिये। जब इस सम्बन्ध में वैभागिक छान-बीन के परिणाम दलों को मान्य न हों तो केन्द्रीय श्रम संघ के प्रतिनिधियों से निर्मित एक समिति को इस प्रश्न की जाँच कर इसे हल करना चाहिये। इस कार्य के लिये केन्द्रीय श्रम संगठन विभिन्न भागों के लिये आवश्यक धन और व्यक्ति प्रस्तुत करेंगे। यदि इससे काम नहीं होता तो प्रश्न का निर्णय न्यायालय के सुपुर्द कर देना चाहिये। (viii) सिर्फ वे यूनियन मान्यता पा सकेंगी जो औद्योगिक अनुशासन संहिता को मानेगी। (ix) उन श्रम-संघों के सम्बन्ध में जो श्रम के चार केन्द्रीय संगठनों से सम्बन्धित नहीं है, इस प्रकार अलग से विचार करना चाहिये।" यह कसौटियाँ

विस्तृत तथा सुविचारित हैं। यदि इनका अनुसरण किया गया तो ट्रेड यूनियनों की नींव दृढ़ हो जायेंगी। प्राप्त अनुभव के आधार पर वे इस विषय पर अधिनियम बनाने का आधार भी बन सकती हैं।

भविष्य की योजना—वर्तमान में भारतीय श्रमिक आन्दोलन में कुछ आधारभूत दोष हैं और स्थिति सुधारने के लिए इन दोषों को दूर करना बहुत आवश्यक है। इस समय एक ही उद्योग में एक ही क्षेत्र से अनेक ट्रेड यूनियनें हैं। बहुत अधिक ट्रेड यूनियन होने से श्रमिक का पक्ष कमजोर पड़ जाता है और श्रमिक के अधिकारों की रक्षा मे भी बाधायें आ जाती हैं। इसलिए ट्रेड यूनियनों के संगठन को संगठित करने और इनको एकता के सूत्र में बाँधने की अत्यन्त आवश्यकता है। यह आवश्यक है कि एक क्षेत्र में स्थित किसी मुख्य उद्योग में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने के लिए केवल एक से अधिक ट्रेड यूनियन न हो। यदि एक क्षेत्र के विभिन्न उद्योगों में कार्य करने वाले सभी श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक ट्रेड यूनियन होती तो सर्वोत्तम होता। परन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि कभी-कभी विभिन्न उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों की समस्याएँ भिन्न होती हैं। साथ ही विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले श्रमिक एकता के सूत्र में नहीं बँध पाते हैं जब कि ट्रेड यूनियन आन्दोलन की सफलता इनकी एकात्मकता पर निर्भर करती है। भारत के ट्रेड यूनियन संगठन मे दूसरा बड़ा दोष यह है कि यह अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रायः हड़ताल में और मालिकों से सामूहिक माँगें करने में लगा देते हैं। बहुत कम ऐसी यूनियनें हैं जिन्होंने अपने कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाया है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि सामूहिक रूप से माँग करना और हड़ताल करना ट्रेड यूनियनों का महत्वपूर्ण कार्य है परन्तु इसके साथ ही अन्य कार्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत में ट्रेड यूनियम का कार्यक्रम और विस्तृत करने की आवश्यकता है। इसमें वयस्कों की शिक्षा, सहकारी-आन्दोलन का ॱगठन, जनसेवा कार्य इत्यादि भी सम्मिलित किये जाने चाहिये। इससे ट्रेड यूनियनों की उपयोगिता बढ़ जायगी।

ट्रेड यूनियन आन्दोलन का एक बहुत बड़ा दोष केन्द्रीय संगठनों का बाहुल्य है। कुल १५२१ यूनियनों में से आई० एन० टी० यू० सी, ए० आई० टी० यू० सी० हिन्द मजदूर सभा और यूनाइटेड टी० यू० सी० से संयोजित यूनियनों की संख्या क्रमशः ६१७, ५५८, ११६, और २३७ और उनके सदस्यों की संख्या क्रमशः ६·७२ लाख, ४·२३ लाख, २·०४ लाख, और १·५६ लाख १६५६ के अन्त में थी। इन केन्द्रीय संगठनों को एक शक्तिशाली संस्था में संगठित करना सम्भव है। इसमें संदेह नहीं कि इन केन्द्रीय संगठनों के राजनीतिक-

उद्देश्यों में बहुत अधिक अंतर है परन्तु जहाँ तक श्रमिकों की स्थिति में सुधार करने और श्रमिकों के वास्तविक हितों की रक्षा करने का प्रश्न है इनका आधार-भूत आर्थिक कार्यक्रम समान है। यदि यह केन्द्रीय संगठन एक में मिल जाँय तो श्रमिक के हितों की वर्तमान की अपेक्षा कहीं अच्छे रूप में रक्षा की जा सकती है। यदि इन संगठनों को आरंभ में पूर्णतया एक में मिला देना संभव न हो तो कम से कम समान हितों की कुछ समस्याओं को हल करने के लिए इनमें परस्पर सहयोग तो हो ही सकता है। इससे स्थिति में सुधार होगा और भविष्य में इन संगठनों का एकीकरण करने के लिए मार्ग खुल जायगा।

अध्याय ३४

रेल यातायात

भारतीय रेलों ने उल्लेखनीय प्रगति की है। १८५३ में भारतीय रेलवे लाइन की लम्बाई केवल २० मील थी, १६०० में यह २४,७५२ मील हुई और १६५१-५२ में इसका प्रसार ३४,११६ मील और १६५६-५७ में ३४,७४४ मील हो गया, जिसमें ३४,२६१ मील सरकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत था। १६०० में भारतीय रेलों से १७ करोड़ ५० लाख यात्रियों ने यात्रा की, ४ करोड़ ३० लाख टन सामान ढोया गया। १६५६-५७ में यात्रियों की संख्या १३८ करोड़ ३० लाख और ढोये जाने वाले माल की मात्रा १२ करोड़ ५० लाख टन हो गई। १६ अप्रैल १६५३ को भारतीय रेलों ने अपनी उपयोगी सेवाओं के १०० वर्ष पूरे किये। ठीक १०० वर्ष पूर्व १६ अप्रैल १८५३ को प्रथम भारतीय रेल ने बम्बई शहर से थाने तक २१$\frac{1}{2}$ मील की दूरी तय की थी। यद्यपि रेलवे संगठन में कुछ त्रुटियाँ हैं और कुछ दोष भी हैं परन्तु फिर भी जिस गति से उसने प्रगति की है उस पर भारतीय रेलवे गर्व कर सकती है।

मुख्य विशेषताएँ—भारतीय रेलवे के विकास में कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। (१) भारत में रेल का कार्य निजी उद्योग के रूप में प्रारम्भ किया गया। रेल-उद्योग करने वालों को सरकार ने कुछ सुविधाएँ दीं जैसे इन्हें भूमि मुफ्त दी गई और पूँजी की वसूली की गारन्टी दी गई। इससे रेलवे निर्माण के व्यय में वृद्धि हुई और सारे देश को इसका भार वहन करना पड़ा। ऐसे समय में जब रेलों का निर्माण करने के लिए उद्योगपति पूँजी लगाने को प्रस्तुत नहीं थे यह सुविधायें देना सम्भवतः अत्यन्त आवश्यक था परन्तु यदि इस ओर किंचित् सावधानी से कार्य लिया जाता तो इनको काफी कम भी किया जा सकता था। रेलों का प्रबन्ध निजी उद्योगपतियों के हाथ में होने से इसकी काफी आलोचना की गई है। आलोचकों ने प्रबन्धकों द्वारा पक्षपात किये जाने और कच्चे माल के निर्यात तथा तैयार माल के आयात के भाड़े में रियायतें देने की शिकायतें कीं, क्योंकि बन्दरगाहों से देश के अन्दर सामान लाने और बन्दरगाहों तक सामान पहुँचाने के लिए रेल के भाड़े की दर अन्य दरों की अपेक्षा कम रखी गई थी। एकवर्थ समिति (Acworth Committee) ने सुझाव दिया कि राष्ट्रीय हित में रेल के निजी उद्योग को क्रमशः राज्य को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। इस दिशा में १६२५ में प्रथम प्रयास किया गया। सरकार ने ईस्ट इण्डिया और जी. आई. पी. रेलवे

को अपने अधिकार में ले लिया परन्तु इस प्रक्रिया को पूरा होने में २० वर्ष लगे और जहाँ तक ब्रिटिश भारत का सम्बन्ध है १९४४ में निजी उद्योग समाप्त कर राज्य ने इसको पूर्णतया अपने अधिकार में ले लिया। १९५० में संघीय वित्तीय एकीकरण के पश्चात् भूतपूर्व रियासतों की रेलों को भी भारत-सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और अब रेलवे एकमात्र राजकीय उद्योग बन चुका है।

रेल उद्योग निजी उद्योगपतियों के हाथ मे होने की अपेक्षा सरकार के हाथ मे होने से अनेक लाभ हैं—(अ) इससे साधनों की अनावश्यक हानि और विभिन्न रेलवे-प्रबन्धों में प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। (ब) राजकीय उद्योग होने के कारण देश के औद्योगिक और कृषि साधनों के विकास के महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए रेल के भाड़े की उचित दर निश्चित की जा सकती है और (स) इस उद्योग से जो लाभ होगा वह केन्द्रीय धन कोष मे जमा हो सकता है।

(२) दो विश्वयुद्धों के कारण, १९३० की आर्थिक मंदी और १९४७ में देश के विभाजन से रेलों पर बहुत भार पड़ा है और उसका परस्पर सम्बन्ध भी विच्छिन्न हो गया। युद्ध के कारण रेलों की कार्यक्षमता पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया, पुराने कल-पुर्जों इत्यादि को नहीं बदला गया और नई मशीनें लगाने की योजना स्थगित कर दी गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ८ प्रतिशत मीटर-गेज के इञ्जन, १५ प्रतिशत मीटर-गेज के वैगन, ४ हजार मील लम्बी पटरियाँ और ४० लाख स्लिपर भारतीय रेलों से लेकर मध्यपूर्वी देशों को भेजे गये। युद्ध के समय रेलों के सामान का और पटरियों का अत्यधिक उपयोग किया गया, उनको न बदला जा सका और न नया सामान लगाया जा सका। इससे रेलों की कार्य-क्षमता घट गई। देश का विभाजन हो जाने से रेलों का कुछ सामान पाकिस्तान के भाग में चला गया और शरणार्थियों को लाने-पहुँचाने के कार्य में रेलों पर और अधिक भार पड़ा। गत कुछ वर्षों मे रेलो पर आवश्यकता से अधिक भार कुछ कम किया गया है, पुराने सामान को बदला गया है और सामान की मात्रा बढ़ाई गई है परन्तु इस दिशा मे अभी बहुत कुछ करना शेष है।

(३) अतीत में इञ्जनों, बायलरों, डिब्बों इत्यादि के लिए भारतीय रेलो को आयात पर निर्भर करना पड़ता था। इससे देश का बहुत-सा धन विदेश चला जाता था और देश को विदेशी विनिमय साधनों को गम्भीर क्षति होती थी। परन्तु इधर कुछ वर्षों से स्थिति में सुधार हुआ है और अब देश में ही इञ्जन, डिब्बे इत्यादि बनने लगे हैं। भारतीय कारखानों में डिब्बों का उत्पादन बढ रहा है और रेलवे की आवश्यकता की अधिकाधिक पूर्ति की जा रही है। चित्त-रञ्जन के इञ्जन बनाने के कारखाने में इञ्जन के लगभग ७० प्रतिशत कल पुर्जों

का उत्पादन किया जाता है और केवल ३० प्रतिशत का आयात करना पड़ता है।

(४) भारत में अनेक रेलें थीं परन्तु पुनर्वर्गीकरण योजना लागू करके इनको ७ क्षेत्रों में संगठित किया गया है। एकीकरण से पहिले भारत में ३५ रेलवे थीं जिनमें से ३२ सरकार के अधिकार में थीं। रेलवे बोर्ड की जाँच करने के लिये नियुक्त समिति (१९५०) की सिफारिश पर भारत सरकार ने भारतीय रेलों को ६ क्षेत्रों में संगठित करने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। दक्षिणी रेलवे का १४ अप्रैल १९५१, पश्चिमी और केन्द्रीय रेलवे का ५ नवम्बर १९५१ को और शेष तीन उत्तरी, उत्तरी पूर्वोत्तर और पूर्वी रेलवे का १४ अप्रैल १९५२ को उद्घाटन हुआ। पहली अगस्त १९५५ से सातवें क्षेत्र का निर्माण पूर्वी रेलवे को दो क्षेत्रों में विभाजित करके किया गया: (१) पूर्वी रेलवे जिसमें पुरानी ई० आई० आर० का मुगलसराय तक का भाग (सियालदह डिविजन को लेकर) सम्मिलित थी, और (२) दक्षिणी पूर्वी रेलवे जिसमें सम्पूर्ण बी० एन० आर० सम्मिलित थी। इस प्रकार भारतीय रेलवे को निम्न सात क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया।

(१) दक्षिणी रेलवे—इसमें एम० एन्ड एस० एम०, एस० आई० और मैसूर राज्य रेलवे सम्मिलित है।

(२) पश्चिमी रेलवे—इसमें भूतपूर्व बी० बी० सी० आई०, सौराष्ट्र, राजस्थान तथा जैपुर रेलवे और जोधपुर रेलवे का कुछ भाग सम्मिलित कर दिया गया है।

(३) केन्द्रीय रेलवे—इसमें जी० आई० पी०, एन० एस०, सिन्धिया राज्य और धौलपुर राज्य रेलवे सम्मिलित है।

(४) उत्तरी रेलवे—इसमें ई० पी०, जोधपुर और बीकानेर रेलवे, ई० आई० आर० के इलाहाबाद, लखनऊ और मुरादाबाद डिवीजन और बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे का दिल्ली रेवारी-फजिल्का क्षेत्र सम्मिलित है।

(५) दक्षिणी पूर्वी रेलवे—इसमें बी० एन० आर० शामिल है।

(६) उत्तरी पूर्वी रेलवे—इसमें ओ० टी० एन्ड आसाम रेलवे, ई० आई० आर० का कुछ भाग और बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे का फतेहगढ़ क्षेत्र है।

(७) पूर्वी रेलवे—इसमें पुरानी ई० आई० का मुगलसराय तक का भाग और सियालदह डिवीजन सम्मिलित है।

७ क्षेत्रों का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ है कि जिसमें विभिन्न क्षेत्रों का कार्य कम व्यय के साथ चलाया जा सके और विभिन्न क्षेत्रों में यातायात की

उचित सुविधा प्राप्त हो। विभिन्न क्षेत्रों के रेल पथों का विस्तार २३३१ मील से लगाकर (जो कि पूर्वी रेलवे का है) ६३३६ मील तक है। (जो कि उत्तरी रेलवे का है) इस बात का ध्यान रखा गया है कि कर्मचारियों और अन्य सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर कम से कम हटाना पड़े और केवल ईस्ट इंडिया और बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे को छोड़कर जहाँ तक सम्भव है वर्तमान रेलवे व्यवस्था को बिना छिन्न भिन्न किए एक या दूसरे भाग में सम्मिलित कर लिया जाए।

रेलवे के पुनर्वर्गीकरण योजना की आलोचना की गई है। कहा गया है कि (अ) पुनर्वर्गीकरण से एक रेलवे के कर्मचारियों को दूसरी रेलवे में परिवर्तित किया गया, उनमें अनेक को नौकरी से अलग कर दिया गया, (ब) इससे कम से कम दो रेलवे—ईस्ट इन्डियन और बी० बी० एन्ड० सी० आई० रेलवे—तोड़ी गई जिसमें अनेक जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो गईं, और (स) इससे भारतीय व्यापार एवम् उद्योग को अनेक कठिनाइयाँ हुई हैं। रेलवे के पुनर्वर्गीकरण जैसे बड़े परिवर्तन में थोड़ा-बहुत सम्बन्ध विच्छेद होना और कुछ कर्मचारियों को नौकरी से अलग कर दिया जाना अनिवार्य था। उससे बचा नहीं जा सकता था। परन्तु इतने से ही पुनर्वर्गीकरण की योजना अवांछनीय और अनुपयुक्त सिद्ध नहीं होती क्योंकि इस योजना के लागू हो जाने से जो लाभ होंगे वह इसमें होनेवाली हानियों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। यह भी कोई तर्क नहीं, जैसा कि कुछ समितियों ने सुझाव दिया था, कि यह योजना पाँच वर्ष बाद लागू की जाय और सरकार को इस समय इसे स्थगित कर देना चाहिए था। यदि पुनर्वर्गीकरण की नीति स्वीकार कर ली गई है तो इसे जितना शीघ्र लागू किया जाय उतना ही अच्छा है। इस योजना के लागू करने से तीन निश्चित लाभ हैं :—(क) इससे वह सभी लाभ प्राप्त हो सकेंगे जो प्रबन्ध व्यवस्था बड़े पैमाने पर संगठित करने में होते हैं। (ख) इससे एक ही काम अनेक बार करने से छुटकारा मिल जाएगा और हानिकारक प्रतियोगिता भी नहीं हो सकेगी और (ग) इससे रेलवे की आर्थिक स्थिति दृढ़ होगी और कार्य के स्तर में सुधार किया जा सकेगा। इस व्यवस्था के पश्चात् रेल के भाड़े और किराये की दर, यात्रियों की सुविधाओं, मजदूरों के वेतन और सुविधाओं इत्यादि के सम्बन्ध में सारे देश में समान नीति लागू की जा सकेगी। यह कोई छोटी सफलता नहीं।

(५) भारतीय रेलवे की कार्यक्षमता अभी भी बहुत नीचे स्तर की है। युद्ध आरंभ होने के पूर्व की कार्यक्षमता के स्तर तक भी अभी भारतीय रेलवे नहीं पहुँच सकी है। इस बात का प्रमाण माल के डिब्बों का चक्कर लगाकर अपने

स्थान पर पहुंचने में दस अथवा ग्यारह दिन के समय का लगना है जब कि युद्ध के पूर्व केवल नौ दिन लगते थे। रेल के सामान के अभाव के अतिरिक्त कार्य प्रबन्ध में देर लगना भी माल क एक स्थान से दूसरे स्थान तक देर से पहुँचने का प्रधान कारण है। समय की पाबन्दी तथा माल के डिब्बों के प्रयोग सूचक अंक बहुत नीचे स्तर पर हैं। छोटी लाइन की स्थिति और भी बिगड़ी हुई है।

भारतीय रेलवे में कोयले का व्यय भी बहुत अधिक है। वर्तमान समय में १०५ लाख टन कोयला ३०½ करोड़ रुपये की लागत का प्रयोग में आता है। रेलवे फ्यूल जाँच कमेटी ने विभिन्न उपायों द्वारा २०% बचत करने का सुझाव दिया था। यदि यह सम्भव हो सका तो रेलवे को प्रति वर्ष ६ करोड़ रुपये की बचत अगले पाँच वर्षों में सम्भव हो सकेगा। इसके अतिरिक्त अन्य मितव्ययता के उपायों की पूरी जाँच होनी चाहिए और इनका प्रयोग होना चाहिये जिससे रेलवे का व्यय कम हो जाय तथा आय में वृद्धि हो जायगी।

रेलवे की वित्त व्यवस्था—एकवर्थ समिति के सुझाव पर १९२४ में रेलवे की वित्त व्यवस्था केन्द्रीय सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से भिन्न कर दी गई। १९२४ के पृथक्करण समझौते में यह व्यवस्था की गई थी कि रेलवे में लगी हुई पूँजी पर ब्याज के साथ ही व्यवसाय मे लगी पूँजी का एक प्रतिशत, अतिरिक्त लाभांश का ⅕ भाग और रेलवे के सुरक्षित कोष में ३ करोड़ रुपया जमा कर देने के बाद बचे अत्यधिक अतिरिक्त लाभाँश का ⅓ भाग राजस्व के नाम में जमा करेगी। महत्वपूर्ण रेलों की हानि का भार केन्द्रीय सरकार वहन करेगी। रेलवे के सुरक्षित कोष में से सामान्य राजस्व दिया जायगा और यदि आवश्यकता पड़ी तो टूट-फूट के लिये पूँजी और रेलवे की आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाने के लिए भी इसमें से धन लिया जायगा। रेलवे के सामान को बदलने और नया सामान मँगाने के लिए १ अप्रैल १९२४ से टूट-फूट के लिए एक भिन्न सुरक्षित कोष बनाया गया है। केन्द्रीय सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से रेलवे की वित्त व्यवस्था को भिन्न करने के दो लाभ हुये हैं: (अ) अतीत में सामान्य वित्त की कठिनाइयों और अनिश्चितता पर ही रेलवे का भविष्य निर्भर करता था। इस कारण वह पहले से ही अपने विकास की योजना निर्माण नहीं कर पाते थे। अनुमान है कि पृथक्करण समझौते के अनुसार वित्त व्यवस्था पृथक् कर देने से रेलवे की स्थिति अधिक सुरक्षित हो जायगी और इसके प्रसार करने के लिये तथा इसमें सुधार करने के लिए निश्चित धन राशि प्राप्त हो जायगी। (ब) अतीत में यह निश्चित नहीं था कि केन्द्रीय राजस्व को रेलवे से कितनी आय

होगी परन्तु पृथककरण समझौते के अनुसार इसके अन्तर्गत धन राशि निश्चित कर दी गई है।

पृथक्करण समझौते में संशोधन किया गया जो १ अप्रैल, १९५० से लागू हुआ। इस संशोधन के अनुसार (१) जनता को रेलवे का हिस्सेदार माना गया है और जो ऋण ली गई पूँजी रेलवे में लगाई गई है उस पर सरकार को (अर्थात् जनता को) ४ प्रतिशत का निश्चित रूप से लाभ मिलेगा। यह धन रेलवे की आय में से केन्द्रीय सरकार को दिया जाता है। पहले १९२४ के समझौते के अनुसार सामान्य राजस्व में दी जाने वाली धन राशि की कोई निश्चित निर्धारित मात्रा नहीं थी पर इस संशोधन से यह निश्चित कर दिया गया कि रेलवे में जो कुछ पूँजी लगी है उसका एक निर्धारित प्रतिशत सामान्य राजस्व में दिया जायगा। (२) समझौते में रेलवे विकास कोष स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। इस कोष से (अ) नई रेलवे लाइनों का निर्माण करने में वित्तीय सहायता दी जायगी। इन नई लाइनों से आय होना आवश्यक नहीं है, (ब) यात्रियों की सुविधा के लिए व्यय किया जायगा और (स) श्रम कल्याण कार्य इत्यादि में व्यय किया जायगा। (३) समझौते के संशोधन के अनुसार प्रथम पाँच वर्षों में रेलवे के टूट-फूट कोष में कम से कम १५ करोड़ रुपया संग्रह किया जाना चाहिए और शेष अतिरिक्त आय से एक ऐसे कोष का निर्माण किया जाना चाहिए जिससे आर्थिक सन्तुलन रखा जाय। रेलवे का सामान अधिक महँगा होने के कारण १९५० के पृथक्करण समझौते के पश्चात् से टूट-फूट के कोष में ३० करोड़ रुपये की नियत धनराशि सग्रह कर दी गई है।

पुराने समझौते में सामान्य राजस्व के अन्तर्गत जमा की जानेवाली धन-राशि निश्चित नहीं थी परन्तु नये समझौते में यह रकम निश्चित कर दी गई है। इससे रेलवे का योजनाबद्ध विकास किया जा सकता है, सुरक्षित कोष का निर्माण किया जा सकता है और पुनर्वास तथा प्रसार का कार्यक्रम कार्यान्वित किया जा सकता है। टूट-फूट के कोष में प्रति वर्ष जमा की जाने वाली धनराशि में इस आधार पर वृद्धि कर दी गई है कि कल पुर्जों, मशीन, इञ्जन इत्यादि बदलने के व्यय का मूल व्यय से और उपयोग में लाई जाने वाली सम्पत्ति के जीवन काल से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब तक इन्हीं दो आधारों पर टूट-फूट के कोष में योगदान निर्धारित किया जाता था। नये समझौते के अनुसार व्यय का भार बढ़ाने का उद्देश्य रेलवे को अत्यधिक पूँजी संग्रह करने से रोकना है। विकास कोष की स्थापना के समय यह बात मान ली गई है कि भविष्य में रेलवे का विकास केवल व्यवसायिक दृष्टिकोण से सीमित नहीं रखा जा सकता है। देश के आर्थिक विकास

में रेलवे को जिसका राष्ट्रीकरण किया जा चुका है एक महत्वपूर्ण और निश्चित योगदान देना है।

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् रेलवे की वित्तीय स्थिति में निरन्तर सुधार हुआ है। वास्तविक आय जो कि १९४८-४९ में ४२·३४ करोड़ रुपये थी १९५१-५२ में बढ़कर ६१·७५ करोड़ रुपया हो गई है और १९५८-५९ के बजट के अनुसार ७६·९२ करोड़ रुपया अनुमान किया गया है। १९५१-५२ में सामान्य आय के प्रति ३३·४१ करोड़ रुपया दिया गया था और १९५८-५९ में ४९·५८ करोड़ रुपयों के दिये जाने का अनुमान किया गया है जब कि १९४८-४९ में केवल ७·३४ करोड़ रुपये ही दिये गये थे। इतने पर भी रेलवे की अतिरिक्त आय जो कि १९४८-४९ में १९·९८ करोड़ रुपये थी १९५१-५२ में बढ़कर २८·३४ करोड़ रुपये और १९५८-५९ के बजट अनुमान के अनुसार २७·३४ करोड़ रुपये मानी गई है। यह सारी रकम विकास कोष में जमा कर दी गई है जब कि १९४८-४९ में केवल १० करोड़ रुपये ही इस कोष में जमा किये गये थे। रेलवे की वित्त स्थिति में इस सुधार का कारण यह है कि (१) यात्रियों की संख्या में और माल के यातायात में वृद्धि हुई है और (२) रेलवे के किराये तथा भाड़े में भी वृद्धि हुई है। देश के औद्योगिक विकास में वृद्धि होने से और आर्थिक कारोबार बढ़ाने से रेलों द्वारा यातायात भी बढ़ा है। वास्तव में रेलें बढ़ते यातायात की माँग पूरी कर सकने में असमर्थ रही हैं, यातायात बढ़ने के साथ ही रेल का किराया भी बढ़ा है। १९४८-४९ में रेलवे को यात्रियों से ८४ करोड़ रुपयों और १९५१-५२ में १०९·८८ करोड़ रुपयों की आय हुई। १९५८-५९ के बजट में लगाये हुए अनुमान के अनुसार यह आय १२४.७३ करोड़ रु० होगी। इसी प्रकार माल होने से आय जो कि १९४८-४९ में १०८·२९ करोड़ रुपये थी, १९५१-५२ में बढ़कर १५९·७९ करोड़ रुपये हो गई और १९५८-५९ में अनुमान है कि २५०·५० करोड़ रुपये हो जायगी।

रेल से यातायात कम होने का वास्तविक कारण १९५१-५२ और १९५५-५६ के बीच यह था कि १९४८ से रेल के किराये में और भाड़े में अत्यधिक वृद्धि हुई है। युद्ध के तुरन्त पश्चात् रेल के किराये और भाड़े में इतनी वृद्धि नहीं हुई जिसका यातायात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता परन्तु १९५१ में रेल के किराये तथा भाड़े में पर्याप्त वृद्धि हो जाने से यात्रियों और माल से होनेवाली आय कम हो गई।

२२

	यात्रियों से होनेवाली आय (करोड़ रुपयों में)	माल ढोने का आय (करोड़ रुपयों में)
१९४८-४९	८४·००	१०८·२९
१९४९-५०	८६·२९	१३०·३७
१९५०-५१	९७·८४	१४२·०१
१९५१-५२	१०९·८८	१५६·७९
१९५२-५३	१००·३८	१४६·१२
१९५३-५४	१००·००	१४७·१८
१९५४-५५	१०२·६२	१५८·६९
१९५५-५६	१०७·७१	१८०·२८
१९५६-५७	११६·३३	२०३·२५
१९५७-५८ (संशोधित)	१२०·९०	२३१·००
१९५८-५९ (बजट)	१२४·७३	२५०·५०

पिछले तीन वर्षों मे यात्रियों तथा माल के यातायात मे औद्योगिक विकास के कारण वृद्धि होने से स्थिति में उन्नति हुई है।

रेलवे के किराये और भाड़े की दर सम्बन्धी नीति—रेलों के किराये और भाड़े का उद्योग, कृषि, व्यापार और वाणिज्य के विकास में और स्वयं रेलो की वित्तीय स्थिति को दृढ़ बनाने मे बहुत महत्व है। यदि भाड़ा अधिक होगा तो उससे उत्पादन व्यय पर प्रभाव पड़ेगा और उत्पादन व्यय में वृद्धि होगी। इससे देश के औद्योगीकरण को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। इसके विपरीत यदि भाड़े की दर निश्चित करने में त्रुटि रह गई है तो उससे उद्योगों के स्थाननिर्धारण पर और औद्योगीकरण के ढाचे पर बुरा प्रभाव पड़ता है। रेल का किराया और भाड़ा अधिक होने से यातायात को प्रोत्साहन नहीं मिलता है, यातायात रेलों के द्वारा न होकर अन्य साधनों से होता है जिसमे रेलवे को क्षति पहुँचती है। यदि भाड़ा कम है तो इससे औद्योगिक तथा कृषिक विकास में अवश्य सहायता मिलेगी, परन्तु यदि इससे रेलवे को हानि पहुँचती है और वह अपना व्यय पूरा करने के पश्चात् उचित लाभ नहीं उठा सकती है तो यह व्यावसायिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल तथा अनुचित है। इसलिए रेल के किराये तथा भाड़े की दर सम्बन्धी नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे रेलवे के हित में और उद्योग तथा कृषि के हितों में सन्तुलन स्थापित किया जा सके और जिससे देश में प्राप्त साधनों के आधार पर देश का कृषि तथा औद्योगिक विकास पूरी तीव्रता से किया जा सके, पंचवर्षीय योजना में

निर्धारित लक्ष्य पूरे किये जा सकें और रेलवे की वित्ताय स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ रखी जा सके।

१९४८ से पहले भारत में रेलवे के किराये तथा भाड़े की दरें इसके अनुकूल नहीं थीं और उसकी कड़ी आलोचना की गई है

(१) भारतीय रेलवे में किराये तथा भाड़े का दर निर्धारित करते समय दूरी का ध्यान नहीं रखा गया। इससे लम्बी यात्रा करने वालों को या काफी दूर सामान भेजने वालों को बहुत अधिक भाड़ा देना पड़ता था। इससे माल की खपत के लिए बाजार की स्थिति तथा अन्य कारणों के अनुकूल रहते हुए भी उद्योगों को कच्चे माल के स्रोतों से दूर स्थापित करने को प्रोत्साहन न मिला। उद्योग के लिए रेलों के भाड़े की दर कुछ कम थी, साथ ही विशेष स्टेशनों के बीच रियायतें भी दी गई थीं परन्तु इससे व्यापार और उद्योगों को विशेष लाभ नहीं हुआ।

(२) भारत से कच्चे माल को विदेशों को निर्यात और विदेशी माल के आयात को सस्ता करने के लिए रेलवे ने देश के किसी भाग से बन्दरगाहों तक और बन्दरगाहों से देश के अन्य उपयोग के केन्द्रों तक का किराया कम रखा। भारत में विदेशी सरकार की इस त्रुटिपूर्ण नीति से भारतीय उद्योग को क्षति पहुँची और विदेशी उद्योगों को अधिक प्रोत्साहन मिला।

(३) भारतीय रेलवे के कुछ भागों में किराये की दरें मीलों के आधार पर निश्चित की गई और ब्लाक रेट की प्रणाली अपनाई गई अर्थात् एक रेल द्वारा कम दूरी तक माल ढोने पर प्रति मील अधिक किराया वसूल किया गया। इसका उद्देश्य यह था कि माल कुछ दूर ढोने के बाद दूसरी रेल से न ढोया जाय बल्कि लम्बी यात्राओं में उसी रेल का उपयोग करें। इसके परिणामस्वरूप ब्लाक-रेट नीति से बचने के लिए सामान को आवश्यकता से अधिक दूर तक ले जाना पड़ता था। इससे लागत बढ़ती थी और यातायात के साधनों पर भी अनुचित भार पड़ता था।

(४) एक ही सामान के लिए विभिन्न रेलों की विभिन्न दरें थीं। इससे व्यापारियों को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त विभिन्न सामनों के भाड़े की दरों में भी काफी अंतर था।

१९४८ में रेल के किराये तथा भाड़े की दरों की कुछ त्रुटियाँ दूर कर दी गईं। किराया प्रति मील की दर से निर्धारित किया गया, साथ ही अनाज, दाल, आटा और बीज इत्यादि की दरें निश्चित कर दी गईं। इसके लिए सर्वप्रथम दूसरे समूह की रेलों—आसाम, ईस्ट इण्डिया, जी० आई० पी० और ओ० टी० रेलवे—

में दर निश्चित की गई और तत्पश्चात् पहले समूह की रेलों में। दोनो समूहों में इस अंतर का कारण यह था कि दूसरे समूह की रेलों की दरें पहले समूह की रेलों की अपेक्षा पहले से ही कम थीं और यदि दोनों समूह की रेलों की दरें एक साथ बढ़ा दी जातीं तो इससे अधिक कठिनाई होती है।

रेल के किराये तथा भाड़े की दरों में इस प्रारम्भिक परिवर्तन के पूरे हो जाने के बाद १ अप्रैल १६५२ को कुछ और परिवर्तन किये गये। दूरी के आधार पर किराये की दर निर्धारित करने की नीति त्याग दी गई। शेष दरों का प्रमाणीकरण हुआ और इस प्रक्रिया में उनमें वृद्धि की गई। लोहे और इस्पात उद्योग के लिए निश्चित विशेष दरों को खत्म करके नई संशोधित दरें लागू की गईं जो स्टैन्डर्ड टटकर की दर से कम रखी गईं। दक्षिण को चीनी के यातायात की रियायती दरें खत्म कर दी गई। कोयले के भाड़े में ३० प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई और यह कहा गया कि पहले की दर व्यय से बहुत कम थी। १६५५-५६ के बजट में भाड़े की दरों में अन्य परिवर्तन किये गये। अन्न तथा खाद का प्रति गाड़ी भाड़ा कम कर दिया गया तथा विभिन्न श्रेणियों का यात्रियों के लिये किराया ६०० मील से अधिक दूरी के लिये कम कर दिया गया और प्रथम ३०० मील की यात्रा का किराया बढ़ा दिया गया पर ३०१ से ६०० मील की दूरी के किराये में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

इससे रेलवे को अनावश्यक हानि उठानी पड़ी जब कि रेलों द्वारा कुल जितने सामान का यातायात होता है उसका ४० प्रतिशत कोयला होता है। यह सुझाव दिया गया कि कोयले के भाड़े की दर अधिक होने से रेलवे को लाभ होगा इससे रेलवे के हितों की रक्षा होगी।

रेलवे भाड़ा पर जांच कमेटी—जो कमेटी जून १६५५ में नियुक्त की गई थी उसने १६५८ के आरम्भ में सरकार को अपनी रिपोर्ट दी। सरकार के विचाराधीन होने के कारण अभी तक वह कार्यान्वित नहीं की गई है। कमेटी यह सिफारिश की है कि किराये की दरें निम्नतर श्रेणी से उच्चतम श्रेणी तक वृद्धिमान आधार पर होनी चाहिये। इस विचार को कार्यान्वित करने के लिये कमेटी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि सबसे सरल और संतोषप्रद ढंग आधार रूप में एक दर निश्चित करना और अन्य दरें इसी पर के प्रतिशत वृद्धि के आधार पर नियत करना होगा। इसके लिये कमेटी ने एक सामान्य दर जो कि मान दण्ड होगा नियत किया है जिसे (Class 100 rate) वर्ग १०० दर कहा जायगा। कमेटी ने वर्तमान वर्ग ६ को सबसे अधिक सुविधाजनक समान्य (Norm) और अन्य वर्गों को इसके ऊपर तथा नीचे माना है। इसी प्रकार गाड़ी भर माल की दरें

भी १०० के नये वर्ग के आधार पर प्रतिशत अंकों में व्यक्त किये गये हैं। प्रत्येक वर्ग कितने प्रतिशत होगा व्यक्त कर दिया गया है। प्रत्येक वस्तु के लिये गाड़ी-भर माल के आधार पर वर्गीकरण किया जाना चाहिये और साथ ही साथ छोटी मात्राओं (smalls) का भी वर्गीकरण होना आवश्यक है। कमेटी ने छोटी मात्रा में माल की दरों में गाड़ी भर माल की दरों की अपेक्षा १५ से लगाकर ३६ प्रतिशत वृद्धि करने की अनुमति दी है।"

कमेटी ने यह मत दिया था कि (i) सीमा कर रद्द कर दिये जाने चाहिये पर नये दरों के बनाते समय इस बात को विचाराधीन रखना चाहिये, (ii) थोड़ी दूरी के लिये अतिरिक्त भाड़ा वसूलना अनुचित समझा जाना चाहिये; (iii) घाट सम्बन्धी और स्थानान्तरण सम्बन्धी वसूली बन्दी कर दी जानी चाहिये। (iv) भाड़ा वसूलने की न्यूनतम दूरी २५ मील तक बढ़ा दी जानी चाहिये और चाहे माल एक रेल अथवा कई रेलों द्वारा ले जाया जाय एक ही बार उसकी बुकिंग होनी चाहिये; (v) माल गाड़ियों द्वारा भेजे जाने के लिये न्यूनतम वजन २० सेर होना चाहिये; और (vi) जो १ रु० १२ आ० प्रति गाड़ी माल पर न्यूनतम सम्मिलित वसूली की जाती है बन्द कर दी जानी चाहिये।

कमेटी ने यह भी सिफारिश की है कि ३०० मील की दूरी की प्रथम सीढ़ी को भाड़े की दर नियत करने के लिये चार भागों में बाट देना चाहिये; जैसे १ से २५ मील तक, २६ से ७५ मील तक; ७६ से १५० मील तक; और १५१ से ३०० मील तक। स्पष्ट रूप से उसने यह सिफारिश की है कि "कर्मचारियों की यह निश्चित नीति होनी चाहिये कि जहाँ तक सम्भव हो सके थोड़ी थोड़ी दूरी के लिये रेल का प्रयोग न किया जाय वरन् अन्य परिवहन के साधनों का उसके स्थान प्रयोग बढ़े।"

इस बात को विचाराधीन रखते हुये कि (१) दरें लम्बी दूरी तक लेजाने वाले माल पर भार स्वरूप न हों, (२) उनमें सीमा सम्बन्धी तथा अन्य सम्बन्धों में जो वसूली की जाती है सम्मिलित हो; (३) आय और व्यय के बीच जो ३०० करोड़ रुपयों का व्यवधान है उनसे पूरा हो जाय। कमेटी ने निम्न दरों के लागू किये जाने की सिफारिश की है :—

मील—		प्रतिमील प्रतिमन पाइयों की इकाई में दरें
१ से २५ तक	...	२·६०
२६ से ७५ तक	...	१·४०
७६ से १५० तक	...	१·२०
१५१ से ३०० तक	...	१·०५

मील—		प्रतिमील प्रतिमन पाइयो की इकाई से दरें
३०१ से ५०० तक	...	०.८५
५०१ से ८०० तक	...	०.७०
८०१ से १२०० तक	...	०.६०
१२०१ से आगे तक	...	०.५०

कमेटी की सिफारिशें (i) रेलवे की भाड़े की दरों को सरल और सुगम बना देंगी और इस प्रकार उनकी अनेकों जटिलतायें और असंगतायें दूर हो जायेंगी; (ii) उनसे रेलवे की आय में वृद्धि होगी जिसकी बहुत आवश्यकता है; (iii) रेलवे को इसमें आवश्यक सुविधा प्राप्त होगी और सड़क द्वारा छोटी दूरी के परिवहन को प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु उद्योगों की उत्पादन लागत पर रेल के किराये का अत्यधिक और अनुचित भार पड़ेगा। वर्तमान मुद्रा स्फीति की दशा में इससे हानि होगी। बाहर भेजे जाने वाले माल के सम्बन्ध में तो किराये की बढ़ी हुई दरें भारतीय माल की विदेशी बाजारों में स्पर्धा शक्ति क्षीण कर देंगी जिससे विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के और भी अधिक बढ़ जाने का भय होगा।

जनवरी १६४८ में यात्रियों के लिए भारतीय रेलों में प्रति मील किराये की समान दर निश्चित की गई। परन्तु कुछ रेलों में किराये की दर कम थी। उसे भी अन्य रेलों की किराये की दर के समान ही कर दिया गया। १६५१ में रेल का किराया २० से २५ प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया।

१६५५-५६ के बजट में किराये की दरें निम्न प्रकार निश्चित की गई है

	पाई प्रति मील प्रति यात्री		
	१—१५० मील	१५१—३०० मील	३०१ मील और इससे अधिक
एयर कन्डीशन श्रेणी	३४	३४	३२
प्रथम श्रेणी	१८	१६	१५
द्वितीय श्रेणी (मेल/एक्सप्रेस)	११	१०½	६½
,, ,, (साधारण)	६½	६	८½
त्रितीय श्रेणी (मेल/एक्सप्रेस)	६½	६	५
,, ,, (साधारण)	५½	५	४½

रेलो का पुनः संगठन करने से रेल के किराये तथा भाड़े में जो सुधार किया जा सका उससे (१) रेल का किराया निर्धारित करने का आधार सरल हो गया, (२) रेल की दरों में जो अव्यवस्था फैली हुई थी वह दूर हो गई, और (३)

रेलवे का विकास कर सकने के लिए अधिक धन भी प्राप्त हुआ। रेल के किराये के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि सुधार करने से किराये और भाड़े में कुछ वृद्धि कर दी गई है। इससे उद्योगों का उत्पादन व्यय बढ़ा है और यात्रियों तथा सामान के यातायात से प्राप्त होनेवाली आय घटी है।

रेलों की कार्य प्रणाली में दोष—फेडरेशन आफ इन्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स ऐंड इन्डस्ट्री ने अपने स्मारक पत्र में भारतीय रेलवे कार्य प्रणाली के अनेकों दोषों और त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट कराया था, जैसे गाड़ी के डिब्बों का न मिलना, बहुत दिनों तक माल के यातायात में प्रतिबन्ध का लगाना, यातायात में अधिक समय लगना, थोड़े सामान के यातायात की सुविधा में अभाव, माल के डिब्बों की माँग करने और प्राप्त करने में समय का लम्बा व्यवधान, कुछ जंकशनों में लाइनों का अभाव, बड़ी और छोटी लाइनों में परस्पर अदला बदली की सुविधाओं का अभाव, कुछ रास्तों में लाइनों का अभाव, मार्ग में माल का चोरी होना और खो जाना या चोरी हुए माल की हानि निश्चित करने में अधिक देर लगना, और कर्मचारियों की कार्यक्षमता में सामान्यतः अभाव इत्यादि। इस सम्बन्ध में मुख्य समस्या तो यह है कि कृषि और उद्योगों की आवश्यकता के अनुसार रेलवे की सुविधा कम है। इस देश में आर्थिक व्यवस्था विकासोन्मुख है, यहाँ कृषि एव उद्योगों के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हो रही है और वर्तमान यातायात सुविधायें पूर्णरूपेण अपर्याप्त हैं। फेडरेशन ने इस सम्बन्ध में निम्न सिफारिश की है।

(१) रेलवे के विस्तार और सुधार के लिए ४०० करोड़ रुपयों का प्रथम पंचवर्षीय योजना में नियत करना अपर्याप्त था और कम से कम १०० करोड़ रुपये प्रति वर्ष और अधिक नियत करना चाहिये था। इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्तर्गत १४८० करोड़ रुपये व्यय किये जाने की माँग रेलवे बोर्ड ने की थी जिसे योजना आयोग ने घटा कर ११२५ करोड़ रुपये कर दिया है। यह धन भारतीय रेलवे की आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त न होगा।

(२) प्रथम योजना में रेलवे के वर्तमान सामान की मरम्मत पर अधिक जोर दिया गया था जो गत बीस वर्षों से बदले भी नहीं गये। यद्यपि यह बहुत आवश्यक है, फिर भी अब अधिक ध्यान रेलवे के विस्तार पर दिया जाना चाहिये। विस्तार इतना होना चाहिये कि न केवल यातायात की आवश्यकतायें ही पूर्ण हो सकें, वरन् भविष्य में बढ़ी हुई आवश्यकता को भी पूरा कर लेने की पर्याप्त शक्ति हो। यद्यपि द्वितीय योजना में अधिक जोर विस्तार पर दिया गया है फिर भी यह अपर्याप्त है।

(३) रेलवे के कार्य करने की क्षमता में वृद्धि होनी चाहिए। देश के औद्योगीकरण में प्रोत्साहन देने के लिये आवश्यक है कि रेल द्वारा यातायात की सुविधा सस्ती हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि रेलवे का चालू व्यय कम हो। भारतीय रेलवे की कुल किराये भाड़े से प्राप्त आय १९४८ को २१३ करोड़ रुपयों से बढ़कर ४०७·४८ करोड़ रुपये १९५८-५९ के बजट में अनुमान की गई है। कुल व्यय १७३ करोड़ से बढ़कर २६८·३५ करोड़ रुपये हो गया है। इससे यह पता लगता है कि बढ़ी हुई आय का अधिकाश व्यय की वृद्धि में प्रयुक्त हुआ है और यह सम्भव है कि किराया और भाड़ा घटाया जा सके।

(४) माल के यातायात में सुविधा प्रदान करने के लिए ऐसे अस्थायी उपायों से कार्य लेना चाहिए जैसे मुकामा घाट, आगरा और सोबरमती और अन्य स्थानों पर मशीनों द्वारा माल को स्थानान्तरित करना, कन्वेयर प्रणाली का प्रयोग करना और मुगलसराय वाल्टेयर, भागलपुर आदि जकशनों पर माल की गाड़ियों की अदला-बदली की गति में तीव्रता लाना क्योंकि इन स्थानों पर बड़ी भीड़ रहती है। जिन रास्तों पर लाइनों के अभाव के कारण कठिनाई हो जाती है वहाँ अधिक लाइनों का खोलना और विशेष प्रकार के माल के डिब्बों की संख्या बढ़ाना।

(५) व्यापारियों को मार्ग में माल के चोरी हो जाने और खो जाने और बहुत देर में हानि मिलने के कारण बहुत कठिनाई उठानी पड़ती है। रेलवे व्यवस्था को इस प्रकार की सधी हुई चोरियों के रोकने और रेलवे कर्मचारियों की असावधानी और चरित्रहीनता के कारण गाड़ी में माल के जाने की रोक थाम के लिये विशेष प्रयत्नशील होना आवश्यक है। हानि जल्दी चुकाने के उपायों को भी सोचना आवश्यक होगा। विभाग का विकेन्द्रीय करण करना, कुल माल के खो जाने पर हानि तुरन्त चुकाना, इस दशा पर कि यदि एक वर्ष के भीतर ही भीतर माल मिल गया तो पाया हुआ हर्जा रेलवे को वापिस दे देवें। ऐसी क्लेमस एडवाइसरी कमेटी की स्थापना करना जिसके सदस्य उन उद्योगों और व्यापारों के प्रतिनिधि हो जो क्लेम्स विभाग के कर्मचारी से सम्बन्धित है आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जिनके प्रयोग में लाने से रेलवे के दोष मिट सकते हैं।

रेलवे के कर्मचारी इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि रेल के कार्य प्रणाली की क्षमता बढ़ जाय और सुविधायें भी बढ़ जाँय, माल की सधी चोरियों और उनके खोने पर रोक थाम करने के लिए रेलवे करपशन इनक्वारी कमेटी की नियुक्ति की गई है जो शीघ्र ही अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष उपस्थित करने वाली है। रेलवे के चालू व्यय पर रोक थाम में सहायता करने के लिये

और रेलवे का विकास करने के लिए, विकास में वैज्ञानिक ढंग का प्रयोग करने के लिये तथा बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये, जिन्हें पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत रेलवे को पूर्ण करना है, रेलवे बोर्ड की सदस्य संख्या चार के स्थान पर पाँच कर दी गई है।

योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना में ४०० करोड़ रुपये के व्यय का प्रस्ताव रेलवे के नये सामान के क्रय करने तथा पुराने की मरम्मत के के लिये किया गया था। वास्तव में यह आशा की जाती है कि प्रथम योजना के समाप्त होने तक लगभग ४३२ करोड़ रुपया व्यय हो जायगा। गन्त्रयानादि और और सर्वांग सयंत्र पर व्यय प्रस्तावित धन से बहुत अधिक हो गया है। गन्त्रयानादि पर अधिक व्यय होने के कारण यात्रा और ढुलाई १९५३-५४ और १९५४ ५५ के बीच साढ़े आठ प्रतिशत बढ़ गई और आशा को जाती है कि योजना के अन्तिम वर्ष में नौ प्रतिशत बढ़ जायेगी। प्रथम योजना के आरम्भ के समय रेलवे के पास ८२०९ इन्जन, १९२२५ यात्रियों के डिब्बे और २२२४४१ माल के डिब्बे थे। इनमें से २११२ इन्जन, ७०११ यात्रियों के डिब्बे और ३९५८४ माल के डिब्बे पुराने थे। प्रथम योजना में १०३८ इन्जनों और ५६७४ यात्रियों के डिब्बे और ४६१४३ माल के डिब्बों के क्रय करने का प्रबन्ध किया गया था। वास्तव में उपर्युक्त संख्या से कुछ अधिक इन्जन और माल के डिब्बे और कुछ कम यात्रियों के डिब्बे प्रथम योजना के अन्तर्गत क्रय किए जा सकेंगे। इतनी अधिक मरम्मत और नये सामान के क्रय किए जाने के पश्चात् भी भारतीय रेलवे का सामान बहुत पुराना और पुराने ढंग का है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में ९२९२ इन्जन, २३७७९ यात्रियों के डिब्बे और २९६०४९ माल के डिब्बे काम में आते हुये होंगे जिनमें से २८१३ इन्जन और ६३०५ यात्रियों के डिब्बे और ४९५९८ माल के डिब्बे बहुत पुराने घिसे हुये होंगे और उनके स्थान पर नये लाने आवश्यक होंगे। इससे यह पता लगता है कि रेलवे के विस्तार की इतनी आवश्यकता होते हुये भी उनकी मरम्मत और उनके स्थान पर नये सामान लाने की जरूरत बहुत बड़ी है।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत ११२५ करोड़ रुपया भारतीय रेलवे पर व्यय किया जायगा जिसमें से ७५० करोड़ सामान्य आय में से, २२५ करोड़ रेलवे के अवक्षरण कोष से, १५० करोड़ रेलवे की आय से प्राप्त होगा। रेलवे बोर्ड के १४८० करोड़ रुपये के व्यय किये जाने के प्रस्ताव के स्थान पर ११२५ रु० का व्यय किया जायगा।

द्वितीय योजना में १६०७ मील के रंकाथ के दुगने किये जाने का, २६५

छोटी लाइन को बड़ी लाइन में परिवर्तित कर देने का, लगभग ८२६ मील तक बिजली पहुँचाने, १२६३ मील तक पीडज्वाल्स सुविधा देने का, ८४२ मील नई लाइन बिछाने, २००० मील लाइन की मरम्मत करवाने और २२५८ इन्जनों को क्रय करने तथा ११३६४ यात्रियों के डिब्बों और १०७,२४७ माल के डिब्बों को क्रय करने का आयोजन किया गया है।

भारतीय रेलवे १२ करोड़ टन माल के ढोने के स्थान पर १९५५-५६ में ११ करोड़ ५० लाख टन माल ढोयेगी और इस प्रकार ५० लाख टन माल के ढोये जाने की कमी रह जायेगी। यदि द्वितीय योजना के अन्त तक जो ६ करोड़ २ लाख टन माल के ढोये जाने की आवश्यकता बढ़ जायेगी उसका विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि १९६०-६१ तक १८ करोड़ ८ लाख टन के ढोये जाने की आवश्यकता होगी। ऐसा भय है कि जितना धन रेलवे के विकास के लिये नियत कर दिया गया है उसके प्रयोग से रेलवे इतना माल न ढो सके और जिन सुविधाओं के प्रदान करने का इरादा किया गया है वे आवश्यकता से १०% गन्त्रयानादि के सम्बन्ध में और ५% अपनी शक्ति के सम्बन्ध में कम कर देनी पड़े।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आधार पर योजना आयोग के मतानुसार (मई १९५८) "जो कार्यक्रम ११२५ करोड़ रुपयों के व्यय का बनाया गया था उसमें अब मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण १०० करोड़ रुपयों के और अधिक व्यय होने का अनुमान किया गया है। इस समय ११२५ करोड़ रुपयों की मात्रा बढ़ाई जा नहीं सकती। इसलिये रेलवे को योजना के अन्तर्गत कुछ विकास योजनाओं को स्थगित करना पड़ेगा। विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ भी इसका एक कारण होगी। जिन विकास योजनाओं को स्थगित करने का इरादा है वे (१) तम्बाराम विलूपुरम क्षेत्र तथा कलकत्ते के अन्तर्गत सियालदा क्षेत्र में बिजली पहुँचाने की योजना; (२) मीटर गेज कोच फैक्ट्री (३); इन्टीगरल कोच फैक्ट्री के प्रसाधन विभाग तथा (४) गुना और उज्जैन के बीच नई रेल के लाइन बिछाने की योजनायें हैं।"

"अपने ध्येय को पूरा कर लेने के प्रश्न का जहाँ तक सम्बन्ध है यह आशा की जाती है कि १९६०-६१ तक रेलवे ४२० लाख टन माल ढोकर अतिरिक्त आय प्राप्त कर सकेगी। पर क्या यह आय पर्याप्त होगी। निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। विदेशी विनिमय तथा अन्य कठिनाइयों के कारण विकास योजनाओं के कार्यान्वित करने में ढील देने के कारण ढुलाई की मात्रा योजना के अन्तिम वर्ष तक आरम्भ में किये गये अनुमान से जो कि ६१० लाख टन था कम

हो जायगी पर हो सकता है कि ४२० लाख टन से अधिक हो। कुछ भी हो योजना में की गई रेल द्वारा माल ढोने को मात्रा के अनुमान में कुछ परिवर्तन तो अवश्य ही होगा। जहाँ तक यात्रियों के ढोने के ध्येय से सम्बन्ध है—अर्थात् ३ प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि—वह सम्भवतः पूरी हो जायगी। १९५५-५६ की अपेक्षा १९५६-५७ में रेल के यात्रियों में प्रतिशत वृद्धि ६·७ हुई थी। अगर यही रही तो रेल में भीड़ की समस्या और भी अधिक खराब हो जायगी।"

द्वितीय योजना में भारतीय रेलवे की माल ढोने और यात्रियों के आने-जाने की शक्ति में वृद्धि की व्यवस्था की गई है। परन्तु वृद्धि देश की आवश्यकता से बहुत कम सम्भव हो सकेगी। केवल सरकार को ही नहीं वरन् जनता को भी अधिक मात्रा में यातायात की सुविधा की आवश्यकता पड़ेगी। प्रथम योजना में भी जनता को यातायात की सुविधा में कमी का अनुभव हुआ था। द्वितीय योजना में तो स्थिति और भी खराब होगी। रेलवे के सम्बन्ध में यही सर्व प्रधान आलोचना है। विदेशी विनिमय की कठिनाइयों तथा मूल्यों में वृद्धि होने पर भी योजना में रेलवे के विस्तार के प्रति ध्यान अधिक रखना चाहिये था और व्यय के लिये अधिक धन नियत करना चाहिये था।

अध्याय ३५

सड़क यातायात

भारत में सडकों का बहुत अभाव है। १९०० मे सड़कों की लम्बाई कुल १,७६,००० मील थी और १९५२ में २,५६,००० मील थी। प्रथम योजना के अन्त तक कुल सड़को की लम्बाई बढ़कर ३१६,००० मील हो गई जिसमें से १२१,००० मील पक्की सडक थी। इनमें से केवल ⅓ भाग पक्की सड़कें हैं और शेष कच्ची। एक ऐसे देश में जिसका क्षेत्रफल १,१३६,००० वर्ग मील है, जिसकी जनसख्या लगभग ३५ करोड ७० लाख है और जिसके उद्योग तथा कृषि का काफी विकास हो चुका है २६५,००० मील सड़कें बहुत कम हैं। भारत में प्रति वर्ग मील में बहुत ही कम सड़कें हैं, अन्य देशों की तुलना मे यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। भारत के प्रति वर्ग मील क्षेत्रफल में सड़कों की लम्बाई ०.२ है जब कि इन्गलैण्ड में २.०, वेलजियम में ३.३, फ्रांस में २.४ और अमरीका में १.१ है।

इसमें कुछ सन्देह नही कि देश के आर्थिक विकास मे सडकों का विशेष महत्व है। सड़कें होने से ही ग्रामों से कच्चा माल और कृषि उत्पादन कारखानों, कस्बों और नगरों तक पहुँचाया जाता है और बन्दरगाहों तथा कारखानों से माल ग्रामों तक भेजा जाता है। देश के विभिन्न भागों के व्यक्तियों के लिए सडकें यातायात की सुविधा प्रदान करती हैं। सडकों की सुविधा से ही व्यक्ति एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। वर्तमान काल मे परस्पर सम्पर्क स्थापित करने के लिए यातायात के द्रुतगामी साधनों की ओर अच्छी सडकों की अत्यन्त आवश्यकता है। रेलों तथा विमानों की सहायता से देश के बड़े-बड़े नगरों और व्यापारी केन्द्रों से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है परन्तु देश के दूर-दूर के स्थानों तक पहुँचने के लिए और उनका लाभ उठा सकने के लिए अच्छी सडकों का होना अत्यन्त आवश्यक है। युद्ध के समय यदि सडकें अच्छी हैं तो सेना को शीघ्र एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया ले जाया जा सकता है, युद्ध-सामग्री आवश्यक स्थानों तक पहुँचाई जा सकती है और इस प्रकार देश की शत्रु के आक्रमण से रक्षा की जा सकती है। वास्तव में भारत की कुछ प्राचीन बड़ी सड़कें इसी उद्देश्य से बनाई गई थीं। यदि देश में अच्छी सड़कों का जाल बिछा हो तो उसका शांतिकाल मे तथा युद्ध के समय हर स्थिति में विशेष महत्व होता है।

अतीत में दिल्ली से कलकत्ता, कलकत्ते से मद्रास, मद्रास से बम्बई और बम्बई से दिल्ली को मिलाने वाली चार बड़ी सड़कों के चारों ओर छोटी बड़ी सड़कों का जाल फैला हुआ था। इन चार बड़ी सड़कों को बारहों मास कार्य में नहीं लाया जा सकता है। पुल न होने के कारण और टूट-फूट तथा सामान्यतया स्थिति खराब होने से इन सड़कों का बरसात में उपयोग नहीं किया जा सकता है। इन बड़ी सड़कों को देश के ग्रामों से मिलाने वाली प्रदेशीय सड़कों तथा अन्य छोटी-छोटी सड़कों की स्थिति और भी खराब है।

देश की आज सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि सड़कें बढ़ाई जायँ। राष्ट्रीय सड़कें वर्तमान समय की भाँति केवल पूर्व से पश्चिम तक के क्षेत्र में ही न फैलें वरन् इनका प्रसार उत्तर से दक्षिण तक भी किया जाय। इसके साथ ही इन सड़कों को और प्रदेशीय तथा अन्य छोटी सड़कों को सभी ऋतुओं मे कार्य में लाने योग्य बनाने की आवश्यकता है। मोटर यातायात के लिए भी कुछ सड़कों का होना आवश्यक है। इसके लिए सड़कों के मोड़ सुगम होने चाहियें, जहाँ से सड़क निकाली जाय वह भूमि पक्की होनी चाहिए और सड़कों को कंकर तथा डामर या सिमेंट के प्रयोग से पक्का बनाना चाहिए। इन सड़कों की सतह को चिकना होना चाहिये। इसके साथ ही बैलगाड़ियों तथा यातायात के अन्य साधनों के लिए भी ऐसी सड़कें होनी चाहियें जो मोटर की सड़क की भाँति अधिक व्ययशील तो न हों परन्तु ऐसी हों जिनको वर्ष भर प्रयोग में लाया जा सकता है। यह बहुत आवश्यक है कि सड़कों के निर्माण की सुसम्बद्ध योजना निर्माण की जाय जिसमें बड़ी राष्ट्रीय सड़कों, प्रदेशीय सड़कों और ग्रामों इत्यादि को मिलाने वाली छोटी-छोटी सड़कों को विशेष महत्व दिया जाय।

भारत में सड़कों के विकास की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है, इसके कई कारण हैं :—(१) सरकार ने और स्थानीय संस्थाओं ने सड़कों के विकास का महत्व नहीं समझा। नगर पालिकाओं और जिला बोर्डों की देख-रेख में अनेक सड़कें हैं परन्तु इन संस्थाओं ने सड़कों के विकास की ओर उचित ध्यान नहीं दिया। प्रदेशीय तथा केन्द्रीय सरकारों ने भी अन्य विकास कार्यों को इसकी अपेक्षा प्राथमिकता दी है। इधर कुछ वर्षों से ही सड़कों के विकास की आवश्यकता और इसके महत्व की ओर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों का ध्यान गया है और दोनों सरकारों ने इसके लिए योजनाएँ बनाई हैं, (२) सड़कों के निर्माण के लिए आवश्यक बहुत प्रकार के सामान और मशीनों का भारत में अभाव है और इनका आयात करने के लिए हमें विदेशों पर निर्भर करना पड़ता है। अब भारत में सिमेंट तथा सड़क-निर्माण के अन्य सामानों का उत्पादन होने लगा है साथ

ही सड़क कूटनेवाले, भाप से चलनेवाले इञ्जनों तथा डिजिल इञ्जनो का भी भारत मे उत्पादन आरम्भ हो गया है परन्तु फिर भी एसफाल्ट के लिए विदेशों पर ही निर्भर करना पड़ता है। आशा है कि पेट्रोल शोधशालाओं का निर्माण पूरा हो जाने पर देश की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए एसफाल्ट प्राप्त हो जायगा; (३) देश मे वित्त का अभाव है। नगर पालिकाओं और जिला बोर्डों की देख-रेख मे जो सड़कें हैं वह वित्त के अभाव के कारण अच्छी दशा मे नहीं रह पातीं। राज्य सरकारों के पास विकास के लिए कोष है परन्तु उनका उपयोग सड़कों के निर्माण में कम और अन्य कार्यों में अधिक किया गया है। यही स्थिति केन्द्रीय सरकार की भी है।

सड़क कोष—सड़क विकास समिति (१९२७) की सिफारिश पर १९२९ में सड़क विकास कोष स्थापित किया गया और प्रति गैलन पेट्रोल पर कर ४ आने से बढ़ाकर ६ आने कर दिया गया जिसमें से प्रति गैलन दो आना सड़क विकास कोष में जमा किया गया। बाद में पेट्रोल पर अतिरिक्त कर लगाकर सड़क विकास कोष में दो आने की जगह ढाई आना जमा किया गया। परन्तु दुर्भाग्यवश सड़क विकास कोष के धन का उचित उपयोग नहीं किया गया है। सड़क विकास कोष स्थापित हो जाने के बाद राज्य सरकारों ने अन्तर-राज्य तथा अन्तर-जिला सड़कों के विकास में स्वयं अपने बजट से व्यय कम कर दिया। इसके साथ ही ग्रामों को मिलाने वाली छोटी छोटी सड़कों को अपने भाग्य पर छोड़ दिया गया। इस प्रकार सड़क विकास कोष निर्माण का उद्देश्य ही व्यर्थ हो गया। सड़कों का विकास करने के लिए उपलब्ध साधनों मे अपनी ओर से सहायता देने की अपेक्षा राज्य सरकारों ने अपने व्यय में कटौती कर दी।

भारत सरकार ने सड़क विकास कोष के धन को व्यय करने में कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये। सरकार ने यह व्यवस्था की कि (१) इस कोष का धन सड़कों के निर्माण तथा सुधार मे और पुलो के निर्माण तथा सुधार में व्यय किया जाय परन्तु इस कोष का वर्तमान सड़कों की मरम्मत और देखभाल मे उपयोग नहीं किया जा सकता है, और (२) सड़क विकास कोष में राज्य के योगदान का कम से कम २५ प्रतिशत छोटी-छोटी सड़कों में व्यय किया जाय और उन सड़कों पर २५ प्रतिशत से अधिक व्यय न किया जाय जो रेल मार्ग की प्रतियोगी हैं। यह सब होते हुए भी यह सत्य है कि सड़क विकास कोष से प्राप्त होने वाला धन आवश्यकता से कम है और १९५०-५१ के अंत तक २० करोड़ रुपये के व्यय की योजनाओं को स्वीकृति प्रदान की जा चुकी थी और १७ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका था। १९५१-५२ से दिसम्बर १९५५ तक २७ करोड़ रुपये के व्यय की

योजनाओं को स्वीकृति दी जा चुकी थी और मार्च १९५५ तक लगभग १२ करोड़ रुपया उनके कार्यान्वित करने में व्यय किया जा चुका था।

सरकार अपनी वर्तमान आय में से सड़कों के निर्माण में पर्याप्त व्यय नहीं कर सकती है साथ ही इस कार्य के लिए सड़कों का उपयोग करने वालों पर लगाए गये करों से भी पर्याप्त आय नहीं होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि सड़कों के निर्माण के लिए ऋण लिया जाय। यह सोचना बिल्कुल निरर्थक है कि सड़कों पर व्यय किये जाने वाले रुपयों से प्रत्यक्ष रूप में ऐसी आय नहीं होती है जिससे इस कार्य के लिए उपलब्ध ऋण का ब्याज चुकाया जा सके, इसलिए यह व्यय अनुत्पादक है और इसको नहीं करना चाहिए। यह संभव है कि सड़कों के विकास से प्रत्यक्ष रूप में कोई आय न हो परन्तु इससे निस्सन्देह देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है और साथ ही जनता की कर देने की शक्ति में वृद्धि होती है। भारतीय सड़क एवम् यातायात संघ ने कुछ वर्ष पहले एक जाँच की जिसमे पता चला कि एक विशेष क्षेत्र में सड़क का विकास करने से १२ लाख रुपये का वार्षिक लाभ हुआ जब कि सड़क निर्माण में तथा उसकी देखभाल में केवल ४½ लाख रुपया वार्षिक व्यय किया गया। इससे स्पष्ट है कि सड़कों पर व्यय किये गये प्रति १०० रुपयों पर जनता को २७७ रुपये का लाभ होता है। सड़कों के विकास से जनता समृद्धिशाली बनती है, सरकार की आय में वृद्धि होती है, इसलिए ऋण लेकर सड़कों पर निर्माण करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

नागपुर योजना—१९४३ में विभिन्न राज्यों के मुख्य इञ्जीनियरों की नागपुर में एक बैठक हुई और देश की न्यूनतम आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक सड़क निर्माण-योजना निर्माण की गई। इस योजना का विशेष महत्व है क्योंकि इसके पश्चात भारत में सड़कों के निर्माण की सभी योजनाओं पर इसका प्रभाव पड़ा है। नागपुर योजना में सड़कों का चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है :—(१) राष्ट्रीय सड़कें, (२) राज्य की सड़कें, (३) जिलों की बड़ी छोटी सड़कें और (४) ग्रामों की सड़कें। योजना में इन चार प्रकार की सड़कों का १० वर्ष के अन्दर सुनियोजित और सुसम्बद्ध आधार पर विकास करने का सुझाव दिया गया था जिससे पक्की सड़कों की लम्बाई लगभग ६६,४०० मील से १,२२,००० मील तक और अन्य सड़कों की लम्बाई १,१२,००० से २,०७,५०० मील तक बढ़ाई जा सके। इसके साथ ही योजना में वर्तमान सड़कों में सुधार करने का भी सुझाव दिया गया। नागपुर योजना का उद्देश्य यह था कि विकसित कृषि क्षेत्र का कोई भी ग्राम मुख्य सड़क से ५ मील से अधिक दूर न पड़े और कोई

भी गाँव चाहे कहीं हो सड़क से २० मील से अधिक दूर न पड़े। इस योजना के अनुसार युद्ध पूर्व के मूल्यों में ५० प्रतिशत वृद्धि के आधार पर निर्माण-कार्य में ३७२ करोड़ रुपया लगेगा जिसमें से ६६.५ करोड़ रुपया राष्ट्रीय सड़कों पर और ३०५.५ करोड़ रुपया अन्य सड़कों पर व्यय किया जायगा। यदि मूल्य युद्ध पूर्व के स्तर से २०० प्रतिशत बढ़े मान लिये जावें जिसमें व्यय का अनुमान वर्तमान समय के मूल्य के अधिक निकट आ सके तो, जैसा कि योजना-आयोग ने बताया है, नागपुर योजना को कार्यान्वित करने में कुल ७४४ करोड़ रुपया व्यय होगा जिसमें से १३३ करोड़ रुपया राष्ट्रीय सड़कों के लिए और ६११ करोड़ रुपया अन्य सड़कों पर व्यय किया जायगा।

रेल मार्ग से सम्बन्ध—भारत में सड़कें अपर्याप्त होने और सड़कों की स्थिति दोष पूर्ण होते हुए भी १६३० के आसपास सड़क यातायात से रेलवे को गहरी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। निजी बस सर्विसों की ओर रेल की अपेक्षा अधिक यात्री आकर्षित हुए जिसमें अधिकतर कम आय वाले व्यक्ति थे। इसके साथ ही हल्के सामान को लाने लेजाने के लिए भी मोटरों को सुविधाजनक समझा गया। मोटर यातायात प्रायः और सुगमता से हो जाता है इससे रेल को गहरी हानि उठानी पड़ी। अनेक रेलवे जाँच समितियों ने रेलवे तथा सड़क यातायात की प्रतियोगिता पर विचार किया और रेलवे को सड़क की प्रतियोगिता से रक्षा करने के अनेक सुझाव दिए। रेलवे ने सस्ते वापसी टिकटों के रूप में रियायत देनी शुरू कर दी, कुछ विशेष समय के लिये टिकट दिये, अच्छी सर्विस और कम किराये की व्यवस्था की। परन्तु इससे प्रतियोगिता का जोर कम नहीं हुआ और यह आशंका की जाने लगी कि सड़क यातायात से रेलवे को गहरी क्षति पहुँचेगी।

रेलवे के हितों की रक्षा करने के लिए सरकार ने अनेक उपायों का आश्रय लिया और १६३६ में मोटर गाड़ी कानून लागू किया गया जिसमें यह व्यवस्था की गई कि सभी मोटरों तथा बसों के लिए लाइसेन्स लिया जाय। कानून में बसों को रखने तथा अधिक यात्री न बैठाने और बसों की चाल इत्यादि पर नियंत्रण की शर्तें माननी अनिवार्य कर दी गईं। बसों का बीमा आवश्यक कर दिया गया। इस कानून से यात्रियों के हितों की रक्षा के साथ ही हानिकारक प्रतियोगिता को रोकने का प्रयत्न करके रेलवे के हितों की रक्षा की भी व्यवस्था की गई। परन्तु सड़क यातायात की ओर से प्रतियोगिता प्रचलित रही और १६४६ में इस प्रतियोगिता को रोकने के लिए एक त्रिदलीय संगठन का निर्माण करने की नीति अपनायी गई। इस संगठन में मोटर मालिकों, राज्य सरकार और रेलवे

के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। परन्तु इस योजना को आशा के अनुकूल सफलता नहीं मिली। बाद में भारत सरकार ने सड़क यातायात कार्पोरेशन कानून (१६४८) लागू किया जिसके स्थान पर १६५० में एक और व्यापक कानून लागू किया गया।

वर्तमान में रेल और सड़क की प्रतियोगिता समाप्त हो गई है क्योंकि (१) यातायात का अभाव है और वर्तमान समय में रेल और मोटर यातायात को साथ साथ कार्य करके लाभ उठाने का काफी अवसर है; (२) कुछ तो सरकार के प्रतिबन्धों के कारण और कुछ मोटरों के तथा उनके विभिन्न-कल-पुर्जों के मूल्य अधिक होने से सड़क यातायात का व्यय बढ़ गया है; और (३) अनेक राज्यों में यातायात का राष्ट्रीकरण कर देने से रेलवे तथा रोडवेज में अधिक उचित सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

राज्य द्वारा सचालित सड़क यातायात के क्षेत्र निश्चित हैं और मोटरें यात्रियों तथा सामान को उसी क्षेत्र के अन्दर लाती ले जाती हैं। इस बात पर महत्व दिया गया है कि यातायात इस प्रकार संचालित किया जाय जिससे रेल-सड़क यातायात का सुसम्बद्ध विकास हो। यातायात इस प्रकार नियोजित हो कि यात्रियों तथा सामान को रेलवे केन्द्रों तक पहुँचाया जाय जहाँ से आगे का यातायात रेलवे सँभालेगी। जहाँ तक रोडवेज का सम्बन्ध है यात्रियों को दी जानेवाली सुविधाएँ बढ़ी हैं, अधिक भीड़-भाड़ पर नियंत्रण रखा गया है और गाड़ियाँ अच्छी दशा में रखी गई हैं।

यह योजना १६४६ में बम्बई में प्रारम्भ की गई और १६४८ से १६५० तक ढाई वर्ष में यातायात के मार्गों की संख्या ८ से ४६५ तक बढ़ गई। आरम्भ में २४० मील तक यातायात की व्यवस्था थी। १६५० में यह व्यवस्था १५,०३६ मील तक फैल गई और १६४८ से १६५० तक क्रमशः कुल १,०८,७७२ और २,६१६,२४७ मील के बीच यातायात किया गया। इसके बाद के वर्षों में इस दिशा में प्रगति धीमी रही है परन्तु सभी दृष्टिकोणों से रोडवेज ने उन्नति की है। उत्तर प्रदेश में १६४७-४८ में ३१ सरकारी रोडवेज सर्विसें चालू हुईं जो १६५५-५६ में ३३७ हो गई। यह यातायात व्यवस्था ६,००० मील तक फैली हुई है। यह अनुमान लगाया गया है कि कुल १०,००० मील के क्षेत्र में यात्रियों के यातायात का राष्ट्रीकरण करने में २,३०० बसों की आवश्यकता होगी। द्वितीय योजना के अन्तर्गत इस यातायात सुविधा का विस्तार ६६६४ मील हो जायगा और उसमें १६०० बसें होंगी।

बम्बई में राजकीय रोडवेज ने ८ से ६ पाई प्रति मील किराया वसूल

किया। इससे पहले इस क्षेत्र में किराये की यही दर वसूली गई थी, परन्तु गुजरात में मोटर-मालिकों ने रेलवे की प्रतियोगिता में किराया कम वसूला था। बम्बई में यद्यपि किराया कम नहीं किया गया है परन्तु रोडवेज की सर्विस में निस्सन्देह काफी सुधार हुआ है और जनता को राष्ट्रीकरण से पहले की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। जहाँ तक उत्तर प्रदेश का सम्बन्ध है रोडवेज का अपर तथा लोअर क्लास का किराया अक्टूबर १९५२ में क्रमशः ९ पाई और ७½ पाई से बढ़ाकर १०½ पाई और ८ पाई प्रति माल कर दिया गया। किराये में वृद्धि करने का उद्देश्य मोटर इत्यादि के कल-पुर्जों तथा अन्य सामानों की बढ़ी मूल्य को पूर्ण करना था। परन्तु चूँकि केन्द्रीय कारखाने स्थापित कर देने से मरम्मत इत्यादि मे पहले की अपेक्षा कम व्यय करना पड़ता है इसलिए १९५३ मे किराये मे कमी कर दी गई। अब किराये की दर अपर क्लास के लिए १०½ पाई प्रति मील से घटाकर ९ पाई प्रति मील कर दी गई और लोअर क्लास के लिए किराये का दर ८ पाई से घटाकर ७½ पाई कर दी गई। अक्टूबर १९५२ से पहले किराये की यही दर थी। लोअर क्लास का किराया अब भी रेल के तीसरे दर्जे के किराये से अधिक है। रेल मे तीसरे दर्जे का १५० मील का किराया यदि डाकगाड़ी या एक्सप्रेस से सफर किया जाय तो ६¾ पाई प्रति मील है और यदि सामान्य गाड़ी से सफर किया जाय तो दर ५¼ पाई प्रति मील है परन्तु आशा की जाती है कि भविष्य में रोडवेज किराया और घटायेंगा।

राजकीय रोडवेज प्रणाली सन्तोषजनक रीत से चल रही है परन्तु (१) गाड़ियो को रखने तथा मरम्मत इत्यादि करने का व्यय अधिक है और रोडवेज को उतना लाभ नहीं होता है जितना की आशा थी। (२) अभी कुछ दिशाओं में यात्रियों को और अधिक सुविधाएँ प्रदान की जा सकती हैं। परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि रोडवेज ने सड़क यातायात की अवस्था मे काफी सुधार किया है और भारत मे रोडवेज यातायात व्यवस्था का प्रसार करने के लिए कोई बाधा नहीं है।

निजी उद्योग की **कठिनाइयाँ**—भारत के सड़क यातायात के विकास में अनेक कारणो से बाधायें पहुँची हैं: (१) मोटर गाड़ियों को बहुत अधिक कर देना पड़ता है जिससे व्यक्तियों की इस कार्य को करने की शक्ति टूट जाती है। मोटर गाड़ी कर जाँच कमेटी ने यह बात कही थी कि भारत में मोटर गाड़ियों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों पर संसार भर में सब से अधिक कर लगाया जाता है। इसी रिपोर्ट के अनुसार प्रत्येक लारी पर प्रति वर्ष कुल कर मद्रास मे ६,०७७ रुपये, बम्बई मे ५,००० रुपये से लगा कर ५,२५८ रु० तक

और अन्य राज्यों में औसत कर लगभग ५,१३४ रु० था। इस कमेटी ने यह भी अनुमान लगाया था कि माल ढोने वाली लारियाँ केन्द्रीय और स्वदेशीय राज्यों को जितना कर देती हैं, (स्थानीय करों को छोड़ कर) यदि वे २० हजार मील से अधिक यात्रा करती हों तो वह रेल द्वारा प्रति टन प्रति मील ढुलाई के औसत किराये से सो प्रतिशत अधिक था। पिछले तीन वर्षों में लारियों पर यह भार वास्तव में अनेकों राज्यों में और अधिक बढ़ा ही है।

(२) प्रादेशिक सरकारों ने सड़कों पर बहुत कम धन व्यय किया है और उनकी देख-रेख भी ठीक नहीं होती। इससे व्यक्तियों को बस चलाने के कार्य में बड़ी कठिनाई पड़ती है। "मोटर गाडी कर जाँच कमेटी ने पता लगाया था कि 'क' राज्यों को १९४९ में रजिस्टर की हुई मोटर गाड़ियों और वस्तुओं से प्राप्त २३'२६ करोड़ रुपयों के लगभग थी जब कि सड़कों की मरम्मत पर केवल ११'७ करोड़ रुपया व्यय किया गया था जो कि वसूल किये हुये कर के आधे से भी कम है। यह स्थिति बड़ी विचित्र है कि सड़क यातायात पर कर इतना अधिक है कि यात्रियों और माल ढोने में उनका प्रयोग करने में बाधा पड़ती है, पर फिर भी मोटर गाड़ियों से वसूल हुये कर के धन का पूरा प्रयोग सड़कों के बनाने में नहीं किया जाता।" सड़क की ठीक मरम्मत न होने से सड़क यातायात के व्यय में भी वृद्धि हो जाती है। कमेटी ने अनुमान लगाया था कि एक बस साधारण खराब और बहुत खराब सड़कों पर एक वर्ष में ३५,००० मील चलाने में व्यय अच्छी सड़क में चलाने में व्यय की अपेक्षा २९०० रु० अधिक होगा।

(३) १९३९ में मोटर गाड़ी एक्ट ने उन लम्बी यात्राओं पर जो उस समय बम्बई और कलकत्ते, बम्बई और देहली, बंबई और पेशावर और बम्बई और मद्रास आदि के बीच प्रचलित थी प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। इस एक्ट की योजना है कि सड़क यातायात को राज्यों के छोटे-छोटे क्षेत्रों में ही सीमित कर दिया जाय जिससे कि कोई मोटर राज्य की एक सीमा से दूसरी सीमा तक बिना अनेकों यातायात अधिकारियों की आज्ञा के न जा सके। ऐसी आज्ञा बहुत ही कम दी जाती है। ऐसी *स्थिति में अन्तर प्रदेशीय यातायात की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती।* मोटर गाड़ियों के चलाये जाने के क्षेत्र को सीमित करने के अतिरिक्त क्षेत्रों के कर्मचारियों को यह अधिकार भी प्रदान किया हुआ है कि वे अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में चलाई जाने वाली मोटर बसों की संख्या भी सीमित कर सकते हैं। मोटर गाड़ी एक्ट ने छोटे-छोटे क्षेत्रों में अनेकों अधिकारियों को बनाकर सड़क के यातायात को छोटे-छोटे भागों में विभाजित करके तथा प्रतिबन्ध लगा

कर निहित स्वाथ का अवसर प्रदान कर दिया है । इसके परिणाम स्वरूप सड़क यातायात के वैज्ञानिक ढंग पर विकास में बाधा पड़ी है।

(४) जिस प्रकार सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण विभिन्न राज्य द्वारा किया गया है उससे राष्ट्रीयकरण की योजना के अन्तर्गत अधिक महत्वशाली योजनाओं पर जो धन व्यय किया जाना चाहिये था वही नहीं रोका गया वरन् व्यक्तियों को यह कार्य करने में बड़ी भारी बाधा भी पहुँची है। इस दोष को रोकने के लिये योजना आयोग ने १९५३ में प्रादेशिक राज्यों से अपनी-अपनी लाइसेंस देने की नीति को सुधारने की आज्ञा दी थी क्योंकि वह व्यक्तियों को सड़क यातायात का कार्य करना आरम्भ करने में बहुत बाधक थी परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रादेशिक राज्यों ने इस आज्ञा को अनसुनी कर दिया है क्योंकि कि इनके सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के कार्य-क्रम में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता। अपनी आज्ञा को मनवा सकने के लिये योजना आयोग को अपनी आज्ञा निश्चित शब्दों में निश्चित निर्देशों सहित भेजनी चाहिये थी। स्थिति के अपने अन्तिम परीक्षण में योजना-आयोग केन्द्रीय मन्त्रालय के सहयोग से इस परिणाम पर पहुँचा है कि द्वितीय योजना में माल और यात्रियों के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों का अनुसरण आवश्यक है।

माल की ढुलाई के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त निम्न हैं :—

१. सड़क द्वारा ढोने वाली संस्थाओं के राष्ट्रीयकरण की कोई योजना १९६१ तक अर्थात् द्वितीय योजना के अन्त तक नहीं सोची जानी चाहिये।

२. १९३९ के मोटरगाड़ी एक्ट के अनुसार कम से कम तीन वर्ष के लिये ऐसी सस्थाओं को जो पनप सकती हैं परमिट स्वतन्त्रता पूर्वक देना चाहिये। मोटरगाड़ी एक्ट के अन्तर्गत अधिक से अधिक पाँच वर्ष तक का परमिट देकर प्रोत्साहन देना चाहिये।

यात्रियों के यातायात के लिये निम्न सिद्धान्तों की सिफारिश की गई है—

(१) जो प्रादेशिक राज्य यात्रियों के यातायात सेवा संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण करना चाहें उन्हें योजना आयोग के समक्ष क्रमिक कार्य-क्रम बनाकर विचार करने के लिये रखना चाहिये जिससे वह कार्यक्रम को योजना में सम्मिलित कर सकें। इस कार्य-क्रम को उन्हें १९६०-६१ तक जिन क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण करना है उनका निश्चित रूप से विवरण दिया जाना चाहिये। इसका विचार आयोग द्वारा तभी हो सकता है जबकि शर्तें प्रादेशिक राज्यों द्वारा स्वीकार कर ली जायँ।

(२) राष्ट्रीयकरण योजना के बाहर की सड़कों पर यातायात के लिये

परमिट कम से कम तीन वर्षों के लिये १९३९ के मोटर गाड़ी एक्ट के अनुसार दिया जाय।

(३) उन क्षेत्रों में जो स्वीकृत राष्ट्रीयकरण योजना के अन्तर्गत आते हैं परमिट अधिक से अधिक समय तक के लिये, जो कि विस्तार के कार्य-क्रम के अन्तर्गत मोटरगाड़ी एक्ट की सीमा के अन्दर ही है, दिये जाने चाहिये।

(४) जहाँ पर सरकार के सहयोग की सम्भावना है एक त्रिदलीय संस्था स्थापित की जानी चाहिये जिसमें प्रादेशिक सरकारें, रेलवे और इस कार्य मे संलग्न व्यक्ति सम्मिलित हों।

(५) उन क्षेत्रों में जिन्हे पूर्णतया व्यक्तिगत लोगो के अधिकार मे छोड़ दिया जाय प्रतिस्पर्धा दलो को विशेष प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये।

राज्यों में सड़को के विकास में बाधा डालने वाली अनेक कठिनाइयों में से एक तो निर्देशन करने वाले उपयुक्त कर्मचारियों का अभाव है जिनका कार्य मोटर द्वारा परिवहन की व्यवस्था पर ध्यान देना, सड़को के नियोजित विकास की अपेक्षा विशेष हो। १९५८ के आरम्भ में भारत सरकार ने एक कमेटी इस मामले की जाँच करने के लिये श्री० एम० आर० मसानी की अध्यक्षता में नियुक्त की थी। सरकार ने १९५८ के आरम्भ में एक अन्तर-राज्य यातायात आयोग की भी नियुक्ति की थी जिसको मोटरगाड़ी (संशोधित) एक्ट की ६३ ए धारा के अनुसार नियन्त्रण तथा निर्देशन के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत अधिकार प्राप्त है और जिससे यह आशा की जाती है कि (१) वह परिवहन की गाड़ियों के संचालन तथा उनके विकास सम्बन्धी योजनाओं को तैयार करे और अपनी योजनाओं में माल लादने वाली गाड़ियों का जो कि अन्तर्राज्यों में यह कार्य कर रही है विशेष ध्यान रक्खें, (२) इस सम्बन्ध में जो कुछ भी झगड़े अथवा मतभेद उत्पन्न हो उन सब को निबटायें और उन पर निर्णय लें; (३) और दो अथवा दो से अधिक राज्यों में पड़ने वाले मार्गों पर मोटर गाड़ी चलाने, नये परमिट देने, पुरानों को फिर से चालू करने तथा रद्द करने के सम्बन्ध मे राज्य विशेष के यातायात अधिकारी को अथवा क्षेत्र विशेष के यातायात अधिकारी को निर्देश दें।" इस आयोग से आशा की जाती है कि यह अन्तर राज्य यातायात की सुविधाओं का प्रभावशाली रूप से विकास करने में सफल होगा।

योजना के अन्तर्गत—जब कि प्रथम पंचवर्षीय योजना आरंभ हुई भारत में ९७५४६ मील पक्की सड़कें और १५१००० मील कच्ची सड़के थी। योजना के अन्तर्गत पहिले ११० करोड़ रुपया व्यय करने के लिये रक्खा गया था जो कि बाद में बढ़ाकर १३५ करोड़ रुपया कर दिया गया जिसमें से प्रथम योजना काल

में लगभग १३४½ करोड़ रुपये वास्तव में खर्च कर दिये गये थे। इसके परिणाम स्वरूप २४००० मील नयी भूमि के समतल सड़कें, और ४४००० मील नीची सड़कें बनवाई गई और इस प्रकार सड़कों की लम्बाई १२१००० मील पक्की और १९५००० मील कच्ची अर्थात् कुल ३१६००० मील हो गई जब कि नागपुर योजना का ध्येय केवल १२३००० मील पक्का तथा २०८००० मील कच्ची अर्थात् कुल ३३१००० मील सड़कों का ही था।

इसके अतिरिक्त अनेकों सड़कों के बीच के व्यवधानों को मिलाने तथा पुलों के बनाने की भी व्यवस्था की गई थी। "पहली अप्रैल १९४७ को जब कि भारत सरकार ने राजपथ कही जाने वाली सड़कों के विकास तथा बनाये रखने का वित्तीय दायित्व अपने ऊपर लिया उस समय लम्बी लम्बी दूरी तक सड़कों के व्यवधान पड़े हुये थे तथा मुख्य-मुख्य स्थानों पर अनेकों सड़कों पर पुल नहीं थे। प्रथम योजना के आरम्भ तक ११० मील सड़कें दो सड़कों के बीच के व्यवधान को जोड़ने के लिये तथा तीन बड़े-बड़े पुल बनवाये गये और १००० मील सड़कों की मरम्मत करवाई गई। प्रथम योजना काल के आरम्भ में ही केन्द्रीय सरकार ने सड़कों के विकास तथा सुधार का कार्यक्रम आरम्भ किया जिसके अन्तर्गत १२५० मील बीच की गायब सड़कों तथा ७५ बड़े-बड़े पुलों का बनवाना तथा ६००० मील सड़कों की मरम्मत करवाना सम्मिलित था। इसमें से योजना काल में ६४० मील बीच की गायब सड़के तथा ४० पुल तथा २५०० मील पुरानी सड़कों की मरम्मत पूरी हो जाने की आशा की गई थी। योजना के खतम होते-होते ६३६ मील बीच की गायब सड़के, ३० बड़े-बड़े पुल और ४००० मील पुरानी सड़कों की मरम्मत हो पाई थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जितनी बीच की गायब सड़कों के बनवाने का ध्येय बनाया गया था वह लगभग पूरा हो गया और वर्तमान राजपथों की मरम्मत का काम सोची हुई मात्रा से लगभग दुगना कर लिया गया। योजना में २७.८० करोड़ रुपये राजपथों पर व्यय के लिये नियत किये गये थे जिसमें से २७·६२ करोड़ रुपये व्यय कर दिये गये।

प्रथम योजना में सड़कों द्वारा यातायात पर १२¾ करोड़ रुपये व्यय किये गये। राज्यों ने ३००० मोटर गाड़ियाँ और बढ़ाई जिससे कुल मोटर गाड़ियों की संख्या जो सरकार की ओर से यातायात की सेवा में लगी हुई थी ११००० हो गई। प्रथम योजना के अन्त तक मोटर द्वारा जनता की यातायात सेवा का २५% सरकारी विभाग द्वारा किया जाने लगा था। माल परिवहन व्यक्तिगत एजेन्सियों के ही अधिकार में रहा।

द्वितीय योजना में (सड़कों के विकास के लिये) २४६ करोड़ रुपयों के

व्यय की व्यवस्था की गई है जिसमें से ८२ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा और १६४ करोड़ रुपये राज्यों द्वारा व्यय किया जायगा। यह रकम केन्द्रीय सड़क कोष से प्राप्त होने वाले १५ करोड़ रुपयों के अतिरिक्त है। द्वितीय योजना के पूरे होने पर यह आशा की जाती है कि पक्की सड़के बढ़कर १४३,००० मील और कच्ची सड़कें २३५,००० मील अर्थात् कुल योग ३७८,००० मील हो जायगा। यह मात्रा नागपुर योजना से कहीं अधिक है।

द्वितीय योजना का कार्यक्रम पहिली योजना ही की तरह बड़े-बड़े पुलों का निर्माण तथा बड़े-बड़े राजपथों का मिला देने वाली सड़कों के निर्माण का और पुरानी सड़कों की मरम्मत का ही है। इस योजना के अन्तर्गत आरंभ किये हुये निर्माण कार्य पर कुल व्यय लगभग ८७·५ करोड़ रुपये का है। यह व्यय निम्न प्रकार का है।

प्रथम योजना के अपूर्ण निर्माण कार्य पर जिसमें बनिहाल टनल सम्मिलित है—	३०·०	करोड़ रुपया
बड़े-बड़े राज पथों को मिलाने वाली सड़कों पर (६०० मील)	१०·५	,,
बड़े-बड़े पुलों के निर्माण पर (६०)	२०·०	,,
छोटे-छोटे पुलों के निर्माण पर	५·०	,,
पुरानी सड़कों की मरम्मत पर	७·०	,,
सड़कों के (१२ फीट से २२ फीट) चौड़ी कराने पर (३००० मील)	१५·०	०
कुल	८७·५	०

द्वितीय योजना काल में वास्तविक व्यय लगभग ५५ करोड़ रुपये का अनुमानित किया गया है। राष्ट्रीय राज्यपथों के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने कुछ महत्वशाली सड़कों का निर्माण प्रथम योजना में करवाना आरम्भ कर दिया था। यह कार्य इस योजना में प्रचलित रहेगा और लगभग ६ करोड़ रुपया इस पर व्यय हो जायगा। कुल मिला कर केवल १५० मील नई सड़क बनाई जायेंगी और लगभग ५०० मील सड़कों को उच्चस्तर कर दिया जायगा।

द्वितीय योजना में १३¼ करोड़ रुपयों की राज्यों की सड़क यातायात संबन्धी विकास कार्य-क्रमों के लिये व्यवस्था की गई है। १६५० के रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन एक्ट के अन्तर्गत राज्य सरकारों को कारपोरेशन स्थापित करने की सलाह दी गई है और रेलवे योजना के अन्तर्गत १० करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई है कि

रेलवे इन कारपोरेशनों में सम्मिलित हों। इसके अतिरिक्त यातायात मन्त्रालय की योजना में देहली ट्रान्सपोर्ट सरविस के लिये एक ३ करोड़ रुपये का कार्य-क्रम भी स्वीकृत कर लिया गया है। इस प्रकार सरकारी सड़क यातायात पर कुल विनियोग द्वितीय योजना में १७ करोड़ रुपयो के लग भग होता है।"

१९५६-५७ में कुल सड़कों के कार्य क्रम पर व्यय ४२·७१ करोड़ रुपया था और १९५७-५८ के लिये संशोधित अनुमान ४४·३२ करोड रुपयों का है इस प्रकार प्रथम तीन वर्षों से कुल व्यय १२९·२६ करोड़ रुपया होता है। बचे हुये दो वर्षों के लिये ११६·८६ करोड़ रुपया रह जायगा। अन्तिम दो वर्षों के लिये बजट में इस रकम की व्यवस्था सम्भव हो सकेगी इसमें सदेह मालूम पड़ता है। इसके अतिरिक्त लोहे की कमी के कारण पुलों के निर्माण में बाधा पड़ने का भय भी है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि योजना के विकास कार्य-क्रम में कुछ कमी अवश्य ही आयेगी।

अध्याय ३६

जल यातायात

भारतीय यातायात अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत के पास १२,५०० जी० आर० टी० (ग्रास रजिस्टर्ड टनेज) के जलयान थे। प्रथम योजना के आरम्भ में भारत के पास ३,६०७०७ जी० आर० टी० के जलयान थे जिनमे से २,१७,२०२ जी० आर० टी० भारतीय तटों पर और १,७३,५०५ जी० आर० टी० के जलयान विदेश में व्यापार कार्य मे व्यस्त थे। प्रथम योजना के अन्त मे कुल टनेज ४,८०,००० जी० आर० टी० था जिसमें से २,४०,००० जी० आर० टी० तटीय व्यापार तथा समीपवर्ती देशो से व्यापार का था और २४०००० जी० आर० टी० दूर विदेशी व्यापार का। लायड के जलयान के रजिस्टर के अनुसार ३० जून, १६५७ को समस्त संसार का कुल टनेज १,१०२ करोड जी० आर० टी० था जबकि १६५५ के अन्त में १,००६ करोड जी० आर० टी० ही था। इस प्रकार भारत का कुल टनेज संसार के टनेज के ½% से कुछ अधिक था जब कि भारत का विदेशी व्यापार संसार के कुल व्यापार का ३% से अधिक था। अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री मार्गों के द्वारा भारतीय जलयान भारत के समुद्री व्यापार का केवल ५०% व्यापार कर पाते हैं। इसका यह अर्थ है कि भारतीय जल यातायात के विकास मे अभी बहुत लम्बा मार्ग पूर्ण करना है।

भारत के लिए जिसका समुद्री तट ४,१६० मील (अण्डमन द्वीप सम्मिलित करके) तक विस्तृत हुआ है और जो बहुत बड़ी मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कर सकता है वास्तव में जलयान का बहुत अधिक महत्व है। यदि हमारे पास अपने जलयान हों तो भारतीय उद्योग का यातायात व्यय कम हो जायगा और विदेशी बाजारों में उसकी प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि हो जायगी। यदि सामान का भारतीय जलयानों के द्वारा यातायात किया जाय तो हम उतनी विदेशी विनिमय मुद्रा बचा सकते हैं जिसको अन्यथा इन जलयानों में व्यय करना पड़ता है। इसके साथ ही भारत को अपने समुद्रतटीय क्षेत्र की रक्षा करने के लिये और युद्ध के समय अपने व्यापार की सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली जल सेवा की आवश्यकता है। संकट के समय व्यापारी जलयान प्रतिरक्षा की दूसरी पंक्ति का कार्य देते हैं। यह सहायक सेना के रूप में ही सहायक नहीं होते बल्कि इनसे नौ-सेना को शिक्षा दी जा सकती है और युद्ध के समय आवश्यक सामान समुद्र पर पहुँचाने के लिए इनकी अत्यन्त आवश्यकता पड़ सकती है।

मुख्य विशेषताएँ—भारतीय जल यातायात के विकास की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं :—

(१) भारत में अँग्रेजी शासन के समय भारतीय जलयानों को ब्रिटिश तथा विदेशी जलयानों की कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा और उसे विकास करने का अवसर ही नहीं दिया गया। १६२० के लगभग अनेक जलयान कम्पनियाँ बनी परन्तु प्रतियोगिता का सामना न कर सकने के फलस्वरूप नष्ट हो गई। इन कम्पनियों के नष्ट होने में विदेशी जलयान कम्पनियों की भाड़े की दर सम्बन्धी नीति का भी बहुत योगदान रहा है। इन विदेशी कम्पनियों ने भारतीय कम्पनियों से प्रतियोगिता के कारण भाड़े की दर घटा दी और जब यह कम्पनियाँ बन्द हो गई तब भी भाड़े की दर में पुनः वृद्धि कर ली। इसके साथ इन कंपनियों ने यह व्यवस्था की कि यदि किसी व्यापारी ने एक निश्चित समय तक नियमित रूप से इनके जलयानों के द्वारा ही सामान भेजा और मँगाया तो उस अवधि में यह जितना भाड़ा देगा उसका एक अंश उसे वापिस कर दिया जायगा। इन विदेशी कंपनियों की प्रतियोगिता का केवल सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी ही सामना कर सकी। विदेशी कम्पनियों ने इसे नष्ट करने की अनेक बार चेष्टा की परन्तु वह सफल नहीं हो सके। इससे सिंधिया कम्पनी को भारी क्षति उठानी पड़ी। सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी के दृढ़ रहने पर १६२४ में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार इसे ७५ हजार टन सामान प्रतिवर्ष ले जाने की अनुमति दी गई। भारतीय जलयान कम्पनियों के नष्ट हो जाने का एक कारण यह था कि विदेशी कंपनियों की प्रतियोगिता शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और दूसरा कारण यह था कि भारतीय कम्पनियों के पास वित्त की उपयुक्त व्यवस्था नहीं थी और इनका कुल व्यय भी बहुत अधिक था। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ यह प्रतियोगिता स्वतन्त्रता मिलने तक चलती रही और स्वतन्त्रता मिलने से भारतीय जल यातायात का भारत के तटीय व्यापार में महत्व बढ़ गया है और साथ ही विदेशी व्यापार में भी एक सीमा तक इसने अपना विशेष स्थान बना लिया है।

(२) ब्रिटिश शासनकाल में सरकार ने भारतीय जल यातायात को कुछ भी सहायता नहीं दी और स्वतन्त्र व्यापार नीति का बहाना लेकर भारतीय उद्योग को टाल दिया गया और अपने लिए स्वयं मार्ग बनाने को छोड़ दिया गया। इसका यह परिणाम हुआ कि इस अवधि में भारतीय जल यातायात ने विशेष प्रगति नहीं की। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् भारत सरकार ने इस ओर ध्यान दिया है। भारत सरकार ने जलयान उद्योग को ऋण तथा अन्य आर्थिक

सहायता दी। सरकार ने जलयान निर्माताओं से जिस मूल्य पर जलयान क्रय किए भारतीय जलयान कम्पनी को उससे कम मूल्य पर वेचे और अन्तर को अपने कोष से दिया। लाइसेन्स की प्रथा लागू करके १९४८ में भारत के तटीय व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित किया गया और १९५० में तटीय व्यापार केवल भारतीय जलयानों के लिये सुरक्षित कर दिया गया। इसके फलस्वरूप भारतीय समुद्र तट पर १९४८ में जितने टनों के जलयान व्यापार करते थे उसमें ५३ प्रतिशत की वृद्धि हो गई और १९५२-५३ तक व्यापार में १०० प्रतिशत की वृद्धि हुई। एक जल यातायात बोर्ड स्थापित किया गया है जिसका कार्य जल यातायात के कार्य का संचालन करना है। सरकार की सहायता प्राप्त करके अब भारतीय कम्पनियाँ विश्व जल यातायात सम्मेलन की सदस्य हैं।

१९४७ में भारत सरकार ने प्रस्ताव रखा कि तीन जल यातायात कार्पोरेशन बनाये जायें, प्रत्येक के पास १० करोड़ रुपये को पूँजी हो और तीनों कार्पोरेशन तीन मार्गों मे व्यापार इत्यादि करें। परन्तु १९५५ तक मार्च १९५० में १० करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी का केवल एक कार्पोरेशन, पूर्वी कार्पोरेशन लिमिटेड, स्थापित किया जा सका था। सरकार ने दो करोड़ रुपये की नियमित पूँजी का केवल ¾ भाग दिया और शेष पूंजी मैनेजिंग एजेन्टों ने लगाई। जून १९५६ में दूसरे कार्पोरेशन (पश्चिमी शिपिंग कार्पोरेशन) की स्थापना हुई। यह पूर्ण रूप से राज्य के अधिकार में है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ईस्टर्न शिपिंग कार्पोरेशन से आगामी पाँच वर्षों के अन्दर यह आशा की जाती थी कि ४०,००० जी० आर० टी० व्यापार और अधिक कर सकेगा। परन्तु वह केवल २१,६०० जी० आर० टी० व्यापार प्रथम तीन वर्षों में बढ़ा पाया। सरकार ने जलयान उद्योग को और अधिक वित्तीय तथा अन्य प्रकार की सहायता दी है। इसलिये यह आशा करना सर्वथा युक्ति संगत होगा कि कुछ समय में भारतीय जल यातायात उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच जायगा।

(३) प्रारम्भ मे देश-विदेश व्यापार मे भारतीय जलयानों ने भी भाग लिया। परन्तु उनमें से अधिकतर छोटे थे और अधिकतर सेलिंग वेसिल, टग्स, बारजेज, कोसटर्स इत्यादि थे। अतीत मे एक सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि देश में जलयान उद्योग नहीं था जिससे जलयानों का व्यय अत्यधिक हो गया था। अब विशाखापट्टम् में जलयान कारखाना है। यह जून १९४१ में स्थापित किया गया था। यह आशा की जाती थी कि २,१५,००० जी० आर० टी० में से जो कि प्रथम योजना के प्रथम तीन वर्षों में प्राप्त कर लेना चाहिए था हिन्दुस्तान

शिपयार्ड १ लाख जी० आर० टी० की पूर्ति करेगा। परन्तु शिपयार्ड की उन्नति बड़ी धीमी रही है और प्रथम तीन वर्षों में वह केवल ३५,८०४ जी० आर० टी० ही की पूर्ति करने में समर्थ हो सका है। भारतीय जल यातायात कम्पनियों को विशाखापट्टम् शिपिङ्ग यार्ड से अधिकाधिक संख्या में जलयान के पाने की आशा की जा सकती है। इसमें सबसे कठिनाई जलयान के विभिन्न कल-पुर्जों की प्राप्ति में कठिनाई है जिन्हे विदेशों से मँगाना पड़ता है। जैसे ही यह कठिनाई दूर हो जायगी और शिपयार्ड की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो जायगी, भारतीय जलयानों के टनेज के विस्तार में वास्तविक सहायता पहुँच सकेगी।

(४) भारतीय जल यातायात के विकास में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हमारे देश में जलयानों को बन्दरगाह की उचित सुविधायें नहीं मिल पाती हैं। भारत के पाँच बड़े बन्दरगाहों, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कच्छ और विशाखापट्टम में पेट्रोल, जलयान में जलानेवाला कोयला इत्यादि को छोड़कर केवल दो करोड़ टन सामान प्रतिवर्ष उतारा लादा जा सकता है। १६४६-५० में पेट्रोल तथा जलयान में जलने वाले कोयले को सम्मिलित करके इन बन्दरगाहों में दो करोड़ टन सामान लादा उतारा गया। प्रथम योजना के अन्तर्गत विकास के कारण माल लादने उतारने की शक्ति बढ़कर दो करोड़ पचास लाख टन हो गई है। बन्दरगाहों पर यथाशक्ति कार्य हो रहा है। जलयानों को बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। माल डॉक में पड़ा रहता है इसके पूर्व कि लादा जा सके। यह प्रस्ताव किया गया है कि बन्दरगाह की सुविधाओं का विस्तार किया जाय और काण्डला और मंगलौर के दो नये बन्दरगाह बनाये जा रहे हैं। बन्दरगाहों पर आवश्यक सामान, आकाशदीप तथा अन्य सुविधायें बढ़ाई जा रही हैं।

पुनर्निर्माण नीति उपसमिति—पुनर्निर्माण नीति उपसमिति (१६४७) ने भारतीय जल यातायात की पूर्णतया जाँच की और निम्नलिखित सिफारिशें की :—

(१) भारत को प्रति वर्ष १ करोड़ टन सामान लाने ले जाने के लिये और ३० लाख यात्रियों को ले जाने के लिये छोटे जलयानों को छोड़कर २० लाख टन के जलयानों की आवश्यकता होगी।

(२) हमारा उद्देश्य है कि १६५७ तक भारत के तटीय व्यापार का १०० प्रतिशत, भारत-बर्मा लंका तथा अन्य पड़ोसी देश से व्यापार का ७५ प्रतिशत, दूर देशों से भारत के व्यापार का ५० प्रतिशत और धुरी राष्ट्रों द्वारा किये जाने वाले व्यापार का ३० प्रतिशत सँभाला जाय।

(३) भारत सरकार की नीति का उद्देश्य भारतीय जल यातायात का प्रसार होना चाहिए और दरों में कमी और वृद्धि होने से इसकी रक्षा की जानी

चाहिए। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए जल यातायात बोर्ड को पूरे अधिकार देने चाहिएँ।

पुनर्निर्माण नीति उपसमिति ने जो लक्ष्य निर्धारित किये थे भारतीय जल यातायात का स्तर वहाँ तक नहीं पहुँच पाया है। यह निजी उद्योग तथा भारत सरकार के लिए अत्यन्त खेद की बात है। वर्तमान में भारतीय जल यातायात का टनेज केवल ५ लाख टन है जब कि समिति ने २० लाख टन का सुझाव दिया था। भारतीय जलयान कुल विदेशी व्यापार का केवल ५ प्रतिशत पूरा करते हैं जब कि समिति ने सुझाव दिया था कि भारतीय जलयानों को अपने कुल विदेशी व्यापार का ५० प्रतिशत स्वयं करना चाहिये। केवल तटीय व्यापार के सम्बन्ध में समिति की अभिलाषा पूर्ण हुई है।

भारतीय जल यातायात के प्रसार एवम् संगठन के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देने के लिये जल यातायात के मालिकों की परामर्शदात्री समिति की १९५२ के मध्य में एक बैठक हुई। समिति ने अनेक सुझाव दिये। समिति ने सुझाव दिया है कि भारत में जलयानों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिये परन्तु पंचवर्षीय योजना में इस कार्य के लिए जितने धन की व्यवस्था की गई है वह अपर्याप्त है। सरकार को अधिक से अधिक २ प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर भारतीय जलयान कम्पनियों को ऋण देना चाहिए और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे पूँजी सरलता से चुकाई जा सके। समिति ने यह भी सुझाव दिये कि (१) पुराने जलयानों के स्थान पर नये जलयानों को खरीदने के लिए जो लाभांश जमा किया गया है उस पर आय कर न लगाया जाय, (२) भारतीय जलयानों में जलने वाले तेल पर चुङ्गी न लगाई जाय और (३) जलयानों का सामान बेचने वाले स्टोरों पर बिक्री-कर न लगाया जाय।

यह भी सुझाव दिया गया है कि तटीय व्यापार करनेवाला जलयान बेड़ा सन्तुलित होना चाहिये। इसमें विभिन्न आकार प्रकार के जलयान होने चाहिये जो तटीय व्यापार की विशेष वस्तुओं जैसे नमक, कोयला और तेल लाने ले जाने के उपयुक्त हों। कुछ लोगों का विचार है कि नमक और कोयला ले जाने के लिए ६,००० से ८,००० डी० डब्लू० टी० के जलयान अधिक उपयुक्त होते हैं और खाद्यान्न की सामग्री इत्यादि का यातायात करने के लिए छोटे आकार के जलयानों का प्रयोग किया जा सकता है।

इस समिति ने बताया कि भारतीय बन्दरगाहों में सामान लादने और उतारने की अच्छी व्यवस्था नहीं है। विशेषकर कोयला लादने के लिए बर्थों (जलयान खड़े होने का स्थान) का अभाव है और कुछ टूटी-फूटी स्थिति में हैं

और उससे कार्य अच्छी प्रकार नहीं लिया जा सकता है। समिति ने सुझाव दिया कि बन्दरगाहों में माल लादने और उतारने इत्यादि का कार्य तीव्र गति से करने के लिए मशीनें लगाने की और वर्तमान सामान को और बढ़ाने की आवश्यकता है।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पचवर्षीय योजना में भारतीय जलयानों की संख्या बढ़ाने पर और बन्दरगाहों इत्यादि की सुविधाएँ बढ़ाने पर जोर दिया गया था। योजना में कहा गया था कि तटीय व्यापार में जो पुराने और घिसे-पिटे जलयान प्रयुक्त किये जा रहे हैं जलयान कम्पनियों को उन्हें बदलने मे सहायता देने के लिए केन्द्रीय सरकार ने विशाखापटनम में जलयानों के निर्माण हेतु रुपया लगाया है। आशा की जाती है कि पचवर्षीय योजनाकाल में ही विशाखापट्टम के कारखाने से कुल १ लाख जी० आर० टी० के जलयान प्राप्त किये जा सकेंगे। इनमे से ६० हजार जी० आर० टी० के जलयानों से पुराने घिसे-पिटे जलयानो को बदला जायगा और शेष जलयान विशेष कर तटीय व्यापार मे प्रयुक्त किये जायँगे। विशाखापटनम कारखाने से जलयान कम्पनियों के हाथ जलयान उचित मूल्यों पर बेचे जायेंगे। यदि निर्माण व्यय मे और बिक्री मूल्य में कुछ अन्तर रहेगा तो उसके लिए सरकार जलयान निर्माण उद्योग को आर्थिक सहायता देगी। इस प्रकार जलयान निर्माण कार्य का प्रसार करने का विशाखापटनम कारखाने के विकास से गहरा सम्बन्ध है जिससे विशाखापटनम की उत्पादन शक्ति का पूर्ण उपयोग किया जा सके। योजना के अनुसार तटीय व्यापार को सुरक्षित बनाए रखने के लिए कम से कम ३ लाख जी० आर० टी० के जलयानों का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसमें यह व्यवस्था की गई थी कि पाँच वर्ष के अन्दर भारतीय जलयान कम्पनियों को ४ करोड़ रुपया ऋण दिया जायगा और जलयान कम्पनियाँ अपने साधनों से शेष २ करोड़ रुपया एकत्रित करेंगी। अनुमान था कि इस ६ करोड़ रुपये से भारतीय जलयान कम्पनियों के पास पर्याप्त जलयान हो जायँगे। पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विदेशी व्यापार के लिए १,००,००० डी० डब्लू० टी० के जलयानों की और आवश्यकता समझी गई थी जिसमें ईस्टर्न शिपिंग कार्पोरेशन के लिए आवश्यक ६० हजार डी० डब्लू० टी० के जलयानों को सम्मिलित नहीं किया गया था जिसके लिए सरकार ने अपने भाग के ४·४ करोड़ रुपये की व्यवस्था कर दी थी।

प्रथम योजना में १९५५-५६ तक ६ लाख जी० आर० टी० तक जलयानों के बढ़ाने का विचार किया गया था। पर वास्तव में योजना काल के अन्त तक कुल ४,८०,००० जी० आर० टी० का कार्य किया जा सका। जो ध्येय ६,००,०००

जी० आर० टी० का सोचा गया था वह तो तभी पूरा हो सका जब कि योजना काल में ही मँगाये हुये जहाज प्राप्त हो सके।

जल यातायात उद्योग के सम्बन्ध में जो प्रथम योजना के अन्तर्गत व्यवस्था की गई है उसकी लोगों ने निम्न आलोचना की है: (१) सन् १९५६ तक ६,००,००० जी० आर० टी० के जलयानों की वृद्धि पुनर्निर्माण नीति-उपसमिति की सिफारिश की तुलना में बहुत कम है। समिति ने सिफारिश की थी कि १९५० तक २० लाख टन के जलयान हो जाने चाहिएँ परन्तु इस काय में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। वित्त के साथ ही आवश्यक सामान का अभाव है और व्यवहारिक दृष्टि से पचवर्षीय योजना समिति के कार्यक्रम को अपना लक्ष्य नहीं बना सकती थी। योजना मे व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर लक्ष्य निर्धारित किये हैं। (२) भारतीय जलयान समिति ने सुझाव दिया है कि सरकार तटीय एवम् विदेशी व्यापार में जा रुपया व्यय करेगी वह जलयानों और अन्य सामान के बढ़े हुए मूल्यों को देखते हुए बहुत कम है। पचवर्षीय योजना मे जो लक्ष्य निर्धारित किया गया है उसको पूरा करने में भी कहीं अधिक रुपया लगेगा; (३) सरकार ऋण दी गई पूँजी पर कितना ब्याज वसूल रही है और ऋण के साथ जो शर्तें लगी हैं उनसे ऋण लेना उद्योग के लिए असुविधाजनक हो गया है। उद्योग को यह ऋण मँहगा पड़ता है। यह सुझाव दिया गया है कि सरकार को २० वर्ष के लिए ऋण देना चाहिए और पहले ५ वर्षों मे उस पर कुछ ब्याज नहीं लेना चाहिए। छठे वर्ष से ३ प्रतिशत वार्षिक ब्याज वसूल किया जा सकता है और इसी समय से ऋण ली गई पूँजी भी किश्तों मे चुकानी आरम्भ हो जायगी; (४) योजना की अन्य सुविधाओं की कुछ चर्चा नहीं की गई है, जैसे जलयान में जलने वाले तेल पर से चुङ्गी हटाना, जलयान सामान के स्टोर पर से बिक्री-कर हटाना और आय-कर पर रियायत देना। जल यातायात उद्योग ने इन सुविधाओं की माँग की है। इनके बिना भारतीय जल यातायात की तेजी मे प्रगति नहीं की जा सकती है।

द्वितीय योजना मे यह प्रस्ताव किया गया है कि ६० हजार जी० आर० टी० के घिसे-पिटे जलयानों को निकाल कर ३० लाख जी० आर० टी० के जलयानों की वृद्धि की जाय। इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक कुल टनेज ६ लाख जी० आर० टी० हो जाना चाहिए। योजना का ध्येय है (१) तटीय व्यापार की आवश्यकताओं को रेलवे द्वारा प्राप्त माल और यात्रियों की मात्रा को ध्यान में रखते हुए पूर्ण करना; (२) भारत के विदेशी व्यापार का अधिक से अधिक भाग

भारतीय जलयानों के लिए प्राप्त करना; (३) टैंकों का बेड़ा तैयार करने के लिए केन्द्र स्थापित करना।

नीचे लिखे निश्चित ध्येय को पूरा कर लेने के पश्चात् भारत का १२ से १५ प्रतिशत समुद्रपार देशों से व्यापार और आस-पास के देशों से व्यापार का ५०% भारतीय जलयानों के भाग में आ जायगा जब कि वर्तमान में इन व्यापारों का केवल ५ और ४० प्रतिशत उनके भाग में हैं।

जी० आर० टी०

	योजना के पहले	प्रथम योजना के अन्त में	द्वितीय योजना के अन्त में
तटीय और निकटस्थ	२१७२०२	३१२२०२	४१२२००
समुद्र पार	१७३५०५	२८३५०५	४०५५०५
ट्रैम्प			६००००
टैन्कर्स		५०००	२३०००
सेलवेज टग			१०००
कुल	३६०७०७	६००७०७	६०१७०७

प्रथम योजना में १६.५ करोड़ रुपया जल यातायात के लिये नियत किया गया था। बाद में यह धन बढ़ा कर २६.३ करोड़ रुपया कर दिया गया। योजना काल में वास्तविक व्यय १८.७१ करोड़ रुपये किया गया। द्वितीय योजना में जल यातायात के विकास के लिये ४५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। जल यातायात के विकास के लिये ४५ करोड़ रुपयों के व्यय की व्यवस्था यद्यपि की गई है फिर भी क्योंकि पिछली योजना का ८ करोड़ रुपया बचा हुआ है इसलिये केवल ३७ करोड़ रुपया ही इस योजना में विकास कार्यों के लिये प्राप्त होगा।

योजना आयोग के द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यों तथा यानी सफलता के मत्त के अनुसार (मई १६५८) जितने व्यय की द्वितीय योजना में व्यवस्था की गई है उसका व्यय तो हो ही चुका है और उसके फलस्वरूप जो जल यातायात का कार्य होगा (टनेज मिलेगा) वह लगभग १८०००० जी० आर० टी० होगा जबकि योजना का ध्येय ३६०,००० जी० आर० टी० टनेज प्राप्त करने का था, जिसमें ६०००० जी० आर० टी० टनेज पुराने जहाजों के स्थान पर नये प्रयोग में ले आने के कारण प्राप्त होने वाला था। अपने ध्येय को पूरा कर सकने के लिये लगभग ४५ करोड़ रुपयों की और आवश्यकता होगी।

बन्दरगाह—प्रथम योजना की रूपरेखा जब उपस्थित की गई थी उसमें बन्दरगाहों के विकास अथवा सुधार का कोई स्थान नहीं था। इस अभाव की पूर्ति की महत्ता समझी गई और जब योजना की संशोधित रूपरेखा बनाई गई तो उसमें ३३ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई थी। बाद में यह मात्रा बढ़ा कर ३६·१६ करोड़ कर दी गई थी। चूंकि बन्दरगाहों के सुधार का कार्यक्रम देर से आरम्भ हुआ, इसलिये योजना-काल में व्यय की मात्रा केवल २७·५७ करोड़ रुपयों की हो पाई। कुछ भी हो यह विकास कार्यक्रम जो आरम्भ किया गया बड़े महत्व का था। काण्डला के नये बन्दरगाह के बनवाने के अतिरिक्त जिस पर १२·१ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की जा चुकी थी, इस कार्यक्रम के अन्तर्गत मुख्य योजनाएं बम्बई और कलकत्ता में थीं जिनके लिये योजना में ११ तथा ८ करोड़ रुपयों की व्यवस्था क्रमशः की गई थी। योजना के अन्त तक काण्डला पर ८·५ करोड़ रुपये बम्बई पर ११ करोड़, और कलकत्ता पर ३·५ करोड़ रुपये व्यय किये जा चुके थे।

"मुख्य मुख्य बन्दरगाहों की क्षमता प्रथम योजना काल में २०० करोड़ टन से बढ़ कर २५० करोड़ टन हो गई। १९५०-५१ में कुल माल जो इन मुख्य बन्दरगाहों द्वारा उतारा अथवा चढ़ाया गया १८०·२ करोड़ टन था जिसमें ११२·५ करोड़ टन आयात का माल और ६७·७ करोड़ टन निर्यात का माल सम्मिलित था। १९५५-५६ में अनुमान है कि उतारे और चढ़ाये जाने वाले कुल माल की मात्रा २२० करोड़ टन थी जिसमें १३० करोड़ टन आयात और ९० टन निर्यात का माल था।"

लगभग २२६ छोटे-छोटे बन्दरगाह २६०० मील के तट पर फैले हुये हैं जिनमें १५० बन्दरगाहों से माल आता-जाता है। १९५१-५२ में इन बन्दरगाहों द्वारा ३७·६ करोड़ टन माल उठाया गया, और १९५४ तक यह मात्रा बढ़ कर ४१·५ करोड़ टन हो गई। प्रथम योजना में इन छोटे-छोटे बन्दरगाहों के विकास कार्यक्रम में मद्रास, सौराष्ट्र, बम्बई, उड़ीसा आदि मुख्य स्थान सम्मिलित किये गये थे। कुल व्यय जो किया गया था वह २ करोड़ रुपयों से कुछ ही कम था।

द्वितीय योजना का साधारण ध्येय है कि प्रथम योजना में जो कार्य आरम्भ किया जा चुका है उसे पूर्ण कर दिया जाय और सर्व सुविधाओं का प्रबन्ध करके डॉकों को आधुनिक रूप प्रदान कर दिया जाय ताकि देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास के कारण जो आवश्यकतायें हों पूर्ण की जा सकें। ४० करोड़ रुपये की व्यवस्था बड़े-बड़े बन्दरगाहों के सुधार कार्य-क्रम के लिये की जा चुकी है। जो निर्माण कार्य आरम्भ किये जायेंगे, जिनमें प्रथम योजना के अधूरे कार्यों

को पूर्ण करने का कार्य भी सम्मिलित होगा, उनमें लगभग ७६ करोड़ रुपया व्यय होगा। योजना में व्यवस्थित ४० करोड़ रुपये के अतिरिक्त कुछ धन बन्दरगाहों के अपने निजी कोषों से भी प्राप्त होगा। योजना में निर्धारित धन सरकार की ओर से काण्डला में लगाया जायगा और पोर्ट ट्रस्ट की सहायता के लिये दिया जायगा। वर्तमान रियायती ऋण की पोर्ट ट्रस्ट के लिये सुविधा दूसरी योजना काल में भी रहेगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बड़े-बड़े बन्दरगाहों के सुधार के कार्यक्रम में कलकत्ते में १६.६ करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली, बम्बई में २६.३ करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली, कोचीन में ४.० करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली और काण्डला में १४.० करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली, योजनाएँ हैं।

भारत में लगभग १५० छोटे बन्दरगाह हैं जिनमें से १८ विशेष महत्व के हैं। उनका सुधार अत्यन्त आवश्यक है। प्रथम योजना में छोटे-छोटे बन्दरगाहों के सुधार की योजनाएँ सम्मिलित की गई थीं जिनका कुल व्यय २.४१ करोड़ रुपया नियत था, इसमें से १ करोड़ केन्द्रीय कोष से प्राप्त होना था और शेष बन्दरगाहों के कर्मचारियों को अपनी ओर से एकत्रित करना था। द्वितीय योजना में छोटे-छोटे बन्दरगाहों के सुधार के लिए ५ करोड़ रुपया नियत किया गया है।

अध्याय ३७

हवाई यातायात

वर्तमान युग में देश के औद्योगिक, आर्थिक और अन्य कार्यों का मूलाधार 'गति' है और यातायात के मूलाधार हैं यात्रियों एवम् सामान का तीव्र गति से यातायात कर सकने वाले साधन। भारत जैसे विशाल देश में हवाई यातायात का विशेष महत्व है। विमानों द्वारा यात्रा करने से समय की बहुत बचत होती है, अनेक असुविधाओं से बचा जा सकता है; व्यापारी, सरकारी कर्मचारी तथा अन्य लोग बड़ी कुशलता से कार्य कर सकते हैं, अपने कारखानों से सम्पर्क रख सकते हैं, दूर-दूर स्थित कार्यालयों से सम्बन्ध बना रह सकता है और नियंत्रण के साथ ही साथ उनका अच्छी प्रकार निरीक्षण किया जा सकता है। संकटकाल में, बाढ़ अथवा भूकम्प के समय हवाई यातायात का महत्व और भी अधिक हो जाता है। इसके अतिरिक्त शांतिकाल में नागरिक उड्डयन के कर्मचारी जो अनुभव प्राप्त करते हैं उसका युद्ध के समय सदुपयोग किया जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और देश विभाजन के पश्चात् भारत की हवाई कम्पनियों ने यात्रियों तथा सामान का यातायात करने में, निरीक्षण करने में और सरकार के निर्देश पर शरणार्थियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में प्रशंसनीय कार्य किया। हवाई यातायात का यथासंभव विकास करने की अत्यन्त आवश्यकता है; इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते हैं।

विकास—यह खेद का विषय है कि भारत में हवाई यातायात अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। यद्यपि भारत में १६११ से ही विमानों का उपयोग आरम्भ हो गया था और प्रथम विश्वयुद्ध के समय इस दिशा में कुछ प्रगति भी की गई थी परन्तु भारतीय हवाई यातायात में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और उसके पश्चात् ही विशेष प्रगति की जा सकी। भारत के हवाई यातायात के विकास में कुछ उल्लेखनीय बातें हुई हैं: (१) १६२७ में नागरिक उड्डयन विभाग स्थापित किया गया और १६२८ में दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और कराँची में 'फ्लाईंग क्लब' खोले गये। विमान-चालकों और टेकनीशियनों के शिक्षण की व्यवस्था की गई और इम्पीरियल एयरवेज सर्विस का १६२६ में दिल्ली तक प्रसार करने का प्रबन्ध किया गया। भारत में हवाई यातायात के विकास का यही प्रारंभकाल था; (२) १६३२ में टाटा एयरवेज लिमिटेड ने इलाहाबाद,

कलकत्ता और कोलम्बो के मध्य हवाई यातायात आरंभ किया और तत्पश्चात् करांची और मद्रास तक इसका प्रसार कर दिया। देश के कुछ मार्गों पर इण्डियन नेशनल एयरवेज ने भी यातायात कार्य शुरू कर दिया; (३) १६३८ में एम्पायर एयरमेल योजना लागू की गई जो युद्ध प्रारम्भ होने पर स्थगित कर दी गई परन्तु तत्पश्चात् बहुत सीमित पैमाने पर इसे फिर लागू किया गया; (४) १६४६ में कुछ सुसंगठित विश्वासनीय निजी व्यवसायिक संस्थाओं को आवश्यक सरकारी सहायता देकर देश के अन्दर तथा विदेश से हवाई यातायात की सुविधा का विकास एवम् प्रसार करने को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने एक निश्चित उड्डयन नीति निर्धारित की। १६४६ में हवाई यातायात लाइसेंसिंग बोर्ड स्थापित किया गया। यह निश्चित किया गया कि लाइसेन्स देते समय बोर्ड इन बातों पर पर विचार करेगा : (अ) कम्पनी की वित्त स्थिति, (ब) कार्यक्षमता का उचित स्तर, (स) यातायात की माँग और (द) जनता की आवश्यकता के अनुकूल कम्पनी की हवाई यातायात का विकास कर सकने की क्षमता। बोर्ड को लाइसन्स-प्राप्त कम्पनियों के किराये तथा भाड़े की अधिकतम तथा न्यूनतम दर निर्धारित करने का अधिकार दिया गया। बोर्ड ने अपने कार्यकाल में अनेक कम्पनियों को लाइसेन्स दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि हवाई यातायात में बहुत सी कम्पनियाँ चालू हो जाने से जटिलता आ गई और इनमें परस्पर हानिकारक प्रतियोगिता चलने लगी। इससे कम्पनियों को क्षति भी उठानी पड़ी; (५) भारत सरकार ने टाटा के सहयोग से विदेशी हवाई यातायात के लिए एयर इण्डिया इन्टरनेशनल की स्थापना की। टाटा के साथ यह समझौता किया गया कि इस नई कम्पनी में ४६ प्रतिशत शेयर सरकार लेगी जो ५१ प्रतिशत तक बढ़ाये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त ५ वर्ष तक यदि घाटा हुआ तो इस घाटे को भी सरकार पूर्ण करेगी।

हवाई यातायात जाँच समिति (१६५२)—हवाई यातायात जाँच समिति ने, जो राजाध्यक्ष कमेटी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, भारतीय हवाई कम्पनियों की स्थिति और उनकी समस्याओं की पूर्ण जाँच की और इस परिणाम पर पहुँची कि हवाई यातायात लाइसेन्सिंग बोर्ड ने अपना कार्य सन्तोष-जनक रीति से नहीं किया और बिना किसी प्रकार का भेद किये कम्पनियों को लाइसेन्स दिये, जिसका परिणाम यह हुआ कि दो वर्ष के अन्दर ११ कम्पनियों को लाइन्सेस मिल गये जब कि संपूर्ण कार्य केवल चार कम्पनियाँ अच्छी प्रकार चला सकती थीं। इतनी अधिक कम्पनियाँ होने से उन्हें हानि उठानी पड़ी, इसके साथ ही हवाई कम्पनियों ने सतर्कता से कार्य नहीं किया और कम्पनी के सङ्गठन इत्यादि में बहुत अधिक

रुपया व्यय किया जब कि यातायात की स्थिति को देखते हुए यह उचित नहीं था। कम्पनियों का उत्पादन व्यय भी पेट्रोल के मूल्य १ रुपया १४ आना प्रति गैलन (१९४६) से बढ़कर १९४९ में २ रुपया ६ आना प्रति गैलन हो जाने से, बढ़ गया।

समिति हवाई कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थी। समिति का मत था कि हवाई यातायात के क्षेत्र में समय के अनुकूल परिवर्तनशील नीति की और साहस-पूर्वक नयी योजना कार्यान्वित करने की आवश्यकता है परन्तु यदि हवाई कम्पनियों को सरकार अपने अधिकार में ले लेगी तो इसकी संभावना कम हो जायगी। इस कारण समिति ने सिफारिश की कि वर्तमान कम्पनियों का चार कम्पनियों मे एकीकरण किया जाय और बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा हैदराबाद में उनके अड्डे स्थापित हों। इससे हानिकारक प्रतियोगिता कम हो जायगी और कम्पनियों में कार्य का वितरण भी वैज्ञानिक तथा क्षेत्रीय आधार पर किया जा सकेगा। समिति ने सुझाव दिया कि उड़ान के घण्टों में कमी करने के लिए वर्तमान कम्पनियों की मार्गों को निर्धारित कर दिया जाय, विमानों की सख्या घंटा दी जाय, अतिरिक्त कर्मचारियों की छटनी की जाय, और हवाई यातायात के संचालन-व्यय, उचित लाभांश और विमानों का प्रयोग करनेवाले यात्रियों की व्यय शक्ति पर विचार करके किराये तथा भाड़े की दर में वृद्धि की जाय। समिति ने सिफारिश की कि स्टैन्डर्ड-व्यय के आधार पर हवाई कम्पनियों को सरकार आर्थिक सहायता दे।

राष्ट्रीयकरण—हवाई कंपनियाँ स्वेच्छा से एकीकरण के लिए प्रस्तुत नहीं हुई जैसी कि हवाई यातायात जाँच समिति को आशा थी। हवाई यातायात में अव्यवस्था के कारण कम्पनियों की भारी क्षति उठानी पड़ी और उनकी स्थिति डाँवाडोल होने लगी। यद्यपि जाँच समिति ने राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध अपनी राय प्रकट की थी परन्तु हवाई कम्पनियों की बिगड़ती दशा को देखते हुए सरकार ने राष्ट्रीय करण करने का निश्चय किया। यह तर्क किया गया कि (१) राष्ट्रीयकरण हो जाने से उड़ान में जो समय व्यर्थ नष्ट होता है वह कम हो जायगा, एक ही कार्य अनेक बार नहीं करना पड़ेगा और हानि भी कम हो जायगी; (२) राष्ट्रीयकरण से संयुक्त प्रबन्ध होने से हवाई यातायात की कार्यक्षमता बढ़ेगी और (३) नागरिक उड्डयन का अच्छा सङ्गठन किया जा सकेगा जिससे युद्ध जैसे संकट काल में विमान चालकों, टेकनीशियनों इत्यादि के अभाव का सामना नहीं करना पड़ेगा।

हवाई कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के लिये संसद ने १९५३ का हवाई यातायात कार्पोरेशन कानून पास किया है जिसके अन्तर्गत १ अगस्त १९५३ को दो कार्पोरेशन स्थापित किये गये जिनमें से एक देश के अन्दर के हवाई यातायात

और दूसरा विदेशी यातायात सर्विसों का प्रबन्ध करेगा। मुआवजे के सम्बन्ध में बहुत विवाद चला। यह कहा गया कि मुआवजा मूल मूल्य में से टूट-फूट का व्यय घटाकर नहीं वरन् विमानों, विमान के अतिरिक्त कल-पुर्जों इत्यादि के वर्तमान बाजार-भाव के आधार पर दिया जाय। अनुमान था कि मुआवजे के वर्तमान आधार पर डेकोटा विमान लगभग ५०,००० रुपये में लिया जा सकता है जब कि उसका बाजार-भाव तीन लाख रुपया है, और स्काई मास्टर विमान ४ से ६ लाख रुपये में लिया जा सकता है जबकि बाजार में उसकी वर्तमान कीमत ३० लाख रुपया है। कानून में 'गुडविल' के लिए, कंपनियों द्वारा कर्मचारियों की शिक्षा में और नवीन मार्ग खोलने इत्यादि मे व्यय किए गए धन का उचित मुआवजा देने की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। परन्तु यदि इन सब के लिए मुआवजा दिया जाय तो व्यय बहुत बढ़ जायगा और राष्ट्रीयकरण से हवाई यातायात में सुधार करने का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकेगा। साथ ही राष्ट्रीयकरण से उस घाटे की पूर्ति नहीं की जा सकेगी जिससे वर्तमान कंपनियाँ पीड़ित हैं।

मुआवजे की समस्या १९५५ मे ६·०१ करोड़ रुपया देकर सदा के लिये निश्चित कर दी गई। जहाँ तक राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप बेकारी का प्रश्न था, यह निश्चित कर लिया गया कि वे सब कर्मचारी जो ३० जून १९५२ के पूर्व कम्पनियों द्वारा नियुक्त किये गये थे उनकी बदली कारपोरेशन में कर दी गई और इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है कि कर्मचारियों को पुनर्व्यवस्था और विस्तार के कार्य-क्रम में खपा लिया जाय।

वर्तमान स्थिति—१९५३ के आरम्भ में भारत में ६ हवाई कंपनियाँ थीं जिनके पास २१½ करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी और टूट-फूट के कोष मे ३ करोड़ रुपये से कुछ कम थे। इन कम्पनियों के विमान कुल २८,००० मील के क्षेत्र में चलते थे। जून १९५२ के अन्त तक भारत में ६७७ रजिस्टर्ड विमान थे, जिनमें २०३ विमानों को योग्यता के प्रमाण-पत्र दिये जा चुके थे। हवाई अड्डों पर कार्य करने वाले लाइसेन्स-प्राप्त विमान चालकों की संख्या ५५७ थी तथा ए लाइसेन्स प्राप्त चालकों की संख्या ५९२, ए—१ के लाइसेंस-प्राप्त विमान चालकों की संख्या १६, और बी. लाइसेन्स प्राप्त विमान चालकों की संख्या ४२६ थी। इससे पहले वर्ष की तुलना में इञ्जीनियरों तथा 'ए' लाइसेन्स-प्राप्त विमान चालकों की संख्या में वृद्धि हुई परन्तु ए—१ चालकों और बी. लाइसेन्स प्राप्त चालकों की संख्या घटी।

१९५२ और ५३ में हवाई यात्रा की स्थिति में अवनति होती रही और यात्रियोंकी संख्या और यातायात के माल को मात्रा में कमी आई जिसके कारण १९५३

में यात्रियों की संख्या घटकर ४·०४ लाख और ढुलाई के माल की मात्रा घट कर ८४·८ लाख पौंड हो गई जबकि यह संख्या १९५२ में क्रमशः ४·३ लाख एवं ८६·०४ लाख पौंड थी। इसका कारण कुछ तो जनता के पास धन की कमी और कुछ भारतीय हवाई सर्विस की दुर्व्यवस्था थी। यद्यपि डाक की मात्रा १९५२ में बढ़कर ८४ लाख पौंड और १९५३ में ८८ लाख पौंड हो गई फिर भी यात्रियों और यातायात के माल की कमी का घाटा इससे पूर्ण न हो सका।

भारत में हवाई कम्पनियों के कार्य के असंतोषजनक होने के अनेक कारण हैं: (१) हवाई कम्पनियों के कार्य-संचालन का व्यय बहुत अधिक है। इसमें विमानों में प्रयुक्त होनेवाले पेट्रोल और विमानों की देख-रेख इत्यादि का व्यय सम्मिलित है। कुल संचालन व्यय का ५० प्रतिशत पेट्रोल, विमान के कल-पुर्जों और स्टोर में व्यय होता है और ४० प्रतिशत पारिश्रमिक तथा वेतन में। श्रम न्यायालय के निर्णय के अनुसार पारिश्रमिक और वेतन अधिक निर्धारित किये गये हैं और पेट्रोल, स्टोर इत्यादि के व्यय में वृद्धि हवाई कम्पनियों की शक्ति के बाहर है। संचालन व्यय अधिक होने का एक कारण तो सरकार की नीति का दोष है और कुछ दोष उन परिस्थितियों का है जिन पर हवाई कंपनियों का कोई नियंत्रण नहीं और इसके लिए कम्पनियों को दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता है; (२) हवाई कम्पनियों की संख्या यातायात को देखते हुए आवश्यकता से अधिक है, इस कारण किसी भी कम्पनी को पर्याप्त कार्य नहीं प्राप्त होता। इस दोष के लिए हवाई यातायात लाइसेन्सिंग बोर्ड उत्तरदायी है। बोर्ड ने अनेक कम्पनियों को उद्योग चालू करने की अनुमति दी और आवश्यकता का ध्यान रखे बिना विमानों की संख्या बढ़ाने दी; (३) कम्पनियों की कार्यक्षमता को देखते हुए कार्य पर्याप्त नहीं है परन्तु यह व्यवसाय ऐसा है जिसमें कुछ विमान चालकों, इञ्जीनियरों और टेकनीशियनों को नियुक्त करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप कम्पनियों को आवश्यकता से अधिक कर्मचारियों का भार वहन करना पड़ता है; (४) किराये और भाड़े की जो न्यूनतम और अधिकतम दरें सरकार ने निश्चित कर दी हैं वह पर्याप्त नहीं हैं। प्रति यात्री से प्रत्येक मील के लिए अधिक से अधिक ४ आना किराया वसूल किया जा सकता है परन्तु रात में चलनेवाली डाक सर्विस के लिए किराये की दर २½ आना प्रति मील है। यह किराया भारतीय वायुयान कम्पनी क व्यय से बहुत कम है। यदि एक विमान पूर्ण वर्ष में १५०० घण्टे चलाया जाय तो प्रति घण्टे का स्टेन्डर्ड व्यय ५८६ रुपया होता है। इसलिए प्रत्येक सीट का प्रति मील का किराया विमान की ७ प्रतिशत जगह भरने

तालिका नं० १

अनुसूचित भारतीय हवाई सेवाओं के आंकड़े

वर्ष	यात्रा मीलों में (दस-लाख में)	यात्रियों की संख्या	यातायात माल की मात्रा (दस लाख पौं० में)	डाक की मात्रा (दस लाख पौंड में)
१९४६	४·५२	१०५२५१	१·८८	१·०३
१९४७	६·३६	२५४६६०	५·६५	१·४०
१९४८	१२·६५	३४११८६	११·९७	१·५८
१९४९	१५·१०	३५७४१५	२२·५०	५·०३
१९५०	१८·९०	४५२८६९	८०·०१	८·३६
१९५१	१९·५०	४४९४६२	८७·६६	७·१८
१९५२	१९·५६	४३४४८०	८६·०४	८·३८
१९५३	१९·२०	४०३९९२	८४·८२	८·८५
१९५४	१९·८०	४३१५९५	८६·४१	१०·६७
१९५५	२१·२७	४६९०००	९८·२०	११·४८
१९५६	२३·४८	५५६०००	९६·२३	१२·६९
१९५७	२३·३४	५९४०००	८५·०९	१२·९४

के आधार पर ४½ आना होना चाहिए। चूँकि किराया कम है इसलिए हवाई कम्पनियों को हानि होना स्वाभाविक ही है।

राष्ट्रीयकरण के पश्चात् हवाई सेवाओं की स्थिति में बहुत सुधार हुआ है। उड़ने का विस्तार १९५४ को १९८ करोड़ मी० से बढ़कर १९५७ मे २३३·४ करोड़ मील हो गया। मेल तथा यात्रियों की संख्या भी बढ़ी है। मेल की मात्रा १९५४ में १०६·७ करोड़ पौंड थी जो कि १९५७ में बढ़ कर १२९·४ करोड़ पौंड हो गई और यात्रियों की संख्या जो कि १९५४ मे ४३१५९५ थी बढ़ कर १९५७ में

५६४००० हो गई। लादने वाले माल की मात्रा १६५६ में ६६२'३ करोड़ पौंड थी जो कि १६५७ में थोड़ा घट गई और ८५०'६ करोड़ पौंड हो गई। इस उन्नति का अंशतः कारण आपसी विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता का समाप्त हो जाना तथा कुशलता संगठन रहा है जो कि कारपोरेशन की व्यवस्था के कारण संभव हो सका है, और अंशतः औद्योगिक और आर्थिक विकाश रहा है जिसके कारण हवाई सेवाओं की अधिक माँग की गई हैं।

दोनों एयर कारपोरेशनों ने बहुत ही सन्तोषजनक उन्नति की है। उन्होंने कार्य-क्षेत्र बढ़ाया है और जनता को बहुत सी सुविधायें प्रदान की हैं। "ये कारपोशन अपनी वायुयान संबन्धी कार्यों के एकीकरण तथा उनके कुशल संगठन में व्यस्त रहे हैं। इण्डियन एअर लाइन्स अपने ६३ हवाई जहाजों, ६७ डकोटा, १२ वाइकिंग, ६ स्काई मास्टर और ८ हेरौन्स के द्वारा देश के प्रमुख केन्द्रों को सम्बन्धित करते हैं और उसके हवाई मार्गों का विस्तार १६,६८५ मील है। दि एयर इण्डिया इन्टरनेशनल अपने वायुयानों द्वारा जिसमें ५ सुपर कान्सटेलेशन्स, ३ कान्सटेलेशन्स और १ डकोटा है १५ देशों तक अपने कार्यों को प्रसारित किये हुये है। उसके हवाई मार्ग का विस्तार २३,४८३ मील है।"

इण्डियन एअर लाइन्स कारपोरेशन का कुल कार्य-क्षेत्र तीन भागों में विभाजित कर दिया गया है। प्रत्येक भाग एक मैनेजर के अधिकार में है और बम्बई, कलकत्ता और देहली के किसी न किसी अड्डे से नियंत्रित होगा। आई० ए० सी० को निरन्तर घाटा हो रहा है। १६५४-५५ में इस घाटे की रकम ६०'१५ लाख रुपया, १६५५-५६ में ११६'४० लाख रु० और १६५६-५७ में १०८'७६ रुपया थी। परन्तु इसके विपरीत एयर इन्डिया इन्टरनेशनल को निरन्तर लाभ होता रहा है। आई० ए० सी० के घाटे का कारण अंशतः कर्मचारियों की अत्यधिक संख्या का होना है तथा अंशतः सेवा की अत्यधिक लागत और वे कठिनाइयाँ है, जो इसे उन प्राइवेट कम्पनियों से मिली थी जिन्हें इसने ले लिया था।

हवाई भाड़ा—अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये तथा हानि बचाने के लिये ए० आई० सी० ने अपने भाड़े की दर में वृद्धि की घोषणा १५ जून, १६५८ से एअर ट्रान्सपोर्ट काउन्सिल की सलाह के अनुसार की। किसी-किसी मार्ग के भाड़े में वृद्धि १०% हुई है और अब बम्बई से कलकत्ते का किराया बजाय २२० रु० के २४२ रु० हो गया है। इस भाड़े की वृद्धि से ए० आई० सी० को ३० लाख रुपये वार्षिक अतिरिक्त आय होगी। इससे हवाई सेवा पर लगाये

टैक्स के कारण तथा पेट्रोल पर लगाये टैक्स तथा अन्य टैक्सों के कारण हवाई सेवा की लागत में वृद्धि का प्रभाव घटाया जा सकेगा—

" ए० आई० सी० के लिये एअर ट्रान्सपोर्ट काउन्सिल ने हवाई भाड़े में वृद्धि की सिफारिश की और निम्न दरों का सुझाव दिया :

मील		प्रति मील प्रति यात्री भाड़ा आना पाई में
१ से ३० तक	...	०—६—६
३१ से १०० तक	...	०—५—०
१०१ से २०० तक	..	०—४—६
२०१ से ५०० तक	...	०—४—६
५०१ से ६०० तक	...	०—४—३
६०० से ऊपर	...	०—४—०

काउन्सिल की सिफारिश का आधार—"आर्थिक दृष्टिकोण से अधिकतम संख्या में यात्रियों को अधिक काम में आने वाले मार्गों की सेवा का प्रयोग करने का प्रोत्साहन देना था ताकि कम प्रयोग में लाये जाने वाले मार्गों से होने वाले घाटे के कारण जो सेवा की लागत और आय में अन्तर होता था वह न रहे और हवाई यात्रा के लाभों के कारण लोगों के मन में हवाई यात्रा करने की इच्छा स्थायी रूप से उत्पन्न हो जाय।" अधिक अच्छा होता यदि सरकार टैक्सों की मात्रा कम करके उनकी सहायता करती और कारपोरेशन अपना खर्च कम करने का प्रयत्न करते। हवाई यात्रा के भाड़े के बढ़ जाने से उसकी सर्वप्रियता के घट जाने का भय है। एयर ट्रान्सपोर्ट काउन्सिल की अल्पसंख्यक रिपोर्ट ने भी यह संकेत किया है कि, "भारत में हवाई यात्रा की ऊँची दरों के कारण हवाई यात्रा के प्रति आकर्षण के नष्ट होने का भय है और इस बात की आशका है कि लोग बहुत बड़ी मात्रा में हवाई जहाजों द्वारा यात्रा के स्थान पर रेल द्वारा यात्रा करना अधिक पसन्द करने लगेंगे।"

योजना के अन्तर्गत—प्रथम योजना के अन्तर्गत वायुयान कारपोरेशन के निमित्त ६'५ करोड़ रुपया का व्यय नियत किया गया था। पर वास्तव में प्रथम योजना में १५'४ करोड़ रुपया व्यय किया गया था जिसमें ६ करोड़ रुपयों की रकम एयर क्राफ्ट खरीदने के लिये सम्मिलित थी। कुछ धन की मात्रा भूमि पर यातायात के साधन खरीदने, वर्तमान दफ्तरों के सुधार तथा नये दफ्तरों के खोलने पर भी व्यय की गई थी।

द्वितीय योजना में ३०·५ करोड़ रुपये व्यय किये जाने की व्यवस्था की गई है जिसमें से १६ करोड़ रुपया तो इन्डियन एअर लाइन्स कारपोरेशन पर और १४·५ करोड़ एयर इन्डिया इन्टरनेशनल पर व्यय किया जायगा। व्यय के मुख्य शीर्षक निम्न हैं :—

	करोड़ रुपये में
मुआवजे का चुकाना	५·१४
एअर क्राफ्टों का क्रय	१५·३४
इन्डियन एअर लाइन्स के कार्य में हानि	७·००
इन्डियन एअर लाइन्स के दफ्तर और कर्मचारियों के आवास	०·५०
एअर इन्डिया इन्टरनेशनल के कारखाने का विस्तार	१·६५
इन्डियन एअर लाइन्स के आवश्यक सामान	०·५०
एअर इन्डिया इन्टरनेशनल के ऋणपत्रों का चुकाना	०·०६
कुल	३०·५३

इन्डियन एअर लाइन्स के बेड़े को आधुनिक बनाने के निमित्त व्यय का प्रबन्ध किया जा रहा है। कारपोरेशन ने ५ वाई काउन्टों के क्रय करने के लिए प्रथम योजना में ही आर्डर दे रक्खा था और आशा की जाती है कि १९५७ के मध्य तक वे आ जायेंगे और अन्य जहाजों के क्रय करने के लिये आर्डर दिये जाने के सम्बन्ध में छानबीन की जा रही है। इन्डिया इन्टरनेशनल के लिए यह व्यवस्था की गई है कि कुछ टर्बो-प्राप या जेट एअर क्राफ्ट बढ़ी हुई माँग को पूर्ण करने के लिये तथा अतिरिक्त सेवा के लिये क्रय किए जायें। हवाई सेवाओं के विस्तार के कार्यक्रम को निश्चित करते समय अनेकों बातों का ध्यान में रखना आवश्यक होगा जैसे कि क्रय किये जाने वाले एअरक्राफ्टों के प्रकार, उनको चलाने का व्यय, किराये-भाड़े की दर, सगठन की कुशलता, हानि रोकने की सम्भावना, सेवाओं की सुरक्षा, और देश के सभी भागों को कुशल हवाई सेवा द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित कर देने की आवश्यकता इत्यादि।

अध्याय ३८

यातायात का परस्पर सम्बन्ध और नियोजन

भारतीय यातायात व्यवस्था में सुसम्बन्ध स्थापित करने और उसका नियोजन करने की दृष्टि से यातायात की सभी प्रकार की सुविधाओं का प्रसार होना चाहिए, यातायात के विभिन्न साधनों में होने वाली अनुचित प्रतियोगिता को रोकना चाहिए और उपभोक्ता के लिए यातायात के व्यय को कम किया जाना चाहिए।

भारत की सबसे बड़ी समस्या यह है कि देश की आवश्यकताओं को देखते हुए यातायात के वर्तमान साधन पूर्णतया अपर्याप्त हैं। यदि प्रति व्यक्ति को प्राप्त यातायात की सुविधा की भारत के बराबर क्षेत्रफल और जनसंख्या वाले अन्य देशों से तुलना की जाय तो ज्ञान होगा की भारतीयों को अन्य देशों के नागरिकों की अपेक्षा यातायात की बहुत कम सुविधा प्राप्त है। यदि रेलवे और हवाई मार्ग की लम्बाई दूनी कर दी जाय और जलयानों की माल ढोने की शक्ति को चार गुना बढ़ा दिया जाय तब भी इसे बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता है, हाँ इससे देश की आवश्यकता अवश्य पूर्ण हो सकती है।

किसी भी देश के यातायात की सुविधा में वृद्धि का उसके औद्योगिक और आर्थिक विकास से निकट सम्बन्ध होता है। देश के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसमें यातायात की सुविधा पर्याप्त हो, सस्ती हो और यातायात की गति तीव्र हो। उद्योगों के लिए यातायात व्यय उत्पादन का महत्वपूर्ण अंग है इसलिए उद्योगों का व्यय घटाने के लिए यातायात का व्यय घटाने की अत्यन्त आवश्यकता है। यातायात व्यय कम होने से उद्योगों की प्रतियोगिता शक्ति बढ़ेगी और माल का उपभोग भी बढ़ेगा। किसी भी देश की प्रगति में उसके यातायात की व्यवस्था, रेलवे, सड़कों और हवाई जहाजों तथा जलयान कम्पनियों की किराया एवं भाड़ा नीति और उसमें विभिन्न प्रकार के सामानों के यातायात की सुविधा का विशेष योग होता है। यदि यातायात नीति दोषपूर्ण है तो उद्योगों का स्थानीकरण भी दोषपूर्ण होगा। यातायात पर केवल उद्योगों का विकास निर्भर नहीं करता है किन्तु औद्योगिक विकास के प्रकार पर भी यातायात का प्रकार और उसका विकास निर्भर करता है।

पंचवर्षीय योजना में बताया गया है कि आगामी कुछ वर्षों में देश में

खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ने से और सिन्द्री में रासायनिक खाद का अधिक उत्पादन होने से इन वस्तुओं का आयात कम करना पड़ेगा, जिसके कारण बन्दरगाहों से इन वस्तुओं को देश के विभिन्न भागों मे पहुँचाने के लिए यातायात की कम आवश्यकता होगी और ऐसी स्थिति में देश के अन्दर हुए उत्पादन को नियत स्थानों तक पहुँचाने के लिए यातायात की व्यवस्था में वृद्धि करनी पड़ेगी। दूसरी ओर राजगंगपुर के सिमेंट के कारखाने से जिसने १९५२ के आरम्भ से उत्पादन आरम्भ कर दिया है और विजयवाडा में स्थित आन्ध्र सिमेंट कम्पनी के प्रसार से उपभोग के केन्द्रों में ही उत्पादन व्यवस्था का प्रसार होने के फलस्वरूप यातायात की सुविधा की माँग कम हो जायगी। साधारणतया योजना को कार्यान्वित करने का प्रभाव यह होगा कि यातायात की सुविधाओं को बढ़ाने की माँग बढ़ेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि (अ) यातायात की सुविधा का प्रसार किया जाय, (ब) यातायात की सुविधाओं को बढ़ाने के कारणों का पता लगाया जाय और (स) यातायात की अन्य व्यवस्था करके वर्तमान व्यवस्था पर पड़े अनुचित भार को कम किया जाय।

भारत में वास्तविक कठिनाई यह है कि पंचवर्षीय योजना के होते हुए भी विकास की गति बहुत धीमी है। पंचवर्षीय योजना के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी यातायात की सुविधाएँ देश की आवश्यकता को देखते हुए कम ही रहेंगी। यातायात की सुविधा में तीव्र गति से प्रगति न होने के अनेक कारण हैं :

(१) वित्त का अभाव है, इस कारण अधिक सड़कों का निर्माण करने में, अधिक रेलवे लाइन बिछाने में और रेलवे के लिए अधिक रोलिंग स्टाक क्रय करने में, सड़कों के लिए मोटर तथा बस क्रय करने में और विमान तथा जलयानों को क्रय करने मे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। केवल प्रसार योजना की माँग पूर्ण करने के लिए ही नहीं किन्तु वर्तमान में चालू गाड़ियों, बसों और जलयानों को बदलने के लिए, जो कि प्रायः बेकार हो चुके हैं, अधिक गाड़ियों, बसों और जलयानों की आवश्यकता है। इसलिए हमें अपने सभी उपलब्ध वित्त साधनों का यातायात की वर्तमान स्थिति के सुधार में और उसके प्रसार में सुसम्बद्ध उपाय से व्यय करना चाहिए। दूसरी कठिनाई यह है कि यातायात के साधनों के लिए आवश्यक सामग्री के मूल्य बहुत बढ़े हुए हैं। यदि वित्त आवश्यकता पूर्ण भी हो जाय तब भी उससे इतनी अधिक मूल्यों पर सभी आवश्यक सामग्री नहीं क्रय की जा सकती। वित्त अभाव और सामानों का अधिक मूल्य होने के कारण भारत में यातायात की सुविधा के प्रसार में बाधा उत्पन्न हो जाती है।

(२) सड़क बनाने और रेलवे लाइन बिछाने के लिए आवश्यक सामान का अभाव है। इसके साथ ही मोटरों, रेलों के डिब्बों, इञ्जनों, जलयानों, विमानों और इनके अलग कल पुर्जों तथा स्टोर का भी बहुत अभाव है। इनमें से अधिकांश के लिए भारत को विदेशों से आयात पर निर्भर करना पड़ता है। इधर कुछ वर्षों से भारत में इञ्जनों, जलयानों इत्यादि के उत्पादन में वृद्धि हुई है परन्तु अभी बहुत लम्बा मार्ग तय करना है। भारतीय यातायात के विकास की समस्या का (अ) सड़क अथवा रेल के निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री का उत्पादन करनेवाले उद्योगों के विकास से और (ब) मोटर तथा जलयानों का निर्माण करनेवाले उद्योगों के विकास से गहरा सम्बन्ध है। उद्योगों के धीरे-धीरे विकास होने से यातायात की सुविधा की प्रगति भी सीमित हो गई है।

(३) कुशल कारीगरों, इञ्जीनियरों, विमान चालकों इत्यादि का बहुत अभाव है, यातायात की व्यवस्था का विकास करने के लिए इनका अभाव नहीं होना चाहिए। इसलिए इनकी संख्या को बहुत अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। सरकार ने कारीगरी की शिक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की है और यातायात की सुविधाओं का प्रसार उसी गति से होगा जिस गति से कारीगरों और अन्य कुशल कर्मचारियों के अभाव की पूर्ति होगी।

यातायात मे सुसम्बन्ध स्थापित करने की नीति का उद्देश्य है कि उपभोक्ता को यातायात में कम से कम व्यय करना पड़े। इसका तर्कसंगत परिणाम यह निकला कि हमें यातायात के उन सभी साधनों को समाप्त कर नये साधनों का उपयोग करना पड़ेगा जो उपयुक्त नहीं हैं; समय की माँग पूर्ण नहीं कर सकते हैं और पुराने हैं। उपभोक्ता के लिए सड़क यातायात रेलवे की अपेक्षा अधिक सस्ता और सुविधाजनक है क्योंकि सड़कों से आसपास के सभी क्षेत्र लाभ उठा सकते हैं और रेलवे स्टेशन तक माल ले जाने और वहाँ से लाने में जो अनावश्यक व्यय होता है उसकी बचत हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि सड़क यातायात के प्रसार और विकास से या तो रेल यातायात बन्द हो जायगा या उसका क्षेत्र संकुचित हो जायगा। यदि मोटर, ट्रक और बसें बैलगाड़ियों से अधिक बचत वाले और तीव्रगति चल सकने वाले साधन हैं तो इसका तात्पर्य है कि नगरों और कस्बों में बैलगाड़ियों का अस्तित्व ही रह जायगा। यदि भाप से चलनेवाले जलयान हवा से चलने वाले जलयानों से अधिक बचत वाले हैं तो हवा से चलने वाले जलयानों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परन्तु व्यवहारिक क्षेत्र में इस प्रकार का तीव्र परिवर्तन न तो संभव है और न इसकी सलाह दी जा सकती है क्योंकि (१) पूँजी इस समय ऐसे साधनों में लगी हुई है जो आधुनिक

साधनों की तुलना में कुशल साधन नहीं कहे जा सकते। यदि इन साधनों को बिल्कुल समाप्त कर दिया जाय या इनका कार्यक्षेत्र संकुचित कर दिया जाय तो इसके परिणामस्वरूप राष्ट्र को गहरी क्षति पहुँचेगी। ऐसी स्थिति में यातायात के पुराने साधनों के स्थान पर नये साधनों का उपयोग करना एक धीमी प्रक्रिया है। इसमें काफी अधिक समय लगेगा। यातायात के कुशल और उपयुक्त साधनों का धीरे-धीरे उपयोग बढ़ाया जायगा और अकुशल तथा अपेक्षाकृत कम उपयुक्त साधनों को धीरे धीरे हटाया जायगा। यह प्रक्रिया तब तक प्रचलित रहेगी जब तक उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता; (२) भारत में कुछ समय तक हवा से चलने वाले जलयानों और बैलगाड़ियों का उपयोग करना पड़ेगा अन्यथा यातायात की माँग और उसकी पूर्ति का अन्तर और बढ़ता जायगा। भारत में यातायात की कुल व्यवस्था ऐसी है कि हम अभी काफी समय तक अकुशल और पुराने साधनों को समाप्त नहीं कर सकते।

इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए इस दिशा में सर्वोत्तम नीति यह होगी कि वर्तमान के यातायात के साधनों को प्रचलित रखा जाय और (अ) कार्य को सुनियोजित करके, कुछ साधनों के अत्यधिक कार्य भार को हल्का करके और अनेक साधनों की उपयुक्त शक्ति का उपयोग करके यातायात की वर्तमान व्यवस्था का दुरुपयोग बचाया जाय; (ब) यातायात से विभिन्न साधनों की परस्पर अनुचित प्रतियोगिता को रोका जाय, साथ ही एक ही प्रकार के साधन की विभिन्न इकाइयों की अनुचित प्रतियोगिता को समाप्त किया जाय; और (स) रेलवे, सड़क, जल यातायात तथा हवाई कंपनियों को उचित लाभ के साथ ही साथ उपभोक्ताओं के लिये यातायात सस्ता किया जाय।

वर्तमान में रोडवेज और रेलवे, रेलवे और जल यातायात और रेलवे तथा वायु यातायात में तीव्र प्रतियोगिता नहीं है। यातायात के सभी साधनों का अभाव है और सभी साधनों के कार्यक्षेत्र पर्याप्त हैं इसलिए कुछ अपवादों को छोड़कर व्यापार हथियाने के लिए इनमें कोई प्रतियोगिता नहीं है। इसके साथ ही विभिन्न साधनों का किराया इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि प्रतियोगिता नहीं हो सकती है। सरकारी बसें वर्तमान में बम्बई तथा उत्तर प्रदेश में भिन्न-भिन्न किराया वसूलती हैं। बम्बई का किराया ८ से ६ पाई प्रति मील है और उत्तर प्रदेश का ७½ से ६ पाई प्रति मील है, जब कि रेल की तीसरी श्रेणी का किराया साधारण या डाक गाड़ी से १५० मील तक क्रमशः ५¾ और ६¾ पाई प्रतिमील है। वायुयान का किराया प्रायः ४ आना प्रति मील है और रात की डाक सर्विस से किराया २¾ आना प्रति मील है। जब कि रेलवे की प्रथम

श्रेणी का किराया २½ से २½ आना प्रति मील है। बसों और रेलों में कुछ क्षेत्रों में अवश्य प्रतियोगिता चलती है पर बड़े पैमाने पर कोई अनुचित प्रतियोगिता नहीं है। वायुयान से यात्रा अभी अवश्य कुछ महंगी है और रेलवे यात्रा से कुछ अधिक भयप्रद भी है। कुछ उच्च श्रेणी के यात्रियों के अतिरिक्त वायु यातायात से रेलवे को कुछ हानि नहीं है परन्तु भविष्य में जैसे-जैसे सड़क और वायु यातायात अधिक सस्ता और कम भयप्रद होता जायगा वैसे-वैसे रेलवे से प्रतियोगिता भी बढ़ती जायगी।

भारत के कुछ भागों में जलयानों द्वारा तटीय यातायात में और रेलवे यातायात मे प्रतियोगिता चलती है और देश के विमानों की तटीय व्यापार में जलयानों से प्रतियोगिता चलती है परन्तु तटीय जलयान व्यापार को नियमित कर देने से यह प्रतियोगिता कम हो गई है। भविष्य में पुनः प्रतियोगिता बढ़ने की सम्भावना है, परन्तु इनमे अनुचित प्रतियोगिता बढ़ने का कोई कारण नहीं है। भविष्य में रेलवे लाइन से समकोण बनाती हुई सड़कों का निर्माण करके और सड़कों के प्रसार की ऐसी योजना बनाकर कि उनसे विभिन्न बन्दरगाहों में जल यातायात की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके यातायात के विभिन्न साधनों के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित कर सकने की पूर्ण सम्भावना है। रेलवे तथा जल यातायात के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक योजना बनाई गई है जिसमें व्यवस्था की गई है कि मँगलौर बन्दर से रेल सम्बन्ध चिकामगलुर होते हुए मद्रास से सम्बन्धित किया जाय।

यदि यातायात के सभी साधनों का राष्ट्रीकरण किया जाय तो इनमें परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित कर सकना सुगम हो जायगा। यदि सभी साधनों की स्वामी सरकार हो और वही इनका चलाये तो सड़कों को जोड़ने और एक स्थान पर कई प्रकार के यातायात उपलब्ध होने इत्यादि में व्यर्थ रुपया नहीं लगाना पड़ेगा। निजी उद्योग होने पर ऐसा आवश्यक हो जाता है। सरकार ने सड़क यातायात का एक सीमित क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण किया है जिसके कारण इन क्षेत्रों में रोडवेज और रेलवे के मध्य कोई अनुचित प्रतियोगिता नहीं है। राष्ट्रीयकरण किये हुये सड़क यातायात से रेलवे को सहायता मिलती है। यह सड़कें विभिन्न क्षेत्रों को रेलवे मार्ग से सम्बन्धित करती हैं। सड़क यातायात को निश्चित क्षेत्र में एक विशेष दूरी तक सीमित करके और रोडवेज सर्विस को उन सड़कों पर चालू करके जहाँ रेलवे यातायात की सुविधा नहीं है यह परिणाम निकला है। रेलों से यात्रियों की सुविधा का प्रबन्ध बढ़ा है और किराये में भी वृद्धि हुई है और इससे दोनों में अनुचित प्रतियोगिता की हानियों को समाप्त कर दिया गया

है। यद्यपि राष्ट्रीकरण कर देने से अनुचित प्रतियोगिता तो समाप्त की जा सकती है परन्तु यह व्यवस्था सभी स्थितियों में सुविधाजनक सिद्ध नहीं हो सकती। भारतीय रेलों और वायुयान कम्पनियों का कुछ थोड़े छोटे मार्गों को छोड़कर पूरी तरह राष्ट्रीकरण किया जा चुका है और सड़क यातायात का बहुत सा भाग भी राज्य सरकारें ले चुकी हैं, परन्तु कुछ क्षेत्रों में सड़क यातायात और पूरा जल यातायात अभी निजी उद्योगपतियों के हाथ में है। यातायात के सभी साधनों का राष्ट्रीकरण करना सम्भव नहीं है क्योंकि (१) आवश्यक कर्मचारियों का अभाव है और (२) हानि होने का डर है। यह हानि विशेषकर जल यातायात में अधिक हो सकती है क्योंकि इसका पूर्ण विकास नहीं हो सका है और उसे विदेशी जलयान कम्पनियों की कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। यह कहना अनुचित न होगा कि राष्ट्रीकरण से हानिकारक प्रतियोगिता की समस्या सुलझाई जा सकती है। इसके साथ ही इससे एकाधिकार के दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं जैसे उपभोक्ता के हितों की उपेक्षा, कार्य व्यय में वृद्धि और अकुशल कार्य। यदि हानिकारक प्रतियोगिता को समाप्त करने से नई समस्याएँ उत्पन्न हो जायें तो इस व्यवस्था को उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

यातायात का पूर्ण राष्ट्रीकरण न हो सकने पर भी यातायात के विभिन्न साधनों में निम्नलिखित उपायों से परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है:—(१) कानून द्वारा प्रत्येक प्रकार के यातायात के कार्यक्षेत्र को निर्धारित करके, विभिन्न साधनों के अधिकतम और न्यूनतम किराये की दर निश्चित करके और विभिन्न साधनों द्वारा यात्रियों को दी जानेवाली न्यूनतम सुविधाओं और सामान के यातायात की सुविधाओं को निश्चित करके; (२) यातायात के विभिन्न साधनों के कार्य के निरीक्षण के लिए और उनमें उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिये केन्द्रीय यातायात परिषद् स्थापित करके। यातायात की व्यवस्था में परिस्थितियों के अनुसार शीघ्र परिवर्तन हो जाता है इसलिये यातायात के विभिन्न साधनों के तथा उपभोक्ताओं के हितों की केवल कानून द्वारा ही रक्षा की जा सकती है। इससे किराये की दरों में घटने-बढ़ने की सम्भावना समाप्त हो सकती है और जनता को असुविधा हो सकती है परन्तु यह कठिनाइयाँ पर्याप्त अधिकार दिये जाने पर और सन्तोषजनक रीति से कार्य कर सकने के लिए व्यापक क्षेत्र देने पर राज्य यातायात परिषद् दूर कर सकती है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में ५५७ करोड़ रुपया यातायात और संचार विभाग के लिये नियत किया गया था। यह धन योजना के कुल व्यय का २३·६% था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत १३८५ करोड़ रुपया, जो कि कुल योजना के

व्यय का २८.९% है, यातायात और संचार विभाग पर व्यय करने के लिये नियत किया गया है। इस १३८५ करोड़ रुपये में से रेलवे, सड़क, सड़क यातायात, बन्दरगाहों, जल यातायात और हवाई यातायात पर क्रमशः ९०० करोड़ (कुल व्यय का १८.८%), २४६ करोड़ (५.१%), १७ करोड़ (०.४%), ४५ करोड़ (०.६%), ४८ करोड़ (१.०%) और ४३ करोड़ (०.९%) व्यय किया जायगा। प्रथम योजना के अन्तर्गत ५५७ करोड़ रुपये के कुल व्यय में से इन्हीं शीर्षकों पर क्रमशः २६८ करोड़ (११.४%), १३० करोड़ (५.५%), १२ करोड़ (०.५%), ३४ करोड़ (१.४), २६ करोड़ (१.१%) और २४ करोड़ रुपया (१.०%) व्यय किया गया था। इन आंकड़ों से ज्ञात होता है कि कुल व्यय का प्रतिशत व्यय रेलवे पर बढ़ा दिया गया है और अन्य साधनों पर कुछ घटा दिया गया है।

	१९५०-५१ की स्थिति	१९५५-५६ में अनुमानित स्थिति	१९६०-६१ तक ध्येय
रेलवे—			
(१) पैसेन्जर गाड़ियाँ (मील दस लाख में)	९५	१०८	१२४
(२) माल जो लादा गया (दस लाख टनों में)	९१	१२०	१६२
सड़क—			
(१) राष्ट्रीय राजपथ (हजार मीलों में)	१२.३	१२.६	१३.८
(२) सरफेस्ड रोड्स (हजार मीलों में)	९७	१०७	१२५
जहाज—			
(१) तटीय और पड़ोसी से सम्बन्धित टेन्करों को सम्मिलित करते हुये (लाख जी. आर. टी.)	२.२	३.२	४.३
(२) समुद्र पार ट्रैम्प टनेज को सम्मिलित करते हुये (लाख जी. आर. टी.)	१.७	२.८	४.७
बन्दरगाह—			
सेवा करने की शक्ति (दस लाख टनों में)	२०	२५.०'	३२.५

ऊपर दिये गये आँकड़ों से यह ज्ञात होता है कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत सर्वतोन्मुखी विकास का प्रयत्न किया जायगा। १९५५-५६ की तुलना में सब से अधिक प्रतिशत वृद्धि १९६०-६१ में समुद्र पार की जल यातायात के सम्बन्ध

में की जायगी। जल यातायात के सम्बन्ध में ६८%, रेलवे में १५%, तटीय जल यातायात में ३४% और बन्दरगाहों पर माल उतारने चढ़ाने की शक्ति में ३०% की वृद्धि की जायगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना का मुख्य ध्येय यातायात सम्बन्ध में यह था कि यथासम्भव गत १० वर्षों से अत्यधिक कार्य में आने वाले प्रसाधनों को बदल कर नया कर दिया जाय। रेलवे के सम्बन्ध में यह कार्य बहुत कठिन था। जल यातायात, बन्दरगाहों, प्रकाशस्तम्भों, वायु यातायात आदि के सम्बन्ध में भी इस कार्य के लिए बहुत बड़ी धनराशि नियत करना आवश्यक थी। प्रथम योजना काल में क्योंकि कृषि और उद्योगों की उत्पत्ति में वृद्धि हो गई थी इसलिये यातायात की सुविधा के अभाव का अनुभव विशेषकर योजना के तीसरे वर्ष से होने लगा था। इस स्थिति का सम्भालने के लिये अतिरिक्त धन का अनुमान रेलवे, सड़कों, जल यातायात, नदियों और वायु यातायात के लिये किया गया और इनके विकास के कार्य-क्रम म भी वृद्धि की गई। रेलवे के गत्रयानादि के क्रय का कार्य-क्रम बढ़ाया गया और उन क्षेत्रों में लाइनें बढ़ाने के लिये विशेष प्रयत्न किया गया जहाँ रेल यातायात की माँग अधिक थी। एक अन्तर्विभागीय अन्वेषण वर्ग द्वारा यातायात के सभी साधनों के पारस्परिक विकास सम्बन्धी प्रश्न पर और मुख्यतः सड़क यातायात के विकास सम्बन्धी प्रश्न पर जो बढ़ती हुई माँग के हिसाब से बहुत दिनों से पिछड़ा हुआ था विचार किया गया। सड़क यातायात के व्यक्तिगत भाग में विकास सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिये उपाय किये गए और लाइसेन्स देने की नीति को अधिक उदार बनाया गया। भारतीय जल यातायात की सहायता के उपाय भी किये गये।

यद्यपि प्रसाधनों के नवीनतम करने के कार्य अभी शेष हैं फिर भी द्वितीय योजना मे देश के यातायात साधनों के समुचित विकास की (विशेष कर रेलवे की जिसके द्वारा सदा से अधिकतम यातायात की सुविधा प्रदान की गई है) व्यवस्था की जा रही है। रेलवे के विकास के कार्य-क्रम का देश के औद्योगिक विकास के साथ विशेषकर बड़े-बड़े उद्योगों, जैसे स्पात, कोयला, सिमेंट आदि, के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखना आवश्यक होगा। द्वितीय योजना विभिन्न यातायात के साधनों के बीच पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करने का भी प्रयत्न करती है। सड़क यातायात की सुविधा में जो सरकार द्वारा प्रदान की जा रही है रेलवे द्वारा अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने की व्यवस्था की जा रही है। रेलवे और तटीय जल यातायात तथा रेलवे और नदी द्वारा यातायात के सामंजस्य पर और भी विशेष ध्यान दिया गया है। इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्तर्गत मुख्य मुख्य

यातायात साधनों और उनके पारस्परिक सामंजस्य के अधिकतम विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है ताकि प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र के कार्य को अच्छे से अच्छे ढङ्ग से पूर्ण कर सके। इस स्थिति का निष्कर्ष यह है कि आगामी पाँच वर्षों में सभी प्रकार के यातायात साधनों की माँग बहुत अधिक बढ़ेगी, इसलिये यह प्रस्ताव किया गया है कि प्रतिवर्ष यातायात और संचार के विकास के कार्य-क्रम पर विचार किया जाये ताकि जहाँ कहीं आवश्यक हो ऐसे उपायों को अपनाया जाय जिनसे यातायात की कठिनाइयों के कारण योजना के अन्य कोई कार्य-क्रम में बाधा न पड़े।

अध्याय ३६

प्रथम पंचवर्षीय योजना

नियोजन का तात्पर्य यह है कि देश के उपलब्ध साधनों का नियमबद्ध रूप से उपयोग किया जाय और इस दिशा में प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाया जाय जिससे उत्पादन बढ़े, राष्ट्रीय लाभांश बढ़े, रोजगार और सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि उपलब्ध साधनों की सावधानी से जाँच परख की जाय और राष्ट्रीय उत्पादन और आय में निर्धारित वृद्धि करने के लिये इन साधनों के उपयोग की गति को भी नियोजित किया जाय। भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना १६५१-५२ में लागू हुई और १६५५-५६ तक पूरी हो गई। इस योजना पर ५ वर्ष में २,०६६ करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। व्यय की मात्रा निर्धारित करने में योजना आयोग ने इन बातों पर विचार किया कि (१) विकास की एक ऐसी प्रक्रिया का संमारंभ किया जाय जिसके आधार पर भविष्य में और बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित किया जा सके; (२) विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए देश को कुल कितने साधन उपलब्ध हो सकते हैं; (३) विकास की गति और निजी तथा सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत साधनों की आवश्यकता के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित हो, (४) योजना लागू होने के पूर्व केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा आरम्भ की गई विकास योजनाओं को पूरा किया जाय और (५) युद्ध तथा देश विभाजन से देश की अव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्था को सुनियोजित आधार प्रदान किया जाय।

भारत की आर्थिक स्थिति में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जनसंख्या में प्रतिवर्ष १½ प्रतिशत की वृद्धि होती है। इस तथ्य पर और देश के सभी उपलब्ध साधनों पर विचार करने के पश्चात् योजना आयोग ने यह व्यवस्था की है कि १६७७ तक वर्षो में प्रति व्यक्ति की आय दूनी हो जाय। भारत की अपेक्षा अधिक विकसित देश में प्रति व्यक्ति की आय दूनी करने में कम समय लगेगा परन्तु भारत जैसे पिछड़े देश मे इसमें अनिवार्यतः अधिक समय लगेगा क्योंकि देश में साधनों की कमी है, टेकनिकल कुशलता का अभाव है और संगठन की स्थिति कमजोर है। भारत में प्रति व्यक्ति आय दूनी करने के लिए अनेक पंचवर्षीय योजनाओं की आवश्यकता पड़ेगी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत सरकार ने इस दिशा में कार्य आरम्भ कर दिया है। समय के साथ कार्य की गति भी जोर पकड़ती जायगी।

पूँजी निर्माण की गति—योजना आयोग ने यह माना है कि आधारभूत वर्ष १६५०-५१ में भारत की राष्ट्रीय आय ६,००० करोड़ रुपया थी और कुल राष्ट्रीय आय का औसतन ५ प्रतिशत बचत की जाती थी। इसका तात्पर्य यह है कि १६५०-५१ में सारी जनता की कुल बचत ४५० करोड़ रुपया थी। यदि १६५१-५२ और १६५५-५६ के बीच प्रति वर्ष २० प्रतिशत अतिरिक्त आय पूँजी निर्माण में लगा दी जाय, अर्थात मशीन इत्यादि और काफी समय तक चलने वाले सामानों पर रुपया लगाया जाय तो पंचवर्षीय योजना के अंत तक भारत की राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये तक बढ़ जायगी और बचत की दर भी ६¾ प्रतिशत वार्षिक हो जायगी। १६५५-५६ में इस प्रकार कुल ६७५ करोड़ रुपया राष्ट्रीय बचत होगी। योजना आयोग ने बताया है कि इसके बाद १६६७-६८ में समाप्त होने वाले १२ वर्षों में केवल २० प्रतिशत नहीं बल्कि ५० प्रतिशत अतिरिक्त राष्ट्रीय आय प्रतिवर्ष पूँजी निर्माण में लगाई जानी चाहिये। यदि यह प्रक्रिया जारी रहती है तो १६७७ तक प्रति व्यक्ति की आय (Per capita income) दो गुनी हो जायगी।

प्राथमिकता का क्रम—राष्ट्रीय आय में उक्त-लिखित वृद्धि करने के लिए प्रतिव्यक्ति की आय दोगुनी करने के लिए संशोधित योजना में २,३५६ करोड़ रुपया विकास योजनाओं में व्यय करने का निश्चय किया गया। योजना में भारतीय आर्थिक व्यवस्था को सरकारी तथा निजी उद्योग क्षेत्र में विभाजित किया गया है। सरकारी क्षेत्र में वह उद्योग सम्मिलित हैं जिनका मालिक स्वयं सरकार है, जिन पर केन्द्रीय या राज्य सरकार अथवा इन सरकारों के आधीन अधिकारियों का नियंत्रण है। निजी उद्योग क्षेत्र में वह उद्योग, वाणिज्य और व्यापार शामिल हैं जिनके मालिक उद्योगपति हैं, जिन पर उनका नियंत्रण है और जिनका संचालन स्वयं इन्हीं उद्योगपतियों द्वारा होता है। इन दोनों उद्योग क्षेत्रों की समस्याएँ प्रायः समान हैं और दोनों को श्रेणियों में स्पष्ट विशेषताओं के आधार पर विभक्त नहीं किया जा सकता है। परन्तु सुविधा की दृष्टि से पंचवर्षीय योजना में इन दोनों उद्योग क्षेत्रों पर पृथक रूप से विचार किया गया है। सरकारी उद्योग क्षेत्र के लिए कुल लागत की मात्रा नि ारत कर ली गई है और इस क्षेत्र की वित्तीय आवश्यकता सरकार पूरी करती है रन्तु निजी उद्योग क्षेत्र के निर्धारित लक्ष्य के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ न कह कर केवल सामान्य लक्ष्य बता दिया गया और इस लक्ष्य की पूर्ति तथा आवश्यक वित्त जुटाने के लिए भी उद्योग क्षेत्र को स्वतंत्र छोड़ दिया गया। सरकारी उद्योग क्षेत्र में लक्ष्य की पूर्ति सरकार का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व है परन्तु यही बात निजी उद्योग क्षेत्र में लागू नहीं होती

है क्योंकि निजी उद्योग क्षेत्र में सरकार अप्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान करती और कारोबार के परिणामों का निरीक्षण करती रहती है। इसके मूल में यह विचार निहित है कि यदि निजी उद्योग क्षेत्र निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर पाता है और उसकी प्रगति अपेक्षित गति नहीं हो पाती है तो सरकारी उद्योग का कार्य क्षेत्र बढ़ जायगा और सरकार इन निजी उद्योग क्षेत्र की विभिन्न इकाइयों का कार्य भार धीरे-धीरे स्वयं ग्रहण कर लेगी। कुछ समय तक सरकारी और निजी क्षेत्र दोनों ही रहेंगे।

पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में जो जुलाई १६५१ मे प्रकाशित किया गया था और स्वयं पंचवर्षीय योजना में जो दिसम्बर १६५३ में संसद के सामने प्रस्तुत की गई थी कृषि विकास को प्राथमिकता दी गई है और इसके बाद यातायात तथा संचार, समाज सेवा कार्य और उद्योग को रखा गया है। पंचवर्षीय योजना की यदि योजना के प्रारूप से तुलना की जाय तो पता चलेगा कि योजना के अंतिम रूप में उद्योग के महत्व को कुछ अधिक बढ़ा दिया गया है पर इससे योजना का प्राथमिकता क्रम नहीं बदलता है। योजना के अंतिम रूप में कृषि, सिंचाई और बिजली की लागत कुल लागत का ४३·२ प्रतिशत रखी गई, यातायात तथा संचार की लागत २३·६ प्रतिशत, समाज सेवा कार्यों पर व्यय को लागत २२·६ प्रतिशत और उद्योग की लागत केवल ७·६ प्रतिशत रखी गई थी। योजना आयोग ने कृषि को अधिक महत्व प्रदान करने के कारणों पर प्रकाश डाला है। आयोग का मत है कि खाद्यान्न और कच्चे माल के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि न होने से उद्योगों के तीव्र विकास की संभावना नहीं है। सबसे पहले यह आवश्यक है कि आर्थिक स्थिति के मूल को दृढ़ किया जाय, कृषि क्षेत्र में पर्याप्त अतिरिक्त खाद्यान्न तथा कच्चा माल पैदा किया जाय और अन्य क्षेत्रों का कार्य आगे बढ़ाने में उसका उपयोग किया जाय। इसी उद्देश्य के कारण कृषि को प्राथमिकता प्रदान की गई है। संशोधित योजना में यद्यपि कुल व्यय बढ़ाकर २३५६ करोड़ रुपया कर दिया गया फिर भी प्राथमिकता के क्रम में कोई विशेष परिवर्तित नहीं किया गया है।

जहाँ तक औद्योगिक क्षेत्र का सम्बन्ध है प्राथमिकता निर्धारित करते समय इन बातों पर विचार किया गया है कि (१) जूट और प्लाईवुड जैसे उद्योगों (Producer goods industries) की वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूरा उपयोग किया जाय और उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले उद्योगों, जैसे सूती कपड़ा, चीनी, साबुन और बनस्पति उद्योगों की भी वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूरा उपयोग किया जाय, (२) लोहा और इस्पात, एल्यूमोनियम,

सिमेंट रसायनिक खाद, भारी रसायनिक, मशीनों के औजारों इत्यादि उद्योगों की उत्पादन शक्ति बढ़ाई जाय, (३) उन औद्योगिक इकाइयों का निर्माण कार्य पूरा किया जाय जिन पर काफी पूँजी लगाई जा चुकी है और (४) जिप्सम से गन्धक, विशेष प्रकार के रेशम का उत्पादन करने के लिए आवश्यक सामग्री, और अलौह धातुओं के टुकड़ों का उत्पादन करने के लिये नये कारखाने स्थापित किये जायँ जिससे बड़े और अत्यन्त महत्व के उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति की जा सके। प्राथमिकता का यह क्रम यह प्रकट करता है। कि उपलब्ध साधनों का पूरा उपयोग किया जायगा और किसी भी उद्योग के प्रति उदासीनता नहीं अपनायी जायगी। राज्य अनेक कारखाने स्थापित कर सकते हैं परन्तु कृषि के विपरीत उद्योगों का विकास पूर्णतया निजी उद्योग क्षेत्र के हाथों में छोड़ दिया गया है। कृषि तो सरकारी उद्योग क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। पंचवर्षीय योजना में ४२ उद्योगों के लक्ष्य निर्धारित किये गये थे और यह अनुमान लगाया गया था कि इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पाँच वर्ष में कुल २३३ करोड़ रुपया व्यय करना पड़ेगा। इसके साथ ही कारखानों के आधुनिकीकरण में और मशीनों को बदलने में १५० करोड़ रुपया और व्यय होगा। यदि इसमें चालू पूँजी की रकम भी जोड़ दी जाय तो पता चलेगा कि पाँच वर्ष में केवल उद्योग ही की वित्तीय आवश्यकता ७०७ करोड़ रुपये के बराबर होगी। इस वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति सरकार नहीं करेगी। इसके लिए निजी उद्योगों को स्वयं प्रयत्न करना पड़ेगा।

वित्त—योजना को सफल बनाने के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वित्तीय आवश्यकता पूरी करने में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। कृषि तथा औद्योगिक साधनों का विकास करने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी लगाने की आवश्यकता है। यदि यह पूँजी देश के अन्दर ही प्राप्त नहीं होती तो इसके लिए हमे विदेशी स्रोतों की सहायता लेनी पड़ेगी। भारत की पंचवर्षीय योजना केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की वर्तमान आय में से बचत, भारतीय रेलवे की आय में से बचत, ऋण तथा जनता की बचत और विदेशी पूँजी पर निर्भर करती है। योजना के व्यय की पूर्ति करने के लिए भारत के पौण्ड पावने, विदेशी सहायता और ऋण पर भी पूरा विचार कर लिया गया है। इन सारे साधनों का उपयोग कर लेने के बाद भी कुछ कमी रह जाती है जिसकी पूर्ति के लिए यह आशा की जाती है कि अतिरिक्त कर लगाकर या स्वदेशी बाजार से अधिक मात्रा मे ऋण लेकर इस कमी को पूरा किया जायगा परन्तु यदि ऐसा सम्भव न हो सका तो पंचवर्षीय योजना की लागत में इतनी रकम की कमी कर दी जायगी।

योजना की कुल लागत २,०६६ करोड़ रुपया थी; सरकारी तथा निजी बचत से पाँच वर्ष में १,२५८ करोड़ रुपया प्राप्त होगा जबकि इन्हीं स्रोतों से योजना के मूल वर्ष १९५०-५१ में २२२ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ। १,२५८ करोड़ रुपये की उपलब्ध राशि में से ७४० करोड़ रुपये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों और रेलवे बजट की अतिरिक्त आय से प्राप्त होंगे और ५१८ करोड़ रुपया निजी बचत से। संशोधित योजना में बजट से प्राप्त आय में और व्यक्तिगत बचत में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है जो कि आशा की जाती है कि ७४३ और ५१८ करोड़ रुपये क्रमशः होगी। बढ़ी हुई लागत अधिकांश घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा पूरी की जायगी जैसा कि कमी की मात्रा में ८८८·४ करोड़ रुपया बढ़कर हो जाने से प्रतीत होता है। यह आशा की जाती है कि पौण्ड पावने से प्राप्ति को विचाराधीन रखते हुये यह कमी ७०१ करोड़ रुपये की रह जायगी।

योजना को अंतिम रूप देने के पहले भारत को विदेशों से सहायता और ऋण के १५६ करोड़ रुपया मिला था। योजना आयोग ने इसे भी सम्मिलित कर लिया। योजना में यह व्यवस्था भी की गई थी कि घाटे का बजट बढ़ाकर २९० करोड़ रुपयों की और पूर्ति की जाय। इसके बाद भी ३६५ करोड़ रुपयों की पूर्ति शेष रह जाती है। यह बहुत संभव है कि यह कमी और अधिक हो यदि राज्य तथा निजी बचत की स्थिति आशा के अनुकूल न रही।

यदि सारी स्थिति पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि सरकारी क्षेत्र में जो कुल २,०६६ करोड़ रुपये की लागत रखी गई है उसमें से दीर्घकालिक व्यय (Capital expenditure) केवल १,६०० से १,७०० करोड़ रुपये के बीच में होगा। यदि इसमें निजी उद्योग क्षेत्र में लगायी गयी पूँजी को भी मिला लिया जाय (जिसमें उद्योग, वाणिज्य और व्यापार में लगी पूँजी भी सम्मिलित है) तो पाँच वर्ष में स्वदेशी स्रोतों से ही दीर्घकालिक व्यय की २,७०० से २,८०० करोड़ रुपये की राशि पूरी करनी पड़ेगी। यदि इसमें इसी अवधि में पौण्ड पावने की मद में से मिलने वाले २९० करोड़ रुपये (जो भारत में घाटे की बजट व्यवस्था का आधार हैं) और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड इत्यादि से प्राप्त १५६ करोड़ रुपया जोड़ा जाय तो कुछ साधन ३,१५० से ३,२५ करोड़ रुपयों के बीच हो जाते हैं। संशोधित रूप में यह धनराशि ३३३०-३४३० करोड़ रुपया हो जायगी।

आलोचना—पंचवर्षीय योजना में भारत के कृषि तथा औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में बड़ा आशावादी दृष्टिकोण अपनाया गया। आँकड़ों के अभाव और साधनों की कमी के कारण इससे अच्छी योजना तैयार करना संभव नहीं था।

योजना पूर्ण होने पर राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ेगी, आय बढ़ेगा और जनता अधिक धनवान और प्रसन्न हो सकेगी, भारत के आर्थिक विकास में जो कमियाँ हैं उन्हें दूर किया जा सकेगा, खाद्यान्न में देश निरन्तर स्वावलम्बी बनता जायगा और कुछ कच्चे मालों का जिनके लिये देश आयात पर निर्भर है, उत्पादन बढ़ेगा। योजना में वैज्ञानिक प्रगति और टेकनिकल शिक्षण की आवश्यकता को भी महत्व दिया गया है। इन पर उद्योग और कृषि की सफलता निर्भर करती है। वैज्ञानिक जाँच-परख, टेकनिकल शिक्षण इत्यादि के लिये भी योजना में विशेष व्यवस्था की गई है। कुछ समय बाद इसका प्रभाव प्रकट होगा।

यह आलोचना की गई है कि पाँच वर्षों में योजना को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक वित्त के सम्बन्ध में पंचवर्षीय योजना ने बहुत आशावादी दृष्टिकोण अपनाया है और जनता से बहुत आशा की है। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि (क) योजना आयोग ने अनुमान लगाया है कि ५ वर्षों में केन्द्रीय सरकार के बजट, राज्य सरकारों के बजट और रेलवे से क्रमशः १६० करोड़ रुपया, ४०८ करोड़ रुपया और १७० करोड़ रुपया अतिरिक्त प्राप्त होगा परन्तु इस मात्रा में अतिरिक्त आय होना संभव नहीं है। जनता में अब और अधिक कर देने की क्षमता नहीं है और रेलवे तथा सरकारों की आय भी उतनी अधिक होना संभव नहीं है जितनी की योजना में अपेक्षा की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि पंचवर्षीय योजना अपने मूलरूप में कार्यान्वित नहीं हो पायेगी और उसमें काट छाँट करनी पड़ेगी। (ख) योजना में यह माना है कि १६५१ और १६५६ के बीच प्रति वर्ष अतिरिक्त आय का २० प्रतिशत पूँजी निर्माण में लगाया जायगा और १६५६ से १६६८ तक अतिरिक्त आय का ५० प्रतिशत इसमें लगाया जायगा। भारत जैसे निर्धन देश में जहाँ की अधिकतर जनता की आय अपने जीवन निर्वाह के लिए ही पर्याप्त नहीं है अतिरिक्त आय का इतना अधिक अंश पूँजी निर्माण में लगा सकने की आशा करना वास्तविक स्थिति के अनुकूल नहीं है। यदि जनता की आय बढ़ती है तो वह उसको विनियोग में लगाने की अपेक्षा उपयोग में व्यय करना अधिक पसन्द करेगी। यदि ऐसा होता है तो योजना आयोग की यह आशा कि १६५६ तक कुल राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये तक बढ़ जायगी और १६७७ तक प्रति व्यक्ति की आय दूनी हो जायगी, पूरी नहीं हो सकती है।

इन आलोचनाओं में कुछ सत्य अवश्य है परन्तु यह योजना का आधार भूत दोष नहीं हैं। किसी भी योजना की आलोचना में यह तर्क दिये जा सकते हैं। नियोजन के लिए यह आवश्यकीय है कि जनता त्याग करे। भारत

की प्रथम पंचवर्षीय योजना में संवभतः अन्य योजनाओं की अपेक्षा कुछ अधिक त्याग करने की माँग की गई है। परन्तु इस विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं कि भारतीय जनता से किस सीमा तक त्याग करने की अपेक्षा की जाय और वह कितना त्याग कर सकने में समर्थ है। योजना में यह व्यवस्था की गई है कि १९५१-५६ के बीच प्रति वर्ष अतिरिक्त आय का २० प्रतिशत विनियोग में लगाया जाय जबकि १९५०-५१ में, जो योजना का प्रथम वर्ष था, केवल ५ प्रतिशत के विनियोग की व्यवस्था की गई थी। इसके बाद की योजनाओं में प्रतिवर्ष अतिरिक्त आय का २० प्रतिशत विनियोग में लगाने की आशा की जायगी। जहाँ तक इस पक्ष का सम्बन्ध है योजना अभी पहला प्रयोग मात्र है। यदि जनता योजना में निर्धारित अनुपात में रुपया नहीं लगा सकी तो कम मात्रा मे लगायेगी परिणाम स्वरूप प्रगति की गति भी धीमी हो जायगी। यही बात अतिरिक्त आय के सम्बन्ध में भी लागू होती है। बिना सही सूचना के इस क्षेत्र में उपयुक्त अनुपात निर्धारित करना संभव नहीं है। जैसे-जैसे योजना लागू की जायगी और नए अनुभव प्राप्त होंगे उसी के साथ साथ योजना में आवश्यक परिवर्तन किए जायेंगे।

पंचवर्षीय योजना के आलोचकों ने कुछ गंभीर तर्क भी दिये हैं। उनका कहना है कि: (१) योजना में उद्योग की अपेक्षा कृषि को अधिक महत्व दिया गया है। इसका कारण यह बताया गया है कि जो योजनाएँ वर्तमान में कार्यान्वित की जा रही हैं उन्हें पूरा किया जाय और भविष्य में देश के औद्योगिक विकास के लिए सुदृढ़ आधार स्थापित किया जाय। इस तर्क का मूल विचार यह है कि भारत का वर्तमान औद्योगिक विकास कृषि विकास के अनुरूप हुआ है। परन्तु वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है। भारतीय स्थिति का ज्ञान रखने वाला कोई भी व्यक्ति यह जानता है कि भारत में कच्चे माल और बिजली इत्यादि का वर्तमान में जितना उत्पादन होता है उससे देश का बहुत अधिक औद्योगिक विकास किया जा सकता है। योजना आयोग ने एक और बात की ओर ध्यान दिया। यह बहुत संभव है कि जब तक हम भारत के भावी औद्योगिक विकास के लिए सुदृढ़ आधार स्थापित करेंगे तब तक विश्व स्थिति में ऐसा परिवर्तन हो सकता है जिससे भारत का औद्योगिक विकास आज की अपेक्षा अधिक कठिन हो जायगा। ऐसी स्थिति में कृषि के विकास का क्या उपयोग किया जा सकेगा? अंत में इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि योजना का उद्देश्य भारत की आर्थिक व्यवस्था की त्रुटियों को दूर करके देश का अधिक सन्तुलित विकास करना है। इस दिशा में सबसे बड़ी कमी यह है कि भारत में मशीनों के निर्माण करने वाले

उद्योग नहीं हैं, विद्युत, इंजीनियरिंग, केमिकल इत्यादि के उद्योग का अच्छी तरह विकास नहीं हो सका है इसलिए अधिक सन्तुलित व्यवस्था बनाने के लिए योजना को इस दिशा की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था और इन उद्योगों का विकास करने की व्यवस्था करनी चाहिए थी।

(२) योजना के अनुसार देश का औद्योगिक विकास निजी उद्योगपतियों के हाथों में सौंपा गया है। इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं है क्योंकि अतीत में निजी उद्योगपतियों ने भारतीय उद्योगों का कुशलता पूर्वक विकास किया। परन्तु योजना के आलोचकों का मत है कि औद्योगिक विकास अधिकांश रूप से निजी उद्योगपतियों के हाथों में सौंपने और उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित करने के साथ निजी उद्योग के पूर्ण उपयोग के लिए पर्याप्त साधनों की व्यवस्था नहीं की गई है। भारतीय उद्योगपतियों का मत है कि योजना में २३३ करोड़ रुपये की पूँजी का विनियोग करने की और १५० करोड़ रुपये की पूँजी टूट-फूट इत्यादि के लिए रखने की व्यवस्था की गई है। परन्तु यह पूँजी उत्पादन के निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिए बिल्कुल अपर्याप्त है। इसके साथ ही यह बात ध्यान देने योग्य है कि उद्योग केवल वित्त की ही आवश्यकता नहीं होती है बल्कि इसके अतिरिक्त अनेक सुविधाओं की भी आवश्यकता होती है, जैसे कर सम्बन्धी, छूट टूट-फूट इत्यादि के लिए अधिक पूँजी और कुछ परिस्थितियों में नकद आर्थिक सहायता। यह खेद की बात है कि पंचवर्षीय योजना में इसके लिए कुछ व्यवस्था नहीं की गई है। इसके अभाव में निजी उद्योग देश के औद्योगिक विकास के प्रति अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं कर सकता है।

(३) प्रथम योजना का एक और गंभीर दोष यह है कि इसमें दीर्घकालीन योजनाओं पर विशेष जोर दिया गया है। इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि सुनियोजित आर्थिक व्यवस्था में दीर्घकालिक योजनाओं पर विशेष जोर देना चाहिये। कुछ विदेशी राष्ट्रों में, जिसका सबसे उत्तम उदाहरण सोवियत रूस है, दीर्घकालिक योजनाओं को ही नियोजन का आधार बनाया गया। परन्तु भारत की स्थिति उससे भिन्न है। भारत में दीर्घकालिक योजनाएँ अधिक होनी चाहियें परन्तु साथ ही अल्पकालिक योजनाओं पर विशेष जोर देना चाहिये था। इससे प्रति एकड़ उत्पादन में शीघ्र वृद्धि की जा सकती थी और खाद्यान्न के सम्बन्ध में देश शीघ्र स्वावलम्बी बनाया जा सकता था। इससे बहुत सीमा तक भारत की बेरोजगारी की समस्या भी हल की जा सकती थी।

दीर्घकालिक योजनाओं पर अधिक जोर देने में एक और हानि यह है कि वस्तुओं के उत्पादन में दीर्घकाल के बाद वृद्धि होगी जबकि जनता की क्रय शक्ति

शीघ्र ही बढ़ेगी। इससे मुद्रास्फीति का जोर और बढ़ जायगा। सुनियोजित व्यवस्था में कुछ अंश तक मुद्रास्फीति और परिणामस्वरूप अधिक कीमतें होना अनिवार्य है परन्तु यदि नियोजन के द्वारा वस्तुओं की पूर्ति बढ़ती है तो उससे मुद्रास्फीति का प्रभाव कम हो जाता है यदि पंचवर्षीय योजना में अल्पकालिक योजनाओं पर अधिक जोर दिया जाता तो ऐसा होना सम्भव था। इसके अभाव में योजना के लागू होने से मुद्रास्फीति का जोर बढ़ा है जिससे उपभोक्ताओं को हानि हुई है।

(४) योजना की सफलता विशेष कर उस संगठन की कार्यक्षमता पर निर्भर करती है जिस पर उसके कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व है। भारतीय प्रथम पंचवर्षीय योजना की यह सबसे बड़ी कमी थी कि इसमें योजना को लागू करने के लिए किसी विशेष संगठन की व्यवस्था नहीं की गई। कुछ औद्योगिक और नदी घाटी योजनाओं को कार्यान्वित करने का कार्य स्वतन्त्र कार्पोरेशनों को सौंपा गया है। इन कार्पोरेशनों पर सरकार अपना नियंत्रण रख सकने में विशेष समर्थ सिद्ध नहीं हुई है जिसके परिणाम स्वरूप जनता का बहुत सा रुपया नष्ट हो गया है, योजनाओं में प्रायः संशोधन किया गया है और आशानुकूल उत्पादन भी नहीं बढ़ा है। अन्य बहुत सी योजनाएँ राज्य सरकारों के अधिकार क्षेत्रों में रखी गई हैं और राज्य सरकारें इनको लागू करने का कार्य जिला अधिकारियो को सौंप देती हैं। यह प्रबन्ध सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हो सका है। जिला अधिकारी अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण विकास योजनाओं के प्रति पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते हैं। कुछ राज्य सरकारों द्वारा नियोजन अधिकारियों का कार्य विशेष सन्तोषजनक नहीं रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि योजना को उचित रीति से लागू नहीं किया गया है और उससे जितनी आशा की जाती थी उतना लाभ नहीं हो सका। इसके विपरीत जो कुछ प्रगति हुई है वह केवल कागजों तक ही सीमित है। यदि भारत सरकार आई० ए० एस० की तरह 'भारतीय आर्थिक प्रशासन' (Indian Economic Service) के अन्तर्गत उपयुक्त कर्मचारी नियुक्त करती और इस प्रकार योजना को कार्यान्वित करने के लिये विशेष संगठन को जन्म दिया जाता तो इस दिशा मे अधिक प्रगति की जा सकती थी। इससे कार्यालयों इत्यादि पर सरकारी व्यय में अवश्य वृद्धि होती परन्तु वह व्यय व्यर्थ नहीं जाता उससे पंचवर्षीय योजना की उपयोगिता बढ़ सकती थी।

इन दोषों के होने हुये भी इसमें सन्देह नहीं कि भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना देश के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में एक प्रशंसनीय प्रयत्न था। आरम्भ में तो अवश्य ही योजना की सफलता कम होती। परन्तु यह देश के कृषि उद्योग, उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि करने के प्रयत्न का आरम्भ ही था।

सफलता की प्रगति

योजना आयोग द्वारा मई १९५७ में प्रकाशित प्रथम पचवर्षीय योजना के पुनर्वीक्षर के अनुसार सम्पूर्ण पाँच वर्षों में किया गया व्यय २०१२४ करोड़ रु० हुआ (जबकि संशोधित लक्ष्य २३७७.७ करोड़ रु० था)। इसमें से १२७७.३ करोड़ रु० बजट से प्राप्त आय थी तथा २०३·२ करोड़ रु० विदेशी सहायता से प्राप्त हुये। इस प्रकार लगभग ३६६ करोड़ रु० कम व्यय हुये। पहले पाँच वर्षों में राज्य सरकारों ने ८९७·५ करोड़ रु० तथा केन्द्रीय सरकार ने १११४·९ करोड़ रु० का व्यय किया।

चूँकि १९५५-५६ की वास्तविक संख्यायें पता नहीं है अतएव यह सम्भव है कि योजना का कुल व्यय २०१३ करोड़ रु० के बजाय १९६० करोड़ रु० हो जाय। प्रारम्भ में २९० करोड़ रु० के छोटे के अर्थ प्रबन्धन की व्यवस्था थी। वास्तव में यह ४२० करोड़ रु० हुआ। इसके फलस्वरूप भारतीय अर्थ व्यवस्था पर काफी भार पड़ा।

योजना में राष्ट्रीय आय के ५% के विनियोग को बढ़ा कर ७% तक करने का उद्देश्य था तथा पाँच वर्षों में ३५००-३६०० करोड़ रु० के विनियोग का लक्ष्य था। सरकारी क्षेत्र में लगभग १५०१ करोड़ रु० का विनियोग हुआ जब कि निजी क्षेत्र में १६०० करोड़ रु० का विनियोग हुआ। इस प्रकार पाँच वर्ष की अवधि में ३,०० करोड़ रु० विनियोग हुआ। १९५०-५१ की तुलना में योजना के अन्त तक विनियोग का स्तर लगभग दूना हो चुका था।

कुछ कार्यों में प्रथम योजना की प्रगति और सफलता निस्सन्देह आश्चर्य जनक रही है। खाद्यान्न इंजन और सूती कपड़ों के सम्बन्ध में १९५५-५६ में उत्पादन सोचे हुये १९५५-५६ के ध्येय से कहीं आगे बढ़ गया। अमोनियम सल्फेट, तटीय जलयात्रा और सीमेण्ट के सम्बन्ध में यद्यपि उत्पादन १९५५-५६ के अनुमानित ध्येय से कम ही रहा फिर भी काफी वृद्धि हुई है। कुछ ही कार्य ऐसे रहे हैं जिनमें आशा के विपरीत बहुत कम वृद्धि हुई है और उनमें १९५५-५६ तक भी सोचे हुये ध्येय तक वृद्धि न हो। इसलिये इस निर्णय पर पहुँचना कि पचवर्षीय योजना ने अर्थ व्यवस्था पर अनावश्यक भार डाले बिना संतोषप्रद प्रगति की है युक्ति संगत होगा।

———

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह मान लिया गया है कि राष्ट्रीय बचत तथा विनियोग में वृद्धि के कारण १९५५-५६ की राष्ट्रीय आय के ७·३% से १९६०-६१ में १०·७% बढ़ जाने से, राष्ट्रीय आय में लगभग २५% की वृद्धि हो जायगी अर्थात् १९५५-५६ के १०,८०० करोड़ रुपयों से १९६०-६१ में बढ़कर १३,४८० करोड़ रुपया हो जायगो। सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न इस सम्बन्ध में यह है कि क्या भारत इतने अधिक विनियोग का भार वहन कर सकता है ? योजना आयोग के अनुसार वहन कर सकता है जैसा कि प्रथम योजना का अनुभव तथा अन्य देशों का अनुभव बतलाता है :

"प्रथम योजना रिपोर्ट में १९५६-५७ से ५०% बचत करने की सीमान्त दर मान ली गई थी और इसके आधार पर यह अनुमान लगाया गया था कि १९६८-६९ तक देश की आर्थिक व्यवस्था में राष्ट्रीय आय का २०% विनियोग किया जायगा और आगे चलकर इसी स्तर पर स्थायी हो जायगा। अब ऐसा आभास होता है कि यह अनुमान अत्यधिक है। जिन प्रक्षयों (projections) का अनुगणन किया गया है उनके आधार पर विनियोग का गुणक (Coefficient) ७% से जो कि १९५५-५६ में था बढ़कर १९६०-६१ में ११% हो जायगा; १९६५-६६ तक गुणक के १४% और १९७०-७१ तक १६% तक बढ़ जाने का अनुमान है। उसके पश्चात् गुणक स्थिर रहेगा और १९७५-७६ तक १७% तक बढ़ जायगा (तालिका नं० १ के अनुसार)। १६% या १७% राष्ट्रीय आय का विनियोग निस्संदेह ऊँची दर है पर पहुँच के बाहर नहीं है। पाश्चात्य देशों में जिन्होंने अपना औद्योगिक विकास पहिले आरम्भ किया था पूँजी निर्माण की दर १० और १५ प्रतिशत के बीच रही है। जापान में विनियोग की दर का १९१३-१९३९ के बीच औसत १९ और २० के बीच था। रूस में १५ और २० प्रतिशत की दर निरन्तर स्थिर रही है। उन देशों के आंकड़ों से जो ई० सी० ए० एफ० ई० (ecafe) क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं यह पता लगता है कि १९५० से कुल पूँजी का निर्माण बर्मा में १० से २० प्रतिशत के बीच, जापान में २४ से ३० प्रतिशत के बीच, लंका में १० से १३ प्रतिशत के बीच और फिलीपाइन्स में ७ से ८·५ प्रतिशत के बीच रहा है। भारत के सम्बन्ध में तुलनात्मक आँकडे १० से ११ प्रतिशत हैं। कुछ लैटिन अमरीकी देशों में इस सम्बन्ध के आँकड़े १५ और २९ प्रतिशत के बीच प्रायः रहे हैं। कभी कभी स्तर कुछ ऊँचा भी हुआ है। पूर्वी योरुप के कुछ देशों में जैसे जैकोस्लोवेकिया और पोलैंण्ड में पूँजी निर्माण की दर २० और २५ प्रतिशत के बीच रही है। नये विकासोन्मुख देशों में विनियोग की दर वर्तमान स्तर से निश्चय ही बढ़ाई जा सकती है—यदि उपयुक्त विनियोग नीति का अनुसरण किया जाय

और यदि राज्य द्वारा विकास कार्यक्रम आरम्भ किये जायँ। इसलिये भारत के सम्बन्ध में यह धारणा बनाना कि प्रयत्न करने से विनियोग की दर ऊपर बताये गये स्तर तक बढ़ाई जा सकती है असंगत नहीं हो सकता"।

प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य था कि देश में जीवन की आधारभूत वस्तुओं के उपभोग को पुनः उस स्तर पर ले आया जाय जिस पर वह महायुद्ध के पूर्व था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना इस सम्बन्ध में एक पग आगे है और उसका लक्ष्य यह है कि योजना काल के अन्तर्गत कुल उपभोग की मात्रा में लगभग २०% और व्यक्ति उपभोग की मात्रा में १२ से १३ प्रतिशत की वृद्धि हो। कुछ विशेष वस्तुओं के प्रति व्यक्ति उपभोग के आंकड़ों से इस बात का आभास मिलता है कि कितनी अधिक प्रगति का अनुमान लगाया गया है। पौष्टिक सलाहकार समिति (Nutrition Advisory Committee) ने यह अनुमान लगाया था कि एक वयस्क के प्रतिदिन के सन्तुलित आहार में कम से कम १४ औंस अन्न होना चाहिये। १९५०-५१ में प्रत्येक वयस्क प्रतिदिन १३ औंस अन्न का औसत उपभोग करता था। किन्तु प्रथम पंचवर्षीय योजना के परिणाम स्वरूप १९५३-५४ में प्रतिव्यस्क प्रतिदिन अन्न के उपभोग की मात्रा बढ़कर १५ औंस हो गई। परन्तु चने और दालों का उपभोग अभी भी निम्नतम आवश्यकताओं से कम है। यह अनुमान लगाया गया है कि प्रति व्यस्क को प्रतिदिन २½ से ३ औंस तक चने और दालों का उपभोग करना चाहिये। किन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या और प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप अन्न के उपभोग मे वृद्धि होगी अतएव द्वितीय पंचवर्षीय योजना में देश के भीतर खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिये। "दूध, घी, मास, मछली, अडे, चर्बी, फल, तरकारियाँ और चीनी के उपभोग का वर्तमान स्तर निम्नतम आवश्यकताओं से बहुत कम है। द्वितीय योजना में रहन-सहन के अधिक ऊँचे स्तर की व्यवस्था करने के लिये पशु-पालन, मछली-उद्योग, मुर्गी पालन, तरकारियों की खेती और अन्य प्रकार की खाद्य सामग्री के उत्पादन पर विशेष ध्यान देना चाहिए"। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत में प्रति व्यस्क प्रति वर्ष के हिसाब से १५ गज सूती कपड़े का उपभोग करता था और प्रथम पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने पर कपड़े के औसत उपभोग का यही स्तर पुनः प्राप्त कर लिया गया है। सूती कपड़े की जाँच समिति की सिफारिश को मानकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १९६० तक प्रति व्यक्ति सूती कपड़े के औसत उपभोग को १८ गज करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

प्राथमिकता का क्रम—प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि, सिंचाई

और बिजली की शक्ति के विकास को प्रमुख महत्व दिया गया था और इन मदों पर योजना की कुल लागत की ४३.२% रकम व्यय करने का अनुमान था। इसके विपरीत द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने उद्योगों को प्राथमिकता दी है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उद्योगों पर कुल लागत की ७.६% रकम व्यय के लिये निर्धारित थी जबकि इस दूसरी योजना में (जैसा कि तालिका २ में दिखाया गया है) कुल लागत का १८.५% व्यय होने का अनुमान लगाया गया है। प्राथमिकता के क्रम में परिवर्तन करने के दो कारण हैं : (अ) कृषि, सिंचाई और शक्ति (विद्युत) के विकास पर प्रथम पंचवर्षीय योजना में पहले ही से पर्याप्त ध्यान दिया गया है, और विकास की वर्तमान गति के द्वारा भी उन्हें पूर्ण रूप में विकसित किया जाना संभव है, अतएव उन पर कोई विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, और (ब) अब यह अनुमान किया जाने लगा है कि देश के आधार भूत उद्योगों को और विकसित किए हुए यह संभव नहीं है कि भारत की राष्ट्रीय आय में एक ऊँचे स्तर तक वृद्धि की जा सके अथवा बेरोजगारी की समस्या का ही कोई हल खोजा जा सके।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना का यह उद्देश्य है कि देश की राष्ट्रीय आय में प्रति

तालिका २

सरकारी क्षेत्र में प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजना पर कुल लागत के तुलनात्मक आंकड़े

	प्रथम योजना		द्वितीय योजना	
	कुल लागत (करोड़ रुपयों में)	कुल का प्रतिशत	कुल लागत (करोड़ रुपयों में)	कुल का प्रतिशत
१. कृषि और सामुदायिक विकास	३५७	१५.१	५६८	११.८
२. सिंचाई और शक्ति (बिजली)	६६१	२८.१	९१३	१९.०
३. परिवहन और संचार	५५७	१२३.६	१३८५	२८.९
४. उद्योग और खनिज	१७९	७.६	८९०	१८.५
५. निर्माण कार्य और सामाजिक सेवायें	५३३	२२.५	९४५	१९.७
६. विविध	६९	३.०	१९९	२.१
कुल	२३५६	१००%	४८००	१००%

वर्ष लगभग ५% की वृद्धि हो और इस लक्ष्य की पूर्ति करने के लिये पाँच वर्ष की अवधि में कुल ६२०० करोड़ रुपये का वास्तविक विनियोग (Net Investment) करने की आवश्यकता होगी, जबकि प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत मूल रूप में वास्तविक विनियोग की रकम ३१०० करोड़ रुपये थी। अनुमान है कि इसमें से ३८०० करोड़ रुपये की रकम का विनियोग सरकारी क्षेत्र पर होगा, जिसकी व्यवस्था सरकार अपने वित्तीय साधनों से करेगी और शेष २,४०० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र पर व्यय होंगे, जो निजी विनियोग द्वारा उपलब्ध होंगे। विकास सम्बन्धी व्यय में ४८०० करोड़ रुपयों की कमी जो कि प्रस्तावित वास्तविक विनियोग के कारण सरकारी क्षेत्र में आवश्यक होगा तालिका नं २ में दिया हुआ है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की 'आधारभूत नीति' यह है कि (अ) इस्पात, यन्त्र-निर्माण, खनिज-पदार्थ आदि के प्रमुख और आधारभूत उद्योगों पर यथासंभव अधिक से अधिक धन विनियोग किया जाय और इसके विपरीत सामान्य उपभोग में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं के उद्योगों पर यथासंभव कम से कम धन व्यय किया जाय; और (ब) छोटे पैमाने के व घरेलू उद्योग-धंधो के विकास को प्रोत्साहन दिया जाय, चाहे इस प्रयास मे बड़े पैमाने के उद्योगों की हानि ही क्यों न हो।

उद्योगों और खनिज पर प्रस्तावित ८६० करोड़ रुपयों के व्यय में से ६१७ करोड़ रुपयों के लगभग बड़े और मध्य वर्ग के उद्योगों पर, ७३ करोड़ रुपये खनिज के विकास पर और २०० करोड़ रुपये ग्राम्य तथा छोटे उद्योगों पर व्यय किया जायगा। उद्योगों में से लोहे और इस्पात उद्योग को सबसे अधिक भाग मिलेगा। प्रमुख विशेषता द्वितीय योजना की छोटे और कुटीर उद्योगों को प्राथमिकता देने की है, जिस पर २०० करोड़ रुपया व्यय करने के लिए नियत किया गया है।

यद्यपि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योगों और खनिज पदार्थों को प्रमुख रूप से प्राथमिकता दी गई है, किन्तु कृषि, परिवहन और सामाजिक सेवाओं की उपेक्षा नहीं की गई है। अनुमान है कि १९५५-५६ से १९६०-६१ तक द्वितीय योजना के अन्तर्गत खाद्यान्न का उत्पादन ६५० लाख से ७५० लाख टन, रुई का ४२ लाख से ५५ लाख गाँठ, गन्ने का ५०·८ लाख टन से ७०·१ लाख टन, तिलहन का ५५ लाख से ७० लाख टन, चाय का ६४·४ करोड़ से ७० करोड़ पौंड हो जायगा। सिंचाई की जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल ६·७ करोड़ एकड़ हो जायगा। इसी प्रकार राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं और सामुदायिक योजनाओं के मण्डलों की संख्या ५०० से ३८०० और ६२२ से ११२० क्रमशः हो जायगी। द्वितीय योजना की विशेषता यह है कि इसमें अनेकों कृषि उत्पत्ति की वस्तुयें जैसे

नारियल, सुपाड़ी, लाख, कालीमिर्चें और वृक्कफल आदि, जिनकी ओर प्रथम योजना में ध्यान नहीं दिया गया था, इसमें सम्मिलित कर ली गई हैं और उनके विकास का ध्येय निश्चित कर दिया गया है। द्वितीय योजना में कृषि का विकास अधिक विस्तृत ढंग पर होगा।

जहाँ तक परिवहन से सम्बन्ध है भारतीय रेलो की यात्रियों तथा माल ले जाने की शक्ति बढ़ा दी जायगी। रेलपथ १० करोड़ ८० लाख मील मे बढ़ाकर १२ करोड़ ४० लाख मील और माल की ढुलाई १२ करोड़ से १६ करोड़ २० लाख हो जायगी। इसी काल में राष्ट्रीय सड़कें १२,६०० मील से १३,८०० मील और कच्ची सड़कें १०७,००० मील से १२५,००० मील बढ़कर हो जायेंगी। तटीय व्यापार में जलयानों द्वारा टनेज ३·२ लाख जी० आर० टी० से बढ़कर ४·७ लाख जी० आर० टी० हो जायगा। भारतीय बन्दरगाहों की माल चढ़ाने और उतारने की शक्ति २ करोड़ ५० लाख टन से बढ़कर ३ करोड़ २५ लाख टन हो जायगी।

तालिका २ से प्रकट होता है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत (अ) हाथ के करघे और शक्तिचालित करघे से तैयार किये गए कपड़े, रासायनिक खादों, लोहे व इस्पात, एल्यूमीनियम और कोयले के उत्पादन में सब से अधिक वृद्धि होगी; (ब) भारी रसायनों, धातु के सामान, अभ्रक, मैंगनीज, साइकिलों, सीने की मशीनों और बिजली के उत्पादन में अपेक्षाकृत कम वृद्धि की जायगी; और (स) मिल में तैयार होने वाले सूती कपड़ों, ऊनी सामान, चीनी, साबुन, जूतों और वनस्पति तेलो के उत्पादन में और भी कम वृद्धि होगी। इस प्रयास में यह ध्यान रखा गया है कि आधारभूत और प्रमुख उद्योगों का यथासम्भव अधिक से अधिक विकास किया जाय और जहाँ तक अन्य उद्योगों का सम्बन्ध है, उनके उत्पादन के द्वारा आत्मनिर्भरता के अधिक से अधिक निकट पहुँचा जाय।

रोजगार उपलब्ध कराने की क्षमता (Employment potential) —द्वितीय पंचवर्षीय योजना का एक मूलभूत उद्देश्य यह भी है कि रोजगारी के पर्याप्त अवसर उत्पन्न किए जायें। भारतीय अर्थ व्यवस्था की इसी आवश्यकता के फलस्वरूप कृषि की अपेक्षाकृत उद्योगों पर अधिक बल दिया गया है। इस योजना को इतना अधिक विस्तृत बनाने का आंशिक कारण यह है कि बेकारी की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जाय। द्वितीय योजना काल में नये काम करने वालों की संख्या जो वर्तमान संख्या में जुड़ जायगी लगभग १ करोड़ के अनुमान की गई है। यदि उसमें से ३८ लाख व्यक्तियों को, जो नगर की मजदूर संख्या में वृद्धि अनुमानित है, पृथक कर लें तो जितने मजदूर देहातों के क्षेत्र में बढ़ेंगे उनकी

संख्या ६२ लाख के लगभग आती है। यदि एक करोड़ नये श्रमिकों की संख्या में ५३ लाख पहले के बेकारों की संख्या (२५ लाख नगरों की और २८ लाख ग्राम्य क्षेत्र में) जोड़ दी जाय तो कुल बेकारों की संख्या १६५६-६१ में लगभग १.५३ करोड़ हो जायगी। इतने नये व्यक्तियों को काम करने का अवसर प्राप्त करवाना सम्भव नहीं है। कदाचित ८० लाख व्यक्तियों के लिये द्वितीय योजना में काम के नये अवसर दिये जा सकते हैं। किंतु रोजगारी के अतिरिक्त अवसरों की केवल योजना-मात्र गढ़ लेने से ही समस्या हल नहीं की जा सकती। व्यापार और उद्योगों का प्रसार मात्र करके यह आशा करना कि उनके द्वारा अब अधिक व्यक्तियों की खपत अपने आप होने लगेगी व्यर्थ है। इस समय ऐसे अनेक व्यवसाय हैं जिनमें आवश्यकता से अधिक लोगों को खपा लिया गया है। इसका परिणाम यह होगा कि जैसे-जैसे उन व्यवसायों मे काम की वृद्धि होगी, वैसे-वैसे पहले से ही अधिक संख्या में काम करने वाले व्यक्तियों पर काम का बोझ अधिक होता जायगा और इस प्रकार उन व्यवसायों में रोजगार के अवसरों में वृद्धि नहीं हो सकेगी। कुछ उद्योगों और व्यापारिक संस्थाओं में अभिनवीकरण की योजनाएं लागू किये जाने की भी सम्भावना है, जिसका फल यह होगा कि प्रसार किये गये उन उद्योगों में रोजगार के लिये और भी अधिक कम संख्या में लोगों की खपत की जा सकेगी। योजना आयोग इन कठिनाइयों से भली भाँति परिचित है। "रोजगारी में अनुमानित वृद्धि लाने के लिए वित्त और उपयुक्त नीति का अनुसरण करने की आवश्यकता तो होगी ही, उसके साथ-साथ सुगठित सङ्गठन की भी व्यवस्था करनी पड़ेगी। बेकारी दूर करने के लिये छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों को विकसित करने पर अधिक बल दिया गया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि सुव्यवस्थित प्रयत्नों के अभाव में इनका उस सीमा तक विकास और प्रसार नहीं हो सकता। काम करने के अवसर प्रदान करने का अर्थ केवल नौकरियों की जगहें बढ़ा देना मात्र नहीं है। यह जगहों के बढ़ा देने के प्रति जनता की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है। रोजगारी की व्यवस्था करने का यह भी अर्थ है कि भिन्न-भिन्न कर्मचारियों के लिए जितने प्रशिक्षण की आवश्यकता है उसे प्रदान करने की सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाय। यह अनुमान लगाया गया है कि अनेक क्षेत्रों में उत्पादन वृद्धि होने के फलस्वरूप उसी अनुपात में थोड़ी या बहुत मात्रा में रोजगारी में भी वृद्धि होगी। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि अत्यधिक अभिनवीकरण पर नियन्त्रण किया जाय। साथ ही यह भी देखने की आवश्यकता है कि कहीं पहले से रोजगार प्राप्त लोगों की मजदूरी बढ़ जाने से उस वस्तु की माँग में कमी न आ जाय और इस प्रकार बेकार लोगों की स्थिति और भी न बिगड़ जाय।"

वित्त व्यवस्था—योजना की सफलता वित्त की प्राप्ति पर निर्भर है। भारत में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि राष्ट्रीय बचत का स्तर राष्ट्रीय आय के अनुपात में बहुत कम है। इसलिये विदेशी वित्तीय सहायता पर निर्भर रहना आवश्यक हो जाता है। द्वितीय योजना के अनुसार विकास सम्बन्धी ४८०० करोड़ रुपयों के व्यय का प्रबन्ध तालिका नं० ३ में जैसा दिखाया गया है किया जायगा। उसमें से ८०० करोड़ रुपया केन्द्रीय और राज्य सरकारों की अतिरिक्त आय से, १२०० करोड़ रुपया सरकारी ऋण से, ४०० करोड़ रुपया अन्य बजट में व्यक्त आय स्रोतों से, ८०० करोड़ रुपया विदेशी सहायता से और १२०० करोड़ रुपया घाटे के बजट से प्राप्त किया जायगा। इससे ४०० करोड़ रुपयों की कमी पड़ेगी जिसका प्रबन्ध या तो नये करों से प्राप्त आय द्वारा अथवा अधिक घाटे के अर्थ प्रबन्ध द्वारा या अधिक विदेशी सहायता द्वारा या द्वितीय योजना के विस्तार को कम करके किया जायगा।

सरकारी क्षेत्र में विकास योजनाओं का अर्थ प्रबन्ध एक दूसरे दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। पाँच वर्षों की अवधि में ४८०० करोड़ रुपयों के व्यय में से लगभग १००० करोड़ रुपयों का व्यय तो शिक्षा, स्वास्थ्य, वैज्ञानिक अन्वेषण और राष्ट्रीय विकास आदि पर चालू व्यय के रूप में होगा। इस प्रकार के व्यय से पूँजी का प्रत्यक्ष रूप से निर्माण नहीं होता और इसलिये विनियोजित व्यय नहीं माना जाता। ऐसे क्षेत्रों पर व्यय चालू आय स्रोतों से पूरा किया जाता है। इसलिये वास्तविक विनियोग ३८०० करोड़ रुपयों का है और इसका प्रबन्ध ऋण द्वारा किया जा सकता है। विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में जहाँ पर पूँजी निर्माण सम्बन्धी व्यय उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, वहाँ यह वांछनीय होगा कि उसके एक अंश का प्रबन्ध कर से प्राप्त अतिरिक्त आय में से किया जाय। इस सिद्धान्त पर प्रथम योजना की रिपोर्ट में जोर दिया गया था और इस पर फिर जोर देना चाहिये। योजना के अर्थ प्रबन्ध की व्यवस्था में चालू आय में से केवल ८०० करोड़ रुपयों के प्रबन्ध की व्यवस्था की गई है जब कि चालू व्यय के अनुसार १००० करोड़ रुपयों की आवश्यकता है। रेलवे से प्राप्त १५० करोड़ रुपयों की आय को चालू आय का भाग समझना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि कुल चालू आय से योजना के लिये प्राप्त वित्त ६५० करोड़ रुपयों का हुआ जब कि चालू व्यय की मात्रा १००० करोड़ रुपया अनुमान की गई है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सरकारी आय में कुछ भी बचत नहीं है जिसका प्रयोग ३८०० करोड़ रुपये के विनियोग के लिए किया जाय, वास्तव में ५० करोड़ रुपयों का घाटा है। दूसरे शब्दों में कुल ३८०० करोड़ पूँजी निर्माण का अर्थ-प्रबन्ध व्यक्तिगत बचत द्वारा

ही करना सम्भव होगा। यदि ८०० करोड़ रुपयों की विदेशी वित्तीय सहायता को अलग कर दिया जाय क्योंकि यह विदेशों की बचत पर निर्भर है और २०० करोड़ रुपयों की सहायता पौण्ड पावने की बची हुई रूप से प्राप्त की जाय, तो देश की आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत चालू बचत की मात्रा जो कि सरकारी योजनाओं में विनियोजित की जायगी, २८५० करोड़ रुपयों के बराबर ठहरती है। यदि यह मान लिया जाय कि ४०० करोड़ रुपयों की कमी सरकारी बचत द्वारा पूरी करली जायगी तो व्यक्तिगत बचत की मात्रा जो सरकारी क्षेत्र में स्थानान्तरित की जायगी वह २४५० करोड़ रुपयों की होगी।

तालिका नं० ३

सरकारी क्षेत्र के लिये वित्त के स्रोत

(करोड़ रुपयों में)

१. चालू आय के अतिरिक्त से	८००
(i) १९५५-५६ में प्रचलित कर की दर से	३५०
(ii) अतिरिक्त कर से	४५०
२. जनता से प्राप्त ऋण से	१२००
(i) बाजार ऋण (Market loans)	७००
(ii) छोटी बचत	५००
३. बजट के अन्य आय स्रोतों से	४००
(i) रेल का विकास कार्यक्रम में योगदान	१५०
(ii) प्रोविडेन्ट फण्ड तथा अन्य शीर्षों के अन्तर्गत जमा धन से	२५०
४. विदेशों के स्रोतों से	८००
५. घाटे के अर्थ प्रबन्ध से	१२००
६. कमी—देशीय अतिरिक्त स्रोतों से पूरी की जायगी	४००
कुल	४८००

"क्या यह मान लेना युक्तिसंगत न होगा कि २४५० करोड़ रुपयों तक की व्यक्तिगत बचत की रकम सरकार को विनियोग के लिये प्राप्त हो जायगी? इस संबंध में बाजार में ऋण लेने, छोटी मात्रा की बचत और घाटे के अर्थ प्रबन्ध में अन्तर बहुत साधारण महत्व की बात है। ये सब व्यक्तिगत बचत को अपनी ओर से अथवा मूल्य की वृद्धि द्वारा बरबश राजकीय कोष में पहुँचाने के ढङ्ग हैं। व्यक्तिगत बचत की मात्रा राजकीय कोष में कितनी और किस ढङ्ग से पहुँचती है जनता की अपनी सम्पत्ति को रोकड़, सरकारी ऋण पत्रों, तथा छोटी मात्रा वाले सेविंग

सर्टीफ़िकेट के रूप में या जमा धन के रूप में रखने की इच्छा पर निर्भर रहता है। जब तक कुल बचत जो सरकारी कोष में पहुँचती है पर्याप्त मात्रा में रहती है तब तक इस बात से लोग उदासीन रहते हैं कि बचत की रकम ऋण पत्र, छोटी मात्रा के सेविंग सर्टीफ़िकेट अथवा सरकारी नोट के रूप में है। ऐसी स्थिति में सबसे प्रमुख महत्ता की बात यह जानने में है कि क्या जनता की व्यक्तिगत बचत की मात्रा को हम व्यक्तिगत क्षेत्र की आवश्यकता से उतनी अधिक होने की आशा कर सकते हैं जितनी कि सरकारी क्षेत्र की आवश्यकता है। व्यक्तिगत बचत इस दृष्टिकोण से पर्याप्त तभी हो सकती है जब कि उपभोग पर आवश्यक नियंत्रण लगाया जाय। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है कि प्रत्यक्ष रूप से जितने ही कम अनुपात में जनता की बचत सरकार को अतिरिक्त करों की आय के रूप में अथवा सरकारी अनुक्रमों के लाभांश के रूप में होगी उतनी ही अधिक आवश्यकता ऐसे उपायों के प्रयोग में लाने की बढ़ती जायगी जिनसे उपभोग आवश्यक सीमा से आगे न बढ़े"।

"केन्द्र और राज्यों के बजट स्रोतों में जो आय करों, ऋण, तथा अन्य उपायों से प्राप्त की जा सकती है वह लगभग २४०० करोड़ रुपये की है। घाटे के अर्थ प्रबन्ध द्वारा लगभग १२०० करोड़ रुपयों की और आय बढ़ाई जा सकती है। इस मात्रा में यदि ८०० करोड़ रुपयों की विदेशी वित्तीय सहायता और जोड़ दी जाय तो कुल आय जो सरकारी क्षेत्र में योजना के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये प्राप्त होगी वह ४४०० करोड़ रुपया होती है। इससे ४०० करोड़ रुपयों की कमी रह जाती है जिसके प्राप्त करने के विस्तृत उपायों को बाद में ढूँढ़ा जायगा। यह तो मान लिया गया है कि यह कमी देश के स्रोतों में वृद्धि द्वारा ही पूरी की जायगी। घाटे के अर्थ प्रबन्ध की सीमा को विचाराधीन रखते हुये जिसके बारे में ऊपर संकेत किया जा चुका है तथा इस बात को भी विचाराधीन रखते हुए कि जिस अर्थ प्रबन्ध की योजना की रूपरेखा यहाँ बताई गई है उसमें ऋण पर आवश्यकता से अधिक भरोसा किया गया है, इस कमी को पूरा करने का एक ही उपाय जिस पर निर्भर रहा जा सकता है वह करों का आरोपण, तथा सम्भावित सीमा तक सरकारी उपक्रमों का लाभांश है।"

द्वितीय योजना को इस बात का पूरा ज्ञान है कि १२०० करोड़ रुपयों के घाटे के अर्थ प्रबन्ध किये जाने से मुद्रास्फीति की दशा उत्पन्न हो जायगी। योजना बनाने वालों ने ऐसी स्थिति से बचाव के लिये अनेक प्रतिबन्धों का निर्देश दिया है। उनके विचारानुसार :—

"सबसे प्रमुख संरक्षण का उपाय बहुत बड़ी मात्रा में खाद्यान्न एकत्रित करके

रख लेना होगा जिससे जब जब मुद्रास्फीति का प्रभाव जोर पकड़े तो उसका निराकरण किया जा सके। जहाँ की आर्थिक व्यवस्था में तीव्रगति से विकास का प्रयत्न किया जा रहा है वहाँ चाहे कितनी ही समझदारी से अर्थ प्रबन्ध क्यों न किया जाय मुद्रास्फीति का भय पूर्णतया मिटाया नहीं जा सकता। मुद्रास्फीति से सबसे उत्तम बचाव का ढंग मुद्रास्फीति न होने देना है परन्तु ऐसी नीति जिसमें मुद्रास्फीति तो हो पर उसके दुष्प्रभावों से बच निकलें कभी सफल नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में कुछ जोखिम तो उठानी ही पड़ेगी। इस जोखिम से बचने का सबसे अधिक सफल उपाय खाद्यान्नों के और अन्य आवश्यक वस्तुओं के भण्डार पर अधिकार रखना है ताकि जब इनकी कमी पड़े तो बाजार में इनकी पूर्ति बढ़ा दी जाय। भारतीय आर्थिक व्यवस्था में अन्न और वस्त्र के मूल्यों का विशेष महत्त्व है और इनमें अधिक वृद्धि हर प्रकार से रोकना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक इन वस्तुओं के मूल्य को युक्ति-संगत स्तर पर रक्खा जा सकेगा तब तक देश की अधिकांश जनसंख्या के जीवनस्तर की लागत नियन्त्रण में रहेगी। अन्य वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि अपेक्षाकृत कम महत्त्व की बात होगी यद्यपि व्यवस्था में किसी भी वस्तु के मूल्य मे अत्यधिक वृद्धि होने से द्रव्य के अपेक्षाकृत कम आवश्यक उपयोग की वस्तुओं पर व्यय किये जाने का भय है। यदि ऐसा हो जाय तब उसे ठीक करने का प्रयत्न करना आवश्यक होगा। मुद्रास्फीति के प्रभावों से बचने का दूसरा उपाय विवेचनात्मक (discriminating) परन्तु तुरन्त ही करारोप के उपाय का अनुसरण कुछ वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक उपयोग होने से बचाने के लिये और अत्यधिक लाभांश तथा अनायास प्राप्त हुये लाभांश को रोक देने के लिये (जिनका कि घाटे के अर्थ प्रबन्ध में उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है) अत्यन्त आवश्यक होगा। अन्त में, कन्ट्रोल के उपाय का जिसमें राशनिंग तथा मात्रा नियत करना आदि सम्मिलित होंगे उपभोग के उचित सीमा से आगे जाने से रोकने के लिये तथा दुर्लभ वस्तुओं और कच्चे माल आदि के प्रयोग में मितव्ययता लाने के लिये प्रयोग करना आवश्यक होगा। परन्तु अतीत का अनुभव बताता है कि आवश्यक प्रयोग की वस्तुओं पर कन्ट्रोल लम्बी समयावधि के लिये विश्वस्त उपाय सिद्ध नहीं होते। इस कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि इसके अतिरिक्त अन्य बचाव के उपायों का प्रयोग पूर्ण रूप से किया जाय क्योंकि योजना के कार्य-क्रम में कमी करने की सम्भावना तो अत्यन्त कठिनाई में पड़ने पर ही करना उचित होगा।"

आलोचना—द्वितीय पंचवर्षीय योजना की धारणा प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक व्यापक और सुदृढ़ है। जब यह योजना समाप्त होगी तो प्रति

व्यक्ति की वास्तविक आय में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होगी और लोगों की आर्थिक स्थिति में निश्चित रूप से सुधार होगा। द्वितीय योजना की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :

(१) इसके अन्तर्गत भौतिक (physical) नियोजन पर बल दिया गया है, न कि वित्तीय (financial) नियोजन पर। इसका अर्थ यह है कि लक्ष्य भौतिक उत्पादन के रूप में निर्धारित किये गये हैं जैसे इतने लाख टन इस्पात, कोयला, सीमेन्ट आदि और फिर इन भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लक्ष्यों के लिये वित्त को निर्धारित किया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पर्याप्त दर से व्यय नहीं किया जा सका और वास्तविक रूप में विकास का क्रम भी नहीं जारी रह सका, क्योंकि वह वित्तीय नियोजन पर आधारित था। भौतिक नियोजन में इस बात पर बल नहीं दिया जाता है कि अमुक योजना पर कितनी मात्रा में धन व्यय किया गया है, वरन् उसमें महत्वपूर्ण बात यह रहती है कि उस वस्तु के उत्पादन में कितनी सफलता प्राप्त हुई है। इसका परिणाम यह होता है कि नियोजन में अधिक वास्तविकता आ जाती है। किन्तु भौतिक और वित्तीय लक्ष्यों में समन्वय स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि निम्न विषयों पर विस्तृत और यथार्थ सूचना प्राप्त की जाय : (अ) भिन्न भिन्न वस्तुओं की प्रत्येक इकाई का उत्पादन करने में कितनी मात्रा में कच्चे माल, शक्ति, श्रम आदि की आवश्यकता होती है, और (ब) भविष्य में इन विभिन्न कच्चे मालों व श्रम आदि का क्या-क्या मूल्य होगा। अभाग्यवश भारत में इनसे सम्बन्धित सही-सही और विश्वसनीय सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं और इसीलिए यह आशंका उत्पन्न होती है कि भौतिक नियोजन से समस्या हल होने के स्थान पर कहीं और जटिल न हो जाय। "लोकतान्त्रिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुये एक ऐसे देश में जहाँ का शासन-यन्त्र आर्थिक नियोजन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और जहाँ का प्रत्येक विभाग और प्रत्येक मन्त्रालय अपनी चलाई हुई योजनाओं पर यथासंभव अधिकतम धन व्यय करने का प्रयत्न करता है, वित्तीय नियोजन के स्थान पर भौतिक नियोजन पर बल देने का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि (क) अत्यधिक धन का अपव्यय होगा और (ख) अधिक मात्रा में सरकारी व्यय के कारण मुद्रास्फीति की प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने की संभावना है। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत वित्त मन्त्रालय ने यह सिद्धांत सामने रखा कि विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर अन्य स्थितियों में किसी को भी निर्धारित रकम से अधिक व्यय करने की स्वीकृति नहीं दी जानी चाहिये और इस प्रकार सरकारी व्यय पर कड़ा नियंत्रण स्थापित किया गया। किन्तु जहाँ तक भौतिक नियोजन का सम्बन्ध

है, यह तर्क बिल्कुल निरर्थक है। चूँकि द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मूलभूत उद्देश्य है कि निर्धारित किये गये भौतिक लक्ष्यों (physical targets) की पूर्ति की जाय, अतएव भिन्न-भिन्न विभागों और मन्त्रालयों को अपने निर्धारित वित्त से कुछ अधिक व्यय कर सकने की छूट प्राप्त होगी। सरकारी व्यय में कमी करना अथवा योजना-काल के अन्तर्गत अनुमानित रकम का विनियोग न कर सकना योजना का एक दोष है। किन्तु उससे भी बड़ा दोष यह है कि धन का अपव्यय किया जाय और उसके फलस्वरूप सरकारी धन की हानि तो हो ही साथ ही साथ अनियन्त्रित मुद्रास्फीति के दुष्परिणामों का भी सामना करना पड़े[1]।" इससे यह प्रकट होता है कि वित्तीय नियोजन से सम्बद्ध खतरों और भूलों से बचने के लिये अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वित्तीय नियोजन के स्थान पर भौतिक नियोजन पर बल दिये जाने से द्वितीय पंचवर्षीय योजना में अधिक वास्तविकता आ गई है।

(२) द्वितीय योजना ने प्रमुख रूप से औद्योगिक विकास पर बल दिया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि और शक्ति (बिजली) के विकास को प्राथमिकता दी गई थी। इस प्रकार द्वितीय योजना से देश का आर्थिक विकास अधिक सन्तुलित हो जायगा। औद्योगीकरण पर इसलिए जोर दिया गया है कि (अ) प्रथम योजना के अन्तर्गत कृषि और सिंचाई में पहले ही से काफी प्रगति हो चुकी है और इसीलिए उद्योगों पर अधिक ध्यान देना आवश्यक हो गया है, क्योंकि प्रथम योजना के अन्तर्गत उद्योगों की उपेक्षा की गई थी; (ब) यदि हम प्रमुख रूप से केवल कृषि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तो यह सम्भव नहीं है कि तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ-साथ बेरोजगारी और आंशिक रोजगारी की समस्या को हल किया जा सके। औद्योगिक विकास को प्राथमिकता देने का यह उद्देश्य है कि बेरोजगारी और आंशिक रोजगारी की समस्या को हल करने में सहायता मिले; और (स) पहले की अपेक्षाकृत यह अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाने लगा है कि देश की आर्थिक सम्पन्नता अन्ततः औद्योगीकरण से सम्बन्ध रखती है।

(३) प्रथम पंचवर्षीय योजना की अपेक्षाकृत द्वितीय योजना के अन्तर्गत 'सामाजिक न्याय' पर अधिक ध्यान दिया गया है। प्रथम योजना का उद्देश्य यह था कि देश में महायुद्ध के पूर्व दैनिक उपयोग की वस्तुओं की जिस मात्रा में खपत

---

1. *Vide* the Author's article on "Some Basic Considerations about the Second Five-year Plan" in the *Commerce*, dated July 2, 1955, page 15.

होती थी, उसी स्तर को फिर से ले आया जाय। द्वितीय योजना एक पग और आगे बढ़ गई और उसका लक्ष्य यह है कि उसके समाप्त होने पर देश के कुल उपभोग में लगभग २०% और प्रति व्यक्ति के उपभोग में १२-१३ प्रतिशत की वृद्धि हो। यह संभव होगा या नहीं, किन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने तक राष्ट्रीय आय की १०% राशि करों के रूप में ली जायगी, जबकि अभी तक करों के रूप में ली जाने वाली राशि इसकी ७% है और गृह निर्माण, सामाजिक कल्याण आदि पर अधिक रकम व्यय करने की व्यवस्था की गई है क्योंकि इनके द्वारा धनिकों की अपेक्षा निर्धनों को अधिक लाभ होता है। इसी कारण द्वितीय पंचवर्षीय योजना को प्रगतिशील कहा जा सकता है।

निःसंदेह द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ऐसे अनेक दोष हैं जो इसे एकाङ्गी और अति-आकांक्षी (over-ambitious) बना देते हैं। सबसे पहले तो यही तर्क रखा जाता है कि वर्तमान परिस्थितियों मे द्वितीय योजना के लिए यह सभव नहीं है कि वह पाँच वर्ष की अवधि मे कुल ६,२०० करोड़ रुपए के वास्तविक विनियोग (net investment) का प्रबन्ध कर सके, या दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि १९५५-५६ में राष्ट्रीय आय की जो ७·३% राष्ट्रीय बचत होगी, उसे १९६०-६१ तक राष्ट्रीय आय की १०·७% कर देना संभव नहीं होगा। इस धारणा का समर्थन कुछ ऐसे विदेशी राष्ट्रों के अनुभवों के दृष्टान्त देकर किया गया है जहाँ पर लोकतान्त्रिक आधार पर नियोजन हुआ है या हो रहा है। प्रो० बी० आर० शिनोय की यह धारणा है कि "अपने पिछले वर्षों के और दूसरे जनतान्त्रिक देशो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभी कुछ समय तक यह आशा करना व्यर्थ है कि विकास कार्य-क्रम के लिए इतने अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध होंगे, जिनसे राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि की दर दुगुनी हो जायगी। इस समय हमारे देश में राष्ट्रीय बचत की दर राष्ट्रीय आय की ७% या इससे भी कुछ कम है। पिछले पाँच वर्षों के अन्तर्गत इसमें लगभग १% वृद्धि हुई है। यह अनुमान करना कि भावी पाँच वर्षों में वृद्धि की दर बहुत अधिक तेज हो जायगी, केवल दुराशा-मात्र है। सरकार ने यह नीति घोषित की है कि आय वितरण की असमानताओं को यथासभव कम किया जायगा, जिसका परिणाम यह होगा कि सम्पूर्ण बचत की रकम में घटती हो जायगी। चूँकि हमारे देश के अधिकांश लोग जिस मात्रा में खाद्यान्न का उपयोग करते हैं, वह राष्ट्रीय औसत और पौष्टिक भोजन के निम्नतर स्तर से कम है, इसलिए यह अनुमान है कि दैनिक उपयोग के व्यय में जो वृद्धि होगी उसका ५०% तो खाद्यान्न पर ही व्यय कर दिया जायगा। परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इधर कई वर्षों मे पैदावार

अच्छी अवश्य हुई है, किन्तु फिर भी संभावना है कि आगामी वर्षों में फसलें बिल्कुल ही खराब होंगी या उनसे कम पैदावार होगी। इन परिस्थितियों में यह अनुमान करना कि भावी पाँच वर्षों में बचत की दर ८ प्रतिशत से अधिक होगी उचित नहीं है। किन्तु इसके साथ ही बचत की दर में अनुमान से अधिक वृद्धि होना भी बिल्कुल असंभव नहीं है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि बचत की उक्त दर से जिस मात्रा में वित्तीय साधन वास्तव में उपलब्ध होंगे, उन्हीं के अनुरूप योजना के आकार को बनाने के लिए उसमें संशोधन किए जायें और राष्ट्रीय आय की अनुमानित वृद्धि के अनुसार ही विनियोग की रकम निर्धारित की जाय"।[1]

यह तर्क दिया जा सकता है कि किसी भी योजना के अन्तर्गत अनुमानित व्यय की रकम स्वभावतः ही प्रयोगिक (Tentative) रूप में निर्धारित की जाती है और यदि अनुमानित साधन उपलब्ध न हों तो योजना की लागत को उसी के अनुसार घटाया जा सकता है। किन्तु इस तर्क के विरोध में यह कहा जा सकता है कि (अ) "इस प्रकार संशोधन करने से नियोजन में गड़बड़ी आ जाती है। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि अनुमानित विनियोग और उत्पादन के स्तर में बहुत अधिक कमी कर देने से सामान्य जनता में योजना के प्रति निराशा उत्पन्न हो जाने की संभावना रहती है। यदि सरकार कृत्रिम रूप से विनियोग की दर को लादने का प्रयास करती है, तो उसके फलस्वरूप निश्चित रूप से भीषण मुद्रास्फीति का उदय होगा। आर्थिक नियम अत्यन्त कठोर होते हैं और उनके लागू होने में सांख्यिकों (Statisticians), अर्थ-शास्त्रियों या राजनीतिज्ञों की सुविधा-असुविधा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। यदि कोई भूल की जाती है, तो उसके दुष्परिणाम हमें निश्चित रूप से भुगतने पड़ेंगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिक से अधिक यथार्थवादी होकर अधिकतम सावधानी बरतने की आवश्यकता है", और (ब) "वास्तव में जितने साधन उपलब्ध हैं, उनकी क्षमता से अधिक विकास कार्य-क्रम को बलपूर्वक गतिशील बनाने का अनिवार्य रूप से यह परिणाम होगा कि अनियंत्रित मुद्रास्फीति उत्पन्न होगी। एक ऐसे जनतान्त्रिक देश में, जहाँ की अधिकांश जनता के पास जीविका-निर्वाह के केवल निम्नतम साधन हैं, वहाँ मुद्रास्फीति के परिणाम अत्यन्त भयंकर होंगे और संभव है कि उनसे समाज का वर्तमान ढाँचा भी जर्जर हो जाये। यदि मुद्रास्फीति को रोकने के लिए साम्यवादी

---

1. Prof. B. R. Shenoy, "A Note of Dissent on the Memorandum of the Economists' Panel", p.4. Also see for a summary of this note *Commerce*, dated May 28, 1955, p. 15.

अर्थ व्यवस्था के समान भौतिक साधनों का सहारा लिया गया तो योजना की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शासन-सम्बन्धी या अन्य वैधानिक उपायों के द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जनतांत्रिक संस्थाओं का (धीरे धीरे या तेजी से) लोप हो जायगा। अतएव अतिआकांक्षी योजना के भयकर दुष्परिणामों के प्रति हमें सचेत रहने की आवश्यकता है"।[1]

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की आलोचना का दूसरा आधार यह है कि उसके अन्तर्गत उपभोक्ता की क्रय-शक्ति पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। जब किसी विकास कार्य-क्रम पर धन व्यय किया जाता है तो वह श्रमिकों, कच्चे माल की पूर्ति करने वालों और अन्य व्यक्तियों को प्राप्त होता है, जो स्वयं उस धन को उत्पादित वस्तुओं पर व्यय करते हैं। वस्तुतः आर्थिक विकास की यही प्रक्रिया है। यदि सभी दृष्टिकोणों से विचार करें तो ज्ञात होगा कि धन-उपार्जन करने वालों के द्वारा उसका व्यय किया जाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी के फलस्वरूप उत्पादित्त वस्तुओं को बेचने का अवसर प्राप्त होता है जिसका परिणाम यह होता है कि उन बिकी हुई वस्तुओं के फलस्वरूप फिर नई वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। उत्पादन की प्रक्रिया को बराबर जारी रखने के लिए आवश्यक है कि उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति (purchasing power) में वृद्धि हो। जब तक कि सभी साधनों का पूर्ण उपभोग नहीं हो जाता है, यह प्रक्रिया चलती रहती है। यदि किन्हीं कारणों से लोग उत्पादित वस्तुओं का उपभोग नहीं कर पाते तो आर्थिक विकास की प्रक्रिया का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। द्वितीय योजना में यह निर्देश किया गया है कि योजना की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश में राष्ट्रीय आय पर कर की ७ प्रतिशत दर को बढ़ाकर १९६०-६१ तक ९ या १० प्रतिशत किया जायगा। यही नहीं, कर की दर में १२ प्रतिशत तक वृद्धि करने की आवश्यकता पड़ सकती है। भारत में कर की दर पहले ही से ऊँची है और इसीलिए योजना आयोग की यह धारणा है कि "करों के वर्तमान स्तर—राष्ट्रीय आय का ७%—को भी बनाए रखने के लिये उसमें कुछ न कुछ संशोधन अवश्य करने होंगे"। यदि करों में अब तनिक भी वृद्धि हुई, तो उससे लोगों को अत्यधिक कष्टों का सामना करना पड़ेगा और व्यापार व उद्योगों के सामने भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायेंगी। यदि करों की किसी भी विधि से लोगों की क्रयशक्ति क्षीण होगी अथवा वस्तुओं में वृद्धि होगी, तो यह निश्चित है कि द्वितीय योजना के कार्य-क्रम में बाधा पहुँचायेगी। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आय में वृद्धि

---

[1] *Vide* the Autnor's article, *loc cit*, p.15.

होगी और औद्योगिक व व्यवसायिक कार्यों का क्षेत्र विस्तृत होता जायगा, वैसे-वैसे करों से प्राप्त होने वाले सरकारी राजस्व में निश्चित रूप से वृद्धि होती जायगी। किन्तु यदि उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति को क्षीण बनाते हुए करों में वृद्धि करने का प्रयास किया जायगा तो यह निश्चय है कि योजना के कार्यान्वित होने में बाधा पड़ेगी और राष्ट्रीय आय में अनुमानित वृद्धि भी नहीं आ सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि बाजार में तथा कारखानों के गोदामों में बगैर बिकी हुई वस्तुओं का ढेर लग जायगा और इस प्रकार उसका उत्पादन या तो घट जायगा या बिल्कुल ही बन्द हो जायगा। इस अव्यवस्था के फलस्वरूप योजना की प्रगति को गहरा धक्का लगेगा।

यदि लोगों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे अपना उपभोग कम और बचत अधिक करें, तो ठीक वैसे ही दुष्परिणाम उत्पन्न होंगे। कुछ समय पूर्व यह धारणा प्रचलित थी कि अधिक बचतों से उसी अनुपात में आर्थिक विकास भी अधिक होता है। किन्तु अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त इस धारणा के बिल्कुल विरोधी निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। उनके अनुसार जितना ही अधिक उपभोग किया जायगा उतना ही अधिक आर्थिक विकास होगा। यदि कृत्रिम राशि का विनियोग करने के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि हो और उसकी खपत हो जाने पर पहले की अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हो और यह सम्पूर्ण आर्थिक प्रक्रिया निर्विघ्न रूप से चलती रहे, तो बचतों के सम्बन्ध में कठिनाई उठाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने के फलस्वरूप बचत की कुल रकम में भी वृद्धि होती है और अन्त में बचतों के द्वारा विनियोग सन्तुलित हो जाता है। किन्तु यदि बहुत शीघ्रता से बचत की रकम में वृद्धि करने का प्रयास किया जाय तो आर्थिक विकास का क्षेत्र संकुचित हो जायगा। यदि सरकार की कर नीति अथवा अन्य नीतियों से वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो और उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति घट जाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि कपड़े, चीनी, खाद्यान्न और अन्य वस्तुओं की प्रति-व्यक्ति खपत (*Per capita* consumption) में अनुमानित वृद्धि नहीं होगी और न रहन-सहन का स्तर ही ऊँचा उठेगा, चाहे किसी प्रकार उन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा ही क्यों न लिया जाय।

तीसरी बात यह है कि योजना के अन्तर्गत अनुमानित घाटे के बजट की १,२०० करोड़ रुपये की रकम (जो देश की वर्तमान द्रव्य-पूर्ति का ५०-६०% है) से अत्यधिक मुद्रास्फीति उत्पन्न हो जाने की संभावना है। किसी भी ऐसे देश में, जहाँ व्यवस्थित रूप से आर्थिक विकास किया जा रहा है, मुद्रास्फीति का उदय

होना अवश्यम्भावी है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मुद्रास्फीति पर कड़ा नियंत्रण रखा जाय जिससे कि अधिक हानि न होने पाये। प्रोफेसर शिनोय की यह धारणा ठीक ही है कि "यदि यह मान भी लिया जाय कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर दुगुनी हो जायगी, तो भी अतिरिक्त रोकड़ बाकी (cash balances) के लिए इतनी अधिक माँग नहीं हो सकती कि कुल द्रव्य-पूर्ति (money supply) की ५०-६०% रकम की व्यवस्था घाटे के बजट के रूप में करने की आवश्यकता पड़े। यदि केन्द्रीय बैंक (Central bank) का एक-तिहाई अनुमानित द्रव्य घाटे के बजट के द्वारा चलन में आकर व्यवसायिक बैंकों (Commercial banks) के सुरक्षित कोषों में वृद्धि करता है और उसके आधार पर वे व्यवसायिक बैंक ६-७ गुनी साख का निर्माण कर लेते हैं, तो योजना-काल के उपरान्त कुल द्रव्य की पूर्ति योजना प्रारंभ करने के समय की द्रव्य-पूर्ति से दुगुनी या उससे भी अधिक हो सकती है। इसके फलस्वरूप मुद्रास्फीति को निश्चित रूप से जन्म मिलेगा"।[1]

---

[1] पर्याप्त सूचनायें न होने के कारण यह बताना कि किस सीमा तक घाटे का अर्थ प्रबन्ध भारतीय अर्थ व्यवस्था बिना हानि पहुँचाये सहन कर सकती है असम्भव है। प्रो० शिनोय ने अनुमान लगाने का साहस किया है। "इस शीर्षक के अन्तर्गत घाटे के अर्थ प्रबन्ध की मात्रा में पौण्ड पावने की मात्रा जो सरकारी क्षेत्र की आर्थिक आवश्यकता के लिये काम में लाई गई है जोड़ देने पर जो मात्रा आवे उसे ही घाटे के अर्थ प्रबन्ध करने की वह सीमा समझा जा सकता है जिस तक किसी हानि की आशंका नहीं की जा सकती। पाँच वर्षों के भीतर पौंड पावने की मात्रा १०० से लगाकर १५० करोड़ रुपये तक योजना के अन्तर्गत मानी गई है। इसके एक अंश को व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये नियत करना पड़ेगा और उसकी मात्रा के बराबर बैंकों द्वारा साख उत्पन्न करनी पड़ेगी। यदि हम रोकड़ बचत तथा पौंड पावने की रकमों को सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्रों में २:१ के अनुपात में क्रमशः बाँटें तो कुल घाटे का अर्थ प्रबन्ध १८० से लगाकर २२० करोड़ रुपये तक पाँच वर्षों की अवधि में ठहरेगा, अर्थात ३५ से ४४ करोड़ रुपये प्रति वर्ष की दर के हिसाब से होगा।" इस मात्रा को घाटे के अर्थ प्रबन्ध की उचित सीमा चाहे हम मानें या न मानें पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि २०० करोड़ रुपयों का घाटे का प्रति वर्ष औसत अर्थ प्रबन्ध जो कि द्वितीय योजना में किया जाने वाला है बहुत अधिक है। इससे ऐसी मुद्रास्फीति शक्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं कि योजना ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाय।

अंतिम बात यह है कि यद्यपि द्वितीय योजना द्वारा प्रथम योजना की एक भूल का सुधार किया गया है और औद्योगिक विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है, किन्तु फिर भी संभव है कि एक दोषपूर्ण औद्योगिक ढाँचे का ही निर्माण हो, क्योंकि उसमें दैनिक उपयोग में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं का उत्पादन करने वाले कारखानों के उद्योगों की उपेक्षा की गई है। "यदि योजना आयोग की बड़े पैमाने वाले उद्योगों के स्थान पर छोटे पैमाने के और घरेलू उद्योग-धंधों को विकसित करने की योजना सफल हो जाती है, तो इसका परिणाम यह होगा कि बड़े-बड़े उद्योगों का ह्रास होने लगेगा और उनके द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रयुक्त होने वाली मशीनें, इस्पात और अन्य आधारभूत सामग्री की मांग बढ़ने के स्थान पर और भी घट जायगी"। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "यदि संरक्षण, संगठन और आर्थिक सहायता के द्वारा जितना ही अधिक घरेलू उद्योग-धंधों का विकास होगा और कारखानों के क्षेत्र में आधुनिकीकरण व प्रसार करने का कार्य जितने ही अधिक समय के लिए स्थगित किया जायगा, तो उक्त समस्याओं को हल करने की कठिनाई भी बढ़ती ही जायगी। यदि ऐसा विकास कार्य क्रम अपनाया गया, जिसमें छोटे-छोटे उद्योगों का प्रसार करके औद्योगिक नीति बिल्कुल परिवर्तन कर दी जायगी और मशीनों व बिजली की शक्ति की पूर्ति भी इन्हीं घरेलू उद्योग-धंधों के लिए की जायगी, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कार्य आर्थिक दृष्टि से नितान्त अनुचित होगा"।[1]

---

[1] इस सम्बन्ध में इस बात पर जोर देना उचित होगा कि "छोटे और ग्राम्य उद्योगों को सगठित करने के लिये बहुत अधिक प्रयत्न करना आवश्यक होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से तो प्रवृत्ति सुसंगठित फैक्ट्रियों की स्थापना के साथ ग्राम्य उद्योगों के बहिष्कार करने की रही है। यह बहिष्कार जहाँ कहीं भी हुआ है प्रशासन की आज्ञानुसार नहीं हुआ है। यह तो अधिक कुशल उत्पादन की प्रणाली के प्रति पक्षपात जो कि आर्थिक विकास का तर्कयुक्त परिणाम है उसके कारण हुआ। इसलिये स्वभावतः नष्टप्राय ग्राम्य उद्योगों का पुनरुद्धार करने के लिये हमें विकास-क्रम के ऐतिहासिक प्रवाह के विरुद्ध चलना पड़ेगा और उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले फैक्ट्री की व्यवस्था वाले उद्योगों के विस्तार के विरुद्ध कृत्रिम बाधायें उपस्थित करनी पड़ेंगी, और इस सम्बन्ध मे मुद्रास्फीति की ऐसी स्थिति उत्पन्न करनी पड़ेगी कि जो आगे चलकर सम्भवत: हमारे नियंत्रण के बाहर हो जाँय अथवा हमारी आर्थिक व्यवस्था को सदा के लिये स्थिर कर दें। यदि परम्परागत ढङ्ग के छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों को विकसित किया जाय तो खर्चीली व्यवस्था का प्रबन्ध करना

इस सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टिकोण यह है कि भावी औद्योगीकरण सरकार और निजी उद्योगों के सम्मिलित प्रयास पर आधारित होगा। यद्यपि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निजी क्षेत्र के अन्तर्गत २४०० करोड़ रुपए के व्यय की रकम निर्धारित की गई है किन्तु उसमें यह उल्लेख नहीं किया गया है कि इतनी अधिक राशि किन साधनों से उपलब्ध होगी। योजना के अनुसार, "निजी उद्योगों के निर्माण-कार्य के लिए बचत की रकम प्राप्त करने के क्या साधन होंगे, यह निर्देश करना कठिन है। इसके अतिरिक्त यह भी दावे के साथ नहीं कहा जा सकता है कि निर्माण-कार्य में अनुमानित वृद्धि की पूर्ति होगी ही। कुल बचत के अपर्याप्त होने पर कमी कहाँ से पूरी की जायगी, इसका पता नहीं" । चूँकि सरकारी क्षेत्र को सभी साधन उपलब्ध होने की कदाचित् अधिक सभावना है, इसीलिये बहुत कुछ संभव है कि निजी क्षेत्र को अनुमानित साधन न प्राप्त हो सकें। इस परिस्थिति का फल यह होगा कि इधर सरकारी क्षेत्र के अंतर्गत औद्योगिक विकास होगा और उधर निजी क्षेत्र मे औद्योगिक प्रगति न होने के कारण सम्पूर्ण औद्योगिक विकास की स्थिति बहुत कुछ सीमा तक वैसी ही रह जायगी। अतएव द्वितीय योजना के अन्तर्गत जितना औद्योगिक विकास होने का अनुमान किया गया है वह नहीं हो सकेगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने बेरोजगारी की समस्या को हल करने पर बहुत जोर दिया है। वास्तव में छोटे पैमाने के और घरेलू उद्योग धन्धों के विकास को प्रोत्साहित करने का प्रमुख कारण भी यही है। किन्तु यन्त्र तैयार करने वाले उद्योगों का नियोजन इंगलैंड, अमरीका और रूस के आधार पर किया जा रहा है। योजना आयोग को चाहिये था कि हमारी विशिष्ट आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर इस प्रकार के नये यन्त्र तैयार करने की व्यवस्था करता, जो इतने कार्यक्षम होते कि उनके द्वारा प्रति इकाई के उत्पादन की उतनी ही लागत पड़ती जितनी कि विश्व के अन्य औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में तैयार की गई 'श्रम की बचत करने वाली' (Labour-saving) और अपने आप चलने वाली मशीनों के द्वारा पड़ती है, किन्तु उनके (भारत की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनने वाली मशीनों) द्वारा पूँजी-विनियोग की प्रति इकाई में अधिक श्रमिकों की खपत होती। यदि उचित ध्यान दिया जाय तो इस प्रकार

आवश्यक होगा। ऐसा करने पर सफलता तो सीमित मात्रा में ही प्राप्त होगी पर यदि असफल हुये तो परिणाम भयावह होगा।" (Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry's "Second Five-Year Plan, *A Comparative Study of the Objectives and Techniques of the Tentative Plan-frame*", pp. 78)

के यन्त्रों का निर्माण होना पूर्णरूप से सम्भव है। केवल पूँजी की बचत करने वाले (Capital-saving) ऐसे यन्त्रों का निर्माण करने का महत्व इसलिए भी बहुत अधिक है कि केवल इन्हीं के द्वारा भारत की बेरोजगारी और आंशिक रोजगारी की समस्या स्थायी रूप से हल की जा सकती है। ऐसी व्यवस्था की कमी द्वितीय पंचवर्षीय योजना का एक बहुत गम्भीर दोष है।

योजना का पुनर्मूल्यन

द्वितीय पंचवर्षीय योजना को प्रारम्भ से ही असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। (अ) आयात की हुई मशीनों, कच्चे माल तथा अन्य माल का मूल्य स्वेज-संकट के कारण बढ़ गया। विदेशों में भी मूल्य बढ़ गये। देश में विनियोग की अत्यधिक देर के कारण मुद्रास्फीति की दशा उत्पन्न हो गई जिसके परिणाम स्वरूप मूल्यों में वृद्धि हुई। परिणाम यह हुआ कि योजना के अंतर्गत विभिन्न योजनाओं की लागत बढ़ गयी तथा प्रारम्भ में निर्धारित वित्त से भौतिक लक्ष्यों (physical targets) की प्राप्ति असम्भव हो गई। (ब) योजना के लिये अत्यधिक कर लगाने तथा अन्य उपाय करने पर भी साधनों की कमी पड़ गयी और विदेशी विनिमय का सकट उपस्थित हो गया। (स) द्वितीय योजना का भार जनता की वहन शक्ति के लिये अधिक साबित हुआ। योजना में सदैव ही कुछ त्याग करना होता है किन्तु द्वितीय योजना में अपेक्षित त्याग बहुत अधिक हो गया। अतएव योजना आयोग तथा भारत सरकार को यह सुझाव दिया गया कि योजना में कटौती की जाय तथा विनियोग की दर कम की जाय। योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद तथा भारत सरकार ने विचार-विमर्श के बाद योजना में कटौती करने के बजाय उसे दो भागों में बाँट दिया। (१) भाग अ जिसके अन्तर्गत कृषि उत्पत्ति की वृद्धि से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित योजनायें, मुख्य (core) योजनायें (रेलवे, बड़े बन्दरगाह, स्टील, कोयला तथा अन्य शक्ति योजनायें) जो काफी आगे बढ़ गयी हैं तथा अन्य योजनायें जिन पर कुल ४५०० करोड़ रु० के व्यय का अनुमान है, तथा (२) भाग ब जिसमें ३०० करोड़ रुपये की शेष योजनायें सम्मिलित हैं।

जैसा कि 'द्वितीय पंचवर्षीय योजना : पुनर्मूल्यन व सम्भावनायें' (मई १९५८) से प्रकट है योजना आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि योजना पर प्रारम्भिक अनुमान की तुलना में ५४० करोड़ रु० कम अर्थात् ४२६० करोड़ रु० व्यय होगा।

मई १९५८ में योजना आयोग ने घोषणा की कि यथार्थ उपलब्ध साधन ४२६० करोड़ रु० ही है, फिर भी भाग अ के अर्थ प्रबन्धन का पूरा प्रयत्न किया

योजना के लिये प्रसाधन (१९५६-१९६१)

(करोड़ रु० में)

साधन	योजना के लक्ष्य	उपलब्धि की सम्भावना
१. बजट के साधन	२८००	२२६२
(अ) चालू आय से बचत	१२००†	८६६
(ब) रेलवे का अंशदान	१५०	१५०
(स) ऋण तथा अल्प बचत	१२००	१०४४
(द) ऋण तथा विविध पूँजी प्राप्ति	२५०	६६
२. विदेशी सहायता	८००	१०३८
३. घाटे का अर्थ प्रबन्धन	१२००	१२००
कुल	४८००	४२६०

जायगा। सितम्बर १९५८ में यह घोषणा की गई कि भाग अ की योजनाओं को ४५०० करोड़ रु० तक नहीं सीमित किया जा सका अतएव १५० करोड़ रु० का व्यय और करना होगा और इस प्रकार कुल व्यय ४६५० करोड़ रु० होगा। योजना आयोग ने यह सुझाव दिया कि राज्य सरकारें योजना की शेष अवधि में १४० करोड़ रु० का अतिरिक्त साधन प्राप्त करें—६० करोड़ रु० कर द्वारा, ५० करोड़ रु० ऋण और अल्प बचत द्वारा तथा ३० करोड़ रु० योजना के बाहर के व्यय में कमी कर के। परन्तु राज्य सरकारें ६० करोड़ रु० कर द्वारा एकत्रित नहीं कर सकतीं। ऊँचे मूल्यों के कारण जनता की बचत कम हो गई है तथा अंशतः बचत निजी साहसी प्रयोग में ले आते हैं अतएव इस साधन से राज्य सरकारों को ५० करोड़ रु० प्राप्त करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। कुछ लोगों की राय में कहीं अच्छा होता यदि योजना आयोग स्थिति का यथार्थता से सामना करता तथा व्यय को देश की शक्ति के अन्दर ही रखता।

आयात के मूल्यों में वृद्धि होने तथा अन्य लागतों के बढ़ने के कारण सबसे अधिक वृद्धि 'उद्योग तथा खनिज' में हुई है तथा सबसे बड़ी कटौती 'सामाजिक

† इसके अन्तर्गत मूल योजना में दिखाया गया ८०० करोड़ रु० का चालू आय का अतिरेक तथा कर से पूरा होने वाला ४०० करोड़ रु० का घाटा भी सम्मिलित है।

द्वितीय योजना के सरकारी क्षेत्र में विभिन्न मदों के बीच वित्त का निर्धारण

(करोड़ रु० में)

	योजना के मूल लक्ष्य	अधिक लागत के कारण पुनर्निश्चित लक्ष्य (४८०० करोड़ रु० के भीतर)	अब प्रस्तावित व्यय (योजना का भाग अ)
कृषि और सामुदायिक विकास	५६८	५६८	५१०
सिंचाई और शक्ति	९१३	८६०	८२०
ग्रामीण तथा छोटे उद्योग	२००	२००	१६०
उद्योग तथा खनिज	६६०	८८०	७६०
परिवहन और सचार	१,३८५	१,३४५	१,३४०
सामाजिक सेवायें	९४५	८६३	८१०
विविध	९९	८४	७०
कुल योग	४८००	४८००	४५००

सेवाओं के अन्तर्गत हुई है ताकि कुल व्यय ४५०० करोड़ रु० हो सकें। विभिन्न योजनाओं के लिये निर्धारित वित्त में परिवर्तन युक्तिपूर्वक नहीं किये गये हैं अतएव ये गलत भी हो सकते हैं।

"योजना में ७६ लाख व्यक्ति कृषि के बाहर तथा १६ लाख कृषि में काम पायेंगे, ऐसी आशा की जाती है। विभिन्न योजनाओं की लागत बढ़ जाने के कारण ऐसा अनुमान किया गया है कि कृषि के बाहर ७० लाख व्यक्तियों को काम मिलेगा। यह अनुमान ४८०० करोड़ रु० के व्यय तथा निजी क्षेत्र के व्यय में कोई परिवर्तन न मानने पर आधारित है। ४५०० करोड़ रु० के व्यय के अनुमान पर ६५ लाख व्यक्तियों को काम मिलने की आशा है"।

अध्याय ४१

तृतीय पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा

भारत की तृतीय योजना की तैय्यारी की जा रही है और सबसे अधिक गंभीर प्रश्न जो योजना आयोग तथा सरकार के समक्ष है वह योजना के रूप और आकार के सम्बन्ध में है। तृतीय योजना के आरम्भ न करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यद्यपि द्वितीय योजना के कुछ ध्येयों की पूर्ति होना सम्भव नहीं है और देश का आर्थिक विकास हमारी आशा से कहीं कम हुआ है, फिर भी प्रथम और द्वितीय योजनाओं ने राष्ट्रीय उत्पत्ति तथा आय, कार्य के अवसरों तथा जनता के रहन-सहन के स्तर को प्रभावशाली ढंग से बढ़ाया है। यह सिलसिला चलता रहना चाहिये और इसके लिये अधिक विस्तृत और महत्वाकांक्षी तृतीय योजना की आवश्यकता है। इसके भी ध्येयों को लगभग प्रथम और द्वितीय योजना के समान ही होना चाहिये, अर्थात् देश में प्राप्त वस्तुओं के साधनों का सर्वोत्कृष्ट ढंग से उपयोग, औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी उत्पत्ति को अधिक से अधिक बढ़ाना ताकि काम करने के अवसरों की वृद्धि तथा जनता के रहन-सहन के स्तर को वास्तविक रूप से ऊँचा उठाया जा सके, होना चाहिये। सारांश यह कि भारत में वास्तव रूप से कल्याणकारी सरकार की स्थापना हो सके। यह तो प्रत्यक्ष है कि इन आदर्शों को पूरा कर लेने के लिये लोगों को कुछ वस्तुओं के अपने वर्तमान उपभोग को अधिक कर (tax) देकर त्यागना पड़ेगा और अपनी बचत की मात्रा को पूँजी की वृद्धि करने के लिये बढ़ाना पड़ेगा।

अभी तक तृतीय योजना के सम्बन्ध में मतभेद उसके आकार पर ही केन्द्रित रहा है। सरकारी मतानुसार तृतीय योजना का ध्येय १०,००० करोड़ रुपयों के विनियोग का ५ वर्ष की अवधि में होना चाहिये जबकि द्वितीय योजना में प्रस्तावित मात्रा केवल ६२०० करोड़ रुपया ही थी। इस नीति के विरोधकों का कहना है कि इतनी मात्रा का विनियोग अत्यधिक होगा और उन्होंने यह सुझाव उपस्थित किया है कि तृतीय योजना में विनियोग का स्तर लगभग वही होना चाहिये जितना कि द्वितीय योजना में था। परन्तु तृतीय योजना के आकार के सम्बन्ध में मतभेद बिना उसके रूप के समझे असगत और निरर्थक है।

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक गम्भीर बात विनिमय की मात्रा में सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्रों के भाग की है। प्रथम योजना में औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में व्यक्तिगत क्षेत्र का भाग कुल विनियोग में आधा था परन्तु द्वितीय

योजना में वह घटाकर एक-तिहाई कर दिया गया था। ऐसा स्पष्ट रूप से लक्षित हो रहा है कि तृतीय योजना में व्यक्तिगत क्षेत्र का भाग और भी अधिक घटा दिया जायगा। इसका अर्थ यह है कि द्वितीय योजना में केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा विकास सम्बन्धी विनियोग जो कि ४८०० करोड़ रुपया था (और जो बाद में घटाकर ४५०० करोड़ रुपया कर दिया गया था) उसे ७५०० करोड़ रुपया करना पड़ेगा यदि योजना का कुल व्यय १०००० करोड़ रुपया रक्खा गया। यदि ऐसा हुआ तो १०००० करोड़ रुपयों के आकार की योजना देश की शक्ति के बाहर होगी और यदि लादी गई तो देश में बड़ी कठिनाई तथा अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। ४५०० करोड़ रुपयों की विकास योजना की वित्त व्यवस्था करने में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने बहुत से नये करों का आरोप किया है और पहिले से आरोपित करों में वृद्धि की है जिनसे ५ वर्षों में ६०० करोड़ रुपयों की कुल अतिरिक्त आय की आशा की जाती है। इन करों के अतिरिक्त सरकार ने बहुत बड़ी मात्रा में घाटे की अर्थ-व्यवस्था भी की है जो कि द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में ६५० करोड़ रुपये की मात्रा के लगभग होगी यद्यपि संघ के वित्त मंत्री ने १९५९-६० तक उसका २२२ करोड़ रुपये ही अनुमान लगाया है। चूंकि यह सर्व विदित है कि द्वितीय योजना की ५ वर्ष की पूरी अवधि में १५०० करोड़ रुपयों से अधिक का घाटे का अर्थ प्रबन्धन होगा इसलिये हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि वित्तमंत्री द्वारा अनुमानित मात्रा कम है। यदि सरकार अपनी विकास योजनाओं पर कर-आय अथवा जनता से लिये गये ऋण का व्यय करती है तो मुद्रास्फीति उसका परिणाम नहीं होना चाहिये और उसके फलस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि भी न होनी चाहिये। ऐसा इसलिये होगा कि जनता की द्राव्यिक आय, जिसमें से वह कर देती है अथवा सरकारी ऋणों में जिसका विनियोग करती है समान मात्रा की सेवाओं तथा वस्तुओं द्वारा सतुलित हो जाती है। यदि जनता अपनी आय का व्यय करती है तो वह इन सेवाओं और वस्तुओं का उपभोग स्वयं कर लेती है और यदि वह कर (tax) देती है अथवा सरकारी ऋण में विनियोग करती है तो दूसरे शब्दों में वह इस प्रकार सरकार को उसी मात्रा की सेवाओं और वस्तुओं के उपभोग का अधिकार प्रदान कर देती है। यदि सरकारी विकास योजनाओं की वित्त व्यवस्था कर-आय तथा ऋण द्वारा प्राप्त धन से की जाती है तो देश में ऐसी वस्तुयें और सेवायें प्राप्त होंगी जिन पर यह द्रव्य व्यय किया जा सकता है और कुछ ही समय में ऐसी समायोजना स्वयं हो जायगी कि ऐसे व्यय के कारण मूल्य स्तर में वृद्धि न हो। लगभग ऐसी ही स्थिति उस समय भी होती है जब कि विकास योजनाओं की वित्त व्यवस्था विदेशी अनुदानों अथवा

देश के विदेशी विनिमय निधियों से की जाती है क्योंकि यह धन भारत के वस्तुओं के आयात से ही प्राप्त होता है और इस प्रकार जो कुछ भी व्यय सरकार योजना पर करती है उससे संतुलित हो जाता है। यथार्थ में ये आयात की हुई वस्तुयें यही नहीं कि मूल्य स्तर की वृद्धि में ही रोकथाम करें वरन् ये वास्तव में मूल्य स्तर को नीचे गिराने में सहायक होती हैं और इसलिये इन्हें हम मुद्रा संकुचन उत्पन्न करने का कारण कह सकते हैं। परन्तु ऐसा घाटे का अर्थ प्रबन्धन जिसका अर्थ ऐसी स्थिति है जिसमें सरकार अपनी चालू कर-आय, ऋण से प्राप्त धन, जमा धन और निधियाँ इत्यादि से जो कि उसके पास हैं अधिक व्यय करती है, मुद्रास्फीति उत्पन्न करने का कारण है और यदि इसकी कुल मात्रा अधिक हुई तो यह मुद्रास्फीति का बहुत अधिक प्रभावशाली कारण बन सकती है, क्योंकि द्रव्य के व्यय का वस्तु की पूर्ति द्वारा इस स्थिति में संतुलन नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि अपने देश में करारोप अपनी अधिकतम सीमा पर पहुँच चुका है और जनता बिना असह्य कष्ट उठाये अब और अधिक कर देने में असमर्थ है; और घाटे का अर्थ प्रबन्ध भयावह सीमा तक पहुँच चुका है और उसका परिणाम मुद्रास्फीति जन्य मूल्य स्तर में वृद्धि हो चुकी है। इसलिये सरकार के लिये अब और अधिक घाटे के अर्थ प्रबन्धन का विचार करना अनुचित होगा। परन्तु यदि हमारी तृतीय योजना अधिक विस्तृत और महत्वाकांक्षी है और सरकारी क्षेत्र अधिक विस्तृत है तो करों तथा घाटे के अर्थ प्रबन्धन के स्तर को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाना पड़ेगा क्योंकि सरकार के लिये महत्वाकांक्षी योजना को पूरा करने का कोई अन्य उपाय नहीं है। यदि कुल व्यय में सरकारी क्षेत्र का भाग और अधिक बढ़ाना है और सरकार को उसकी व्यवस्था करने के लिये धन कहीं से ढूँढ निकालना है तो हमें समझना चाहिये कि अधिक विस्तृत योजना को पूरा करना हमारी सामर्थ्य के बाहर है चाहे हमारी कितनी ही अधिक अवश्यकता क्यों न हो।

परन्तु यदि तृतीय योजना के अन्तर्गत कुल व्यय में व्यक्तिगत क्षेत्र का भाग बढ़ा दिया जाता है और यदि सरकार की आर्थिक, औद्योगिक तथा अन्य नीतियों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करके उचित वातावरण का सृजन किया जा सकता है तो यह सम्भव हो सकता है कि हम अपनी तृतीय योजना को बिना कठिनाइयों तथा मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न किये हुये ही अधिक विस्तृत तथा महत्वाकांक्षी बनाएँ। यह इसलिये सम्भव है कि व्यक्तिगत क्षेत्र में विनियोग का प्रबन्ध प्रायः बचत की मात्रा और कुछ थोड़ा सा विदेशी पूँजी से किया जाता है और यह व्यय वस्तुओं की पूर्ति द्वारा देश की आर्थिक व्यवस्था में संतुलित हो

जाता है। जहाँ तक बैंक द्वारा लिये हुये ऋण से इसकी व्यवस्था होती है उस सीमा तक वस्तु की पूर्ति द्वारा संतुलन नहीं होता और मुद्रास्फीति उत्पन्न करने का कारण बन सकता है। परन्तु भारत में व्यक्तिगत क्षेत्र के कुल विनियोग के बहुत थोड़े से अंश की व्यवस्था इस ढंग से होती है इसलिये व्यक्तिगत क्षेत्र द्वारा विकास-योजना में विनियोग से मुद्रास्फीति के प्रोत्साहित होने की सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि तृतीय योजना की रूपरेखा उसके आकार को प्रभावित करती है।

इसमें संदेह नहीं कि द्वितीय योजना में आरम्भ किये हुये विकास कार्यों को उनकी शाखा-प्रशाखाओं सहित तृतीय योजना में पूर्ण करना है इसलिये विनियोग का मात्रा द्वितीय योजना से अधिक अवश्य होगी। यह भी सत्य ही है कि यदि जनसंख्या के अधिक अंश को काम देना है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतवर्ष में जनता को काम करने के अधिक अवसर प्रदान किये जाने चाहियें। भारत की जनसंख्या में २% की प्रतिवर्ष वृद्धि को विचाराधीन रखते हुये लोगों को वृद्धिमान रहन-सहन का स्तर प्रदान करने के लिये अधिक तीव्र गति से आर्थिक विकास की आवश्यकता है।

परन्तु यदि सरकारी क्षेत्र के विस्तार को बढ़ा दिया जाय तो यह सब सम्भव न हो सकेगा। द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों मे राष्ट्रीय आय लगभग २% प्रतिवर्ष की औसत दर से बढ़ी है और लगभग २७ लाख ५० हजार व्यक्तियों को काम करने के अतिरिक्त अवसर प्रदान किये गये हैं जब कि द्वितीय योजना का ध्येय ५% प्रतिवर्ष की वृद्धि राष्ट्रीय आय में और ८० लाख व्यक्तियों को अतिरिक्त काम देना निश्चित किया गया था। वृद्धि की इस दर ने जनता पर ऊँचे करों, जीवन-यापन के ऊँचे मूल्यों, और नीचे गिरे हुये रहन-सहन के दर्जे के रूप में बहुत कठिनाइयाँ लादी हैं। ताकि इन कठिनाइयों को विना अधिक मात्रा में बढ़ाये तृतीय योजना का विस्तार बढ़ाया जा सके इसलिये योजना आयोग और सरकार को यह निश्चय करना पड़ेगा कि किसी विचारादर्श के प्रति अपनी आस्था प्रदर्शित करने के लिये उसी पर अड़े रहना, अथवा अधिक तीव्र गति से देश का आर्थिक विकास करना देश के लिये कहाँ तक हितकर होगा। चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था का स्थान समाजवादी व्यवस्था द्वारा धीरे-धीरे लिये जाने का कार्य आरम्भ हो चुका है इसलिये वह तो अपना पूरा समय लेगा, परन्तु यदि उसके स्वाभाविक विकास को जल्दी लाने का प्रयत्न किया गया तो इसका अर्थ आर्थिक उन्नति और देश की सम्पन्नता की प्रगति में बाधा डालना होगा।

तृतीय योजना की रूपरेखा का जानना उसके आकार को निश्चित

करने के लिये ही आवश्यक नहीं है वरन् देश को विकास योजनाओं से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिये भी आवश्यक है। व्यक्तिगत क्षेत्र को उसका उचित अंश देने के बाद दूसरा आवश्यक प्रश्न योजना के अन्तर्गत आये हुये विकास कार्यों का क्रम है। क्या तृतीय योजना के विकास कार्यक्रम में कृषि को वही स्थान दिया जाना चाहिये जो कि उद्योग को दिया जाय? द्वितीय योजना के अनुभव के आधार पर जिसमें कृषि को औद्योगिक विकास की तुलना में कम महत्व का स्थान दिया गया था हम कह सकते हैं कि कृषि का स्थान अधिक महत्व का होना चाहिये। द्वितीय योजना में सर्वप्रथम १०० लाख टन खाद्यान्न के उत्पादन का लक्ष्य बनाया गया था जो कि बाद में बढ़ाकर १'७५ लाख टन कर दिया गया। द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में इस लक्ष्य का आधे से अधिक पूरा न किया जा सकेगा। कृषि के प्रति उदासीनता के परिणाम स्वरूप खाद्यान्न में कमी तथा उनके निरन्तर बढ़ते जाने वाले मूल्य देश के समक्ष आये। ऐसी अर्थ व्यवस्था में जहाँ खाद्यान्न के मूल्य का सबसे अधिक महत्वशाली स्थान है वहाँ अन्न के मूल्य के बढ़ने के साथ ही साथ अन्य वस्तुओं के मूल्य भी बढ़ने लगते हैं। और इस प्रकार मुद्रास्फीति की स्थिति के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सब बातों को उत्पन्न न होने देने के लिये तृतीय योजना में कृषि उत्पत्ति के अधिक बढ़ाने की व्यवस्था की जानी चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि देश की कुल आय तथा उत्पत्ति औद्योगिक विकास के फलस्वरूप कृषि के विकास की तुलना में अधिक तीव्र गति से बढ़ जायगी। यही बात काम के अवसरों, निर्यात तथा जनता के रहन-सहन के दर्जे के बढ़ाने के सम्बन्ध में भी सत्य है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि ऐसी आर्थिक उन्नति का क्या प्रयोजन जब जनता को भर पेट भोजन मिलना ही दुष्कर हो जाय। कृषि के विकास के प्रति विशेष ध्यान देने का अर्थ चाहे आर्थिक विकास में कमी करना ही क्यों न हो यह जोखिम उठाने योग्य है क्योंकि इससे अन्न की उपज तथा अन्य कृषि उत्पत्ति के बढ़ जाने के कारण औद्योगिक विकास के लिये दृढ़ आधार प्राप्त हो जाता है।

औद्योगिक विकास में वास्तविक कठिनाई विभिन्न हितों के समायोजित करने की है जैसे: (१) छोटे स्तर के घरेलू उद्योग-धन्धे और ज्वाइंट स्टाक कम्पनी व्यवस्था वाले बड़े स्तर के उद्योग, और (२) बड़ी मशीनों के निर्माण करने वाले उद्योग तथा उपभोक्ता की वस्तुओं तथा अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग। भारतीय आर्थिक तथा उद्योग व्यवस्था में छोटे स्तर पर उत्पादन करने वाले घरेलू उद्योग-धन्धों का एक विशेष स्थान है और इसलिये उन्हें पूर्ण रूप से प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बड़े स्तर

पर उत्पादन करने वाले उद्योगों का अहित करके ऐसा किया जाय। द्वितीय योजना में एक महान भूल बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों की चिन्ता न करके छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले तथा घरेलू उद्योग धन्धों को बढ़ाने की की गई थी। इसके मूल में योजना के अन्तर्गत काम करने के अवसरों को बढ़ाने की भावना थी। इसका उदाहरण सूती कपड़ा उत्पादन करने वाले उद्योग थे। यह नीति काम के अवसरों के बढ़ाने में सफल नहीं हुई वरन् उसने बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों को घाटा पहुँचाया। यह भूल तृतीय योजना में बचाई जानी चाहिये और केवल उन्हीं घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये जिनका विकास बिना बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों को हानि पहुँचाये किया जा सकता है और केवल ऐसे ही ढंगों का प्रयोग किया जाना चाहिये जिनसे घरेलू उद्योगों की तो सहायता प्रभावशाली ढंग से हो पर बड़े उद्योगों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। जैसे-जैसे बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों का विकास होता चलेगा अधिकाधिक काम करने के अवसर जनसंख्या को मिलते जायगे और इस बीच में इस बात का प्रयत्न होना चाहिये कि श्रम-बचाव के ढंग का प्रयोग न हो वरन् नये कारखानों मे तथा उन पुराने कारखानों में जहाँ मशीनें बदली जाने वाली हैं अधिक कुशलता से काम लेने वाली मशीनों का प्रयोग हो।

तृतीय योजना में अधिक व्यय होने के कारण ज्यों-ज्यों लोगों की आय बढ़ेगी त्यों-त्यों उन्हें अधिक उपभोग की वस्तुओं की आवश्यकता होगी। भूत काल में ऐसी वस्तुयें अंशतः विदेशों में अपने विदेशी विनिमय निधियों के और अंशतः भुगतान संतुलन के अतिरेक के आधार पर आयात की जा सकती थीं। अब उपभोक्ता की वस्तुओं की पूर्ति देश में ही बढ़ानी है। परन्तु यदि इन्हीं उद्योगों पर अधिक विनिमय कर दिया गया तो मशीनों के निर्माण, भारी रासायनिक प्रव, इन्जीनियरिंग तथा अन्य इस प्रकार के उद्योगों पर जो कि अभी भारत में पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुये हैं, और जिनके विकास को औद्योगिक आधार प्रदान करने के लिये आवश्यकता है, व्यय करने के लिये पर्याप्त मात्रा से धन न बचेगा। इन उद्योगों के सम्बन्ध में योजना के दृष्टिकोण से कठिनाई यही है कि निकटस्थ भविष्य मे ये उद्योग लोगों को इतने काम के अवसर न प्रदान कर सकेंगे जितने कि उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन वाले उद्योगों के विकसित करने से मिलते। इसके अतिरिक्त उनका उत्पादन बाजार में बिक्री के लिये अधिक दिनों के पश्चात् आयेगा और बढ़ी हुई क्रय-शक्ति अधिक विनियोग होने के कारण बाजार में माल पहुँचने के पहिले पहुँच जायगी जिससे मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जायगी।

परन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुये भी भारत की तृतीय योजना के अन्तर्गत भूत काल की अपेक्षा अधिक मात्रा में व्यय बड़ी मशीनों के निर्माण करने वाले कारखानों के लिये नियत करना आवश्यक होगा।

चूँकि अपने देश में साधन का अभाव है इसलिये महत्व में श्रम वस्तु को प्रथम स्थान दिया जाना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि तृतीय योजना को कार्यान्वित करने के लिये विकास से असम्बन्धित समस्त व्यय तथा तृतीय योजना के बाहर विकास सम्बन्धी व्यय को न्यूनतम स्तर पर रखना चाहिये और भारत के सरकारी व्यय में जितनी भी मितव्ययता सम्भव हो, की जानी चाहिये। इस बात पर बारम्बार योजना आयोग ने तथा सरकार ने जोर दिया है परन्तु अभी तक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा इसे कोई प्रयोगात्मक रूप नहीं दिया गया है। प्राप्त साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करने के लिये भी यह आवश्यक है कि तृतीय योजना के बाहर के व्यय को न्यूनतम करने के लिये कोई प्रयोगात्मक उपाय ढूंढ़ निकाला जाय।